संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 14 अंक : 28 जनवरी-जून, 2020

संपादक
विनोद तिवारी

संपादन सहयोग
अजय आनंद
आशीष मिश्र

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण चित्र : कोरोना-काल : 15 वर्षीय वालेरिया गावेंको (यूक्रेन) का रेखांकन

मूल्य

एक प्रति : ₹ 100

सदस्यता

वार्षिक : ₹ 250 (डाक खर्च सहित)

संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पंचवार्षिक : ₹ 1000

आजीवन : ₹ 5000

विदेश के लिए : 100 $

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डेन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5

वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

फ़ोन : 0120-4572303

मो. 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

वेब पता : www.pakshdhar.com

PAKSHDHAR

A Bi-Annual Literary Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

संपादकीय

कोरोना का मुल्क़ मज़हब और ईमान 5

एक कवि : एक राग

नौ कविताएँ : **दिनेश कुमार शुक्ल** 11

आलेख

'थोपी गई' अंग्रेज़ी, 'स्वेच्छा' का विमर्श और औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता / **अभय कुमार दुबे** 24

भारत में बदलते भूमि सम्बन्ध / **सियाराम शर्मा** 53

साहित्य का देश-काल / **अजय तिवारी** 81

लेखक क्या है? / **मिशेल फ़ूको** 104
(अनु. : रामकीर्ति शुक्ल)

लम्बी कहानी

टूटन... / **उस्मान ख़ान** 125

कहानियाँ

दास्तान-ए-चिंटू-पिंटू / **पंकज मित्र** 159

मायामृग / **राकेश बिहारी** 169

छानबूर / **सूरज बडत्या** 185

सहारे का सूर्यास्त / **विन्ध्येश्वरी** 195

देश-देशांतर (बांङ्ला साहित्य)

दोनों के पक्ष / **श्रीजात** और **विनायक** से **पौलोमी सेन गुप्त** की बातचीत 203
(अनु. : रामशंकर द्विवेदी)

नील दर्पण : किसान संघर्ष की जुझारू गाथा / **श्रीनारायण पाण्डेय** 221
माँ, माटी और मानुष का कवि : सुभाष मुखोपाध्याय / **रणजीत साहा** 227

कविताएँ

पाँच कविताएँ / **हरिओम राजोरिया** 235
चार कविताएँ / **मनोज कुमार झा** 244
सात कविताएँ / **पराग पावन** 247

लोक (कथेतर)

जब खेत कृषक के प्रेम में मुसकाता है / **मिथिलेश कुमार राय** 259

पुस्तक-समीक्षा

चमत्कारों वाले स्वर्णदेश में / **पल्लव** 269
वैधानिक गल्प : 'उत्तर सत्य' का आख्यान / **राहुल सिंह** 274
अष्टभुजा की रस-लाठी / **आशीष मिश्र** 282
बर्फ से ढँकी मानवीय संवेदनाओं पर प्रेममय ताप रखती कहानियाँ / **अंकित नरवाल** 293
परिधि की निगाह से केंद्र को देखती कविताएँ / **जगन्नाथ दुबे** 298
शायद बहुत कुछ कहती हैं कविताएँ / **हितेश कुमार सिंह** 305
माँ की कोख से निर्वासित जीव की त(लाश) / **चंद्रकुमार** 309

कोरोना का मुल्क़ मज़हब और ईमान

पुराणों और मिथ-कथाओं में जल-प्रलय की अतिप्राकृत कथाएँ तो पढ़ी हैं। बचपन में प्लेग, हैजा, बाढ़, सूखा, अकाल आदि से हुए जान-माल के बड़े नुकसान की कहानियाँ सुनी हैं। पर, अपनी पैदाइश से लेकर आज तक ऐसी किसी महामारी की याद मुझे नहीं, जिसने एक साथ पूरी दुनिया को अपनी गिरफ़्त में ले लिया हो। यह पहली महामारी है जिसने इतने बड़े पैमाने पर दुनिया भर के लोगों को प्रभावित किया है। दुनिया की सबसे अधिक आबादी वाले देश चीन के वुहान शहर से दिसंबर महीने में कोरोना नामक एक वायरस वहाँ के लोगों को तबाह करते हुए लगभग पूरी दुनिया में जिस तेज़ी से फैलता चला गया और लोगों को अपनी ज़द में लेता चला गया वह अत्यंत ही भयावह और विनाशकारी है। अब तक करोड़ से ऊपर की संख्या में लोग इस जानलेवा विषाणु से संक्रमित हो चुके हैं और लाखों लोग काल-कवलित हो चुके हैं। यह भयावह गणना किस संख्या और मुकाम पर जाकर थमेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। दुनिया के लोग इस समय इस महामारी से जिंदा बचे रहने की लड़ाई लड़ रहे हैं, पर दुर्भाग्य से उनके पास लड़ने के लिए न तो कोई कारगर हथियार उपलब्ध है और न ही बुनियादी और ज़रूरी साधन-संसाधन ही। क्या विकसित, क्या विकासशील और क्या गरीब, सभी देश इसके आगे विवश, मजबूर और हताश दिख रहे हैं। बीसवीं सदी में लड़े गए दो-दो विश्वयुद्धों और ईस्वी सन् 1918 में अमरीका से फैले स्वाइन फ्लू से हुए जान-माल के भारी नुकसान की तुलना में यह इस मायने में बड़ी आपदा है कि इसकी चपेट में लगभग पूरी दुनिया की आबादी है। इस बीमारी के प्रारम्भिक संकेत 2002 और 2013 (सार्स वायरस) में देखने को मिले थे। काश! प्रकृति के उस संकेत को समझते हुए उस समय तक भी अगर हम सावधान होकर पर्यावरण के विनाश की चिंता करते और सार्थक कदम उठा सकते। आज इस महामारी से सबसे अधिक तबाह वही देश हैं जो विकास के नाम पर भूमंडलीय पूंजीवाद या नव-उदारवादी अर्थव्यस्था के पुरजोर पैरोकार रहे हैं और आज भी हैं।

कोरोना को किसी मुल्क़ से जोड़ते ही उसकी ताक़त का पता चलता है। मज़हब से जोड़ते ही विवेक का अंदाज़ा लग जाता है और ईमान से जोड़ते ही नैतिकता का भान हो जाता है। जिस देश को पर्यावरण और प्रकृति से अधिक पूरी दुनिया में अपने और अपने लोगों की सुख-सुविधा और दादागीरी की चिंता सर्वोपरि रही है, जिस देश का प्रमुख 2016 का चुनाव जीतकर सत्ता में आता है और कहता है कि हमारा एक ही लक्ष्य है 'अमरीका फर्स्ट', वही देश आज इस महामारी के आगे कितना बेचारा बना हुआ है यह हम सबके सामने है। दुनिया के समस्त प्राकृतिक संसाधनों पर अपने एकाधिकार का दावा करने वाला राष्ट्र आज इतना लाचार है कि उसकी सारी दादागीरी उड़न-छू हो गयी है। उसकी सारी हेकड़ी मिटती हुई दिख रही है। इस देश का मुखिया इसे 'चाइनीज़ वाइरस' कह कर बुलाता है। उधर चीन भी लगातार इस बीच अपनी ताकत से पड़ोसी राष्ट्रों के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों पर रुआब ग़ालिब कर रहा है। याद करें, 1992 के रियो (ब्राज़ील) में हुए 'पृथ्वी सम्मेलन' को या 2009 के जलवायु परिवर्तन संबंधी कोपेनहेगेन शिखर सम्मेलन को या हाल-फिलहाल सितंबर 2019 को न्यूयार्क में हुए 'क्लाइमेट एक्शन सम्मिट' को। इन सम्मेलनों में अकेले अमरीका का रवैया कैसा रहा है। कैसे ये सम्मेलन असफल रहे हैं या असफल किए गए हैं। दुनिया भर में पर्यावरण सम्मेलनों, प्रदर्शनों, धरनों, स्वयंसेवी समूहों आदि के द्वारा बहसों, चर्चाओं, सिद्धांतों, नियमों, का विश्वव्यापी विस्तृत 'एक्शन प्लान' बनाया गया, पर ठोस जमीन पर नतीजा सिफ़र रहा। ये सारी कवायदें निरर्थक इसलिए हैं कि विकास की जिस अंधी सुरंग में पूरी दुनिया को ले जाया गया है, उसका गंतव्य कहीं नहीं है। पर्यावरण संबधी हर साल की चेतावनी भरी रपटों से इसे जाना जा सकता है। ये भयानक रपटें बहुत डराती हैं। 1992 के रियो में हुए 'पृथ्वी सम्मेलन' के बाद 1993 में वुल्फ़गैंग साक़्स के सम्पादन में ज़ेड बुक्स, लंदन से एक पुस्तक प्रकाशित हुई—ग्लोबल इकोलॉजी। यह पुस्तक विस्तार से रियो सम्मेलन की असफलताओं और कारणों का विश्लेषण करती है। पारिस्थितिकी संकट पर काम करने वाले प्रसिद्ध विद्वान रणधीर सिंह ने 'नेचर' पत्रिका के हवाले से एक ऐसी ही रिपोर्ट का उल्लेख अपनी पुस्तक 'Contemporary Ecological Crisis : A Marxist View - 2009' में किया है—"अगले 50 वर्षों में जिस तरह से पर्यावरणीय परिवर्तनों की संभावना है, उससे एक चौथाई जंगल और जीव-जन्तु नष्ट हो जाएँगे। धरती पर वर्ष 2050 तक दस लाख से ज्यादा प्रजातियाँ विनष्ट हो जाएँगी।"

इन बेहद डराने वाली भयानक चेतावनियों के बावजूद हमारी असीमित उपभोक्तावादी प्रवृत्ति पर कोई लगाम नहीं है। नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था से संचालित और नियंत्रित भूमंडलीय बाज़ार ने इसको आज और बेलगाम बनाया है। इसको एक खास वर्ग के लिए, पूरे नाज़-नखरे के साथ इतना रिझाऊ बनाया गया है कि देखकर ऐसा लगता है कि सचमुच दुनिया कितनी ख़ुशहाल है। उपभोक्तावाद का इतना महिमामंडन और उसका इतना ढींठ पसारा पहले कभी नहीं था। इस नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था की कार्य-प्रणाली में तथाकथित विकास सर्वोपरि है। मानव, प्रकृति, पर्यावरण आदि के जीवन और सहसंबंधों की चिंता विकास के इस मॉडल में सिरे से गायब हैं। प्रकृति और पर्यावरण की चिंता दरअसल पृथ्वी और उस पर रहने वाले जीवों को बचाने की चिंता है। अगर नव-उदरावादी मॉडल की जगह स्थायी विकास को ध्यान में रखकर दुनिया भर में काम किया गया होता तो संभवतः आज हम ऐसे संकट की स्थिति में न होते। प्रकृति और पर्यावरण के साथ मनुष्य के विकास का अर्थ होगा दुनिया के सभी जातियों और समुदायों का अपने प्राकृतिक संसाधनों पर ऐसा अधिकार कि वे सहजीविता के साथ जीवन की जरूरी चीजें भी प्राप्त का सकें और पर्यावरण के चक्र और संतुलन की संरक्षा

भी हो सके। दुनिया भर के आदिवासी समुदाय इसके प्रमाण हैं। चूंकि, उनका जीवन उन संसाधनों पर निर्भर है इसलिए वे उसे नष्ट होने से बचाने के लिए भी चिंतित रहते हैं। पर नहीं, नव-उदारवाद पूँजी वाले विकास के मॉडल ने विकास की जो लीला रची है वह मुट्ठी भर उन कुछ लोगों के हितों, सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखकर, जिनका एकमात्र उद्देश्य उपभोग है, अबाध उपभोग। क्योंकि, पैसा भी उन्हीं के पास है। पर्यावरण, विकास और भूमंडलीकरण पर लिखने वाले वुल्फ़गैंग साक़्स जब 'पृथ्वी सम्मेलन' के बारे में लिखते हुए यह कहते हैं कि "पृथ्वी सम्मेलन वास्तव में अमीर देशों का कूड़ा-कचरा गरीब देशों में डालने के तरीके सुनिश्चित करने के उद्देश्य से आयोजित था न कि अमीर देशों को यह बताने के लिए कि वे अपने उद्योगों और कल-कारखानों पर लगाम लगाएँ और दूसरे देशों के प्रकृतिक संसाधनों को लूटने के बजाए अपने स्थानीय संसाधनों को बचाएँ और बढ़ाएँ।" तो जाहिर है कि उनकी पीड़ा और चिंता के धरातल क्या हैं।

पर्यावरण असंतुलन और जलवायु परिवर्तन आज सबसे गंभीर संकट बना हुआ है। आज जो संकट महामारी बनकर उपस्थित हुआ है वह नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था की विकास-नीति के परिणाम स्वरूप पर्यावरण और प्रकृति के अंधाधुंध विनाश से उत्पन्न मानव-निर्मित संकट है। इस संकट ने आज नितांत निजी स्तर से लेकर पारिवारिक, सामाजिक, स्थानीय और वैश्विक सभी स्तरों पर मनुष्य को अकेला और डरा हुआ बना दिया है। कोरोना महज़ एक महामारी नहीं है। बल्कि इसके व्यापक प्रभावों को समझने के लिए मनुष्य के मनोविज्ञान, उसकी सामाजिक स्थिति से लेकर उसकी आर्थिक परिस्थिति तक को समझना होगा। नोटबंदी के बाद और रिजर्व बैंक पर नियंत्रणकारी दबाव डालते हुए बैंकिंग नीतियों में किए गए फेरबदल से भारत की अर्थव्यवस्था का हाल तो वैसे ही बुरा चल रहा था अब स्थिति और भी ख़राब होती जाएगी। कोरोना के बहाने पिछला सारा किया-धरा धुल जाएगा। इससे अच्छा अवसर अब नहीं आएगा। जिस तरह से लोग बेरोजगार हो रहे हैं, जिस तरह से श्रमिक, मजदूर, निम्न-मध्यवर्गीय लोग इस देश में अपने को असहाय पा रहे हैं, वह चिंतनीय है। कोरोना के बीच, जिस तरह से दिहाड़ी, मजदूरों, कामगारों के बेबस, निस्सहाय पलायन का मंजर देखा गया वह किसी भी सभ्य-समाज के लिए अनैतिक ही नहीं नाकाबिले बर्दाश्त था। 'सोशल डिस्टेन्सिंग' के नाम पर समाजों में जिस तरह से भेद-भाव को बढ़ावा मिला है उससे पता चलता है कि हम किस तरह के समाज में जी रहे हैं। लोगों पर कीड़ों-मकोड़ों की तरह, सेनेटाइज करने के लिए सामूहिक रूप से कीटनाशकों का छिड़काव किया गया। गली-मुहल्लों में सब्ज़ी बेचने वाले ठेलों-खोमचों वालों को जिस तरह से उनके मज़हब के नाम पर मारा-पीटा गया उसे किस तरह से कोई उचित ठहरा सकता है। महानगरों में जो श्रमिक, मजदूर और छोटे-छोटे काम-धंधों से रोजी-रोटी कमाने वाले कामगार लोग हैं, पहले उनकी कोई अलग से जाति नहीं थी वे एक ही जाति के लोग थे—मेहनतकश। पर इधर पिछले कुछ वर्षों में उन्हें भी धर्म और संप्रदायवाद में गोलबंद कर बाँटा जा रहा है। अब वे हिन्दू हैं, मुसलमान हैं। यह विषाणु कोरोना से भी अधिक ख़तरनाक है। इसके संक्रमण को रोकना बहुत ज़रूरी है। इस महमारी से अब लोगों के बीच सामाजिक व्यवहार वही नहीं रहेंगे जो पहले से थे। वह बेहतर होने की तुलना में और बदतर होंगे। मानवीय रिश्तों और विश्वासों का स्वरूप भी बदलने वाला है। यह देखने में आ रहा है कि कोरोना के बीच अभी और बाद में और तेज़ी से समाजों में नए तरह के हाशिए और सीमांत विकसित हो रहे हैं, होंगे। जो लोग पहले से ही सीमांत और हाशिए के समाजों से भी बाहर थे, जिनकी न तो कोई गणना है और न तो वे दृश्य में ही कभी रहे हैं, जैसे शरणार्थी, बंजारे, जिनके पास न तो कोई राशन कार्ड है, न आधार कार्ड न पहचान के कोई अन्य दस्तावेज़, उनका

जीवन और दूभर होगा। भारत और इसकी तरह दूसरे अर्द्ध-विकासशील अर्द्ध-विकसित पारंपरिक व धार्मिक समाजों की अन्य कई तरह की समस्याएँ भी इसमें शामिल हैं। वंचना की राजनीति के तौर-तरीके भी इसमें शामिल हैं। अधिनायकवादी सुख और उन्माद भी इसमें शामिल है। मीडिया का चरित्र और पतन भी इसमें शामिल है। कोरोना केवल अब एक बीमारी भर नहीं है, अब यह धीरे-धीरे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और मानसिक 'चरित्र' भी बन गया है। इसके प्रभाव से मनुष्य इतनी जल्दी नहीं मुक्त होने जा रहा है। अब 'स्मार्ट सिटी' और 'बुलेट ट्रेन' वाले विकास के मॉडल की प्रगति वही नहीं रहने वाली है। इस महमारी के दूरगामी प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता। इसलिए, मानवीय संकट के रूप में उत्पन्न प्रकृति की चेतावनी से समय रहते सीखना होगा। प्रकृति और पर्यावरण की सुरक्षा के अलावा मनुष्य की सुरक्षा का दूसरा कोई भी विकल्प कारगर नहीं हो सकता।

पर इसकी चिंता किसको है? कोरोना महमारी के इस भयावह समय में भी हर तरह के धंधों की राजनीति जारी है। प्रतीत होता है कि धर्म, साहित्य, राजनीति सभी को स्वर्णिम अवसर मिल गया हो। साहित्य में तो बोलने की होड़ सी लगी हुई है। तरह-तरह के दंद-फंद और धंधों के बीच साहित्य भी 'वर्चुअल' हो गया। जिसको देखो वही बोल रहा है। आत्ममुग्ध होकर, प्रकांड ज्ञानी-विज्ञानी बनकर, बस बोले जा रहा है। बोलते-बोलते लहालोट हो रहा है, लहालोट हो-होकर चीख रहा है। चुप रहना और सुनना हमने छोड़ दिया है। वैज्ञानिक सर्वेक्षण यह कह रहे हैं कि कोरोना महामारी के कारण दुनिया भर में लॉकडाउन के चलते धरती का शोर पचास फ़ीसद कम हुआ है। लेकिन इंटरनेट के जरिए गूँजती, परस्पर एक दूसरे को काटती, पछाड़ती ऑनलाइन चीख़ों से अंतरिक्ष 'टलमल' कर रहा है। नैतिक सड़ांध की दुर्गंध आकाश तक फैल गयी है।

आज 'राजनीति' ही नहीं बल्कि 'साहित्य' और 'लेखक' जैसी संस्थाओं के साथ-साथ सभी तरह की सांस्कृतिक संस्थाओं का जो क्षरण हुआ है, पतन हुआ है उसका हमारे समय पर, हमारी सोच पर, हमारी सृजनशीलता पर गहरा प्रभाव पड़ा है। लेखकों, साहित्यिकों, सामाजिकों और राजनेताओं में इस बात को लेकर कोई चिंता नहीं। क्या हमारी नजर में यह नहीं आता कि राष्ट्र-राज्य के साथ-साथ बाज़ार सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण, संचालन और नियंत्रण कैसे कर रहा है? उसकी मूल मंशा क्या है? कोरोना महामारी के बीच जिस तरह से ताली, थाली, शंख, घंटे, घड़ियाल बजवाये गए, जिस तरह से समूचे मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग की जनता के लिए रामायण और महाभारत जैसे टी. वी. धारावाहिकों की पुनर्बहाली की गयी उसका उद्देश्य स्पष्ट था। एरिक हॉब्सबाम के शब्दों में कहा जाय तो 'राजनीति में रँगे धर्म का आकर्षण अचानक बहुत तेज़ी से बढ़ा है।' अबाध रूप से इस समय 'ऑनलाइन' तरह-तरह के रूप-रंग में साहित्य का जो 'वर्चुअल' बाज़ार सजा है, क्या उसका पक्ष और उद्देश्य भिन्न है? बाज़ार में हम किसी एक उत्पाद या प्रतिष्ठान या दुकान के कुछ कारणों से निंदक और आलोचक हो सकते हैं। परंतु, बाज़ार आपकी आलोचना और निंदा के लिए पहले से ही 'स्पेस' बनाकर रखता है और हमारे-आपके मनोनुकूल मुहैया करा देता है। इसमें स्वाभाविक है कि मुनाफा बाज़ार का ही होता है पर प्राकारांतर से आपको लगता है कि चलो हम भी किसी न किसी तरह से इसका फायदा उठा ही लेंगे। इसलिए जिस निंदा और आलोचना के साथ आप प्रतिपक्ष में अपने को खड़ा मान रहे थे, बाज़ार ने आपको प्रतिद्वंद्विता में लाकर खड़ा कर दिया है। भारतीय कवि और आलोचक के. सच्चिदानंदन की यह चिंता जायज है—"याद रखिए सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएं विरोधी कलाकारों को कारावास, देश निकाला, मृत्युदंड आदि

से दंडित करती हैं मगर बाज़ारवादी व्यवस्था तो उन्हें सोखकर आत्मसात कर लेती है और उन्हें सजावट की सामग्री में बादल देती है और इस तरह उनके सम्पूर्ण विद्रोह के हाथ-पाँव ही काट-छाँट देती है या यह कहें कि विद्रोह को तब तक ही तरज़ीह देती है जब तक वह बाज़ार में बिकने लायक हो।" जैसे सामंतशाही और पूँजीवाद के दौर में कला, साहित्य और संस्कृति का नेतृत्व करने वाले, उसे संरक्षित, सुरक्षित करने वाले, पुरोहितों और अभिजात लोगों का अलग वर्ग होता था, उसकी प्रकार से आज नव-उदारवादी अर्थतन्त्र के तहत बाज़ार की जरूरतों और नियमों के अनुसार 'सांस्कृतिक बिचौलियों' के रूप में ख़ास ढंग का एक दलाल वर्ग बहुत तेज़ी विकसित हुआ है।

धार्मिक उत्ताप, नागरिक अवसाद और हताश जन-भावनाओं के साथ कोरोना महामारी के बीच बहुत व्यापक पैमाने पर यह महसूस किया गया कि पिछली कई सदियों की तरह इक्कीसवीं सदी में भी इस बात की उम्मीद कम है कि धर्म को तार्किकता, विवेक और वैज्ञानिकता के सहारे अपदस्थ किया जा सकता है। धर्म जिन समाजों में आस्था से अधिक भीरुता के नाते, इश्क़ से अधिक नफ़रत के नाते, नीति से अधिक राजनीति के नाते, भक्ति से अधिक पाखंड के नाते, मानवीय कल्याण से अधिक कट्टरता और नृशंसता के नाते अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व कायम करता हो वहाँ आपदा, विपदा, महामारियाँ भी इन्हीं के साथ और इन्हीं आधारों पर चिह्नित और परिभाषित होती हों तो आश्चर्य कैसा? मरकज़ और तबलीगी जमात के नाम पर जिस तरह से कोरोना से तेज़ नफ़रत का संक्रमण हुआ क्या उसे अनदेखा किया जा सकता है। कोरोना की वैक्सीन तो देर-सबेर विज्ञान के जरिए ख़ोज लिया जाएगा पर ज़हालत से लड़ने की वैक्सीन किस युग में बनेगी नहीं कहा जा सकता। एक धर्मभीरु समाज में नागरिक-विवेक की जगह राज्य को अंध-विश्वास, अंधभक्ति, व्यक्ति-पूजा, पंडे-पुरोहितों, मौलवियों-मुल्लाओं और नीम-हकीमों-ओझाओं के कर्मकांडीय नुस्खे से चलाया जाए तो वह समाज जैसा होना चाहिए, वैसा दिखता है, वैसा है। ऐसे ही धर्मभीरु समाज और उसके अविवेकी, अतार्किक अंध-भक्त नागरिकों के बल पर शासक निर्द्वंद्व और निरंकुश होकर परम शक्तिमान ईश्वर हो जाता है, बना दिया जाता है। फिर क्या, फिर तो वह ऐसी किसी भी आपदा, महामारी से बचने, निपटने के लिए जरूरी बुनियादी व्यवस्थाओं और सुविधाओं को चाक-चौबन्द करने, विकसित करने की जगह व्यक्ति के अंदर के उस 'भय' का व्यापार करता है जो ईश्वर और धर्म की सत्ता को बनाए रखने के लिए सबसे जरूरी आधार होता है। इसे वह अवसर की तरह चालाकी से अपने पक्ष में, अपनी प्रभुता को और अधिक संरक्षित और दृढ़ करने के लिए उपयोग में ले आता है। फिर धीरे-धीरे वैसा ही होता है जैसा कि धर्म और ईश्वर की सत्ता के साथ होता है। जैसे धर्म और ईश्वर की सत्ता को चुनौती देना कुफ़्र माना जाता है वैसे ही उसकी सत्ता को भी चुनौती देना अपराध।

कोरोना के नाम पर दुनिया भर में नियंत्रणकारी नए-नए कानून जनता पर थोपे जा रहे हैं। एक ऐसे ही कानून के चलते इजरायल में लोग विरोध-प्रदर्शन करते हुए सड़क पर उतरते हैं। दुनिया के कई हिस्सों में कोरोना के बीच हुए नागरिक अधिकारों के हनन को लेकर विरोध-प्रदर्शन हुए हैं। भारत में तो सीएए को लेकर पहले से ही बड़े पैमाने पर विरोध-प्रदर्शन और धरने चल रहे थे। कोरोना महामारी के बीच यहाँ भी उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश समेत कई राज्यों में श्रम-कानून में कई तरह के बदलाव किए गए हैं। इस बदले गए नए कानून में श्रमिकों और मजदूरों के जीवन और जीवन-सुरक्षा व सामाजिक-पारिवारिक कल्याण की बुनियादी सुविधाओं को तय करने का अधिकार जिस तरह से मालिकों के ऊपर छोड़ दिया गया है उसके

दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। दुनिया भर के वैज्ञानिक कोरोना का वैक्सीन ढूँढने में लगे हैं, उम्मीद है कि इस साल के अंत तक वैक्सीन ईजाद कर ली जाएगी। लेकिन अभी से यह बहस तेज़ हो गयी है कि सबसे पहले इस वैक्सीन पर किन राष्ट्रों का अधिकार होगा। आने वाले दिनों में राष्ट्रों के बीच 'वैक्सीन नेशनलिज़्म' के नाम पर लोगों को बरगलाने और भुनाने की भी राजनीति होगी। इस महामारी से पूरी दुनिया में 'राष्ट्र-राज्यों' का चरित्र बदलने जा रहा है। आने वाले दिनों में यह आशंका सही साबित हो सकती है जब इस संकट से निपटने के नाम पर 'लोकतंत्र का स्थगन' और नागरिक अधिकारों का हनन बढ़ता जाए। कुछ मुल्कों में यह लक्षण दिखने लगे हैं। वाल्टर बेंजामिन का कथन याद करें—"दमितों की परंपरा हमें सिखाती है कि जिस आपातकाल में हम जी रहे हैं, वह अपवाद नहीं, अब वही कानून है।"

कृष्ण बलदेव वैद, गिरिराज किशोर, स्वयं प्रकाश, नंदकिशोर नवल, वीरेंद्र कुमार बर्नवाल, प्रेम भारद्वाज, श्यामबिहारी राय, सतीश चन्द्र अग्रवाल, सुषम बेदी, शशिभूषण द्विवेदी, उषा गांगुली, जैसे साहित्यकारों, कलाकारों और प्रकाशकों के साथ पूरी दुनिया में कोरोना महामारी से असमय काल-कवलित हो गए सभी लोगों को पक्षधर की ओर से श्रद्धांजलि।

इस अंक के लिए जिन रचनाकारों ने हमें न केवल अपनी रचना से बल्कि धैर्य के साथ हमारा साथ निभाया और इस अंक को पाठकों की अपेक्षाओं के अनुकूल बनाया उन सबका अभार।

विनोद तिवारी

नौ कविताएँ

दिनेश कुमार शुक्ल

विपर्यय-1

आगत अनागत
जब सीधीसादी बातें उलटवासी लगने लगें
सत्य असत्य की तरह
स्वत्व पराया लगने लगे
मृगमरीचिकाओं के साहित्योत्सव में
मायावी वाग्जाल में फँसी मछलियाँ
आत्मोत्सर्ग के चरमसुख में काँप रही हों
तब मत्स्यन्याय की चरमसिद्धि के
उस युग में
इतना तो करना कवि कि अपने बचपन की
जंगलीफूलों वाली उस अकेली झाड़ी को आवाज़ देना
जो आज भी
नक्षत्र मण्डल के लाखों तारों जैसे फूलों को
गोद में भर कर नयी-नयी माँ जैसी
निश्छल वत्सला खिलखिला रही है
अपने शिशुओं के साथ साथ तुम्हें भी
अपना दूध पिलाएगी
वह अमृता...

सत्ताओं के खंडहर में
सन्नाटे को तोड़ता शब्दहीन एक स्वर उभरता है
पहचानो किसकी आवाज़ यह
आश्वस्ति साहस प्रेम आत्मीयता से भरी भाषा में...
पहचानो पुत्र
पूर्वापर पसरी हुई इसकी कविता को पढ़ो
समझो इसमें छुपी हुई विडम्बना को—
कह रही है पराजय साम्राज्य की
कि कुछ भी नहीं मरता
न गोरी न गजनवी न ईस्टइंडिया कंपनी न आपस की फूट
कुछ भी नहीं मरता
मरता नहीं इतिहास, वह तो प्रतिपल जन्म लेता रहता है
अमरता तुम्हारी ही नहीं उसकी भी है
जिसने मछलियों को सम्मोहन-जाल में फँसा लिया...।
देखो देखो महारास
पृथ्वी खम भर कर नाच रही है
और उसके झुकाव का कोण
बदल रहा है धीरे-धीरे
दिन बदल रहे हैं तो रातें भी बदल रही हैं
अंतरिक्ष में गैलीलियो मुस्कुरा रहा है
पृथ्वी गोल तो नहीं ही है...।

विपर्यय-2

अमिय गरल
नगिनियाँ सोई मोरे संग
कित परदेस बलम मोरा बिलमा
चुनरी भई बदरंग
सखी री! जीवन बिसम प्रसंग
नगिनियाँ सोई मोरे संग

पल दिन मास बरस जुग बीते
जीवन घट रीते के रीते
लिप्सा जीभ लपालप लपके
केंचुल बिजली ऐसी चमके
दमकें दुइ बिसदन्त सखी री!
छिटकें मणि के रंग
नगिनियाँ सोई मोरे संग

फागुन आवे धूरि उड़ावे
सरसों फूले औ कुम्हलावे
धुरहँटिया के संग सखी री!
उड़ि गए होरी के रंग
गगन में बाजे चंग मृदंग
तपत मिरगासिरा अगजग झरसत
महुवा बरसत अंबवा सरसत
जिय में जरत अनंग
नगिनियाँ सोवे मोरे संग

चम-चम चहुँ दिसि चमके मृगजल
जीवन विकल कुरंग
उमड़ि घुमड़ि घन घिरि-घिरि आवें
बूँद न लावें संग सखी री!
फाटत भुइँ के अंग
नगिनियाँ करवट पलटे संग

गाढ़ी रैन जमुन जल सोवे
सोवे पवन बँसुरिया सोवे
कलियदह के अंधकार में
सोवे काल-भुजंग सखी री!

नागिनि मोरी मैं नागिनि की
अँखियन की प्रतिबिंब सखी री!
कौन देस जाने भोर भई
मोरी निंदिया को लागे पंख
नगिनियाँ जागे मोरे संग...।

शब्द की मुक्ति

मुक्त हो जाएँगे वे एक दिन
वमन कर देंगे तुम पर
सदियों से भीतर भरे अर्थ के आक्रोश को
तुम्हारे व्याकरण की वाणी के फंदे से मुक्त
वे टूट पड़ेंगे तुम पर
और डंक मार-मार कर
कर देंगे तुम सबका कायाकल्प

तुम जो शब्द को छल की तरह
पाखंडी के इलहाम की तरह
बहेलिये के जाल और
राजनीतिबाज के कपट की तरह
चालाक टीवी एंकर की लोलुप कूटभाषा में
पिंडारी के रूमाल की तरह
इस्तेमाल करते रहे

शब्द अब तुम्हारे अर्थों की लादी से मुक्त
उड़ते हुए आएँगे टूट पड़ेंगे तुम पर
तुम्हें सत्य के डंक से नथ डालेंगे
ओ झूठे इतिहासकार! ओ झूठे अर्थशास्त्री!
ओ सत्ता के सौदागरों
ओ झूठे कवि लेखक कलाकार समाजसेवी

भर्तृहरि के स्फोटवाद को
सार्थक करते हुए इक्कीसवीं शताब्दी के शब्द
जाने किस दिशा से किस वेग-संवेग से आएँगे
कौन जाने...
अपने साथ मुक्ति का संदेश ही नहीं
साक्षात मुक्ति को सशरीर लिए चले आएँगे
सभी जीवों वनस्पतियों औषधियों खनिजों
क्षिति जल पावक गगन समीर से जो कुछ भी निर्मित है
उस सब की मुक्ति के लिए
विचारों संवेदनाओं स्वप्नों की मुक्ति के लिए
कह नहीं सकता अभी कि कैसे
पर आएँगे इक्कीसवीं सदी के शब्द
बिलकुल नयी भूमिका में
इस बार...।

महानता

हे नागरिक! हे अनागरिक!
जब आप अपने ही कफ-वायु-पित्त के नशे में
किसी आदमी को महान मान लेते हैं
तो जानिए कि
आप दो भस्मासुर पैदा कर चुके

एक तो देहरी के बाहर
और दूसरा अपने ही आभ्यंतर में...
और जानिए कि
आपको ही लगेगा इसका पाप
उसको नहीं जिसे आपने मनुष्य ही न रहने दिया...
और ये भी जानिए कि
इतिहास की भी अपनी अलग दंडसंहिता होती है
इतिहास गवाही नहीं देता
न्याय भी नहीं करता वह
वह केवल दंड सुनाता है...
हे नागरिक! अनागरिक! आप जानिए कि—
महान कोई नहीं
सब मिट्टी के पुतले हैं!

इक ज़माना फ़साना बनता हुआ

हाँ हमने भी
फ़िराक को देखा,
देखा कि देखना क्या है
देखने का शऊर सुनने का
शायरी के शऊर को देखा
देखा कबीर तुलसी को
कीट्स को देखा 'निराला' के साथ
देखा वहाँ 'भुवनेश्वर' को
अदृश्य मंच पर भटकते हुए .....
और इस सबके बीच-बीच वहीं
हाँ हमने गरुड़ को देखा!
या कि झुलसा हुआ संपाती था?

और अब क्या कहें
कि क्या कहिए
कटरे के बैंक रोड के बंगले
एक ढलता हुआ इलाहाबाद
एक ढहता हुआ-सा स्मारक
लुप्त केवल सरस्वती ही नहीं
लुप्ति के युग की वो शुरुआत थी क्या?
निराला की मूर्ति खोई हुई दारागंज में जैसे

मगर उसी नगर में अभी पंत महादेवी थे
देखा हमने बहुत बड़ा संसार
देखी 'नदिया गंभीर बहती हुई'
देखा सागर का लौटता हुआ ज्वार
इक ज़माना फ़साना बनता हुआ
अस्त होने के ज़रा पहले का
हमने ठिठका हुआ सूरज देखा
देखा हमने
फ़िराक को देखा

साल वो साल था कि पहली बार
इंदिरा ने शपथ ली थी प्रधानमंत्री की
वो साल था
अकाल वाला
फिर उसके बाद साल दर साल
बीतना चलता रहा
चलता रहा
देखा हमने कि बीतना क्या है

बीत कर भी कभी न जो बीता
अस्त होता हुआ वो युग देखा
हमने देखा
फ़िराक को देखा...

समवेत नृत्य

कहना चाहता हूँ
चराचर से कि-
झूम कर नाचना
जैसे पुरवाई आने पर
झूमझूम नाचते हैं
आम जामुन करील
और
नृत्त के संवेग में
आकाश को छूना
सूर्य के कंदुक से
तारों के कंचों से
खेलना

कौतुक का कोलाहल
जंगल के छोर पर
सूखे पत्तों के अंबार में
सरसरा रहा है
वासुकी
वह भी झूमझूम नाचेगा
तुम्हारे उल्लास में

सूख चली सरसी की
लहरों के तरंगराग पर
हे ऋतुओ!
हे कालचक्र की अप्सराओ!
मेरे अंतरंग में
झूम झूम नाचना

तुमसे मैं कहता हूँ
नाचना सकल सृष्टि के
हे सारे परमाणुओं!
समवेत
झूम झूम नाचना
क्योंकि
अभी अभी
तीन दशक बाद
देख रहा हूँ हारिल का झुंड
लौट आया है पीपल पर
और
मैं हारिल का परिचय
क्या दू किसी को
सभी तो सभी को जानते हैं

खेतों में समुद्र-सी
लहरें उठ रही हैं
झूमझूम नाचती फसलें
अलसी गेहूँ तिल की
दीर्घतमतरंग पर
देखो तो कौन आ रहा है—
अपूर्व राग
हेराया हुआ शब्द
युगों बाद लौटी प्रतिध्वनि

बिसरी हुई याद
हिलते हुए जल का प्रतिबिंब
बीहड़ का बाग
या कभी न आने वाला समय

देखो तो कौन आ रहा है
तुम्हारा अंतरंग
तरंगित करता हुआ

सड़क का ये मोड़

सड़क का ये मोड़
जाने किस तरफ़ ले जायगा
तय है चाहे जहाँ जाये
रास्ता खो जायगा

इस नगर से उस नगर तक
था ज़रा-सा फ़ासला
दूरियाँ लेकिन बहुत थीं
मोबाइल में मुब्तिला
पास आते आते मंज़िल
दूर खुद जाने लगी
फिर पहुँचना हो न पाया
पथिक जीवन भर चला

रास्ता दिलचस्प था
और हमसफ़र थे हमनवा
मगर सब चुपचाप-से थे
कहीं कुछ नाज़िल हुआ
हमसफ़र अपने कबीलों
में हुए वापस तभी
चलते- चलते थम गई थी
उस सुबह वादे सबा

वक़्त पीछे जा रहा था
विगत के संसार में
अंधेरे की जीत में
और उजाले की हार में

ज्वार वापस हो चुका था
मछलियों को छोड़ कर

कल्पना उम्मीद सपने
संग अपने जोड़ कर
मैं अकेला ही खड़ा था
सड़क के उस मोड़ पर

साथ हमदम छोड़ते हैं
इन दिनों कुछ इस तरह
साँप केंचुल छोड़ता है
पत्थरों पर जिस तरह

तेरी यादों का यहीं अब
टूटता है सिलसिला
चला इतनी दूर तक तो
अब किसी से क्या ग़िला

गीत पूरा हो चुका है
तभी गाया जायगा
जबकि सबके सुर में अपना
सुर मिलाया जायगा

विस्मृति का गीत

दरवाज़े तो दरवाज़े हैं
दरवाजों का क्या कहना
खिड़की खुली हुई है
जिससे यादें झाँका करती थीं

यादें मुस्काती थीं
झुठ्ठै अपने पास बुलाती थीं
कुछ तो तारों में जा बैठीं
कुछ अब भी मिल जाती थीं

व्हाट्सएप पर फेसबुक पर
हाथ हिलाना कभी-कभी

लाइक करना टैग लगाना
कुछ लिख जाना कभी-कभी

छठे छमाहे सपनों में
पहले आ जाया करती थीं
सपने भी वो उठा ले गईं
जिनकी यादें आती थीं

परिस्थिति

क्या गजब शब्द है परिस्थिति!
अर्थवैभव के इस हीरे को
ठीक परख पाता है सुजन समाज ही
बाक़ी सब नहीं समझ पायेंगे
बस चिचियाएँगे
कर कुछ नहीं पायेंगे
क्या अब भी आप में से किसी को
याद है शशिधर की
जिन चट्टानों में खिला था वह
कालदुपहरिया के चटक लाल फूल-सा
सुना है अब वहाँ बोलबाला है
परिस्थितियों के चरण-चारण-चक्रवर्तियों का...

और हाँ साल भर हुआ
उस जनपद का वह औघड़ कवि भी क्षितिज की नीलिमा में ही घुल गया
वह जो गहराई ढूँढ़ती जड़ों की तरह
प्रगाढ़ आलिंगन में लिपटा रहा
उन्हीं लाल चट्टानों से चालीस साल
और पिन्डारी परिस्थितियों ने उसे भी
दूर सड़क किनारे लगे छोटे-से तंबू में
ले जा कर दगा दी
क्योंकि उसके कंठ में एक हजार खतरनाक कविताओं का कोष था
आसपास शातिर अंग्रेज़ी में नारे लगाती खिलखिलाती परिस्थितियाँ थी...

देखा मायादर्पण में सबने उस दिन–
परिस्थिति ने गुरुगंभीर शांतभाव से
सचेत किया देश को कि देखो
परिस्थिति ने ही पराजित राजर्षि का

किया पुनराभिषेक
बनाया महा-जन-सम्मत
बनाया आकाश पाताल
जीवन मृत्यु की शर्तें..सब कुछ...
तो भूलो नहीं कि...

परिस्थितिवश याद बहुत कुछ आता है
और परिस्थितिवश
बहुत कुछ आना चाह कर भी आ नहीं पाता
बहुसंख्यक को परिस्थितियों ने
अल्पसंख्यक बना दिया है
मालूम है कि गिनती के
थोड़े-से ही हैं लुटेरे और आतंकी
लेकिन लाचार हैं एक सौ बीस करोड़
परिस्थितियाँ
लाचार हैं दो सौ चालीस करोड़ आँखें
कान हाथ पाँव

अचानक बहुत मानीखेज हो उठता है
कोई घिसापिटा शब्द भी कभी-कभी
परिस्थितियाँ उसकी रिमॉडलिंग कर देती हैं,
अरे साहब आप पहचान न पाएँगे
ये सरवा तो अपना वही सर्वनाम है
बचपन की तुतलाहट का साथी
और वो विशेषण बन कर मायावी
सांध्यकालीन अखाड़ों में या कहीं किसी आरोही समारोह में
हचक कर मंच पर शिरकत कर रहा होता है...
(वैसे है बड़ी प्यारी हरकत ये शिरकत भी)

अब अगर शब्द से पूछो
कि वहाँ ये क्या बोल आए भइया
या श्उन' लोगों ने कैसे बुला लिया
तो मुस्कीमार जवाब वही-
गुरू परिस्थिति जो न करावे,
और सहमत होना सबसे आसान है
सो मैं भी सहमत हूँ..,.

अब देखिये न परिस्थिति कैसी कि
हमहूँ गणित और सायंस छोड़ कर

बहुत प्रेम कविता लिखे
तब जाकर रोटी मिली
और रिजेक्ट कर दिया मेरा प्रेम
उन सबने जो मुझे प्रेम करते हैं सचमुच
और कविता कवियों को करनी ही थी
सो खारिज़ की,
ठीकै रहा परिस्थिति के चलते कि
एक बार देख आये घर गाँव
कि बहुत ही ज़हीन सरल सुदंर-सी
उपस्थिति बन गई थी ग्रामप्रधान इस बार
भारत के प्रजातंत्र में अब भी संभव हैं
ऐसी निर्मल निडर परिस्थितियाँ
कि फिरसे बहने लगे
रिंद-पांडौ गंगा-जमुना में निर्मल जल
कि गौरैयाँ लौट आएँ घरों में
कि सूखा न पड़े
बंद हो दहेज
बंद हो जल जंगल जमीन की लूट
अस्पतालों में डॉक्टर इलाज करें
स्कूलों में मास्टर पढ़ाएँ
दफ्तर में बाबू करें काम..

इतनी छोटी-छोटी बातें
करते हुए पता चलता है
कितने लोकल हो गये हो तुम
खैर यह पतन तुम्हारा तो होना ही था
परिस्थिति ऐसी अपने लिए तुम्हीं ने बनाई
ग्लोबलाइजेशन के आगे औकात क्या तुम्हारी
पढ़ी क्या तुमने कभी नयी स्वाहिली कविता
पोलिश या फ्लेमिश या कैटेलान भाषा के
एक कवि का नाम बता दो तो जानें
और गुरू सुना तो ये भी है कि तुम
कश्मीर से विस्थापित लोगों के समर्थन में भी इधर उधर बोलते रहे हो...

इस पोस्ट-मॉडर्न परिस्थिति को समझो ज़रा-
कुल मिला कर दो-चार फ़िकरे
उठा ले गये सारे जनवाद को
एक कोई दूसरा नारा आया
पकड़ ले गया देशप्रेम को

और समाजवाद को तो
बस ज़रा-सी फूँक से
उड़ा दिया था आपातकाल नामक शब्द ने...

बस इतना जान लो कि
हम सब परिस्थितियों के दास हैं
और परिस्थितियों के बनाए हमारे राजा-
डोमाजी उस्ताद के वफ़ादार ख़ासम्ख़वास हैं
दासानुदास हैं...

इस परिस्थिति के बावजूद
आज भी
सिर्फ़ कविता में ही नहीं
जीवन के कैसे भी अंधकार में
जाज्वल्यमान
मुक्तिबोध खुद चल कर आते हैं
रास्ता दिखाते हैं
चलना सिखाते हैं।

संपर्क : ए-201, इरवो क्लासिक एपार्टमेंट, रेलविहार, सेक्टर-57, गुड़गाँव-122003, मो. 9810004446

आलेख

'थोपी गई' अंग्रेज़ी, 'स्वेच्छा' का विमर्श और औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता

अभय कुमार दुबे

कुछ अपवादों को छोड़ कर भारत में अंग्रेज़ी के ज्यादातर इतिहासकार अलग-अलग कारणों से इस भाषा को 'थोपा गया' मानने से परहेज करते हैं। उनका इतिहास अंग्रेज़ी की इस अभिजनप्रिय छवि को पुष्ट करता है कि भारत के शिक्षित वर्गों ने 'स्वेच्छा' से इस भाषा की 'माँग' की जिसकी अनुक्रिया में अंग्रेजों ने उन्हें यह 'तोहफ़ा' प्रदान किया।[1] इस इतिहास के संदर्भ में यह लेख मुख्य रूप से तीन परस्पर संबंधित प्रश्नों के बारे में चर्चा करता है। पहला, ब्रिटिश महाप्रभुओं से 'स्वेच्छापूर्वक' अंग्रेज़ी-शिक्षा की माँग करने वाले भारतवासी कौन थे? दूसरा, उपनिवेशवादियों ने अंग्रेज़ी का 'तोहफ़ा' किन भारतवासियों को देना पसंद किया और कौन उससे वंचित रखे गए? तीसरा, इस 'स्वेच्छा' की रचना करने में औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता की भूमिका क्या थी, और इस आत्मनिष्ठता की रचना भाषा, साहित्य और विचारधारा के किन घटकों से हुई?

अंग्रेज़ी के इतिहासकार विभिन्न कोणों से अपने आख्यान को किस प्रकार संसाधित करते हैं, वे क्या दिखाते हैं और क्या दिखाने से बचते हैं—इसके कुछ नमूने देखने आवश्यक हैं। एक इतिहास-लेखक का दावा है : ''अंग्रेज़ी भारत में न तो विजयी सेना के सर पर सवार हो कर आई और न ही राज्यादेश के तहत इसे यहाँ स्थापित किया गया। भारत में अंग्रेज़ी को लोकप्रियता इसे प्रयोग करने वालों को मिलने वाले आर्थिक अवसरों से मिली।''[2] इस कथन में अंग्रेज़ी की 'स्थापना' और 'लोकप्रियता' को पर्यायवाची सा बना दिया गया है—जैसे कि अंग्रेज़ी यहीं-कहीं हवा में मौजूद थी और जैसे ही उसमें से आर्थिक अवसर बरसने शुरू हुए, भारतवासियों में अंग्रेज़ी सीखने की होड़ लग गई। दूसरे, यह कथन इस भाषा की 'स्थापना' और 'लोकप्रियता' को इस तरह पेश करता है जैसे कि यह किन्हीं अदृश्य शक्तियों का काम हो या यह सब स्वाभाविक रूप से घटित हो रहा हो और इसके पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता के किसी इरादे या योजना की भूमिका ही न रही हो। प्रश्न यह है कि क्या 1835 में

मैकॉले की शिक्षा संबंधी टिप्पणी के बाद लॉर्ड विलियम बेंटिक द्वारा जारी राजाज्ञा (जिसमें सरकार के शिक्षा-संबंधी बजट की एक-एक पाई केवल अंग्रेज़ी पर खर्च करने का आदेश दर्ज था) फौजी विजयों की पृष्ठभूमि के बिना संभव थी? इतिहास-लेखन की इसी प्रवृत्ति का एक अन्य उदाहरण हमें बार-बार समझाता है कि भारत में अंग्रेज़ी के आगमन को हमारी बहुभाषिता के एक सार्वदेशिक (कॉस्मोपॉलिटन) आयाम के तौर पर देखा जाना चाहिए। इसीलिए अगर भारत में अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी के लेखन की शुरुआत और विकास को समझना है तो 'सम्पर्क, साक्षरता और संस्कृति-संक्रमण' के तीन पहलुओं पर गौर करना होगा।[3] लेकिन, यह बात तो किसी भी ऐसी भाषा के लिए कही जा सकती है जो एक विजातीय क्षेत्र में जगह बना रही हो। मसलन, यह बात बांग्ला और तमिल के लिए भी कही जा सकती है जो क्रमशः दक्षिण और पूर्व के गैर-तमिल और गैर-बांग्ला सांस्कृतिक-क्षेत्रों में भारतवासियों के लिए स्वाभाविक बहुभाषिता के बीच लेखक, साहित्यकार और पाठक प्राप्त करते हुए प्रभु-भाषाओं के रूप में अपना वर्चस्व कायम कर रही थीं। अंग्रेज़ी संबंधी इतिहास-लेखन का एक तीसरा उदाहरण ऐसा भी है जो उपनिवेशवाद के इरादों और योजनाओं का बचाव करने से तो परहेज़ करता है, लेकिन उसका दावा है कि अंग्रेज़ी की स्थापना और प्रसार औपनिवेशिक विजय या प्रभुत्व का परिणाम न हो कर उसके इरादों और योजनाओं के बावज़ूद एक तरह के 'औपनिवेशिक विनिमय' का नतीजा है जो अंग्रेज़ों और भारतीय अभिजन के बीच हो रहा था।[4] इतिहास-लेखन की यह क़िस्म देखने से इंकार करती है कि साहित्यिक रचनाशीलता के धरातल पर हो रहे इस 'विनिमय' का किरदार किस तरह सत्ता की असमान संरचनाओं के हाथों तैयार हो रहा था।

ज़ाहिरा तौर पर ये इतिहास अंग्रेज़ी की तीन एकदम अलग-अलग छवियाँ पेश करते हैं। पहले में अंग्रेज़ी को एक 'अर्थकारी' भाषा बताया गया है। दूसरे में वह बहुभाषी भारत को सार्वदेशिकता का उपहार भेंट कर रही है। तीसरे में वह भारतीय भाषाओं के साहित्य पर उसके विकास को निर्देशित करने की हद तक गहरा असर डालते हुए दिखाई जा रही है। अगर तीनों को मिला कर पढ़ें तो यह कहानी बताती है कि अंग्रेज़ी का प्रभाव केवल आर्थिक अवसरों की एक भाषा के तौर पर महज उपादानमूलक नहीं था। वह असल में उदीयमान भारतीय आधुनिकता की मूल्यवत्ता और भारत की सांस्कृतिक रचनाशीलता की दिशा निर्धारित कर रही थी। इतना बड़ा उद्यम तो एक वर्चस्वी भाषा के हाथों ही संभव था। प्रश्न यह है कि इन इतिहासों ने उपनिवेशवाद के अंग्रेज़ी संबंध प्रोजेक्ट को वर्चस्व की परियोजना के रूप में देखने से क्यों इंकार किया? ऐसा क्यों है कि उपनिवेशवाद की भाषाई कारिस्तानियाँ इन इतिहास-लेखनों में मोटे तौर पर या तो गैर-हाज़िर हैं, या फिर उनके बारे में नरम लहजे में एक गैर-आलोचनात्मक चर्चा ही दिखाई देती है? दरअसल, इन इतिहासों ने विभिन्न बौद्धिक युक्तियों का इस्तेमाल करके भारत में अंग्रेज़ी के आगमन और कदम जमाने के क्षणों को इस चतुराई से पेश किया है कि इस घटनाक्रम की चालक-शक्ति के रूप में औपनिवेशिक योजना की रूपरेखा या तो धुँधली हो जाती है या पूरी तरह से पृष्ठभूमि में चली जाती है।

मसलन, पहले कुछ बिखरे हुए से ऐतिहासिक तथ्यों के ज़रिये (जैसे सबसे पहला अंग्रेज़ी का टेक्स्ट किसने प्रकाशित कराया था) बताया जाता है कि अंग्रेज़ी तो भारत में उपनिवेशवाद के आगमन से भी पहले, यहाँ तक कि ईस्ट इंडिया कंपनी के गठन से भी पहले से मौजूद है। इसके बाद कहा जाता है कि इस पहले से मौजूद भाषा को ही तो उपनिवेशवादियों ने शिक्षा की भाषा के रूप में 'लागू' किया था। अगले चरण में यह इतिहास-लेखन उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज के भीतर से उठ रही अंग्रेज़ी-शिक्षा की 'जबरदस्त माँग' प्रदर्शित करते

हुए कहता है कि भारत में अंग्रेज़ी लाने का दोषारोपण पूरी तरह से मैकॉले एंड कंपनी पर करना न्यायसंगत नहीं है। यह प्रवृत्ति मैकॉले की कलम से निकले हुए लफ़्ज़ों को 'अपमानजनक' मानने तक से इंकार कर देती है। वह मैकॉले की दावेदारियों को 'गलत, बढ़े-चढ़े और भड़काऊ' से ज्यादा मानने के लिए तैयार नहीं है। उसका निष्कर्ष है : 'अगर स्थानीय परिस्थितियों के संपूर्ण संदर्भ को देखा जाए तो आला दर्जे के सरकारी और आधुनिक विमर्श के लिए आधुनिक उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी का उभार एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसे शक्तिशाली 'देशज' दबावों की पैदाइश मानना चाहिए।' और, चूँकि ये दबाव मैकॉले की शिक्षा संबंधी टिप्पणी के लिखे जाने के बहुत पहले से पड़ रहे थे, इसलिए औपनिवेशिक सरकार अंग्रेज़ी में शिक्षा देने की नीति बनाने के लिए मजबूर थी, 'लैटिन और यूनानी के एंग्लो-सेक्सन, जर्मन, नोर्डिक और स्लाव पैरोकारों की भाँति मैकॉले भी अंग्रेज़ी के भारतीय पैरोकारों को इस भाषा में उपलब्ध विज्ञान और साहित्य का लाभ देने से भला कैसे इंकार कर सकते थे?'[5]

कभी-कभी इन इतिहासकारों में मैकॉले, आंग्लवादियों और अन्य उपनिवेशवादियों की 'इस कृपा' और उनके द्वारा दिये गये 'अंग्रेज़ी के तोहफ़े' की आलोचना के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं, लेकिन तकरीबन सभी को लगता है कि अंग्रेज़ी की वजह से ही भारतवासियों का उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए जरूरी विचारों से परिचय हुआ। इस तरह के वक्तव्य का एक नमूना यह है : ''हम यह कहते नहीं थकते कि व्यक्तित्वहीन बाबुओं की जो फौज आज भारत में खड़ी दिखाई देती है वह मैकॉले की शिक्षा-पद्धति की देन है, परन्तु हम यह कभी नहीं कहते कि भारत की शक्तिशाली फौज भी जिसने भारत को आजादी दिलाई थी, इसी शिक्षा पद्धति की देन थी।''[6] 'शक्तिशाली फौज' से लेखक का मतलब यहाँ शायद उपनिवेशवाद का विरोध करने वाली राष्ट्रवादी शक्तियों से है। दरअसल, अंग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति को भारतीय राष्ट्रवाद का जनक मानने की यह थीसिस ब्रूस मैक्कली की 1940 में प्रकाशित रचना 'इंग्लिश एजुकेशन एंड द ओरिजिंस ऑफ इंडियन नैशनलिज्म'[7] की देन है। इसी तरह ये इतिहासकार यह तो मान लेते हैं कि अंग्रेज़ी की वजह से देश में एक भाषाई आधार वाला वर्ग-विभेद पैदा हुआ, लेकिन वे यह कहने से नहीं चूकते कि जो भी हो, आज की अंग्रेज़ी उपनिवेशवादियों वाली अंग्रेज़ी नहीं है, बल्कि इसका भारतीयकरण हो चुका है।[8] यह तो भारतीय रंग में रंग चुकी ब्रिटेन में पैदा हुई एक भारतीय भाषा ही है जिसे भारतवासियों द्वारा भाषाई वर्ग-विभेद के बावजूद राष्ट्र-हित में उत्तरोत्तर अपनाया जाना पहले भी जरूरी था, और जो भूमंडलीकरण के बाद अपरिहार्य हो चुका है।

ऐसे ही इतिहासों पर तीखी टिप्पणी करते हुए भारतीय शिक्षा-प्रणाली में अंग्रेज़ी की भूमिका के बेहतरीन अध्येता परमेश आचार्य को अस्सी के दशक में कहना पड़ा था : ''मुझे लगता है कि भारत में अंग्रेज़ी-शिक्षा का इतिहास अभी ठीक से लिखा नहीं गया है।... अंग्रेज़ी-शिक्षा की शुरुआत का मकसद औपनिवेशिक हित बरकरार रखना था। घटनाक्रम का निर्णय शासित किसानों के हितों के बजाय भारतीय प्रभावशाली वर्गों के स्वार्थों के मुताबिक अधिक हो रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा का विकास उसी अनुपात में हुआ जिस अनुपात में गरीब लोगों की देशी शिक्षा का नाश होता गया।''[9] परमेश आचार्य ने जिस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है वह अंग्रेज़ी के इतिहासकारों में बहुत गहरे जड़ जमाए हुए है। जैसे ही ऐसा कोई अध्ययन सामने आता है जो अंग्रेज़ी को उपनिवेशवादियों द्वारा थोपा गया दिखाता है, उसे बिना देर किये 'वन डायमेंशनल' या एकायामी करार दे दिया जाता है। इसी के साथ आग्रह यह किया जाता है कि भारत में अंग्रेज़ी का यथार्थ बताने के लिए औपनिवेशिक आरोपण का तर्क नाकाफ़ी है

और उसके लिए कहीं ज्यादा नफ़ीस विमर्श की जरूरत है।[10]

दरअसल, अंग्रेज़ी का ज्यादातर इतिहास इस हकीकत से मुँह मोड़ कर लिखा गया है कि जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी फौजी विजयों के दम पर अपनी हुकूमत के टिकाऊपन और अंग्रेज़ों की सुरक्षा सुनिश्चित कर ली, तो उसके बाद अंग्रेज़ी थोपने के आंग्लवादी आग्रह को लागू करना शुरू किया। शुरुआती हिचक के बाद उपनिवेशवादी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि अंग्रेज़ी और उसके साहित्य के जरिए वे न केवल अपनी सुरक्षा के प्रति निशंक हो कर अपने साम्राज्य की उम्र में इज़ाफ़ा करेंगे, बल्कि शोषण और दमन से बने उसके बदसूरत चेहरे को आकर्षक मेकअप भी प्रदान कर सकेंगे। उपनिवेशवादियों ने एक लंबे दौर में अपनी भाषा और शिक्षा संबंधी सरकारी नीतियों को क्रमशः अंग्रेज़ी के प्रभुत्व और फिर वर्चस्व की स्थापना की तरफ नियोजित रूप से मोड़ा। निस्संदेह इस नीति को लागू करने की प्रक्रिया में अंग्रेज़ों को कई तरह के अंतर्विरोधों और विरोधाभासों से गुजरना पड़ा। इसका एक बड़ा कारण यह भी था अंग्रेज़ी केवल एक भाषा के रूप में थोपी नहीं जा रही थी। उसे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, पश्चिमी मूल्यों, अभिरुचियों और जीवन-शैली के वाहक के रूप में लाया जा रहा था। इसलिए जहाँ अंग्रेज़ी का एक माध्यम के रूप में प्रयोग संभव नहीं था, वहाँ भारतीय भाषाओं का इसी मकसद के लिए प्रयोग किया गया। स्पष्ट रूप से अंग्रेज़ी के मुकाबले केवल भारतीय भाषाएँ ही दाँव पर नहीं लगी थीं। भारतीय विद्या भी दाँव पर लगी हुई थी, क्योंकि अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी-प्रधान शिक्षा पश्चिमी विद्या के साथ एक पूरे पैकेज की तरह परोसी जा रही थी। भारतीय अभिजन के लिए अंग्रेज़ी थी, और सामान्य भारतवासियों के लिए भारतीय भाषाओं में शिक्षा की जो योजना तैयार की गई थी उसके पीछे का इरादा भी पश्चिमी विद्या की शिक्षा का था। यह इतिहास स्पष्ट रूप से कभी रेखांकित नहीं करता कि अठारहवीं सदी के इंग्लैंड में शुरू हुए इस साम्राज्यिक प्रोजेक्ट का भारत में मार्गदर्शन बिटिश उदारतावाद, उपयोगितावाद और प्रोटेस्टेंट धर्मप्रचारवाद की प्रबल आग्रहशील विचारधाराएँ कर रही थीं। उपनिवेशवादियों के बीच की सारी बहसें निर्विवाद रूप से एक ही लक्ष्य की तरफ उन्मुख थीं कि अंग्रेज़ी को भारत में स्थापित करने का सबसे सही और प्रभावी तरीका कौन सा हो सकता है। उसे भारतीय भाषाओं के माध्यम से 'कलम लगाने की रणनीति' के तहत चरणबद्ध ढंग से स्थापित किया जाए, या आंग्लवादियों के दबाव के तहत एक झटके में लाया जाए। दरअसल, अंग्रेज़ों ने किसी एक कार्यनीति पर विशेष जोर न दे कर कई कार्यनीतियों के चतुराई पूर्वक मिश्रण के जरिए अंग्रेज़ी का दबदबा स्थापित किया। ब्रिटिश सत्ता ने नीतियाँ इस तरह की बनायीं कि बेहतर आर्थिक अवसर मिलना केवल अंग्रेज़ी के जरिए ही संभव रह गया। इन नीतियों के जरिए भारतीय भाषाओं को सीखने से प्राप्त होने वाले आर्थिक अवसर अंग्रेज़ी के मुकाबले कांतिहीन हो गए।

अंग्रेज़ी का सामाजिक भूगोल

ज्ञान की इस चालाकी भरी राजनीति से सतर्क रहते हुए अगर अंग्रेज़ी के इस इतिहास पर गौर किया जाए तो भारत में अंग्रेज़ी भाषा के भारतीय वाहकों और उससे वंचित कर दिए जाने रह जाने वालों का एक सामाजिक भूगोल उभरते हुए दिखाई दे सकता है। भारत में अंग्रेज़ी के इस सामाजिक भूगोल की बुनियाद समावेशन और बहिर्वेशन की सामाजिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग करने में कुशल यूरोपीय साम्राज्यवाद की परिचित शैली में ही रखी गई। अन्य उपनिवेशों की ही तरह यहाँ भी उपनिवेशवादियों की विभिन्न गतिविधियों (व्यापार, कारखाना-उत्पादन,

फ़ौजी गतिविधियों, प्रशासन और शिक्षा आदि) के जरिए कुछ सामाजिक सम्पर्क-क्षेत्रों की रचना हुई जिनके दायरे में भारतवासियों के साथ उनकी अन्योन्यक्रिया लाज़िमी तौर से होनी थी। यह समावेशन का दायरा था। मैरी लुई प्रैट के शब्दों में कहें तो इन संपर्क-क्षेत्रों में युरोपीय और स्थानीय संस्कृतियों के बीच परस्पर मिला-भेंटी, टकराव और जद्दोजहद का सिलसिला चला। लेकिन भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में चलने वाला यह पूरा आदान-प्रदान अनिवार्यतः प्रभुत्व और अधीनस्थता के बेहद विषमतामूलक संबंधों के तहत घटित हुआ। आगे चल कर विस्तृत और गहन हो जाने के बावज़ूद इसका यह संरचनागत किरदार कभी नहीं बदला। ये संपर्क-क्षेत्र मुख्य रूप से तीन तरह के थे। पहला था रोजगार का संपर्क-क्षेत्र, दूसरा था विवाह और परिवार का संपर्क-क्षेत्र, और तीसरा था ईसाइयत, शिक्षा और सांस्कृतिक अंतरण का संपर्क-क्षेत्र।[11]

इन संपर्क-क्षेत्रों से बाहर बहिर्वेशन का दायरा था जिसके तहत नीतिगत उपायों के जरिये हिंदू समाज के निचले तबकों को अंग्रेज़ी के ज्ञान से वंचित रखा जा रहा था। इसी दायरे में मुसलमान समाज का भी एक पहलू था जो शुरू में स्वयं ही अंग्रेज़ी से कोई ताल्लुक रखने के लिए तैयार नहीं था। मुसलमान कोई सौ साल के बाद अंग्रेज़ी के सम्पर्क में आने के लिए तैयार हुए। कहना न होगा कि संपर्क-क्षेत्रों में मुसमलानों की मौजूदगी व्यक्तिगत हैसियत से थी। लेकिन, भारतवासियों के एक विशाल समुदाय के रूप में अंग्रेज़ी के मुसलमान वाहक भारतीय इस्लाम के विभिन्न हिस्सों को अंग्रेज़ी से जोड़ने की वह भूमिका नहीं निभा पाये जो उसके हिंदू वाहकों ने निभाने में सफलता प्राप्त की। यहाँ एक बार फिर रेखांकित करने की जरूरत है कि अंग्रेजों की भाषा के सम्पर्क में आने वाले या न आने वाले भारतवासियों के बीच परस्पर समता के संबंध कभी स्थापित नहीं हुए। न उस समय जब सम्पर्क-क्षेत्रों में भारतवासी टूटी-फूटी और कामचलाऊ अंग्रेज़ी बोलते थे, और न ही तब जब उनमें से बहुतेरे भारतीयों का हाथ आंग्ल भाषा पर साफ हो गया। उत्तर-औपनिवेशिक अवधि शुरू होने के साथ अंग्रेजों और भारतवासियों के बीच की पदानुक्रमता वैसी की वैसी अंग्रेज़ी जानने वाले और न जानने वाले भारतवासियों के बीच कायम हो गई।

रोजगार का संपर्क-क्षेत्र : इसकी रचना सत्रहवीं सदी के छठवें दशक के आसपास मालाबार और कुरुमंडल के तटों पर स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी के कारखानों में और उनके मालिकों व प्रबंधकों के लिए व्यक्तिगत रूप से काम करने वाले सैकड़ों भारतवासियों के साथ शुरू हुई। ये लोग खानसामा, बावर्ची, बैरा, ख़िदमतग़ार, बनिया, गुमाश्ता, दुबाशी (या दुभाषी), मुंशी, दीवान, मशालची, आया, धाय, मेहतरत, मेहतरानी, भिश्ती, धोबी, दर्जी, कोचवान, साईस, घसियारे, माली आदि की भूमिका निभाते थे। भारत में नवाबों जैसा जीवन गुजारने वाले अंग्रेज़ बहुत बड़ी संख्या में नौकर-चाकर रखते थे। अंग्रेज़ मालिकों की शैली भारतीय सामंतों से अलग तरह की थी। वे 'कोई है' (यानी जो कोई गुलाम मौजूद हो, वह ख़िदमत में हाज़िर हो) की आवाज़ के साथ अपने इन गुलामों को सेवा के लिए तलब करते थे। इन गुलामों में मालिकों की अंग्रेज़ी के सम्पर्क में सबसे ज्यादा आने की संभावना बनिया, मुंशी, दीवान, दुबाशी, ख़िदमतग़ार और खानसामा की रहती थी। लेकिन, फिरंगियों की नौकरी करने वाली इन सभी श्रेणियों में अंग्रेज़ी पर महारत हासिल करने का सबसे ज़्यादा अवसर दुबाशियों और बनियों को प्राप्त था, क्योंकि व्यापार, प्रशासन, रिकॉर्ड रखने आदि के मक़सद के लिए अंग्रेज स्वयं भी चाहते थे कि इन लोगों की अंग्रेज़ी बेहतर होती चली जाए।[12]

इस अवधि में भारतीय ज़मीन पर अंग्रेजों के साथ पुर्तगीज, डच और फ्रांसीसी भी व्यापार कर रहे थे। सत्रहवीं और फिर अठारहवीं सदी में भारत में अपनी बस्तियाँ (उपनिवेश) कायम

करने की योजना के साथ आए इन यूरोपीय व्यापारियों और उनके छोटे-बड़े वाणिज्य केंद्रों को रोमन, फ़ारसी, अरबी और अन्य भारतीय लिपियाँ जानने वाले ऐसे दुभाषियों की आवश्यकता थी जो उनके और बाजार के बीच एवं उनके और तत्कालीन मुग़ल नौकरशाही के बीच संपर्क-सूत्र की भूमिका निभा सकें। एक से ज्यादा भाषाएँ जानने वाले ये लोग ही दुबाशी कहलाये जिन्हें अंग्रेजों ने मद्रास और बंगाल में अपना प्रभाव-क्षेत्र बढने पर उत्तरोत्तर अपने यहाँ नौकरियाँ दीं। इन लोगों ने अपनी अंग्रेज़ी किसी स्कूल में न सीख कर अंग्रेजों के घरों में सेवा-टहल का काम करने वाले नौकरों से सीखी। ईस्ट इंडिया के कंपनी के वाणिज्यिक, कानूनी और राजनीतिक दफ़्तरों में काम करने वाले भारतीय क्लर्कों में से ज्यादातर ने पहले लिखने और रिकॉर्ड रखने का काम सीखने के लिए बिना किसी वेतन के काम किया, और फिर जब वे कुछ सीख गए तो उन्हें तनख़्वाह मिलने लगी।

अंग्रेजों के लिए दुबाशी का महत्त्व लगातार बढ़ता चला गया। एक योग्य दुबाशी अपने अंग्रेज मालिक की कई तरह की सेवाएँ करता था। वह एक साथ उनका मुख्य सचिव, फाइलों और दस्तावेजों का रखरखाव करने वाला, खजांची, नकदी की व्यवस्था करने वाला होने के साथ-साथ उनका व्यक्तिगत राजदार भी होता था। केवल क्लर्क की भूमिका निभा कर रह जाने वाले दुबाशियों के मुकाबले अंग्रेजों के निजी दुबाशियों के लिए प्रगति के अवसरों की कोई सीमा नहीं थी। औपनिवेशिक बंगाल में ऐसे दुबाशियों को उनके मालिक बनिया (इसका मतलब वैश्य जाति से नहीं है) कहते थे। कालांतर में इन बनियों ने ही उपनिवेशकों और उपनिवेशितों के बीच एक शक्तिशाली बिचौलिये वर्ग की रचना की। अंग्रेज़ मालिक की हैसियत जितनी बड़ी होती थी, उसके बनिये की हैसियत भी उसी के मुताबिक बढ़ जाती थी। उदाहरण के लिए एक कुलीन ब्राह्मण परिवार से आये गोकुल घोषाल हैरी वेरेल्स्ट जैसे उच्चपदस्थ अंग्रेज़ के बनिये थे, जेम्स हिकी के बनिये दुर्गाचरण मुखर्जी और कैंटू बाबू या कृष्णकांत नंदी वारेन हेस्टिंग्ज के बनिये थे। इनमें रामकमल सेन का उदाहरण विशेष तौर से द्रष्टव्य है। वे और उनका परिवार कंपनी द्वारा प्रवर्तित बिचौलिया संस्कृति के स्पष्ट उदाहरण के तौर पर सामने आता है। एशियाटिक सोसाइटी के प्रेस में आठ रुपए मासिक पर कंपोजीटर की नौकरी से शुरुआत करने वाले सेन ने बड़े परिश्रम और लगन से अंग्रेज़ी सीखी। अपने अंग्रेज़ी ज्ञान और अंग्रेज़ों के साथ रब्त-जब्त के चलते वे निरंतर प्रगति करते हुए बैंक ऑफ बंगाल के दीवान के पद तक पहुँचे और बाद में हिंदू कॉलेज और संस्कृत कॉलेज की स्थापना में योगदान किया। भारत में अंग्रेज़ी-शिक्षा के सबसे बड़े पैरोकारों में से एक राममोहन राय ने भी रोजगार के संपर्क-क्षेत्र में ही अंग्रेज़ी सीखी थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में वे भागलपुर जिले के कलेक्टर डिग्बी के दीवान थे। कलेक्टर की चिट्ठी-पत्री, रोजनामचे और ब्रिटेन से आने वाले अंग्रेज़ी के अखबारों को देखते-देखते राममोहन ने पाँच साल के भीतर-भीतर न केवल अंग्रेज़ी सीख ली, बल्कि उसमें इतनी कुशलता हासिल कर ली कि स्वयं अंग्रेज भी कई बार उनके अंग्रेज़ी-ज्ञान से चकित रह जाते थे। इस तरह अंग्रेज़ी सीख कर और अंग्रेजों की सेवा करके दुबाशी, बनिये, एजेंट, बिचौलिये, मुंशी और दीवान वगैरह कलकत्ता के बंगाली समाज की सबसे अमीर और प्रभावशाली हस्तियों में बदल गए। कंपनी के दफ़्तरों में काम करने वाले क्लर्क-दुबाशियों और अंग्रेज़ मालिकों की व्यक्तिगत जरूरत बन चुके प्रबंधक क़िस्म के बनिये-दुबाशियों के अतिरिक्त दुबाशियों की एक तीसरी क़िस्म भी थी। दुबाशियों की यह श्रेणी हेस्टिंग्ज के जमाने में अपनायी गई प्राच्यवादी राजकीय नीति का नतीजा थी। यह था बुद्धिजीवी और विद्वान दुबाशियों का तबका जिसे यूरोपीय प्राच्यवादी विद्वानों की सहायता करने के लिए नौकरियाँ मिली थीं। ये

विद्वान दुबाशी यूरोपीय भाषाओं के साथ-साथ फारसी, संस्कृत, द्रविड़ भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं में निपुण थे। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि यूरोपियन लोगों की सेवा में पारंगत ये तीन तरह के दुबाशी ही भविष्य के भारतीय अभिजन की बुनियाद बने।

अंग्रेज़ी के संदर्भ में उपनिवेशवाद की सर्वाधिक प्रमुख प्रयोगशाला बंगाल थी जहाँ दुबाशियों का संसार एक ऐसे वर्ग को तैयार कर रहा था जिसे आज हम बंगाली भद्रलोक कहते हैं। यह भद्रलोक मौका पड़ने पर अंग्रेज़ों से भी आगे बढ़ कर अंग्रेज़ी का समर्थक बनता नजर आता था। जब भी इस भद्रलोक को लगता कि अंग्रेज़ अपना ध्यान भारतीय भाषाओं में शिक्षा की तरफ मोड़ना चाहते हैं, वह फौरन आंदोलनकारी मुद्रा में आ जाता। विरोध, प्रतिवेदन और ज्ञापन का सहारा लेकर इस भद्रलोक के गणमान्य प्रतिनिधि अंग्रेज़ महाप्रभुओं से आग्रहपूर्वक निवेदन करते कि वे उन पर अंग्रेज़ी की कृपा बरसाने में कोई कोताही न करें। राममोहन राय से लेकर ईश्वरचंद्र विद्यासागर तक अंग्रेज़ी को शिक्षा के विभिन्न दायरों में स्थापित करने के मामले में इस भद्रलोक की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।[13]

व्यापार और प्रशासन के अलावा कम्पनी के सैनिक दायरों में भारतवासियों को अंग्रेज़ी भाषा के संपर्क में आने का मौका मिला। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने अछूत समेत कमजोर हिंदू जातियों को बड़े पैमाने पर अपनी फौज में भर्ती करना शुरू किया। उपनिवेशवादियों ने इस्लाम या ईसाइयत कबूल कर चुके हिंदुओं और सिखों को तो अपनी सेना में भर्ती किया ही, उन्होंने अपेक्षाकृत लिखे-पढ़े हिंदू राजपूतों, मुगल सेना के मुसलमान सिपाहियों, और एंग्लो-इंडियनों के लिए भी अपनी सेना के दरवाजे खुले रखे। दरअसल, सिपाही की नौकरी करने के इच्छुक भारतीयों को कम्पनी की फौज में नौकरी करने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध थे। कम्पनी की सेना निर्विवाद रूप से आंग्ल परिवेश, आचरण-संहिताओं और मूल्यों का पालन करती थी, इसलिए इसमें भर्ती होने वाले अनगिनत भारतवासियों का लाज़िमी तौर से अंग्रेज़ीकरण होना ही था। उनके पास छावनी की अंग्रेज़ी से परिचित होने के प्रचुर अवसर रहते थे। अंग्रेज़ अफसर उन्हें अंग्रेज़ी में ही आदेश देते थे। वेशभूषा, सुलूक और अनुशासन के स्तर पर इन सिपाहियों का पश्चिमीकरण हो जाता था। वे 'स्टॉप, हू इज देयर' जैसे वाक्य बोल लेते थे।

रोजगार के संपर्क-क्षेत्र में एक मुकाम ऐसा भी था जहाँ अंग्रेज़ी पढ़ा सकने वाले अंग्रेज़ों को साधनसम्पन्न भारतीय इस भाषा को सीखने के लिए नौकरी देते थे। बहुत से अंग्रेज़ ट्यूटरों को देशी रियासतों के हुक्मरानों के परिवारों में नियुक्तियाँ मिलीं। ये वे भारतीय थे जिन्होंने सुव्यवस्थित ढंग से 'नेटिव स्पीकर' (अंग्रेज़ अध्यापक) के माध्यम से अंग्रेज़ी सीखी। 1835 के बाद जब कम्पनी सरकार ने औपचारिक रूप से अंग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा पर जोर देना शुरू किया, तो अंग्रेज़ी में औपचारिक रूप से स्कूल-कॉलेज के जरिए शिक्षित भारत के आधुनिक मध्यवर्ग ने धीरे-धीरे अंग्रेज़ी में स्व-प्रशिक्षित दुबाशियों, एजेंटों और बिचौलियों की जगह लेनी शुरू कर दी। विभिन्न स्तरों पर ब्रिटिश नौकरशाही का अंग बनने के लिए अंग्रेज़ी सीखना उत्तरोत्तर अनिवार्य होता चला गया। औपनिवेशिक निजाम में किसी तरह की भारतीय भाषा जानने का ऊर्ध्वगामिता के लिए कोई महत्त्व नहीं था। इस प्रक्रिया में विभिन्न आधुनिक पेशों से जुड़ा एक वर्ग उभरने लगा जिसके लिए अंग्रेज़ी आधुनिक मध्य या उच्च-मध्यवर्गीय जीवन का पासपोर्ट थी। इसकी प्रगति दूसरे वर्गों के लिए अनुकरणीय आदर्श बनती चली गई। यह सही है कि शुरुआत में अंग्रेज़ी सीखने के पीछे एक तरह का उपयोगितावादी दृष्टिकोण काम करता था। प्रगति, नौकरी और पेशे के लिए अंग्रेज़ी, लेकिन जीवन और समाज के निजी और अंतरंग दायरों में मातृभाषा चलती थी। लेकिन, यह द्विभाजन ज्यादा समय तक कायम नहीं

रह पाया, क्योंकि अंग्रेज़ी केवल भाषा नहीं थी। वह एक पूरा का पूरा पैकेज थी। रोजगार की जरूरतों के अधीन हो कर अंग्रेज़ी में व्यवहार करने की सीमाओं का विस्तार तेजी से हुआ और जिस भाषा का दफ़्तर में और उच्चाधिकारियों के सामने व्यवहार किया जाता था, वह घरों के भीतर भी इस्तेमाल की जाने लगी। ऐसे भारतवासियों की संख्या बढने लगी जिन्होंने अपने बच्चों को किसी भी भारतीय भाषा से दूर रखने की योजना के तहत अपना पारिवारिक जीवन विकसित किया। ये वे लोग थे जिनकी आने वाली पीढियाँ आज़ाद भारत में जनगणना के तहत अपनी मातृभाषा अंग्रेज़ी लिखाने वाली थीं, और जिनकी संतानें गर्व के साथ कहने वाली थीं कि 'आई एम बॉर्न एंड ब्रॉट अप इन इंग्लिश।'

विवाह और परिवार का संपर्क-क्षेत्र : भारत में अंग्रेज़ों के पारिवारिक जीवन के अध्येताओं ने हमें बताया है कि शुरुआती दौर में तीन पहलू ऐसे थे जिनके कारण गौरांग पुरुषों का घरेलू जीवन कभी वैसा नहीं हो पाया जैसा वे चाहते थे। पहली बात तो यह थी कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के शुरुआती नियमों के कारण ब्रिटिश फैक्ट्रियों में स्त्रियाँ काम नहीं कर सकती थीं। दूसरे, चर्च ने अंग्रेज़ों पर गैर-ईसाइयों से विवाह करने पर रोक लगा रखी थी। तीसरे, महँगी व लम्बी जोखिम भरी समुद्री यात्रा की बेतहाशा मुश्किलों के कारण अंग्रेज़ स्त्रियाँ आसानी से भारत आने के लिए तैयार नहीं होती थीं। नतीजा यह निकला कि उस जमाने में अंग्रेज़ पुरुषों के मुकाबले अंग्रेज़ स्त्रियों की संख्या बहुत कम थी। यद्यपि उपनिवेशवादी वंशगत स्तर पर अपनी नस्ली शुद्धता का प्रबल आग्रह रखते थे, लेकिन इन कारणों से पैदा हुए परिस्थितिजन्य दबाव ने सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में एक ऐसे ब्रिटिश परिवार के ढाँचे को प्रोत्साहन दिया जो मिश्रित नस्ल का था। कुछ अंग्रेज़ों ने पुर्तगालियों की उन विधवाओं से शादियाँ कीं जो जन्म से हिंदू होने के बावजूद ईसाई धर्म में दीक्षित की जा चुकी थीं। कुछ ने ऐसे परिवारों की बेटियों से विवाह किए। कुछ ने भारतीय स्त्रियों से विवाह ने करके उन्हें अपनी उप-पत्नी बना लिया जिसके कारण तकनीकी रूप से उनके धर्म-परिवर्तन की जरूरत नहीं रह गई। रखैलों के प्रचलन की स्थिति का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि कम्पनी के अंग्रेज़ अफसर अपनी हैसियत के मुताबिक आकार का हरम रखते थे। विवाह की संस्था के भीतर और बाहर पनपे इन परिवारों ने अच्छी खासी संख्या में वर्णसंकर संतानें पैदा कीं जिन्हें मैस्तिजो कहा गया। इस तरह एक एंग्लो-इंडियन पीढ़ी पैदा हुई जो स्वाभाविक रूप से अंग्रेज़ीभाषी होने के साथ-साथ स्वयं को अंग्रेज ही मानती थी। उनके लिए पितृ-भाषा पहले और मातृ-भाषा दूसरे नंबर पर रहती थी। जाहिर है कि भारतीय माँ होने के बावजूद भारतीय होने की प्रतीति उनमें न के बराबर ही थी। उनके गौरांग पिताओं ने अपनी संकर संतानों के लिए कम्पनी के निज़ाम में बेहतर जगहें हासिल करने में कामयाबी हासिल की।[14]

अंग्रेज़-परिवार की इस संरचना ने पत्नी और उप-पत्नी की दर्जा प्राप्त करने वाली भारतीय स्त्रियों का अंग्रेज़ीकरण किया। इस परिवार की संतानें आंग्ल-संस्कृति, पश्चिमी जीवन-शैली, विचार और अभिव्यक्ति में रची-बसी थीं। विनय धारवाड़कर के अनुसार पुर्तगाली-भारतीय, फ्रांसीसी-भारतीय या डच-सिंहली परिवारों के मुकाबले एंग्लो-इंडियन परिवारों का यह संसार बहुत बड़ा और प्रभावशाली था। उन्नीसवीं में आगे चल कर और फिर बीसवीं सदी में धीरे-धीरे समुद्री यात्रा करके भारत आने वाली अंग्रेज़ स्त्रियों की संख्या बढने लगी। ये ब्रिटिश औरतें भारत में रह कर सम्पन्न और ताक़तवर हुए अंग्रेज़ों से विवाह करना चाहती थीं। इनकी मौजूदगी के कारण इस एंग्लो-इंडियन वर्णसंकर समुदाय का संख्यात्मक प्रसार धीमा हो गया। अगर जेंडर के नजरिये से देखा जाए तो अंग्रेज़ पुरुष के भारतीय स्त्रियों से वैवाहिक या विवाहेतर संबंध

बनाने की जो छूट थी, वह वर्णसंकर या सम्पूर्ण रूप से भारतीय पुरुषों द्वारा अंग्रेज़ स्त्रियों से विवाह करने के संबंध में आसानी से उपलब्ध नहीं थी। इस तरह के संबंधों को यूरोपीय और उपनिवेशवादियों के हल्कों में अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। इस मुश्किल के बावज़ूद कुछ ऊँची जाति के सम्पन्न भारतीय पुरुषों और राजे-रजवाड़ों ने ब्रिटिश और पुर्तगाली स्त्रियों से विवाह किये, लेकिन उनकी संख्या कभी बहुत नहीं रही।

विवाह और परिवार के इस सम्पर्क-क्षेत्र ने भारत को अंग्रेज़ी-लेखन और साहित्य के शुरुआती हस्ताक्षर उपलब्ध कराये। चाहे वह दीन मुहम्मद की हस्ती हो, हेनरी डेरोजियो की या फिर माइकेल मधुसूदन दत्त की—ये सभी नाम इसी सम्पर्क-क्षेत्र की देन थे। अंग्रेज़ी में कविताएँ और गद्य-लेखन करने वाले उत्तर-औपनिवेशिक साहित्यकारों पर अगर गौर किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि अनिता देसाई, डॉम मोरेस, ऑबरी मेनन, रस्किन बांड, युनाइस डिसूजा, मेलैनी सिलगार्डो, चारमेन डिसूजा, सैंतन रोर्डिगेज और राउल डिगामा रोज के पारिवारिक और सामुदायिक तार इसी सम्पर्क-क्षेत्र से जुड़े हुए हैं।

ईसाइयत, शिक्षा और सांस्कृतिक अंतरण का सम्पर्क-क्षेत्र : इस सम्पर्क-क्षेत्र को धारवाड़कर ने धर्मांतरण का सम्पर्क-क्षेत्र करार दिया है। लेकिन धर्मांतरण की श्रेणी एक सीमा तक ही इस क्षेत्र की नुमाइंदगी कर सकती है। दरअसल, ईसाइयत का प्रभाव धर्मांतरण से कहीं परे जा कर शिक्षा, उसके जरिए अंग्रेज़ीकरण और पश्चिमीकरण के संदर्भ में पूरे के पूरे भारतीय समाज को प्रभावित करने वाला साबित हुआ है। मसलन, आज पूरे भारत में साप्ताहिक अवकाश के रूप में रविवार (संडे) के दिन को स्वाभाविक रूप से ग्रहण किया जाता है, जबकि यह एक ईसाई अवकाश है। बाइबिल के अनुसार संडे के दिन ईसाइयों को अपना कामकाज न करके चर्च में जा कर मास (सामूहिक प्रार्थना) में भाग लेना चाहिए। लेकिन, पश्चिमी विमर्श के प्रभाव में संडे को एक सेक्युलर अवकाश-दिवस के रूप में सरकारी और लोकप्रिय मान्यता मिल गई है। अगर हिंदू समाज की तरफ से मंगलवार या बृहस्पतिवार को और मुसलमानों की तरफ से जुमे (शुक्रवार) के दिन को सार्वजनिक अवकाश बनाने का आग्रह किया जाए तो इस माँग को बिना देर किये हुए साम्प्रदायिक करार दे दिया जाएगा। ईसाइयत और सेक्युलरीकरण के अभिन्न रिश्ते के संदर्भ में आइडिया मोबाइल नेटवर्क का टीवी पर आने वाला एक विज्ञापन तो कभी भुलाया ही नहीं जा सकता। इस विज्ञापन में फिल्म अभिनेता अभिषेक बच्चन एक ऐसे पादरी की वेशभूषा में सामने आते हैं जो दरअसल एक विद्यालय के प्रधानाध्यापक के रूप में सेक्युलर शिक्षा की नुमाइंदगी कर रहा है। क्या कल्पना की जा सकती है कि मीडिया कभी एक पंडित या मौलवी से भारतीय शिक्षा के सेक्युलर रूप का प्रतिनिधित्व कराने की जुर्रत करेगा?

दरअसल, भाषा के संदर्भ में ईसाइयत शिक्षा-व्यवस्था में अपने सक्रिय और निरंतर हस्तक्षेप के कारण धर्मांतरण की सीमाओं को लाँघ कर गैर-ईसाई समुदायों की भाषाई प्राथमिकताओं को बदलने का सर्वोच्च कारण बनी है। न केवल यह, शिक्षा-व्यवस्था में ईसाइयत के हस्तक्षेप और उसके जरिए शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी की स्थापना ने इस देश और समाज के सांस्कृतिक अंतरण की प्रक्रिया को एक कभी न रुकने वाला बढ़ावा दिया है। मैकॉले ने अपने पिता जैकारी मैकॉले के पत्र के जवाब में इसी सांस्कृतिक अंतरण का दावा किया था। उनका विचार था कि धर्मांतरण की मिशनरी गतिविधियाँ भी वह काम नहीं कर सकतीं जो अंग्रेज़ी शिक्षा कर सकती है।

यह एक स्थापित तथ्य है कि व्यापार करने के लिए बनाई गई ईस्ट इंडिया कम्पनी बुनियादी

रूप से एक ईसाई संगठन थी (हालाँकि श्रीश चौधरी जैसे इतिहासकार इस तथ्य को छिपा लेते हैं), और सुरक्षा-भीति के कारण भारत में ईसाइयत का प्रचार-प्रसार करने संबंधी उसके व्यावहारिक संकोच के बावजूद उसकी हुकूमत अपने मर्म में एक 'क्रिश्चियन राज' ही थी।[15] 1813 में कम्पनी के चार्टर का नवीकरण होने के बाद जैसे ही अंग्रेज़ों को भारत में ईसाई धर्मप्रचार की इजाजत मिली, वैसे ही औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश मिशनरियाँ भारत में तेजी से पनपने लगीं (पहले ये मिशनरियाँ डेनिश या पुर्तगाली इलाकों में रह कर अपनी गतिविधियाँ करती थीं)। यह सही है कि पुर्तगालियों की भाँति अंग्रेज़ों ने ईसाई धर्मांतरण के लिए ज़ोर-ज़बरदस्ती की नीति नहीं अपनाई, लेकिन अगर भाषाई और सांस्कृतिक अंग्रेज़ीकरण की दृष्टि से देखा जाए तो ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने कोई सत्तर लाख लोगों को तो ईसाई बनाया ही। ईसाई बनने का मतलब ही था अंग्रेज़ी के सम्पर्क में आना। एक तरफ जहाँ डेरोजियो और मधुसूदन दत्त जैसे लोग विवाह और परिवार के सम्पर्क-क्षेत्र की वजह से अंग्रेज़ीदाँ बने, तो गोविन चंदर दत्त और उनके भाई गिरीश चंदर दत्त के अलावा तोरु और अरु नामक दत्त बहनें और पंडिता रमाबाई जैसे अंग्रेज़ी के कवि और लेखक धर्मांतरण की ही देन थे। बीसवीं सदी में धर्मांतरण की दर बहुत कम हो गई, लेकिन इस सम्पर्क-क्षेत्र ने जयंत महापात्र और देबा पटनायक जैसे अंग्रेज़ी के लेखकों को मंचस्थ करना जारी रखा। शिक्षा और ईसाइयत के मेल-मिलाप ने अंग्रेज़ी के प्रचार-प्रसार में किस तरह योगदान किया, इसका अंदाजा इस उद्धरण से लगाया जा सकता है :

''जब वे भारतवासियों को ईसाईमत में दीक्षित नहीं भी कर रहे होते थे—इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, आयरलैंड और संयुक्त राज्य के मिशनरी भारतीयों के बीच अंग्रेज़ी भाषा और उसकी संस्कृति के संचार पर एक टिकाऊ और दूरगामी प्रभाव डाल रहे थे। इस संबंध में राममोहन राय का विशिष्ट उदाहरण द्रष्टव्य है। कलकत्ता, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में राय के यूनिटेरियन चर्च से संबंधित समर्थकों और चिट्ठी-पत्री करने वालों ने उनके धार्मिक विचारों, सामाजिक सक्रियता और अंग्रेज़ी, बांग्ला और फारसी में किये गये विवादात्मक लेखन के कई पहलुओं को उनकी शक्ल-सूरत प्रदान की। कुल मिला कर अपने ऊपर आरोपित सीमाओं के बावज़ूद औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में शिक्षा के गैर-सरकारी क्षेत्र में ईसाई मिशनरी स्कूल और कॉलेज अंग्रेज़ी माध्यम के शिक्षा-संस्थान बने हुए हैं। उन्नीसवीं सदी की ही भाँति बीसवीं सदी में भी भारत के अंग्रेज़ी लेखकों का एक बहुत बड़ा हिस्सा अंग्रेज़ी माध्यम की ईसाई मिशनरी संस्थाओं में या तो शिक्षित हुआ है, या उनमें पढ़ा-लिखा है।''[16]

ईसाइयत, शिक्षा और सांस्कृतिक-अंतरण का यह त्रिकोण इतना विशाल है कि यह लगभग सारे भारतीय उपमहाद्वीप को अपने आगोश में ले लेता है। महान कलाविद् आनंद के. कुमारस्वामी ने सांस्कृतिक-अंतरण की इस प्रक्रिया को बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में ही देख लिया था। 17 अप्रैल, 1906 को सोशल रिफॉर्म सोसाइटी के जलसे में 'एंग्लिसाइजेशन ऑफ द ईस्ट' शीर्षक से प्रकाशित भाषण देते हुए कुमारस्वामी ने में विस्तार से दिखाया था कि किस तरह ब्रिटिश शासन न केवल भारत और श्रीलंका का आर्थिक और राजनीतिक दोहन कर रहा है, बल्कि इस पूरे क्षेत्र का आंग्लीकरण करके इसके समतामूलक अस्तित्व पर एक अनिवर्चनीय दुष्टता थोपे दे रहा है। कुमारस्वामी का स्पष्ट प्रेक्षण था कि यह मामला पश्चिमी सभ्यता के पूर्वी सभ्यता पर पड़ने वाले किसी प्रभाव का या दोनों सभ्यताओं के श्रेष्ठ तत्त्वों के सह-अस्तित्व का न हो कर एक सभ्यता के नाश और उसकी जगह दूसरी सभ्यता की स्थापना का है। इस व्याख्यान में कुमारस्वामी ने नतीजा निकाला था कि किसी विजातीय शासन के तहत किसी

विशेष दिशा में बाध्यकारी प्रगति की अपेक्षा धीमी गति से होने वाली और ठोस बुनियाद पर आधारित भिन्न प्रकार की क्रम-विकासीय प्रगति अधिक मूल्यवान होती है। उपनिवेशवादियों के बारे में उनका प्रेक्षण था कि जिनके पिछलग्गू भारतवासी बनना चाहते हैं वे अंग्रेज या तो उनके प्रति अरुचि रखते हैं या भारत को समझने में नाकाम हैं। कुमारस्वामी की मान्यता थी कि जिन बातों (जैसे, तथाकथित इंग्लिश रेनासाँ, 'क्लासिकल' की बनावटी आराधना, रेलवे, परीक्षा-प्रणाली और क्लर्क बनने की योग्यता) को ब्रिटिश उपनिवेशवाद का भारत को योगदान बताया जाता है, वे बढ़ी-चढ़ी और संदिग्ध मूल्यवत्ता की हैं। कुमारस्वामी के शब्दों में अंग्रेजों ने भारत को शांति और स्थिरता दी लेकिन संगीन की नोक पर। जिस कानून और व्यवस्था की इतनी विरुदावलि गाई जाती है, वह उस समय इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती जब इस प्रकार के तथ्य सामने आते हैं कि बंगाल के लोग ब्रिटेन के लोगों के मुकाबले कानून के शासन का दोगुना सम्मान करने वाले हैं। कुमारस्वामी के अनुसार तलवार के दम पर जीता और कुचला गया समाज भी अपनी वापसी कर सकता है, बशर्ते वह अपने आत्म को बचा कर रख सके। लेकिन, अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा को स्वीकार करके और अपनी भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन करने से इंकार करके सिंहलियों और भारतवासियों ने इस संभावना को कमजोर कर दिया है। मुसलमानों की भारत पर जीत ने भारतीय कला के चरित्र में गम्भीर परिवर्तन किया था, लेकिन उससे भारतीय कला के मूल तत्त्व नष्ट नहीं हुए। लेकिन, औपनिवेशिक आधुनिकता ने उसे बरबाद कर दिया है।[17]

सौ वर्ष से भी ज़्यादा पुराना कुमारस्वामी का यह प्रेक्षण भारत में अंग्रेज़ी की संस्कृति के मर्म को उधेड़ कर रख देता है। अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले आज के भारतवासियों के सांस्कृतिक-आत्म की अगर जाँच की जाए तो यह देख कर कोई ताज्जुब नहीं होता कि भारतीय भाषाओं और भारतीय सांस्कृतिक जगत से उनका संबंध कितना सीमित है। वे ज्यादा से ज्यादा सब्जीवाले, रिक्शेवाले, चपरासी, खानसामे और किसी ग्रामीण से किसी टूटी-फूटी भारतीय भाषा में बातचीत कर सकते हैं, लेकिन अगर उनसे सार्वजनिक मंच पर औपचारिक रूप से कुछ वाक्य किसी भारतीय भाषा में बोलने के लिए कहा जाए तो उनमें से अधिकतर परेशानी में पड़ जाते हैं। कुछ एक अपवादों को छोड़ कर भारतीय भाषाओं की साहित्यिक उपलब्धियों से पूरी तरह से कटे हुए इन अंग्रेज़ीदाँ बुद्धिजीवियों का सांस्कृतिक सम्पर्क हिंदी की व्यावसायिक फिल्मों में इस्तेमाल की जाने वाली अति-सरलीकृत भाषा और लोकप्रियता की व्यावसायिक कसौटियों से बँधे उनके गीत-संगीत तक ही सीमित रह गया है।

अंग्रेज़ी से बहिर्वेशन का क्षेत्र

हिंदुओं और मुसलमानों के संदर्भ में अंग्रेज़ी के भूगोल की सामाजिक संरचना को स्पष्ट करने वाले आर.के. कोछड़ के अनुसार उपनिवेशवाद जिस अंग्रेज़ी जानने वाले वर्ग की रचना कर रहा था वह मुख्य तौर से ऊँची हिंदू जातियों का था। कम्पनी के दस्तावेजों में आने वाले 'नेटिव' शब्द का व्यावहारिक मतलब हमेशा से ही ऊँची जातियों के हिंदू भारतवासी होते थे। निचली जातियों को उस दायरे में शामिल करने के उपाय करने में अंग्रेजों को कोई रुचि नहीं थी :

"शिक्षा की भूमिका के बारे में अक्सर ऊँची-ऊँची बातें की जाती हैं। लेकिन असलियत यह है कि शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य मक़सद व्यक्ति को रोजी कमाने लायक करना होता था। इसीलिए कक्षा में दी जाने वाली शिक्षा उन जाति-समूहों के किसी काम की नहीं थी जो खेती, कारीगरी और क्षुद्र समझे जाने वाले कामों में लगे थे। इस शिक्षा ने केवल उन जातियों

को आकर्षित किया जो पारम्परिक रूप से पढ़ाई-लिखाई, वाणिज्य और लेखन आदि से जुड़ी हुई थीं। ...अंग्रेज़ कोई समाज-सुधारक नहीं थे। निचले तबकों का उत्थान उनके एजेंडे का अंग नहीं था। अपने फायदे के लिए वे सामाजिक यथास्थिति को बदलने के बजाय उसका लाभ उठाने में लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रति सामाजिक अनुक्रिया जाति-आधारित ही होनी थी। परम्परागत रूप से ऊँची जातियाँ सरकारी नौकरियों और शासन की कृपा पर निर्भर थीं, इसलिए फारसी की जगह अंग्रेज़ी उनके लिए रोजी-रोटी का नया ज़रिया बन गई। उन्होंने अंग्रेज़ी की कक्षाएँ भरनी शुरू कर दीं। ... दूसरी तरफ जहाँ तक उनकी पारम्परिक रोजी-रोटी का सवाल था, निचले तबके अंग्रेज़ी शिक्षा से लाभान्वित नहीं हो सकते थे। नयी नौकरियाँ संख्या में बहुत कम थीं, और सामाजिक ढाँचा इतना ग़ैर-लचीला था कि किसी भी हालत में पारम्परिक पेशों से हटना नामुमकिन ही था। इसलिए ये जातियाँ इस दायरे से बाहर ही रहीं।''[18]

ऊपर दिखाया जा चुका है कि मैकॉले से लेकर शिक्षा-नीति बनाने वाले सभी उपनिवेशवादियों केवल समाज के मुट्ठी-भर ऊँचे तबकों को ही अंग्रेज़ी-शिक्षा देने की संस्तुति की थी। बाक़ी भारतवासियों के लिए तो उनके पास छनन-सिद्धांत था जिसे व्यवहार में उतारने के लिए भारतीय भाषाओं की भूमिका सामने आती थी। लेकिन, औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली में निचली जातियों को अंग्रेज़ी के मुकाबले दोयम दर्जे की यह शिक्षा भी नसीब नहीं थी। अंग्रेज़ों की शिक्षा-प्रणाली का ढाँचा था ही इस प्रकार का।

मुसलमान और अंग्रेज़ी : कोछड़ ने सैयद महमूद की पूर्वोद्धृत रचना अ हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश एजुकेशन 1781-1893, औपनिवेशिक युग के शिक्षा संबंधी दस्तावेजों और इम्तियाज अहमद जैसे विद्वानों के अनुसंधान की मदद से दिखाया है कि अंग्रेज़ी-शिक्षा से वंचित भारत का यह क्षेत्र देश की मुसलमान आबादी को भी जोड़ लेने से बहुत बड़ा हो जाता है। उन्नीसवीं सदी में स्थिति यह थी कि मुसलमानों का बहुसंख्यक हिस्सा उर्दूभाषी नहीं था। बंगाल, उत्तर-पश्चिम सीमांत, सिंध, कश्मीर और पंजाब (पाँचों मुस्लिम बहुल प्रांत) के मुसलमान क्रमशः बांग्ला, पश्तो, पंजाबी, सिंधी और कश्मीरी भाषा का व्यवहार करते थे। उर्दू केवल दिल्ली और अवध प्रांत के मुसलमान उच्चवर्ग तक ही सीमित थी। हिंदुओं की भाँति अंग्रेज़ मुसलमानों के ऊँचे तबके को अंग्रेज़ी की शिक्षा देना चाहते थे, पर हिंदू उच्चवर्ग के विपरीत मुस्लिम उच्चवर्ग ने अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने में दिलचस्पी नहीं दिखाई। शुरुआती दौर में मुस्लिम अभिजनों ने अंग्रेज़ी सीखने में हिंदू अभिजनों से प्रतियोगिता नहीं की, और इसी वज़ह से वे ब्रिटिश सरकार की नौकरशाही और अन्य पेशों में पिछड़ गए।

मुसलमान अंग्रेज़ी-शिक्षा से क्यों दूर रहे? विद्वानों ने इस प्रश्न के तीन तरह के उत्तर दिए हैं। पहला और अक्सर दोहराया जाने वाला कारण धर्मांतरण का डर बताया जाता है। मुसलमानों को लगता था कि अंग्रेज़ी सीखने के चक्कर में उन्हें इस्लाम छोड़ कर ईसाई मत क़बूल करना पड़ सकता है। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि मुसलमान अतीत के इस्लामिक साम्राज्य की यादों में डूबे हुए थे इसलिए उन्होंने ब्रिटिश शासन से जुडना नापसंद किया। तीसरा कारण ब्रिटिश शासन द्वारा हिंदू मध्यवर्ग को पालने-पोसने की प्रक्रिया में मुस्लिम कुलीन वर्ग की उपेक्षा के रूप में बताया जाता है। अमीनुर रहमान ने अपने अध्ययन में इन तीनों कारणों को असंतोषजनक करार देते हुए निष्कर्ष निकाला है :

''अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रति मुसलमानों की अरुचि के कारण धार्मिक होने के बजाय ऐतिहासिक और संरचनागत थी। प्राच्यवादियों ने धार्मिक चेतना को सामाजिक परिघटना की तरह ग्रहण

करके और ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को साम्राज्यिक पराजय का स्वाभाविक परिणाम मान कर गलती की है। वे यह समझने में विफल रहे कि प्राक्-औपनिवेशिक अवधि से ही हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एक श्रम-विभाजन काम कर रहा था जो ऊर्ध्वगामी प्रगति के प्रमुख कारक के रूप में अंग्रेज़ी-शिक्षा की स्थापना से और बढ़ गया। शहर-आधारित और अभिजनोन्मुख होने के कारण यह शिक्षा देहात में रहने वाले मुसलमान किसानों को प्रगति के अवसर देने में विफल रही।''[19]

अमीनुर रहमान का यह प्रेक्षण मुख्य रूप से बंगाल के मुसलमानों के बारे में है। लेकिन व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर यह पूरे भारत के मुसलमानों के लिए सही लगता है। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर में ब्रिटिश हुकूमत ने मुसलमानों को अंग्रेज़ी शिक्षा देने के बारे में सोचना शुरू किया। इसी दौर में मुस्लिम राजनीति के क्षितिज पर सैयद अहमद खाँ (1817-1898)[20] की हस्ती का उदय हुआ। 1877 में मुहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज की नींव अलीगढ़ में रखी गई। लेकिन ये प्रयास भी मुसलमानों के अंग्रेज़ी-शिक्षा से जुड़ाव को हिंदुओं के स्तर तक नहीं बढ़ा पाए, क्योंकि सैयद अहमद खाँ का आंदोलन मुख्य रूप से उर्दूभाषी उच्चवर्गीय मुस्लिम अभिजन तक ही सीमित रहा। उसका असर न तो गैर-उर्दूभाषी मुसलमानों के देश भर में फैले विशाल समाज तक पहुँचा—न ही दिल्ली और अवध प्रांत के निचले मुसलमान तबके उससे प्रभावित हुए। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान अंग्रेज़ी के सामाजिक भूगोल में मुसलमानों की स्थिति हिंदू निचली जातियों और तबकों की भाँति हाशिये पर ही सिमटी रही।

अंग्रेज़ी-केंद्रित औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता की निर्मिति

अंग्रेज़ी की स्थापना और प्रचार-प्रसार के जरिये किस तरह ग्लोबल स्तर पर असमानता को बढ़ावा देने वाली एक आत्मनिष्ठता की समकालीन संरचना तैयार होती है, इसकी तरफ भाषा से संबंधित उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श ने ध्यान आकर्षित किया है।[21] लेकिन इस आत्मनिष्ठता की जड़ें उत्तर-औपनिवशिकता में नहीं, बल्कि उस औपनिवेशिकता में हैं जिसके प्रभावशाली अवशेषों से उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श जूझता नजर आता है। यह अलग बात है कि इस अंग्रेज़ी केंद्रित आत्मनिष्ठता के विभिन्न घटकों और उनके विन्यास का विधिवत् संधान करने वाली बौद्धिकता अपवादस्वरूप ही उपलब्ध है।

प्राच्यवादी (जो मानते थे कि प्राचीन भारत के पास एक सुनहरा अतीत था) और आंग्लवादी (जो मानते थे कि भारत के अतीत में भी कुछ उल्लेखनीय नहीं था) अपने मतभेदों के बावूजद इस बात पर सहमत थे कि भारत का मध्ययुग और तत्कालीन वर्तमान पतनशीलता और अंधकार का दूसरा नाम है। और, उसके पास न तो उस जकड़ से निकालने लायक ज्ञान है और न ही भाषाएँ हैं। इस औपनिवेशिक मान्यता के बारे में पर्याप्त विमर्श उपलब्ध है। वर्तमान को उबारने के लिए पूरी तरह से अनुपयुक्त करार दे दिये गये अतीत के बरक्स जब आधुनिक पश्चिम और उसकी वाहक अंग्रेज़ी को रखा गया तो इस आत्मनिष्ठता की पहली और सर्वप्रमुख आधारशिला तैयार हुई। यह था अंग्रेजों द्वारा थमाई गई श्रेष्ठता का वह विन्यास जिसके तहत बनती और जड़ जमाती हुई दिखने वाली इस आत्मनिष्ठता ने उपनिवेशवादियों की सोहबत में पनप रहे वर्गों को लालायित किया। ये वर्ग भारतीय समाज की अंग्रेज़ों द्वारा रेखांकित तथाकथित खामियों के आधार पर एक तरह की सामाजिक आत्म-घृणा में जीवित रहना सीख गए। इन्होंने मान लिया कि आधुनिक भारत के निर्माण के लिए भारतीय ज्ञान या तो पूरी तरह से अनुपयोगी

है या फिर अत्यधिक पुराना हो जाने के कारण आज के भारतीय समाज के लिए उसकी उपयोगिता बहुत कम रह गई है। परिणामस्वरूप यह औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत को ही भारत के लिए ज्ञान के एकमात्र उपयोगी स्वरूप की तरह मान्यता देने का प्रमुख आधार बन गई।

आम तौर पर औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता की परिभाषा मैकॉले के उस चर्चित कथन के जरिये दी जाती है जिसमें उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षित बाबूवर्ग की रचना का कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। लेकिन उपनिवेशवादियों का लक्ष्य केवल अपनी नौकरशाही में काम करने वाले क्लर्कों का उत्पादन करना भर नहीं था।[22] वे तो अपने साम्राज्य की उत्तरजीविता के लिए भारत को भीतर से लेकर बाहर तक बदलना चाहते थे। वे एक ऐसे भारतीय की रचना करना चाहते थे जिसके 'जीवन की सबसे बड़ी कामना' अपने ब्रिटिश 'महाप्रभुओं की नैतिक और बौद्धिक उत्कृष्टता' के स्तर तक स्वयं को उठाना हो और जिसकी सबसे प्रबल महत्त्वाकांक्षा ऐसे बौद्धिक गुणों को हासिल करना हो जिनसे धरती का स्वामी होने की उनके शासकों की हैसियत प्रमाणित हो सके। उन्नीसवीं सदी के प्रमुख आंग्लवादी चार्ल्स ट्रेवेलियन द्वारा व्यक्त इस कथन को औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता की परिभाषा के तौर पर लिया जा सकता है। ट्रेवेलियन को यकीन था कि भारतीयों के दिमाग पर अंग्रेज़ों की श्रेष्ठतर विद्या का सिक्का जम चुका है। वे मानने लगे हैं कि इसी बेहतर ज्ञान के जरिये अंग्रेज़ों ने भारत को जीता है। उन्हें एहसास है कि अंग्रज़ों के समकक्ष आने के लिए उन्हें इसी विद्या पर हर मुमकिन महारत हासिल करनी है।[23] इसी आत्मनिष्ठता की आवश्यकता ट्रेवेलियन ने अपने इस कथन से पहले 1838 में इस प्रकार व्यक्त की थी :

''इस हक़ीक़त को स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत और इंग्लैंड जैसे दो दूरस्थ देशों का मौजूदा संबंध स्थायी नहीं रह सकता। किसी भी तरह का नीतिगत प्रयास स्थानीय वासियों को अंततः अपनी आजादी पुनः प्राप्त करने से नहीं रोक सकता। लेकिन ऐसी नौबत एक नहीं बल्कि दो तरीकों से आ सकती है। पहला तरीका है क्रांति का माध्यम, और दूसरा है सुधार का। अगर पहले तरीके से यह नौबत आई तो इसकी गतिशीलता अचानक और हिंसक होगी, दूसरे के तहत यह क्रमशः और शांतिपूर्ण होगी। पहले क़िस्म के घटनाक्रम के कारण हमारे और स्थानीय वासियों के बीच मानस और हितों के स्तर पर एक सम्पूर्ण अलगाव हो जाएगा, और दूसरे तरह के घटनाक्रम का नतीजा परस्पर लाभ और सद्भाव पर आधारित स्थायी गठजोड़ में निकलेगा।

पहले को रोकने और दूसरे के होने देने का हमारे पास केवल एक ही तरीका है—स्थानीय वासियों को यूरोपीय परिष्कार के उस रास्ते पर चलाना जिस पर चलने के वे पहले से ही खासे उत्सुक हैं। अगर ऐसा हुआ तो वे पुरातन भारतीय आधार पर आजादी हासिल करने की न कामना करेंगे और न उसका संधान। उस सूरत में अचानक होने वाला परिवर्तन मुमकिन नहीं रह जाएगा, और हमें भारत के साथ अपने मौजूदा संबंध के दीर्घावधि तक जारी रहने की गारंटी मिल जाएगी। ध्यान रहे कि मराठा या मुस्लिम प्रकार का निरंकुश राज्य महीने भर में कायम किया जा सकता है, पर यूरोपियन मॉडल के आधार पर लोगों को स्व-शासन के लिए तैयार करने के लिए एक सदी भी कम ही साबित होगी। किसी भी राष्ट्र की राजनीतिक शिक्षा में समय लगता ही है, और जब यह प्रक्रिया चल रही होगी तो उसके परिणामस्वरूप हम जितने सुरक्षित हो सकते हैं उतने रहेंगे। स्थानीय वासी हमारे ख़िलाफ़ खड़े नहीं होंगे, क्योंकि ये तो

हम ही होंगे जो उन्हें खड़ा करने के लिए झुकेंगे। उनकी तरफ से कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी, क्योंकि कोई दबाव ही नहीं डाला जाएगा। राष्ट्रीय गतिविधियाँ यूरोपीय ज्ञान प्राप्त करने, उसका प्रसार करने और यूरोपीय संस्थाओं को आत्मसात करने के पूर्णतः निरापद उद्देश्य में खपी रहेंगी। यह जान कर कि उनके देश का उत्थान इन्हीं उसूलों के तहत हमारी हिफाजत में ही संभव है, यहाँ के शिक्षित वर्ग स्वाभाविक रूप से हमारे साथ जुड़े रहेंगे। इस समय भी वे यही कर रहे हैं।''[24]

इतने विशाल देश को अपने मूल्यों और आदर्शों के मुताबिक ढालने के लिए अंग्रेज़ों को सौ वर्ष से ज्यादा अवधि की दरकार थी ताकि वे धीरे-धीरे समाज को बदलने की विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक प्रौद्योगिकियों का धैर्यपूर्वक इस्तेमाल कर सकें। इस संदर्भ में कृष्ण कुमार का यह निष्कर्ष मानीखेज़ है कि उपनिवेशवादी भारत की अशिक्षित जनता को नैतिक सुधार के एक लक्ष्य के रूप में देखते थे। लॉर्ड मिंटो (1807 से 1812 तक गवर्नर जनरल) के एक कथन के माध्यम से कृष्ण कुमार ने दिखाया है कि अंग्रेज़ हुक्मरान हिंदुओं और मुसलमानों के बीच नैतिकता के अभाव (झूठी गवाही और धोखाधड़ी) और जरायमपेशा प्रवृत्ति का मुख्य कारण उपयुक्त शिक्षा का अभाव मानते थे जिसकी पूर्ति उनकी निगाह में केवल औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा ही की जा सकती थी। उल्लेखनीय है कि मिंटो यह कहते हुए बनारस के हिंदू कॉलेज में सुधार और दो नये हिंदू कॉलेजों को खोलने के पक्ष में तर्क जुटा रहे थे। कृष्ण कुमार ने ली वार्नर की रचना 'द सिटीजन ऑफ इंडिया' के जरिये यह भी तर्क दिया है कि ब्रिटिश साम्राज्य भारत के संदर्भ में मुख्य तौर से एक शैक्षिक संरचना थी। एक ऐसी शैक्षिक संरचना जिसकी सीमाएँ शिक्षा-प्रणाली से परे जाती थीं। रेलवे, सार्वजनिक सेवाएँ, डाक और तार, सभी कुछ साम्राज्य की शैक्षिक संस्थाएँ ही थीं। ली वार्नर के मुताबिक ये सारी चीजें अंग्रेज़ प्रशासकों की परोपकार की भावना, उनकी उद्यमशीलता और उनके समर्पण का प्रदर्शन करती थीं।[25]

निस्संदेह भारत में अंग्रेज़ी की स्थापना की औपनिवेशिक योजना जटिल थी और लम्बी अवधि के दौरान कई चरणों में परवान चढ़ी। इस पर एक विहंगम दृष्टि डालने से दिखाई पड़ता है कि भारतवासी अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी विद्या के ज्ञान को किसी एक कारण से और किसी एक मुक़ाम पर नहीं, बल्कि अलग-अलग कारणों और मुकामों पर या तो ग्रहण कर रहे थे, या उपनिवेशवाद द्वारा ग्रहण करने की तरफ ले जाये जा रहे थे। अंग्रेज़ी-अध्ययन की प्रमुख हस्ताक्षर स्वाति जोशी ने इस पेचीदगी से निकलने वाले प्रश्नों को इस प्रकार रेखांकित किया है :

''एक समस्या के तौर पर अंग्रेज़ी को औपनिवेशिक हुकूमत द्वारा प्रदत्त एक ऐसी ज्ञान-राशि के तौर पर नहीं देखा जा सकता जिसे अलग से समझा जा सकता हो। न ही उसे एक ऐसे सांस्कृतिक 'प्रभाव' के रूप में देखा जा सकता है जो अलग से प्रतिरोध, अस्वीकार या विनियोजन के योग्य हो। दरअसल, पश्चिमी अवधारणाओं के साथ देशज तौर-तरीके व विधियों ने परस्पर गुँथ कर ऐसी श्रेणियों का रूप ले लिया है जिनके हाथों मध्यवर्ग को नया रूप मिला है और जिनकी वजह से इस वर्ग ने देशज समाज के भीतर स्वयं को सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से पहचाना है। यह तो एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें प्राक-आधुनिक संस्कृति के चुनिंदा रूपों को समायोजित करने के साथ नयी साम्राज्यिक संरचनाओं के साथ संवाद भी किया गया है। इसी वजह से इसे न तो सहज रूप से खारिज किया जा सकता है और न ही उसका समरूपीकरण संभव है। अगर हम इस जटिलता को पहचान लें तो हमें

कई तरह के सवाल पूछने होंगे। मसलन, एक 'परम्परा' का आविष्कार करने या 'राष्ट्र' नामक कल्पित समुदाय गढ़ने की प्रक्रिया में बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा कौन से विमर्शों का आह्वान किया गया, नवीकरण और पुनर्रचना की गई और कौन से विमर्श हाशिये पर समेट दिये गये? भाषाई और साहित्यिक संरचनाओं और सौंदर्यशास्त्रीय सूत्रीकरणों की वह कौन सी बनावट तैयार हुई थी जिसके भीतर विभिन्न समुदायों की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की विवादित प्रकृति और भिन्नताओं के लिए जगह नहीं थी? ऐसा कौन सा विचारधारात्मक विन्यास तैयार हुआ था जिसमें पुरुष और स्त्री के बीच एवं प्रभुत्वशाली और अधीनस्थ वर्गों या धार्मिक समुदायों के बीच सत्ता के बँटवारे से संबंधित मुद्दों को दबा देने की प्रवृत्ति थी? और, संस्थाओं, खासकर शिक्षा से संबंधित संस्थाओं ने किस तरह प्रभुत्वशाली विचारधाराओं को टिकाने और उनके पुनरुत्पादन की भूमिका निभाई?''[26]

ये सभी प्रश्न वाज़िब हैं और भारत में अंग्रेज़ी के वर्चस्व का इतिहास लिखते समय इन्हें सम्बोधित किया ही जाना चाहिए। लेकिन इनमें एक ऐसा प्रश्न नहीं है जिसकी इन सवालों की सूची में केंद्रीय उपस्थिति होनी चाहिए थी, क्योंकि इसके जरिए भारत में अंग्रेज़ी संबंधी जटिलता को बहुत बड़ी हद तक अनावृत्त किया जा सकता है। यह अनुपस्थित प्रश्न है औपनिवेशिक-आत्मनिष्ठता (कोलोनियल सब्जेक्टिविटी) और उसकी निर्मिति में अंग्रेज़ी भाषा की भूमिका का। दरअसल, यह आत्मनिष्ठता अपने-आप में कई अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर है। इसका संधान बता सकता है कि अठारहवीं सदी में जिन अंग्रेज़ों के व्यापारिक प्रलोभन की क़ीमत बंगाल के अकाल के रूप में तीस लाख भारतवासियों के प्राणों से चुकाई गई। जिस कम्पनी राज का दूसरा नाम भ्रष्टाचार, लूट-खसोट, उत्पीडनकारी कराधान, रक्तपात और बेरोकटोक आर्थिक शोषण था, जिस हुकूमत के वायसरायों पर इंग्लैंड लौटने पर भारत में की गई अनैतिक गतिविधियों और लूट-खसोट के कारण लम्बे-लम्बे मुकद्दमे चलते थे, जिन अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को चरित्रगत रूप से लाइलाज झूठा, धोखेबाज, अविश्वसनीय, अयोग्य, पशुवत, लम्पट और संवेदनहीन करार दिया, जिन अंग्रेज़ों ने भारत की पारम्परिक विद्याओं को कूड़ेदान में फेंकने के योग्य बताया, जिन उपनिवेशवादियों ने हर तरह की भारतीय भाषाओं को किसी भी तरह के उपयोगी ज्ञान का वाहक मानने से इंकार किया, जिन ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत के मध्ययुगीन इतिहास और तत्कालीन वर्तमान को अज्ञान के अंधकार में डूबा घोषित किया और जिन उपनिवेशिकों ने भारत को 'पतन' के गर्त से निकालने के सभ्यतामूलक लक्ष्य का संधान करने की दंभी घोषणा की—उनके प्रति आम और खास दोनों तरह के भारतीयों के मन में आदर और श्रद्धा की भावनाएँ कैसे और किन परिस्थितियों में पैदा हुईं? मुश्किल यह है कि भारत में अंग्रेज़ी का इतिहास लिखने वाले अधिकतर विद्वानों के आख्यान इस औपनिवेशिक-आत्मनिष्ठता के प्रश्न से कतराते हुए नजर आते हैं। वे या तो इसकी चर्चा ही नहीं करते, और अगर करते भी हैं तो केवल उस तरफ इशारे करके रह जाते हैं। ज्ञान की इस चालाक राजनीति में आत्मनिष्ठता की निर्मिति की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता जिसके प्रभाव में ही तत्कालीन भारतीय अभिजन अंग्रेज़ी और पश्चिमी ज्ञान की श्रेष्ठता पर सवाल लगाए बिना उसे स्वीकार करने की तरफ जा रहे थे।

इस सब्जेक्टिविटी की गढ़ंत में भाषा की भूमिका के एक अध्येता के अनुसार : ''भाषा आत्मनिष्ठताओं का उत्पादन करती है। सत्ता के संस्थागत ढाँचे के साथ भाषा जितनी ताक़त के साथ गुँथी होगी, आत्मनिष्ठता उत्पन्न करने की उसकी प्रक्रिया उतनी ही अधिक जटिल

होगी। इस व्याख्या के मुताबिक मूल्यगत और दार्शनिक धरातलों पर नैतिक मूल्यों और बौद्धिकता के हाथों उत्तर-औपनिवेशिक कर्ता के मानस की गढ़ंत तैयार होती है। अभिरुचियों और अभिमतों के रूप में यह मानस स्वयं को कुछ इस तरह व्यक्त करता है कि भाषा हासिल कर चुके और उससे वंचित व्यक्ति की भौतिक स्थितियाँ उपनिवेशक और उपनिवेशित के बीच संबंधों की भाँति प्रभावित होती हैं।''[27]

यह परिभाषा प्रमोद के. मिश्र द्वारा उत्तर-औपनिवेशिक संदर्भ में दी गई है, लेकिन वे साथ में यह भी दिखाते हैं कि ब्रिटिश महाप्रभुओं के संसार में किस तरह रक्त, त्वचा का रंग और अंग्रेज़ी भाषा का सहयोगी त्रिकोण काम करता था। इसका उदाहरण रुडयार्ड किपलिंग के चर्चित औपन्यासिक चरित्र किम के रूप में सामने आता है। भारत में पला-बढ़ा किम जैविक रूप से अंग्रेज़ (आयरिश) है, पर परिस्थितिजन्य दरिद्रता के कारण वह एक ऐसे भारतीय बच्चे के रूप में पलता है जिसकी मातृभाषा अंग्रेज़ी नहीं है। उसे लखनऊ के एक अंग्रेज़ी माध्यम वाले स्कूल में अंग्रेज़ी सिखाई जाती है। इसके बावजूद वह अंग्रेज़ी पर अपने जन्मसिद्ध अधिकार के कारण अन्य भारतवासियों से श्रेष्ठ है, भले ही उसने अंग्रेज़ी को अपनी दूसरी भाषा के रूप में सीखा हो। जाहिर है कि भारतवासी रक्त और त्वचा में तो अंग्रेज़ों जैसे नहीं हो सकते थे, परंतु भाषा के मामले में वे अपने औपनिवेशिक स्वामियों की 'श्रेष्ठता' के कुछ निकट अवश्य पहुँच सकते थे। भाषा उन्हें एक पूरा सांस्कृतिक पैकेज प्रदान करती थी जिसके जरिए वे धीरे-धीरे अंग्रेज़ों जैसे सोच-विचार, रुचियाँ, अभिमत और नैतिक मूल्य ग्रहण करते चले जाते थे। अंग्रेज़ी के जरिये इस आत्मनिष्ठता की रचना करना उपनिवेशवादियों के मुख्य उद्देश्यों में से एक था। भारत पर शासन कर रहे मुट्ठी भर अंग्रेज़ महाप्रभुओं की सुरक्षा, उनके साम्राज्य की उत्तरजीविता और अंततः भारत को छोड़ कर जाने की नौबत आने के बाद भी उनकी चिर-स्थायी वैचारिक और सांस्कृतिक उपस्थिति की गारंटी इस आत्मनिष्ठता की गहरी जड़ों के बिना नहीं मिल सकती थी।

अतीत से विच्छिन्नता की शर्त : यह पैकेज भारतवासियों के गले उतारने के लिए जरूरी था कि उपनिवेशवादी सबसे पहले उन्हें प्राक्-औपनिवेशिक अतीत से काट कर अलग कर देते। अतीत से पूरी तरह विच्छिन्न कर देने वाली यह परियोजना आसान नहीं थी। भाषा और उनमें रचा गया साहित्य स्मृतियों का वाहक होता है, और वे स्मृतियाँ नयी आत्मनिष्ठताओं को जज़्ब करने में बाधा डालती रहती हैं। उनके प्रभाव में वैसा का वैसा ही ग्रहण किये जाने के बजाय सत्ता-प्रतिष्ठान द्वारा थमाया गया बुद्धि और ज्ञान का समीकरण कम या ज़्यादा संशोधित होता रहता है। लेकिन, अगर इन स्मृतियों के दरवाजे बंद कर दिये जाएँ तो नयी पीढ़ियों को अतीत से नितांत अप्रभावित समकालीनता में कैद किया जा सकता है। यह करने के लिए लाज़िमी था कि उपनिवेशवादियों द्वारा भारत के समृद्ध और अत्यंत विविधतामूलक भाषाई अतीत को अवमूल्यित किया जाता। भाषाओं और उनमें रचे गए प्राक्-औपनिवेशिक साहित्य की सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों को पतन और अंधकार के खाने में डाल कर भारतवासियों को रेनासाँ और आधुनिकता के स्वप्न दिखाये जाते। ऐसे स्वप्न जो केवल अंग्रेज़ी भाषा और उसके जरिए मिलने वाले पश्चिमी ज्ञान (उदारतावाद, उपयोगितावाद, विज्ञानवाद, तर्कबुद्धिवाद वगैरह) के जरिए ही धरती पर उतारे जा सकते थे। ब्रिटिश महाप्रभुओं ने अठारहवीं सदी के आख़िरी वर्षों और उन्नीसवीं सदी के बहुत बड़े हिस्से को इसी परियोजना के लिए समर्पित किया। उन्होंने ज्ञान की भाषा के रूप में सरकारी नीति का उपयोग करके एक झटके में अंग्रेज़ी द्वारा संस्कृत और फ़ारसी-अरबी को प्रतिस्थापित करने के बाद भारत की जन-भाषाओं (बांग्ला, असमी,

तेलुगु, तमिल, मलयालम, गुजराती, ओडिया, हिंदुस्तानी, उर्दू आदि) में संरचनागत परिवर्तन करने का दीर्घकालीन बौद्धिक उद्यम चला कर एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक इंजीनियरिंग को अंजाम दिया।

इसी उद्यम को बर्नार्ड कॉन जैसे अध्येताओं ने यह कह कर 'कांक्वेस्ट ऑफ नॉलेज' करार दिया है कि ज्ञान को जीत कर ही दरअसल भारत पर विजय हासिल की गई। ज्ञान को जीतने के लिए आवश्यक था कि भारत की भाषाओं को बदल कर उपनिवेशवादियों के इच्छित साँचे में ढाला जाता :

''1770 से 1785 के वर्षों को एक ऐसी प्रारम्भिक अवधि के तौर पर देखा जा सकता है जिसके दौरान अंग्रेजों ने भारतीय भाषाओं का सफलतापूर्वक विनियोग करना शुरू किया ताकि वे उनकी शासन-पद्धति की संरचना के एक अहम घटक की भूमिका निभा सकें।... यह समझना बेहद महत्त्वपूर्ण है कि इसी अवधि में अंग्रेजों ने एक औजार गढ़ना शुरू किया। यह था व्याकरणों, शब्दकोशों, ग्रंथों, कक्षा की पुस्तकों और अनुवादों का औजार जो भारत के भाषाओं के बारे में और उनमें था। ...इन पाठों के और इनके बाद हुए अन्य पाठों के उत्पादन से एक विमर्शी संरचना की स्थापना शुरू हुई, एक ज्ञानमीमांसात्मक सम्भावनाओं का दायरा परिभाषित हुआ, प्राच्यवाद जैसा विमर्श तैयार हुआ और इस सबका नतीजा ज्ञान के भारतीय रूपों को यूरोपीय वस्तुओं के रूपों में बदलने में निकला। सबसे पहले इन पाठों की विषयवस्तु स्वयं भारतीय भाषाएँ ही थीं जिनका नया प्रतिनिधित्व यूरोपीय समझ के मुताबिक व्याकरणों, शब्दकोशों और शिक्षण-उपयोगी सामग्री के रूप में एक परियोजना के हितार्थ हुआ ताकि इन भाषाओं का कामकाजी ज्ञान भारत पर शासन करने वाले समूह के सदस्य अंग्रेज़ों को उपलब्ध हो सके।''[28]

इस गढ़े गए भाषाई औजार की मदद से अंग्रेज़ों ने कुछ ऐसे लक्ष्यों का संधान किया जिनके बारे में पहले सोच पाना भी असम्भव था। कई विद्वानों ने अपने अनुसंधान और चिंतन में उपनिवेशवाद की इस कारस्तानी पर उँगली रखी है। मैं यहाँ तीन विदुषियों और एक विद्वान (वीणा नरेगल, सूसी थारू, प्रथमा बनर्जी और राजकुमार) के प्रेक्षणों का इस्तेमाल करूँगा।

औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता के केंद्र की रचना मुख्य रूप से अंग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त करने से जुड़े श्रेष्ठता-बोध से हुई थी। इस श्रेष्ठता-बोध की नींव डालने में उपनिवेशवादियों द्वारा अपनायी गई दो युक्तियों की मुख्य भूमिका थी। इनमें पहली थी संस्कृत, फारसी और अरबी को शिक्षा और ज्ञानोत्पादन की प्रक्रिया से अलग कर देना। जैसे ही उपनिवेशवादियों ने सत्ता की ताक़त से यह किया, वैसे ही विमर्शी श्रेष्ठता के मामले में अंग्रेज़ी को इन समृद्ध भाषाओं से प्रतियोगिता करने की जरूरत नहीं रह गई। दूसरा कारक था अन्य देशी भाषाओं की कथित 'हीनता' और 'अक्षमता' के मुकाबले अंग्रेज़ी को सत्ता और आधुनिकता की प्रभु-भाषा के रूप में स्थापित करने की योजना पर अमल करना। यह एक जटिल प्रक्रिया थी जिसे चलाने के लिए अंग्रेज़ों को किसी एक नहीं बल्कि तरह-तरह की आवाजों में बोलना था। इसकी एक बेहतरीन व्याख्या नरेगल ने इस प्रकार की है :

''अंग्रेज़ी और देशी भाषाओं के बीच का अंतराल राज्य और उसकी प्रजा के बीच विभाजन का प्रतीक था। इस लिहाज से यह नीतिगत फैसला करना बेहद महत्त्वपूर्ण था कि औपनिवेशिक विचारधारा को लोगों तक पहुँचाने का काम किस भाषा में करना उचित होगा। सरकारी नजरिए से अंग्रेज़ी का चुनाव करना सबसे सुविधाजनक था, लेकिन इससे लोगों तक इच्छित 'सबक' पहुँचाने की गारंटी नहीं मिल पा रही थी (क्योंकि अंग्रेज़ी कुछ ही लोगों के लिए उपलब्ध थी)।

दूसरी तरफ देशी भाषाओं का इस्तेमाल करने से इस विचारधारात्मक लक्ष्य को सफलतापूर्वक वेधने का और नतीजतन उदारतावादी विमर्शों के परिसंचरण का बेहतर आश्वासन मिलता दिखाई दे रहा था। लेकिन, देशी भाषाओं पर यह निर्भरता माँग करती थी कि द्विभाषी संबंधों में अंतर्निहित निम्नता और श्रेष्ठता का व्यापक पैमाने पर शिक्षा-प्रणाली द्वारा पुनरुत्पादन करना पड़ेगा। द्विभाषी पदानुक्रम ने न केवल शैक्षिक विमर्श की अभिजनोन्मुख गुंजाइशों को सुदृढ़ किया, उसका एक मतलब यह भी था कि आधुनिकता के विमर्श की उपलब्धता अंग्रेज़ी और देशी भाषाओं के नये सरकारी मान्यताप्राप्त रूपों के जरिये ही संभव है। इस द्विभाषी विभाजन का मतलब यह था कि उदारतावादी विचार अंग्रेज़ी और/अथवा देशी भाषाओं में व्यक्तियों या समुदायों की दक्षता पर आधारित अवसरों के मुताबिक ही ग्रहण किये जा सकते थे या पढ़े जा सकते थे। इस प्रकार औपनिवेशिक संदर्भ में राजनीतिक आधुनिकता ने न केवल उनके जीवन को बदल दिया जिन्हें औपनिवेशिक स्कूल और अंग्रेज़ी शिक्षा नसीब थी, बल्कि उस बहुसंख्यक समाज पर भी गहरा असर डाला जिन्हें एक स्थिति के रूप में अंग्रेज़ी ने ज्ञान और सत्ता से वंचित कर दिया था। ... (इस प्रकार) एक शिक्षणात्मक परियोजना के तौर पर कल्पित भारतीय आधुनिकता में वह तनाव अंतर्निहित हो गया जो उदारतावादी समता के मानकों और द्विभाषी शिक्षा-नीति के विभाजनकारी व पदानुक्रमवादी प्रभावों के बीच था।''[29]

वीणा नरेगल ने बॉम्बे प्रेसीडेंसी (पश्चिमी भारत) के संदर्भ में इस वर्ग की रचना-प्रक्रिया पर विशद् प्रकाश डाला है। उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में इस प्रेसीडेंसी के गवर्नर माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन की शिक्षा संबंधी टिप्पणी (1823) और बंबई एजुकेशन सोसाइटी की रपट (1821) के उद्धरणों की मदद से नरेगल ने दिखाया है कि उपनिवेशवादियों की कामयाबी स्थानीय वासियों के पारम्परिक ज्ञान और उनकी देशज भाषाओं की 'हीनता' के मुकाबले अंग्रेज़ी की उच्चतर क्षमता और यूरोपीय ज्ञान के तर्कसंगत और उपयोगी चरित्र को एक तरह के 'कॉमनसेंस' में बदल देने की क्षमता में निहित थी। इस सामान्य ज्ञान को स्थापित करने में उन बहसों की बौद्धिक भूमिका होती थी जो अंग्रेज़ों के बीच चला करती थीं। ऊपर के अध्यायों में हम देख चुके हैं कि कलकत्ता प्रेसीडेंसी में ये बहसें प्राच्यवादियों, आंग्लवादियों और वर्नाकुलरिस्ट्स के बीच चलती थीं। बहस करने वाले तीनों पक्ष अंग्रेज़ होते थे, और भारतवासियों का काम इस या उस पक्ष के समर्थन या विरोध में पत्र लिखने या प्रतिवेदन देने का होता था। इससे भारत के शिक्षित वर्गों में यह एहसास पनपता था कि अंग्रेज़ उनके हितों की चिंता में किस कदर लगे हुए हैं। इसी तरह बॉम्बे प्रेसीडेंसी में यह बहस एलफिंस्टन और बोम्बे कौंसिल के सदस्य फ्रांसिस वार्डन के बीच चली। शिक्षित वर्ग को लगा कि एलफिंस्टन उसे पश्चिमी ज्ञान प्रदान करने के लिए राज्य की सक्रिय और हस्तक्षेपकारी भूमिका के पैरोकार हैं और वार्डन चाहते हैं कि सरकार ऐसी शिक्षा की परिस्थितियाँ सुलभ करने से अधिक कुछ न करे। इस 'कॉमनसेंस' को ठोस रूप देने का काम व्यावहारिक स्तर पर अपनाये गए प्रशासनिक उपायों की एक शृंखला का था। इन उपायों के कारण अंग्रेज़ी और पश्चिमी ज्ञान में पारंगत भारतीयों को साफ लगता था कि उन्हें उन स्थानीय वासियों की अपेक्षा अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ मिल रहे हैं जिन्होंने देशी भाषाओं में शिक्षा प्राप्त की है। सामान्य ज्ञान की इस दुहरी स्थापना से एलफिंस्टन को लाभ यह हुआ कि उन्हें पश्चिमी भारत में अपनी शिक्षा और भाषा संबंधी योजना के लिए स्थानीय अभिजन का अच्छा-खासा समर्थन हासिल हुआ, ठीक उसी तरह जैसे कम्पनी सरकार को कलकत्ता प्रेसीडेंसी में बंगाली अभिजन का सक्रिय समर्थन

प्राप्त हुआ था।[30] यह ऊपर बताया जा चुका है कि किस तरह एलफिंस्टन द्वारा निचले वर्गों को अंग्रेज़ी के बजाय भारतीय भाषा में शिक्षा देने के फैसले ने भी समाज में अंग्रेज़ी पढ़ने की लालसा को बढ़ाया। इस तरह अंग्रेज़ी उन वर्गों (मुख्य तौर पर ब्राह्म) का भी प्राप्य लक्ष्य बन गई जिन्हें समावेशन की नीति के जरिये उसे सुलभ कराया गया था, और उन वर्गों का अप्राप्य लक्ष्य बन गई जिन्हें बहिर्वेशन की नीति के जरिये उससे वंचित किया गया था।

नरेगल के मुताबिक फ़ारसी को सरकारी कामकाज और दस्तावेजबंदी की भाषा की हैसियत से वंचित करने के बाद अंग्रेज़ी केवल राजनीतिक श्रेष्ठता का सरकारी चिह्न ही नहीं रह गई। इस सीमा से परे जा कर वह स्थानीय भाषाओं के मुकाबले साम्राज्यिक अनुशंसा के अधीन रचने जा रहे आधुनिकता के विमर्श की भाषा बन कर उभरी। इसका परिणाम यह निकला कि देशी भाषाओं की क्षमता (जिसका आकलन पहले संस्कृत और फारसी के बरक्स हुआ करता था) का मूल्यांकन अंग्रेज़ी और उसके विमर्शी ढाँचे की कसौटी पर कस कर किया जाने लगा। ऐसा होते ही अंग्रेज़ी से भी कहीं पुरानी और शताब्दियों के दौरान विपुल साहित्य का उत्पादन कर चुकी ये तमाम भाषाएँ आधुनिकता से जुड़ी अवधारणाओं और विचार-प्रक्रियाओं के लिए 'अपर्याप्त' लगने लगीं। वे 'अविकसित' और 'आदिम' मानी जाने लगीं। अपनी सम्भावनाओं का प्रदर्शन करने के लिए इन भाषाओं को अंग्रेज़ी के मुकाबले इस 'पिछड़ेपन' से बाहर आना लाज़िमी हो गया। उपनिवेशवादियों की निगाह में 'निम्न' स्तर पर पड़ी देशी भाषाएँ अंग्रेज़ी को अपना आदर्श मान कर विकसित होने का कार्यक्रम अपनाने लगीं। इस प्रक्रिया के नमूने के तौर पर दो प्रमुख भारतीय भाषाओं के उदाहरणों पर चर्चा की जा सकती है :

''जिन्हें हम आज भारतीय भाषाएँ कहते हैं उनके भीतर भारत में छापेखाने के आगमन के बाद उन्नीसवीं सदी में हुए बदलावों पर गौर करना जरूरी है। इतिहासकारों ने इस पर काफी मात्रा में दिलचस्प काम किया है। यहाँ मुझे देवेश राय का काम याद आ रहा है जो दिखाता है कि किस तरह केवल अर्थ और मुहावरों के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि वाक्य-रचना, व्याकरण चिह्नों और पैराग्राफिंग के संदर्भ में लिखित बांग्ला में परिवर्तन किया गया। हम उस तार्किक संरचना को जानते हैं जिसके मुताबिक मिशनरी इंग्लिश के मॉडल पर गद्य-रचना निर्धारित हुई। इसमें आग्रह यह था कि छापेखाने की प्रौद्योगिकी के क्या अनुकूल होगा। इस लिहाज से देखें तो भारतीय भाषाओं की स्वायत्तता पर अंग्रेज़ी के मॉडल का गहरा असर पड़ा। बांग्ला में बहुत लिखा-पढ़ा जाता है, लेकिन जो कुछ हम बांग्ला में लिख-पढ़ रहे हैं वह क्या बांग्ला की सोच है या फिर वह संयोग से ही बांग्ला में लिख दिया गया है, वरना वह तो अंग्रेज़ी की ही देन है।''[31]

इतिहासकार प्रथमा बनर्जी का यह कथन अंग्रेज़ी के नमूने के मुताबिक बांग्ला में भाषाई संरचना के बदलाव के बारे में है। साहित्यिक सिद्धांतकार राजकुमार ने हिंदी के संदर्भ में और भी आगे जा कर बताया है कि उन्नीसवीं सदी में आधुनिक हिंदी की बनती हुई दुनिया को अंग्रेज़ी का प्रभाव किस तरह अपने मुताबिक गढ़ रहा था। यहाँ तक कि जो अंग्रेज़ी नहीं जानता था, या ऐसी भाषाओं में लिख रहा था जिनकी संरचना अंग्रेज़ी के मुताबिक नहीं थी वह लेखकीय दायरे से बाहर हो जाता था :

''भारतेंदु अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। उन्होंने जिस तरह से साहित्य लिखा, उस पर पश्चिम का गहरा असर है। यानी उनके जमाने से पहले जिस तरह का साहित्य लिखा जाता था, वह बिल्कुल एक झटके में बदल जाता है। यह एक तरह से अंग्रेज़ी-ज्ञान से सूचित साहित्य है। उसकी विधाएँ भी बदल जाती हैं। संकल्पनाएँ भी बदल जाती हैं। ... पहली बार यह हुआ

कि अगर आप अंग्रेज़ी नहीं जानते हैं तो आप लेखक नहीं हैं। अंग्रेज़ी जानने वाला, अंग्रेज़ी साहित्य से जो वाकिफ है, वह जो कुछ लिख रहा है, वही साहित्य है। इस तरह अंग्रेज़ी की वजह से साहित्यकार होने की धारणा और समझ में बहुत बड़ा ब्रेक आ जाता है। जो ब्रज में लिख रहे थे, वे बाहर हो जाते हैं। जो पहले की परम्परा की निरंतरता में लिख रहे हैं वे बाहर हो जाते हैं। यहाँ तक कि भारतेंदु के वे लेख भी बाहर हो जाते हैं जो उन्होंने ब्रज में लिखे थे। मैंने यह बात यहाँ इसलिए रखी कि उन्नीसवीं सदी के बाद से साहित्य की वैध कैटेगरी वही बनी जो अंग्रेज़ी के सानिध्य में पनपी थी। अगर आप अंग्रेज़ी नहीं जानते हैं, और साहित्य लिखते हैं तो साहित्यकार हैं ही नहीं। यह असर इतना व्यापक होता चला गया कि जो अंग्रेज़ी नहीं जानते थे, वे भी वही लिखने लगे जो अंग्रेज़ी जान कर लिखने वाले लिखते थे। इस तरह अगर भाषाओं के इतिहास के बारे में देखा जाए तो अंग्रेज़ी का हस्तक्षेप बहुत खास है।''[32]

दरअसल, भारतीय भाषाओं के संसार में अंग्रेज़ी का प्रारूप अपनाने के दो परिणाम हुए। पहला, देशी भाषाओं को बड़े पैमाने पर अंग्रेज़ी से अनुवाद पर निर्भर हो जाना पड़ा, और जो देशी भाषा जितने जोश से अंग्रेज़ी के तर्ज पर अपना मानकीकरण करने को तैयार थी, अंग्रेज़ों का सरकारी खजाना उसे उतनी ही मात्रा में वित्तपोषण मुहैया कराने लगा। इस प्रक्रिया ने भाषाई समुदायों की साक्षरता और संज्ञानात्मकता के नियमों और रूपों को अंतिम रूप से बदल डाला। चूँकि स्वयं को पूरी तरह से बदल लेने के बाद भी एक आदर्श के रूप में अंग्रेज़ी की उच्चता और श्रेष्ठता अपनी जगह कायम रहनी थी, इसलिए देशी भाषाओं के नये रूपों में मिली शिक्षा भी अंग्रेज़ी में शिक्षा के समकक्ष नहीं हो पाई। नरेगल ने इसी पहलू को उपनिवेशवाद की भाषाई और संज्ञानात्मक आर्थिकी की संज्ञा दी है।

अंग्रेज़ी को आदर्श बना कर किये गये भारतीय भाषाओं के मानकीकरण के परिणामस्वरूप प्राक्-औपनिवेशिक जमाने की भारतीय भाषाएँ उन्नीसवीं सदी के भारतवासियों के लिए उपलब्ध ही नहीं रह गईं। अनुसंधान के अभाव में धीरे-धीरे यह समझना भी नामुमकिन हो गया कि ये भाषाएँ अंग्रेज़ों के पहले देश, समाज, साहित्य और समुदाय की सेवा किस तरह करती थीं। अनुसंधान के अभाव में ऐसी छवि उभरती है कि आधुनिकीकरण से पहले ये भाषाएँ किसी काम की नहीं थीं। जबकि हक़ीक़त यह है कि कन्नड़ साहित्य की शुरुआत नवीं शताब्दी में, तेलगू की दसवीं सदी में, मराठी की तेरहवीं सदी में, गुजराती की बारहवीं सदी में, मलयालम की पंद्रहवीं सदी में और असमी, बांग्ला और ओडिया साहित्यों की शुरुआत पंद्रहवीं से सोलहवीं सदी के बीच हो चुकी थी। ज़ाहिर है कि भक्ति-युग के दौरान ये सभी भाषाएँ रचनाशीलता के लिहाज से उत्पादक सक्रियता के उन्मेष से ओतप्रोत थीं। सूजी थारू ने अपने अध्ययन में उपनिवेशवादियों द्वारा इस समृद्ध भारतीय भाषाओं से किये गए इस सुलूक के कुछ संकेत छोड़े हैं। वे बताती हैं कि मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन ने इन भाषाओं को संस्कृत के मुकाबले एक तरह की साहित्यिक स्वायत्तता से भी सम्पन्न किया था। इन भाषाओं का आगार न केवल साहित्यिक भाषा और शब्दावली के संदर्भ में नये आयाम प्राप्त कर रहा था, बल्कि तकनीकी और वैज्ञानिक संदर्भों में उसकी रचनात्मक उपलब्धियाँ सामने आ रही थीं। सोलहवीं सदी में रची गई तेलुगु की एक अहम रचना 'हंसाविमस्थि' की कहानियाँ बीस अलग-अलग दस्तकारियों और पेशों की जानकारियों से भरी हुई थीं। इससे उस युग के तेलुगु सांस्कृतिक क्षेत्र के जीवन पर रोशनी पड़ती थी। बीसवीं सदी की शुरुआत में अंग्रेज़ों ने अज्ञात कारणों से इस रचना

को प्रतिबंधित कर दिया। इसी सदी में एक और तेलुगु रचना 'रामलिंगेश्वरा सताकामु' व्यंग्य साहित्य की अनुपम कृति के रूप में उस युग के भूस्वामियों के दुष्टतापूर्ण कार्यकलापों की आलोचना करती थी।[33]

इन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि मध्ययुग के दौरान अन्य भाषाई सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी समाज और संस्कृति की सेवा करने वाले सौंदर्यशास्त्रीय और वैचारिक उत्पादन की प्रक्रिया चल रही होगी। लेकिन, चाहे लॉर्ड मिंटो हों या चार्ल्स ट्रेवेलियन, उन्नीसवीं सदी में भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता की यह परम्परा अंग्रेज़ों को अपने काम की नहीं लगी। उनकी टेक यही बनी रही कि भारतीय भाषाओं का उत्तरोत्तर पतन हो रहा है, वे किसी काम की नहीं रह गई हैं, उनमें ज्ञान की किसी भी शाखा की सेवा करने की क्षमता नहीं है। ट्रेवेलियन ने तो रेनासाँ के विचारधारात्मक एकभाषावाद का पालन करते हुए भारत की बहुभाषिता को ही उसके सुधार में सबसे बड़ी बाधा करार दे दिया। उन्होंने दावा किया कि अंग्रेज़ी के पैटर्न पर एक दिन ऐसा आएगा जब भारतीय भाषाएँ आपस में एकताबद्ध हो जाएँगी। उनका कहना था कि ''जब अंग्रजी चारों तरफ शिक्षा की भाषा के तौर पर स्थापित हो जाएगी और उस स्रोत से प्राप्त सामग्री के आधार पर देशी भाषाओं का साहित्य अपना रूप ग्रहण कर लेगा, तो इस प्रारूप के अनुसार इन भाषाओं के बीच आत्मसातीकरण का रुझान पैदा होगा।''[34]

सूजी थारू का विश्लेषण है कि टे ्रवेलियन के इस वक्तव्य में भारतीय भाषाओं और अंग्रेज़ी के बीच अंतर धुँधला होते जाने की तरफ स्पष्ट रूप से इंगित किया गया है। 1854 के वुड्स डिस्पैच को अक्सर श्रेय दिया जाता है कि वह भारतीय भाषाओं को उपयोगी ज्ञान और पश्चिमी विज्ञान का वाहक बनाने के लिए प्रतिबद्ध था। थारू का कहना है कि वुड्स डिस्पैच भारतीय भाषाओं को अपने अनुकूल बनाने के लिए उनका जो 'विकास' करना चाहते थे, वह इन भाषाओं और परम्परा प्रदत्त तत्कालीन साहित्यिक चाल-चलन और उससे जुड़ी सामाजिक प्रक्रियाओं के बीच एक तरह की विच्छिन्नता घटित करवाये बिना सम्पन्न नहीं हो सकता था। इस विच्छिन्नता को घटित करने के लिए अंग्रेजों ने हर तरह का प्रशासनिक हथकंडा अपनाया। इस सिलसिले में न सिर्फ तेलुगु-क्षेत्र में पुस्तकें प्रतिबंधित करने के उदाहरण मिलते हैं, बल्कि बांग्ला-क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के दौरान वैष्णव गायकों और नर्तकों को तब तक सताया गया जब तक उनका वज़ूद ही खत्म नहीं हो गया। अंग्रेजों की मान्यता थी कि बंगाली भद्र महिला के मध्यवर्गीय आदर और सम्मान के बरक्स वैष्णव कलाकारों की बेलौस सेक्शुअलिटी और उनके गीतों के बोलों में व्यचत होने वाली यौनिकता काफी समस्याग्रस्त है और उससे निबटा जाना चाहिए। पुस्तकों को प्रतिबेंधित करने या प्रकाशन से रोकने का एक उदाहरण बीसवीं सदी की शुरुआत का है जब विदुषी और कला-प्रोत्साहक बंगलोर नागरत्नम्मा को आठवीं सदी की एक महान रचना 'राधिका सांत्वनम्' का प्रकाशन करने से सिर्फ इसलिए रोक दिया गया कि वह एक शृंगारप्रधान कृति थी जिसे मुद्दुपलानी नामक गणिका कवयित्री ने रचा था। राधा-कृष्ण युगल के प्रेम पर आधारित इस बेहतरीन काव्य-रचना के केंद्र में राधा की कामना और उसकी शिकायत है कि कृष्ण उसकी संबंधित माँगों पर उपयुक्त ध्यान नहीं दे रहे हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन करने के लिए उत्सुक प्रतिष्ठित प्रकाशक और तेलुगु अकादमी के विद्वानों की अपील का भी ब्रिटिश सरकार पर कोई असर नहीं हुआ। पुस्तक की प्रतियाँ जब्त करके नष्ट कर दी गईं। दरअसल, साहित्य और कला के सांस्कृतिक-क्षेत्र में औपनिवेशिक आधुनिकता अपना शीराजा इस विच्छिन्नता की बुनियाद पर ही खड़ा कर सकती थी। थारू ने इस विच्छिन्नता की संरचनात्मक व्याख्या इस प्रकार की है :

''मोटे तौर पर कहें तो इस विच्छिन्नता के तहत साहित्यिक उत्पादन के मुख्य दायरे एक तरफ मंदिर और दरबार एवं दूसरी तरफ खेत या गाँव से हट कर कलकत्ता, बंबई और मद्रास के तीन नये बंदरगाह-शहरों की ओर चले गए। मंदिरों और दरबारों के तहत कलाकारों को कुलीन अभिजन से आर्थिक संरक्षण प्राप्त होता था। इस प्रकार उत्पादित होने वाली कला पाठकों को इन वर्गों के जीवन और शिष्टाचार के साथ-साथ ज्ञानार्जन में दीक्षित करती थी। साधारण जनों की अथवा 'लोक' कला एक खेतिहर समाज और कारीगरों के जीवन की लय के इर्द-गिर्द अपना रूप ग्रहण करती थी। इस प्रक्रिया में यह कला विविधतापूर्ण ढंग से कभी समाहोरात्मक भूमिका निभाती, कभी सत्ता के लिए दिक्कतें पैदा करती और कभी दार्शनिक रूप ग्रहण करती थी। यहाँ यह रेखांकित करना आवश्यक है कि 'प्राच्य' समाजों को परिवर्तनरोधी करार देने की इतिहास संबंधी कट्टर हिगेलियन समझ के विपरीत दरबारी और 'लोक' कला के भीतर परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती थी। इसका सबसे बेहतरीन सबूत शायद दरबारी परम्परा से निकले सेक्युलर क़िस्म के गद्य-आख्यानों और भक्ति-कविता की विषयवस्तुओं में मिलता है। इससे पता चलता है कि इन कला-रूपों को जन्म देने वाले समाज किसी भी तरह से जड़ समाज नहीं थे। 'आधुनिक' भारतीय साहित्य के उदय के साथ कलाकार की एक ऐसी नयी हस्ती पैदा हुई जो न तो आम आदमी की तरह थी और न ही कुलीन अभिजन की तरह। कलाकार की इस नयी हस्ती को वह पूँजीवादी-साम्राज्यिक जिम्मेदारी उठानी थी जिसके तहत भारत की आबादी को एक नैतिक विषय के तौर पर ग्रहण किया जाना था। इस कलाकार को खास तौर पर यथार्थवादी गल्प और एक अत्यंत सघन निजी गीतात्मक कविता पसंद थी। इस कला की शक्ति पाठ्यक्रम पर पूरी तरह से हावी थी और इसका दायरा प्रिंटिंग प्रेस के जरिए और विस्तृत हो गया।''[35]

सूजी थारू, प्रथमा बनर्जी और राजकुमार ने अपने-अपने तरीक़े से भारतीय भाषाओं और उनके लेखक की हस्ती में हुए जिस संरचनागत परिवर्तन की तरफ इशारा किया है, उसका अर्थग्रहण करना जरूरी है। इससे एक नतीजा निकाला जा सकता है कि औपनिवेशिक आधुनिकता के तहत जैसे ही भारतीय भाषाओं का रिश्ता अपने प्राक्-औपनिवेशिक अतीत से टूटा, औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता के लिए ज़रखेज़ जमीन तैयार होने लगी। अंग्रेज़ी और उसका सांस्कृतिक व विमर्शी प्रभुत्व इस जमीन का मुख्य संदर्भ-बिंदु बन कर उभरा।

अंग्रेज़ी साहित्य की भूमिका

भाषाओं और उनके साहित्य के आधुनिकीकरण के नाम पर चली इस दीर्घकालीन प्रक्रिया के केंद्र में अग्रेज़ी के साहित्य की भूमिका थी। उपनिवेशवाद इस साहित्य के जरिये अपने दमन और शोषणकारी चेहरे के ऊपर एक नरम और उदात्त मुखौटा पहनना चाहता था। अठारहवीं सदी में अंग्रेज़ी के मानकीकरण की मुहिम के मर्म में भाषा और साहित्य के चिरंतन साम्राज्य की स्थापना का प्रबल विचारधारात्मक आग्रह मौजूद था। थामस शेरिडान, सेमुअल जॉनसन और एडम स्मिथ जैसे भाषाई रणनीतिकार मानते थे कि फौजी जीतों के जरिए बनाया गया 'लौकिक' साम्राज्य एक दिन नष्ट हो जाने के लिए अभिशप्त है, लेकिन अंग्रेज़ी के जरिए स्थापित किया जाने वाला 'अलौकिक' साम्राज्य कालातीत साबित होगा। इसी आग्रह को उन्नीसवीं सदी में मैकॉले ने कई बार वाणी दी। ब्रिटिश संसद हो या भारत में अंग्रेज़ी-शिक्षा की स्थापना का नेतृत्व हो, वे बार-बार 'हमारी कलाओं और हमारी नैतिकताओं का, हमारे साहित्य और हमारे

कानूनों के अक्षय साम्राज्य' की चर्चा करते नजर आते हैं। 1846 में अंग्रेज़ी के साहित्य की इस कामयाबी के नाम पर जाम उठाते हुए उन्होंने एडिनबरा फिलॉसफीकल एसोसिएशन की बैठक में कहा था :

''ब्रिटेन के साहित्य के नाम ... उस साहित्य के नाम जो हमारे देश की सभी विजयों में सर्वाधिक टिकाऊ विजय है, जो मूल्यवान सत्य और मूल्यवान कल्पना से समृद्ध है ... उस साहित्य के नाम जिसका प्रभाव हमारे वाणिज्य से अधिक व्यापक और हमारी फौजों से अधिक शक्तिशाली है, ... उस साहित्य के नाम जिसके प्रकाश के समक्ष गंगा के तटों पर अपवित्र और क्रूर अंधविश्वास भाग खड़े हुए हैं, उस साहित्य के नाम जो आने वाले समयों में लाखों-लाख अजन्मे लोगों को शिक्षित और सुखी करेगा और वे लोग ऑस्ट्रेलेशियन और कैटाफेरियन रेगिस्तानों को नगरों और उद्यानों में बदल डालेंगे। ब्रिटेन के साहित्य के नाम, और इस कामना के साथ कि जहाँ-जहाँ भी ब्रिटेन के इस साहित्य के कदम पड़ें, उसके साथ ब्रिटिश सद्गुणों और ब्रिटिश स्वतंत्रता का भी प्रसार हो।''[36]

गौरी विश्वनाथन के विमर्श से पता चलता है कि उपनिवेशवादी किस तरह अंग्रेज़ी साहित्य को धर्मांतरण की मुहिम चलाए बिना ईसाई मूल्यों और विचारों के प्रचार-प्रसार के उपकरण की तरह देखते थे, और किस तरह उनकी निगाह में दमनकारी, शोषक और अत्याचारी क़िस्म की ब्रिटिश-छवि पर अंग्रेज़ी का साहित्य उदात्त मूल्यों का आवरण डाल कर एक न्यायप्रिय, उदात्त और भारतवासियों के कल्याण की चिंता में डूबे हुए अंग्रेज़ का प्रतिनिधित्व कर सकता था। केवल तभी अंग्रेज़ों की भारतीय प्रजा ब्रिटिश आदर्शों की श्रेष्ठता और उन्हें धरती पर उतारने वाले औपनिवेशिक साम्राज्य के नेक इरादों पर विश्वास कर सकती थी।

आलोक मुखर्जी ने अंग्रेज़ी की शुरुआती पाठ्यपुस्तकों और अंग्रेज़ी के साहित्येतिहास का परिचय देने वाली पुस्तकों की जाँच करके जो निष्कर्ष निकाला है, उससे भी विश्वनाथन का यह प्रेक्षण कमोबेश सही प्रमाणित होता है। उनके मुताबिक भाषा-शिक्षण के लिए अंग्रेज़ी की जो सामग्री भारत लाई गई, वह स्थानीय संदर्भों से पूरी तरह कटी हुई थी। भाषा संबंधी व्यावहारिक कौशल का प्रशिक्षण देते हुए यह सामग्री ब्रिटिश राष्ट्रवाद और ब्रिटिश संस्कृति की श्रेष्ठता की खुराक देती थी। इसी तरह कुछ दूर तक शिक्षित हो चुके छात्रों को जो किताबें पढ़ाई जाती थीं (जैसे लिंडली मरे की इंग्लिश ग्रामर और जार्ज कैम्पबेल की फिलासफी ऑफ रेटॉरिक) उनमें इस्तेमाल किये जाने वाले उदाहरण या तो ब्रिटिश राष्ट्रवाद या ईसाइयत में रचे-पगे होते थे। अंग्रेज़ी का साहित्येतिहास पढ़ाने के लिए फ्रेड्रिक श्लेगल द्वारा रचित 'लेक्चर्स ऑन द हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर : एंसिएंट ऐंड मॉडर्न' और हेनरी हैलैम की 'इंट्रोडक्शन टू द लिटरेचर ऑफ यूरोप इन द फिफ़्टींथ, सिक्सटींथ एंड सेविंटींथ सेंचुरीज' का इस्तेमाल किया जाता था। ये पुस्तकें मुख्य तौर पर दिखाती थीं कि ब्रिटेन की साहित्यिक उपलब्धियाँ ही संस्कृति के शिखर की नुमाइंदगी करती हैं। ये साहित्येतिहास साबित करने का प्रयास करते थे कि अंग्रेज़ी साहित्य सर्वाधिक अद्यतन तो है ही, सार्वभौम संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति भी है। अंग्रेज़ी की उच्च-शिक्षा देने के नाम पर भारतीय छात्रों को जो कविता और गद्य के जो रीडर्स पढ़ाए जाते थे उनके मुख्य रूप से दो मक़सद थे—ईसाई धार्मिक और नैतिक मूल्यों को सार्वभौम मूल्यों की तरह पेश करना, एवं ब्रिटेन के इतिहास, संस्कृति, भूगोल, पर्यावरण और लोगों को प्रशंसाभाव से प्रस्तुत करना। मुखर्जी की मान्यता है कि अंग्रेज़ी और उसके साहित्य का यह पाठ्यक्रम एक विचारधारा और वर्चस्व की स्थापना की प्रक्रिया का शुरुआती चरण था।[37]

अंग्रेज़ी साहित्य के भारत की धरती पर विकास के एक पहलू की तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया है। यह है भारतीय भाषाओं के साहित्य के विकास पर उसका गहरा प्रभाव। दरअसल, उपनिवेशवादी सांस्कृतिक उद्यम केवल अंग्रेज़ी साहित्य की ही स्थापना नहीं कर रहा था, साथ में वह उसी के नमूने के आधार पर भारतीय साहित्य का शीराजा भी खड़ा करने में लगा हुआ था। यह शुरुआती इतिहास आम तौर पर सौंदर्यशास्त्रीय ज्ञानमीमांसाओं के धुँधलके में छिप जाता है। उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवादियों द्वारा साहित्य-रचना का जो एजेंडा स्थापित किया जा रहा था, उसका निर्णायक असर न केवल साहित्य-रचना पर पड़ रहा था, बल्कि साहित्येतिहास लिखने, साहित्य की शिक्षा देने और साहित्यालोचन के मूल्य स्थापित करने में उसकी केंद्रीय भूमिका थी। सूजी थारू ने इस इस प्रक्रिया के कई प्रमाण उपलब्ध कराये हैं। मसलन, वे बताती हैं कि भारतीय साहित्य को समृद्ध करने के नाम पर जो अनुवाद कराये जाते थे उनके लिए शर्त थी कि वे पश्चिमी शिक्षा प्राप्त भारतीयों, पश्चिमी देखरेख में और अंग्रेज़ी पुरुषों व स्त्रियों द्वारा ही सम्पन्न किये जाएँगे। 1850 में बंबई की सरकार को इस बात के लिए अधिकारिक रूप से डाँट खानी पड़ी कि उसने देशी भाषाओं के सुधार के लिए पुणे के संस्कृत कॉलेज के पंडितों की मदद लेने की ज़ुर्रत की थी। बंबई सरकार को फटकारते हुए 1835 के मैकॉले की शिक्षा संबंधी टिप्पणी का हवाला दे कर इस सरकार को समझाया गया कि केवल स्थापित प्रतिष्ठा वाली यूरोपियन रचनाओं का ही अनुवाद होना है और वह भी उन लोगों द्वारा जो यूरोपीय साहित्य और विज्ञान के जानकार हों। ये रचनाएँ किस क़िस्म की थीं इसका एक अंदाजा दिल्ली कॉलेज के छात्रों और अध्यापकों द्वारा उर्दू में किये गए कुछ अनुवादों से लगाया जा सकता है। उनसे गोल्डस्मिथ द्वारा रचित हिस्ट्री ऑफ इंग्लैंड, प्लूटार्क की रचना 'लाइव्ज' और एबेरक्रॉम्बी की 'मेंटल फिलासफी' का अनुवाद कराया गया था। अनुवाद के लिए रचनाएँ चुनने में इस बात की सतर्कता भी बरती जाती थी कि इस चक्कर में कहीं भारतीयों का विद्रोही विचारों से सम्पर्क न हो जाए। बंगाल की अंग्रेज़ी कवयित्री तोरु दत्त ने जब फ्रांसीसी कविता का गीतात्मक अनुवाद किया तो उसकी सराहना की गई, लेकिन जब उन्होंने फ्रांसीसी चेम्बर्स ऑफ डेपुटीज में दिये गए क्रांतिकारी भाषणों का अनुवाद किया तो उनके उस काम की उपेक्षा करके उसे ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।

उपनिवेशवादी भारतीय भाषाओं में ऐसी 'मौलिक' रचनाओं को पुरस्कार के जरिए प्रोत्साहित करते थे जो उनकी वैचारिक योजनाओं में फिट बैठती हों। ऐसी मौलिकता संसाधित करने की सबसे बड़ी शर्त यह थी कि लिखने वाले का मस्तिष्क अंग्रेज़ी की श्रेष्ठ रचनाओं के अध्ययन में रचा-बसा हो। इस तरह के और कुछ दूसरे तरह के उपायों से अंग्रेज़ों ने सुनिश्चित किया कि एक खास तरह के वैचारिक माहौल की रचना की जाए जिसके प्रभाव में साहित्यकार के सामाजिक दायित्व नये सिरे से परिभाषित हों। इस योजना के तहत ऐसे कई उपन्यास लिखवाए गए जिनमें बुरी और अच्छी स्त्री का तुलनात्मक आख्यान पेश किया जाता था। बुरी स्त्री तकरीबन हमेशा हिंदू होती थी, और अच्छी स्त्री या तो ईसाई धर्म स्वीकार कर चुकी होती थी या फिर उसने ईसाई मानवतावादी मूल्यों को आत्मसात् कर लिया होता था। सूजी थारू ने इस तरह की कई रचनाओं का हवाला दिया है। उन्नीसवीं सदी के आख़िरी और बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में बांग्ला हो या मराठी या तमिल, इन सभी भाषाओं में हिंदू/ब्राह्मण स्त्री की सामाजिक दुर्गति को उभारने वाली रचनाएँ लिखने को भी प्रोत्साहित किया जाता था। अंग्रेज़ों का शुरू से ही भारतीय समाज पर आरोप था कि यह स्त्रियों के साथ अमानवीय बदसलूकी करने वाला

समाज है। वे भारतवासियों द्वारा लिखे जाने वाले इस नये साहित्य के जरिए अपनी यह धारणा पुष्ट कराना चाहते थे। ये रचनाएँ नये आधुनिक लेखकों के सौंदर्यमूलक मानस और भारतीय समाज के बारे में उनकी आत्मनिष्ठताओं को गढ़ रही थीं। इस अवधि में यह देखना दिलचस्प है कि उपनिवेशवादी योजना न केवल नये साहित्यकारों की आत्मनिष्ठता का निर्माण कर रही थी, बल्कि वह नये पाठकों के लिए भी ऐसी आत्मनिष्ठता का निर्माण करना चाहती थी जो इस नये साहित्य को अपना सकें। यह योजना एक खास तरह की वस्तुओं, अभिरुचियों, संवेगों, मनोभावों, विभेदों, दृष्टियों और नैतिक मूल्यों को पसंदीदा करार देती थी ताकि नया लेखक और उसका नया पाठक उदीयमान आधुनिक दुनिया के साथ अपना तादात्म्य उस लहजे में कायम कर सके जिसमें अंग्रेज़ कराना चाहते थे। यही था उस साहित्य का यथार्थवाद और उसका सौंदर्यशास्त्र।

निष्कर्ष

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अंग्रेज़ी को 'थोपा गया' न मानने और उसे भारतवासियों द्वारा 'स्वेच्छा से अपनाने' के विमर्श के पीछे भारतीय अभिजन के किन हिस्सों की प्रमुख भूमिका थी। यह विश्लेषण औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता के भाषाई पहलुओं की एक रूपरेखा भी पेश करता है जिसकी रचना के प्रमुख घटक अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य से मिल कर बने थे। अंग्रेज़ों ने जिस अंग्रेज़ी आधारित आत्मनिष्ठता को भारतवासियों की नसों में इंजेक्ट किया था, वह आज अभिजन दायरों से निकल कर सामान्य भारतीय के मानस का अभिन्न अंग बन चुकी है। इसी आत्मनिष्ठता के कारण 'थोपी गई' अंग्रेज़ी 'स्वेच्छा से ग्रहण करके' भारतवासी अपनी आधुनिकता का संधान करने में लगे हुए हैं।

संदर्भ :

1. 1967 में भारत के शिक्षा मंत्री डॉ. त्रिगुण सेन का वक्तव्य इस प्रवृत्ति का उल्लेखनीय नमूना है। विश्वविद्यालय उपकुलपतियों के पाँचवें सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए डॉ. सेन ने कहा था : 'अंग्रेज़ी के इस तोहफे को हमें सुरक्षित और पुष्ट रखना होगा।' ध्यान रहे कि डॉ. सेन उन राष्ट्रवादी नेताओं में से एक थे जिन्होंने अंग्रेज़ों के जमाने में उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् की शुरुआत की थी। आजादी के बाद वही डॉ. सेन अंग्रेज़ी को बचाने और मजबूत करने का पक्ष ले रहे थे क्योंकि उसकी खिडकी से भारत को सारी दुनिया देखनी थी। खास बात यह है कि इसी वक्तव्य में डॉ. सेन यह भी मानते हैं कि अंग्रेज़ी 97 फीसदी भारतीयों को अपनी ही जन्मभूमि में विदेशी बनाने के साथ-साथ सुविधाभोगी और शोषक वर्गों की ऊँची हैसियत का प्रतीक बन जाती है। यह उद्धरण आलोक के. मुखर्जी (2009) से : 82-3।
2. देखें, श्रीश चौधरी (2018), भारत में विदेशी लोग एवं विदेशी भाषाएँ : समाजभाषा-वैज्ञानिक इतिहास, अनु, रामंजनेय कुमार उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 310. इस पुस्तक का मूल अंग्रेज़ी संस्करण फॉरनर्स एंड फॉरेन लेंग्वेजेज इन इंडिया : अ सोसियोलिंगुइस्टिक हिस्ट्री 2009 में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ था।
3. विनय धारवाड़कर (2002) अपने इतिहास को इसी केंद्रीय तर्क के इर्द-गिर्द बुनते हैं. देखे, उनकी रचना 'इंग्लिश इन इंडिया एंड इंडियन लिट्रेचर इन इंग्लिश : द अर्ली हिस्ट्री, 1579-1834', कम्परेटिव लिट्रेचर स्टडीज, खंड 39, अंक 2 : 93-119।
4. देखें, हरीश त्रिवेदी (1995), कोलोनियल ट्रांजेक्शंस : इंग्लिश लिट्रेचर एंड इंडिया, मांचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, मांचेस्टर। हरीश त्रिवेदी की इस पुस्तक का आवरण इस संबंध में उल्लेखनीय है। इसमें एक धोतीधारी चंदन लगाए हुए ब्राह्मण एक अंग्रेज़ की तरफ सहयोग-समझौते की मुद्रा में देख रहा है। यानी जो हो रहा था, वह एक विनिमय था।

5. श्रीश चौधरी (2018) की पूर्वोद्धृत रचना के अलावा इन विचारों के लिए देखें, फ्रायकेनबर्ग (1988), 'द मिथ ऑफ इंग्लिश एज अ 'कोलोनियलिस्ट' इम्पोजीशन अपॉन इंडिया : अ रिअप्रेजल विद स्पेशल रिफरेंस टू साउथ इंडिया', द जर्नल ऑफ द रॉयल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, अंक 2 : 305-315
6. देखें, श्रीश चौधरी का लेख 'मैकॉले और आधुनिक शिक्षा पद्धति', हृदय कांत दीवान वगैरह (2017), वही : 216-226।
7. ब्रूस टाइबाउट मैक्कली (1940), इंग्लिश एजुकेशन एंड द ओरिजिंस ऑफ इंडियन नैशनलिज्म, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।
8. अंग्रेज़ी के भारतीयकरण की दलील अकादमीय जगत में काफी प्रचलित है। अंतर्राष्ट्रीय भाषा-वैज्ञानिक दायरे में इसके सबसे बड़े पैरोकार ब्रज बिहारी कचरू हैं जिनकी कई रचनाएँ अंग्रेज़ी को उसके साम्राज्यवादी अतीत से छुटकारा दिलाने की कोशिश करती हैं। इन्हीं में एक देखें, ब्रज बी. कचरू (1983), द इंडियानाइजेशन ऑफ इंग्लिश : द इंग्लिश लेंग्वेज इन इंडिया, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
9. देखें, परमेश आचार्य (1988), 'इज मैकॉले स्टिल अवर गुरु?', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 23, अंग 22 : 1124-1130. इसी लेख को हिंदी में पढने के लिए देखें, परमेश आचार्य (2000), देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प, अनु. अनिल राजिमवाले, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली में संकलित लेख 'क्या मैकॉले अभी भी हमारे गुरु हैं?'
10. अंग्रेज़ी को औपनिवेशिक आरोपण के तौर पर दिखाने वाली गौरी विश्वनाथन की रचना 'मास्क्स ऑफ कांक्वेस्ट' (1989) को इस तरह की आलोचना का सामना करना पड़ा है. देखें, आलोक मुखर्जी (2017), 'अर्ली इंग्लिश टेक्स्ट बुचस ऐंड लेंग्वेज पॉलिसीज', एम. श्रीधर और सुनीता मिश्रा (सं.), लेंग्वेज पॉलिसी एंड एजुकेशन इन इंडिया : डॉक्युमेंट्स, कांटेक्स्ट्स ऐंड डिबेट्स, रुट्लेज, लंदन और न्यूयार्क : 9. साथ ही यहाँ यह कहना भी जरूरी है कि मुखर्जी की गिनती श्रीश मिश्र जैसे अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी की विरुदावलि गाने वाले इतिहासकारों में नहीं की जा सकती। वे 2009 में प्रकाशित अपनी रचना 'दिस गिक्रट ऑफ इंग्लिश, ओरिएंट दूब्रलैकस्वान, नयी दिल्ली में ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित वर्चस्व की अवधारणा और टेरी ईगल्टन द्वारा प्रतिपादित साहित्य को विचारधारा के रूप में देखने के आग्रह का इस्तेमाल करते हुए भारत में अंग्रेज़ी की मौजूदगी को एक ऐसे वर्चस्व के रूप में दिखाते हैं जिसकी नींव उपनिवेशवादियों द्वारा रखी गई थी।
11. उत्तर-औपनिवेशिक विद्वत्ता में प्रचलित सम्पर्क-क्षेत्र (कांटेक्ट जोन) की धारणा मैरी लुई प्रैट की देन है। उन्होंने 1991 में दिये गये एक व्याख्यान 'आट्र्स ऑफ द कांटेक्ट जोन' में इसका प्रतिपादन किया था। इस व्याख्यान के लिए देखें, प्रोफेशन : 33-40. इस धारणा का विस्तृत प्रतिपादन उनकी 1992 में प्रकाशित रचना 'इम्पीरियरल आईज : ट्रेवल राइटिंग ऐंड ट्रांसकल्चरेशन, रुटलेज, लंदन और न्यूयार्क में मिलता है। विनय धारवडकर (2002) ने इसी का इस्तेमाल करके अंग्रेज़ी के भारतीय भूगोल की ऐतिहासिक नक्शानवीसी करने का प्रयास किया है। आंशिक तौर पर मैंने यह मैपिंग उन्हीं से ली है, लेकिन इसमें मेरे अध्ययन के मुताबिक कुछ परिवर्तन किये गये हैं। मसलन, तीसरा सम्पर्क-क्षेत्र मैंने कल्पित किया है और धारवाड़कर द्वारा बताया गया चौथा सम्पर्क-क्षेत्र मेरी दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है। दूसरे, धारवाड़कर का भूगोल केवल समावेशन की प्रक्रिया पर आधारित है, जबकि मैंने इसकी बनावट में बहिर्वेशन की प्रक्रिया की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण माना है। यहाँ बहिर्वेशन को रेखांकित करना इसलिए आवश्यक है कि बिना इसके औपनिवेशिक आत्मनिष्ठता की रचना की दोतरफा और जटिल प्रक्रिया समझ में नहीं आ सकती।
12. यह विवरण श्रीश चौधरी (2018) से रोजगार के सम्पर्क-क्षेत्र से संबंधित इस समूचे विवरण के कई तथ्य इस पुस्तक के साथ-साथ विनय धारवाड़कर (2002) से लिए गए हैं।
13. बंगाली भद्रलोक के अंग्रेज़ी-प्रेम पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। नमूने के लिए देखें, परमेश आचार्य के दो लेख 'क्या मैकॉले अभी भी हमारे गुरु हैं?' और 'बंगाली 'भद्रलोक' और उन्नीसवीं सदी में शैक्षिक विकास', परमेश आचार्य (2000), देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प, अनु. अनिल राजिमवाले, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली।
14. भारत में उपनिवेशवाद को हमदर्दी से देखने वाले इतिहासकारों ने दलील दी है कि एंग्लो-इंडियन संतानों की स्थिति अमेरिका में गौरांग दास-मामिलों और काली गुलाम स्त्रियों के समागम से हुई संतानों से बेहतर थी। वे संतानें दास की श्रेणी में ही मानी गईं, पर भारत में मेस्तिजो संतानों को कम्पनी के निजाम में अफसर की हैसियत मिली। लेकिन ये इतिहासकार सुविधाजनक रूप से भारत के ब्रिटिश परिवारों के भीतर

प्रचलित दासप्रथा के तथ्यों को नजरअंदाज कर देते हैं। दासप्रथा के ट्रांसअटलांटिक व्यापार के अलावा भारत के ब्रिटिश परिवारों के भीतर पनपी और सायास कायम रखी गई इस दासप्रथा के इतिहास पर मारगोट फिन (2009) ने अपने शोध 'स्लेव्ज आउट ऑफ कांटेक्स्ट : डोमेस्टिक स्लेवरी एंड द एंग्लो-इंडियन फेमिली', सी. 1780-1830', ट्रांजेक्शंस ऑफ द रॉयल हिस्टोरिकल सोसाइटी, सिक्स्थ सीरीज, खंड 19 : 181-230 में पर्याप्त रोशनी डाली है। इन अंग्रेज़ परिवारों की सेवा के लिए दास स्त्रियाँ खरीदी-बेची जाती थीं, उनसे होने वाली संतानों का भी क्रय-विक्रय होता था, और अंग्रेज़ मालिक मरने से पहले वसीयत में इन दासों का अपने उत्तराधिकारियों के बीच चल सम्पत्ति के रूप में वितरण भी करते थे।

15. कम्पनी के इस किरदार के लिए देखें, इयान कॉपलैंड (2006)।
16. देखें, विनय धारवाड़कर (2002), वही।
17. देखें, आनंद के. कुमारस्वामी (1906), 'एंग्लिसाइजेशन ऑफ द ईस्ट', द सीलोन नैशनल रिव्यू, अंक 2, जुलाई, 181-195।
18. देखें, आर.के. कोछड़ (1992), 'इंग्लिश एजुकेशन इन इंडिया : हिंदू एनम्मीसिस वरसेस मुस्लिम टोरपोर', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 27, अंक 18 : 2609-2611.
19. देखें, अमीनुर रहमान (1992), 'द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ इंग्लिश एजुकेशन इन मुस्लिम बंगाल : 1871-1912', कम्परेटिव एजुकेशन रिव्यू, खंड 36, अंक 3 : 309-321.
20. सैयद अहमद खाँ को कोछड़ ने मुसलमानों का राममोहन रॉय करार दिया है। लेकिन यह उपमा उचित नहीं है। राममोहन रॉय द्वारा किया गया अंग्रेज़ी का समर्थन हिंदुओं के सामाजिक और धार्मिक जीवन के सम्पूर्ण पश्चिमीकरण की वकालत से जुड़ा हुआ था। वेदांत के दर्शन और उस पर आधारित हिंदू धर्म के विरोध के कारण उनके पिता और उनके देहांत के बाद विधवा माँ ने उन्हें घर तक से निकाल दिया था। इसके विपरीत सैयद अहमद खाँ मुसलमानों को अंग्रेज़ी और पश्चिमी विज्ञान से मुख्य तौर पर उपयोगितावादी दृष्टि से ही जोडना चाहते थे ताकि वे ब्रिटिश हुकूमत की निगाह में चढ़ सकें। इस्लामिक धर्मशास्त्र की पश्चिमी दृष्टि से आलोचना करने की जुर्रत उन्होंने कभी नहीं की।
21. इस तरह के विद्वत्तापूर्ण काम के लिए देखें, अलेस्टेयर पेनीकुक (1998), इंग्लिश एंड द डिस्कोर्स ऑफ कोलोनियलिजम (पॉलिटिचस ऑफ लेंग्वेज), रौटलेज, न्यूयार्क।
22. देखें, कृष्ण कुमार (2006), गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली : 77-78 (पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ एजुकेशन : अ स्टडी ऑफ कोलोनियलिस्ट एंड नैशनलिस्ट आइडियाज (1991ध्2005), सेज, नयी दिल्ली का हिंदी अनुवाद, इसके अध्याय दो 'उपनिवेश का नागरिक' में मैकॉले के कथन से जुड़ी धारणा का खंडन करते हुए कहा है कि औपनिवेशिक शिक्षा-व्यवस्था ने दफ़्तरी बाबुओं को ही नहीं, आधुनिक भारत के अभिजन (राजनीतिक नेताओं, कारोबारी लोगों और बुद्धिजीवियों) को भी पैदा किया। परमेश आचार्य (1988) भी इसी राय के हैं।
23. देखें, गौरी विश्वनाथन (1988), वही, यह उद्धरण पार्लामेंटरी पेपर्स, 1852-53 के खंड 32 में दर्ज चार्ल्स ट्रेवेलियन की गवाही से।
24. देखें, चार्ल्स ई. ट्रेवेलियन (1838), वही : 192-4।
25. देखें, कृष्ण कुमार (2006), गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नयी दिल्ली : 22-3, 25-6. डब्ल्यू.ली वार्नर की यह रचना मैक्मिलन द्वारा लंदन से 1897 में प्रकाशित हुई थी और कई वर्षों तक नागरिकशास्त्र की पाठ्य पुस्तक की तरह इसका इस्तेमाल किया गया।
26. देखें, स्वाति जोशी (सं.) (1981), रिथिंकिंग इंग्लिश : एजेज इन लिटरेचर, लेंग्वेज, हिस्ट्री, 'इंट्रोडक्शन', ट्रियांका, नयी दिल्ली : 6-7.
27. देखें, प्रमोद के. मिश्र (2000), 'इंग्लिश लेंग्वेज, पोस्टकोलोनियल सब्जेक्टिविटी, एंड ग्लोबलाइजेशन इन इंडिया', अ रिव्यू ऑफ इंटरनेशनल इंग्लिश लिटरेचर (एआरआईईएल), खंड 31, अंक 1 व दो, जनवरी-अप्रैल : 383-409।
28. देखें, बर्नार्ड एस. कॉन (1996), वही : 18, 20-21.
29. उपरोक्त : 68-9. जो शब्द इटेलिक में हैं वे लेखक द्वारा स्पष्टता के लिए जोड़े गए हैं।
30. देखें, वीणा नरेगल (2001), वही : 70-78।
31. इतिहासकार प्रथमा बनर्जी का यह कथन विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली में 25-26 मार्च, 2019 को हुए एक वर्कशॉप 'इंग्लिश इन इंडिया : अ स्टडी ऑफ पॉवर, कल्चर ऐंड नॉलेज' में

दिये गये वक्तव्य से।

32. साहित्य के सिद्धांतकार राजकुमार का यह कथन विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली में 25-26 मार्च, 2019 को हुए एक वर्कशॉप 'इंग्लिश इन इंडिया : अ स्टडी ऑफ पॉवर, कल्चर ऐंड नॉलेज' में दिये गये वक्तव्य से।
33. देखें, सूजी थारू (1997), 'द अरेंजमेंट ऑफ एन अलाइंस : इंग्लिश एंड द मेकिंग ऑफ इंडियन लिटरेचर', स्वाति जोशी (सं.), रिथिंकिंग इंग्लिश : एसेज इन लिटरेचर, लेंग्वेज, हिस्ट्री', ट्रियांका, नयी दिल्ली : 160-180.
34. देखें, चार्ल्स ई. ट्रेवेलियन (1838), वही : 124-25.
35. देखें, सूजी थारू (1997), वही, यह बेहतरीन और लम्बा उद्धरण थारू की इस रचना की पाद-टिप्पणियों में छिपा हुआ है। देखें पाद-टिप्पणी संख्या 10.
36. देखें, मैकॉले का व्याख्यान 'द लिट्रेचर ऑफ ब्रिटेन', सूजी थारू (1997), वही, में उद्धृत।
37. देखें, आलोक मुखर्जी (2017), 'अर्ली इंग्लिश टेक्स्ट बुक्स ऐंड लेंग्वेज पॉलिसीज', एम. श्रीधर और सुनीता मिश्रा (सं.), लेंग्वेज पॉलिसी ऐंड एजुकेशन इन इंडिया : डॉक्युमेंट्स, कांटेक्स्ट्स ऐंड डिबेट्स, रुट्लेज, लंदन और न्यूयार्क : 9-25.

संपर्क : प्रोफेसर और निदेशक, भारतीय भाषा कार्यक्रम, विकासशील अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), 29, राजपुर रोड, सिविल लाइंस, दिल्ली-110054, मो. : 9810013213

भारत में बदलते भूमि सम्बन्ध

सियाराम शर्मा

भूमि मनुष्यों, जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों के जीवन का आधार है। हम इस भूमि पर जन्म लेते हैं, इसी से पोषण ग्रहण करते हैं और अन्ततः इसी में घुल-मिल जाते हैं। हमारी सभ्यता, संस्कृति, श्रम और सौन्दर्य का सारा खेल इसी रंगभूमि पर खेला जाता है। युगों-युगों से मनुष्य ने इस भूमि की वन्दना की है, इसके महात्म्य का गुणगान किया है और इसके लिए अपना बलिदान भी दिया है। इस भूमि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए हमारे प्राचीनतम् ग्रंथ 'ऋग्वेद' में कहा गया है ''स्वर्ग मेरा पिता है, वातावरण रूपी भाई नाभि है और महान पृथ्वी मेरी माता है'' ('द्यामं पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुम् माता पृथिवो महोयम्'—ऋग्वेद 1.64.33)। 'अथर्ववेद' की ऋचाएँ भी कहती हैं कि ''भूमि हमारी माता है और हम पृथ्वी के पुत्र हैं, उत्पादक हमारे पिता हैं और वे भी हमें संतुष्ट करें।'' (''माता भूमिः पुत्रोअहं पृथिव्याः, परर्जन्यः पिता स उ नः पिपिर्तु''—'अथर्ववेद'-12.1.12)।

भारत वर्ष में ही नहीं, विश्व की समस्त सभ्यताओं और संस्कृतियों में भूमि के प्रति यही लगाव और प्रेम देखा जाता है। लेकिन भूमि की सबसे बड़ी सीमा यही है कि इसका पुनरुत्पादन संभव नहीं है। इसकी मात्रा, भूगोल और निर्मिति का इतिहास पूर्व निर्धारित है। हम इसे बदल नहीं सकते। समय के साथ-साथ विश्व की जनसंख्या बढ़ती गयी, मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं और इसी के साथ भूमि के प्रति उसकी भूख भी बढ़ती चली गयी। इसी के साथ शुरू हुआ भूमि की छीना-झपटी, लूट-पाट और संघर्ष का व्यापक सिलसिला। इसके लिए भाई-भाई में 'महाभारत' हुए, राज्यों के बीच युद्ध हुए और विश्व के बहुत बड़े हिस्से को उपनिवेश और गुलाम बनाया गया। प्रत्येक राज्य और राज्यों के बीच का इतिहास भूमि के लिए रक्तरंजित संघर्षों का इतिहास रहा है। फ्रांस के महानतम उपन्यासकार बाल्जाक ने कहा था—''जिसके पास भूमि है, उसके पास कलह भी है।''

भूमि पर सभी जीव-जन्तुओं, वनस्पतियों और मनुष्यों का समान हक है। पृथ्वी पर मनुष्य

उसी तरह प्रकृति का हिस्सा है, जैसे—पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और अन्य जीव-जन्तु। यह भूमि मात्र मनुष्यों के उपभोग के लिए है, यह दृष्टि जीवन और प्रकृति विरोधी है। यह भूमि हम समस्त जीवधारियों की साझी विरासत है। सिर्फ मनुष्यों का या हम में से कुछ मनुष्यों का इस भूमि पर दावा उचित नहीं है। कार्ल मार्क्स ने भूमि के स्थाई सामुदायिक सम्पत्ति के रूप में सचेतन और विवेकपूर्ण इस्तेमाल को मनुष्य जाति और उसकी भावी पीढ़ियों के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य शर्त माना है—''समाज की उच्च सामाजिक, आर्थिक संरचना के दृष्टिकोण से, धरती पर कुछ विशेष व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति का होना वैसे ही बेतुका होगा जैसा कि एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति में उसकी अपनी निजी सम्पत्ति हो। धरती का कोई मालिक नहीं है—न तो एक समाज, न ही एक राष्ट्र और न ही सभी समकालीन अस्तित्वमान समाज ही। बल्कि धरती पर उनका केवल उत्पादन करने का अधिकार है और उनको भावी पीढ़ियों के समुचित पालन पोषण हेतु इसे स्वस्थ-समृद्ध अवस्था में छोड़ना है, जैसे कि एक परिवार का जिम्मेदार मुखिया अपना घर, कारोबार अपने बच्चों के लिए छोड़ता है।''[1]

यों तो हर मनुष्य को भूमि से लगाव और प्रेम रहता है लेकिन एक किसान का भूमि से जितना लगाव और जुड़ाव होता है, उतना शायद ही किसी का हो। वह पूरी तरह से भूमि पर निर्भर होता है। उसी ने जंगल और झाड़ियों को साफ कर जमीन को खेती योग्य बनाया। बंजर धरती को अपने श्रम से उर्वर बनाया। जमीन से अंकुरित होते बीजों, पत्तों, फूलों और फलों के एक-एक परिवर्तन और विकास पर उसकी गहरी संवेदनशील दृष्टि रही। उसने उनमें अपने बढ़ते बच्चों की झलक पायी। अन्न के एक-एक दाने में अपने सपने को साकार होते हुए देखा। लेकिन यही अनाज जब लगान चुकाने के लिए खलिहान में ही सस्ते बिक जाता है और साहूकार से लिये गये ऋण की भेंट चढ़ जाता है और धीरे-धीरे अपनी ही जमीन से बेदखल होकर जब वह किसान से खेतिहार मजदूर और गुलाम बन जाता है तो जीवन के पथरीले यथार्थ से उसकी आत्मा कचोट उठती है। उसका सरल-सहज, निष्कलुष जीवन कटुता से भर जाता है फिर भी वह परिस्थितियों से हार नहीं मानता। उसके भीतर की जिजीविषा उसे चैन से बैठने नहीं देती और वह मिट्टी में ही मरता-खपता रहता है।

ऐसी ही जिजीविषा और जीवट से भरे भारतीय किसानों ने कभी सॉमरसेट मॉम को बहुत प्रभावित किया था। उसने लिखा है—''जब मैं भारत छोड़ रहा था, तो लोगों ने मुझसे पूछा कि भारत में मुझे सबसे अधिक किस बात ने प्रभावित किया, लेकिन प्रभावित करने वाली चीज़ों में न ताजमहल था, न बनारस के घाट। न मदुरै के मंदिर और न त्रावणकोर के पहाड़। ऐसा नहीं है कि मैं इन सबसे प्रभावित नहीं हुआ था; बल्कि सच कहूँ तो इनका भी प्रभाव मुझ पर अधिक पड़ा था, लेकिन जिसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था, वह था, भारत का किसान दुबला-पतला। जिसके पास अपना तन ढँकने के लिए एक मोटी धोती के अलावा कुछ नहीं था। जो सुबह से शाम तक चटकती धूप में धरती को जोतता है, दोपहर में पसीने से नहाता है और शाम को डूबते हुए सूरज की किरणों की तरह परिश्रम से थककर सो जाता है। ऐसा वह आज से नहीं; बल्कि उस समय से कर रहा है जबसे आर्यों ने इस धरती पर कदम रखा था। सिर्फ़ एक आशा उसके मन में काम करती है कि वह इसी परिश्रम के बल पर अपने को जिन्दा रखने की एक छोटी सी ज़रूरत, पेट भरने की, पूरी करता रह सकता है।''[2]

जीवट से भरे परिश्रमी भारतीय किसानों की हीनता और दरिद्रता की निरंतरता के इतिहास को सॉमरसेट मॉम ने आर्यों के आगमन से चिह्नित किया था। यह वास्तविकता है कि भारतीय

किसानों का दुःख और यातनाओं का सिलसिला समय के साथ तीव्र से तीव्रतर होता चला गया, फिर उसे उसके जमीन से बेदखल किया गया और वह अपनी ही जमीन पर बँधुआ खेतिहर मजदूर और गुलाम बन गया। भूमंडलीकरण के इस दौर में आज वह अपनी ही जान का दुश्मन बन गया है। बदलते हुए भूमि सम्बन्धों, सत्ता के बढ़ते हुए शोषण के बीच किसानों के अपराजेय संघर्ष और प्रतिरोध की मिसालें कम नहीं हैं।

प्राचीन भारत में भूमि सम्बन्ध

पुरा-पाषाण युग में मनुष्य ने पत्थर से कुछ औजार बनाए। उत्तर-पाषाण युग में इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि वह खेती करता था या पशुओं को पालता था। इस समय वह मुख्यतः प्राकृतिक रूप से उपलब्ध फलों और जानवरों के शिकार पर निर्भर था। ऋतुओं में परिवर्तन के अनुसार वह प्रायः अच्छे शिकार की संभावनाओं वाले स्थानों की ओर प्रस्थान कर जाता था। वहाँ वह गुफाओं में या जानवरों की खालों से निर्मित तम्बुओं में निवास करता था।

हड़प्पा की खुदाई से पता चला है कि वहाँ के निवासी शहर के बाहर परकोटों में रहते थे। वे खेती का कार्य अच्छी तरह जानते थे। वे मूलतः जौ, मटर और गेहूँ की खेती करते थे। उन्हें कपास उगाना भी आता था और वे बने-बनाए वस्त्र पहनते थे।

कुछ समुदायों में ई. पूर्व 2000 के आस-पास लोहे के उपयोग के प्रमाण मिलते हैं। ई. पूर्व 1400 ई. के आस-पास लोहे की गढ़ाई का कार्य प्रारम्भ हुआ। भारत में 1000 ई. पूर्व लोहे के उपयोग के प्रमाण मौजूद हैं। लोहे के उपयोग से जंगलों और झाड़ियों की कटाई-छँटाई से कृषि क्षेत्रों के विकास में मदद मिली और जमीनों की जुताई भी ठीक ढंग से की जाने लगी। लोहे के उपयोग ने कृषि सभ्यता के विकास में अभूतपूर्व मदद की।

1500 ई. पूर्व के आस-पास आर्यों ने भारत में प्रवेश किया। आर्य मूलतः पशुपालक थे। पशु ही उनकी मुख्य सम्पत्ति थे। वे मनुष्यों का मूल्य और महत्त्व भी पशुओं से आँकते थे। वे नागर जीवन से अनभिज्ञ थे। सिन्धु घाटी में प्रवेश के साथ उन्होंने कृषि कार्य भी सीख लिया। आर्य जब सिन्ध और पंजाब से गंगा के मैदानों की ओर बढ़े तो पूर्णतः कृषि कार्य को अपना लिया। लोहे के उपयोग ने उन्हें इस कार्य में मदद पहुँचायी। रामशरण शर्मा के अनुसार—''गायों की तुलना में कृषि की चर्चा 'ऋग्वेद' में बहुत कम है। जीवन निर्वाह के लिए गौ संवर्द्धन ही तब मुख्य साधन था। ... जब वैदिक लोग अफगानिस्तान और पंजाब से पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ओर बढ़े, तो वे पूर्णरूपेण कृषक बन चुके थे।...उत्तर वैदिक काल के किसानों ने जागीरदारों और क्षत्रियों को नजराना देना शुरू किया, जिन्होंने पुरोहितों को दिया। इसके अलावा किसान पुरोहितों को यज्ञ करने के लिए दक्षिणा भी देता था।...राजा के कुल के लोगों के अलावा कर वसूलने वाले अधिकारी नहीं होते थे।''[3]

बुद्ध काल में कृषि योग्य जमीनें भूखण्डों में बँटी थी। गाँव में परिवार की आवश्यकता के अनुसार भूखण्ड आवंटित किये जाते थे। ग्राम प्रधान की देख-रेख में सामूहिक रूप से नहरों का निर्माण कराया जाता था। खेतों के चारों ओर बाड़ लगाये जाते थे। आमतौर पर लोग परिवार की सहायता से खेती करते थे पर जरूरत पड़ने पर मजदूरों की मदद भी ली जाती थी। किसान मूलतः धान, गेहूँ, जौ, बाजरा, मडुवा, कोदो, दालें, गन्ना व कपास की खेती करते थे। किसान राज्य को प्रायः अपनी उपज का छठवाँ हिस्सा कर के रूप में देता था। इस समय तक राज्य और किसानों के बीच जमींदारों जैसा कोई बिचौलिया वर्ग अस्तित्व में नहीं आया था। हाँ, ब्राह्मणों ने राजाओं को क्षत्रिय के रूप में मान्यता दिलायी। उन्हें दैवीय गुणों से परिपूर्ण

बताया। फलस्वरूप ब्राह्मणों को बड़े पैमाने पर अनुदान में जमीनें प्राप्त हुई। इससे परती क्षेत्रों में कृषि कार्य का विस्तार हुआ। इस काल में समाज में ब्राह्मणों का वर्चस्व कायम रहा। मध्य और पश्चिम भारत में इस काल में बड़े पैमाने पर किसानों को बेगार के लिए मजबूर किया गया। रामशरण शर्मा के अनुसार ''भूमि अनुदान देने की प्रथा पाँचवी शताब्दी ई. से काफी प्रचलित हो गयी। इस प्रथा के अनुसार ब्राह्मणों को कर मुक्त गाँव अनुदान में दिये जाते थे। इन गाँवों से राजा द्वारा वसूल किये जाने वाले सारे कर ब्राह्मणों को हस्तांतरित कर दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त लाभ भोगियों को दान में प्राप्त गाँवों के निवासियों पर शासन करने का अधिकार दिया गया।.... यहाँ से हम कृषि अर्थव्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पाते हैं। भूमि वाले लाभ भोगी न तो स्वयं खेती कर सकते थे, न ही वे अपने-आप भूराजस्व वसूल कर सकते थे। वास्तविक खेती किसानों या बटाईदारों के जिम्मे दे दी गयी, जो जमीन के साथ जुड़े हुए थे मगर जिनका जमीन पर अधिकार नहीं था।''[4]

मध्यकालीन भारत में भूमि सम्बन्ध

भारत में बहुत पहले से ही कुल कृषि उपज का छठवाँ हिस्सा कर के रूप में लिया जाता था। सन् 800 से 1200 ई. तक लगभग इतना ही कर या कहीं-कहीं इसके अलावा तालाब या चारागाह कर लिये जाने का जिक्र मिलता है। 1000 ई. से 1200 ई. तक राजपूत राजाओं को भूमि से अत्यधिक लगाव था। ज्यादा से ज्यादा भूमि पर नियंत्रण उनके लिए सम्मान की बात थी। किसानों द्वारा विद्रोह करने या निःसंतान रहने की स्थिति में उनसे भूमि वापस ले ली जाती थी। मंदिरों और ब्राह्मणों को अब भी जमीनें दान में दी जाती थी और बदले में ब्राह्मणों द्वारा राजपूत राजाओं को चन्द्रवंशी और सूर्यवंशी क्षत्रिय होने की मान्यता प्रदान की जाती थी।

उत्तरी अफ्रीका का टैजियर निवासी इब्न बतूता ने 14वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की थी। मुहम्मद तुगलक के दरबार में वह आठ वर्ष तक रहा था। वह भारत में भूमि की उर्वरता को देखकर अभिभूत था। यहाँ आम तौर पर वर्ष में एक ही जमीन से दो फसलें उगायी जाती थी। धान तो तीन-तीन बार बोया जाता था। मुहम्मद तुगलक और अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा कुल कृषि उपज का एक तिहाई और दोआब के क्षेत्रों में आधा तक कर लिया जाता था। अकाल और युद्ध की मार से जनता उस समय बहुत परेशान थी। किसानों की स्थिति एक जैसी नहीं थी। गाँव के मुक्कदम (मुखिया) के पास कुछ कर मुक्त जमीनें और कुछ रियायती कर वाली जमीनें होती थीं, जिससे उसकी स्थिति गाँव के अन्य किसानों से अच्छी हुआ करती थी।

1540 से 1555 तक शेरशाह के शासन काल में भी उपज का एक तिहाई भाग कर के रूप में लिया जाता था। उसने कर व्यवस्था को बहुत हद तक व्यवस्थित करने की कोशिश की। समस्त भूमि को उत्तम, मध्यम और निम्न कोटियों में बाँटा गया और उसके औसत एक तिहाई उपज का हिस्सा कर के रूप में प्राप्त किया जाता था। फसल की बुआई के प्रारम्भ में ही किसानों के फसल की किस्म, रकबा और राजस्व का पट्टा लिखकर दे दिया जाता था। राज्य कर्मचारियों को उससे अधिक वसूल किये जाने पर पाबंदी थी। नाप-जोख करने वाले कर्मचारियों के लिए राज्य द्वारा अलग से वेतन निर्धारित था। इस समय आमतौर पर किसानों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे नकद कर दें पर फसल के रूप में भी कर प्राप्त किये जाते थे। शेरशाह के द्वारा अकाल और अन्य प्राकृतिक आपदाओं से निपटने हेतु अलग से

एक व्यवस्था की गयी थी। प्रति बीघा की दर से ढाई सेर अनाज इस हेतु किसानों से प्राप्त किया जाता था। वह किसानों को लेकर चिंतित रहता था और उनके प्रति संवेदनशील था। उसने कहा है—''किसान निर्दोष हैं, वे अधिकारियों के आगे झुक जाते हैं और अगर मैं उन पर जुल्म करूँ तो वे अपने गाँव छोड़कर चले जायेंगे, देश बर्बाद और वीरान हो जायेगा और दोबारा समृद्ध होने के लिए उसे बहुत वक़्त लगेगा।''[5] उस काल तक खेती की उपलब्धता अत्यधिक थी। अतः जुल्म होने पर किसान एक गाँव से दूसरे गाँव पलायन कर जाते थे। इससे शासकों के शोषण पर कुछ हद तक अंकुश रहता था।

सन् 1526 ई. में बाबर ने मुगल साम्राज्य की नींव रखी। औरंगजेब (1658 ई. से 1707 ई.) के बाद मुगल साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर होने लगा। अपने शासन (1567 ई. से 1576 ई.) के प्रारंभिक दिनों में अकबर ने भी शेरशाह की पद्धति को लागू किया पर आगे चलकर वार्षिक अनुमान के आधार पर कर लिये जाने लगे। अकबर को अपने किसानों की चिन्ता रहती थी। वह अपने कर्मचारियों को उनसे पितृवत् व्यवहार की हिदायतें देता था। उत्पादन के आधार, भूमि के विकास पर भी उसने बल दिया। अकाल या प्राकृतिक आपदा के समय करों में छूट दी जाती थी। कर स्थानीय उत्पाद और स्थानीय कीमत के आधार पर लिये जाते थे। कुछ जमींदारों को वंशगत आधार पर कर का कुछ हिस्सा अपने पास रखने की इज़ाजत थी। किसान भी जब तक कर चुकाते रहते थे, भूमि पर उनका वंशगत अधिकार बना रहता था और प्रायः उन्हें भूमि से बेदखल नहीं किया जाता था।

मध्ययुग में बड़े पैमाने पर भूमि उपलब्ध थी। अतः जोतों की औसत सीमा ज्यादा थी। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में भारत की आबादी साढ़े 12 करोड़ थी। अतः गाँव के किसानों, दस्तकारों के जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त भूमि थी। उस समय कुछ किसान अपना हल-बैल रखकर अपनी भूमि पर कृषि कार्य करते थे, जिन्हें खुदकाश्त कहा जाता था, जबकि कुछ किसान जमींदारों या बड़े किसानों की जमीन पर खेती करते थे, जिन्हें पाही कहा जाता था। उस समय गाँव में भूमि की उपलब्धता पर्याप्त थी अतः जमींदारों और गाँव के मुखिया लोगों में होड़ लगी रहती थी कि अपने गाँव में ज्यादा से ज्यादा खेतिहरों को बसाया जाये।

इतिहासकार सतीश चन्द्र का मानना है कि मध्ययुग में भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत के प्रमाण मौजूद हैं और जमीन पर किसानों का वंशगत अधिकार था। उन्हीं के शब्दों में— ''अबुलफ़ज़ल तथा अन्य समसामयिक लेखकों की कृतियों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत की प्रथा बड़ी पुरानी थी।...परंपरा के अनुसार किसी भी जमीन का मालिक वह था जो पहली बार उस पर खेती करता था। मध्य युग में काफी बड़ी मात्रा में बंजर भूमि उपलब्ध थी और उत्साही व्यक्तियों के लिए यह कठिन नहीं था कि वे एक नया गाँव बसा लें, आस-पास की जमीन पर खेती आरंभ करें और जमीन के मालिक बन जायें। स्वयं की खेती की मिल्कियत के अलावा कई जमींदारों को गाँवों से लगान प्राप्त करने का वंशगत अधिकार भी था। इसे उसका ताल्लुका या उसकी जमींदारी कहा जाता था। लगान इकट्ठा करने के लिए जमींदारों को आमतौर पर कुल लगान का 5 या 10 प्रतिशत हिस्सा मिलता और कहीं-कहीं तो उनका हिस्सा 25 प्रतिशत तक था। पर जमींदार अपनी जमींदारी के अन्तर्गत आने वाली सारी जमीन का मालिक नहीं था। खेती करने वाले लोगों से जमीन उस समय तक वापस नहीं ली जा सकती थी जब तक वे लगान देते रहें। इस प्रकार जमीन पर जमींदारों तथा किसानों का अपना वंशगत अधिकार हो जाता था।''[6]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भूमि व्यवस्था बहुत ज्यादा उत्पीड़नकारी नहीं थी। अतः इस काल में भूमि संघर्ष और किसान विद्रोह बहुत कम दिखाई देते हैं। सत्रहवीं सदी के अंत और 18वीं सदी के प्रारंभ में भूमि संघर्ष और किसान विद्रोह के प्रमाण मिलने लगते हैं और कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि यही मुगल साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण बना।

आधुनिक भारत में भूमि सम्बन्ध

सन् 1757 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा प्लासी की लड़ाई में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित किये जाने के बाद भारत में अंग्रेज़ी राज की स्थापना हुई। कम्पनी को भारतीय भूभाग पर स्थित अपने किलों, व्यापारिक चौकियों की रक्षा करनी थी। अपनी जल और थल सेना का रख-रखाव करना था। भारत के भीतर और बाहर समुद्र में अपने हितों की रक्षा की लड़ाइयाँ लड़नी थी। इन सभी के लिए उसे बहुत बड़ी रकम की जरूरत थी, जो न तो उसके पास थी और न ही इंग्लैण्ड से प्राप्त की जा सकती थी। इसकी भरपाई उसने अपने नियंत्रण क्षेत्रों में आने वाले किलेबन्द शहरों-बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में बड़े पैमाने पर स्थानीय कर लगा कर की। अपनी बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत के अन्य क्षेत्रों पर अधिकार कर ज्यादा से ज्यादा राजस्व वसूलने की उसकी इच्छा धीरे-धीरे बलवती होती चली गयी। व्यापार पर एकाधिकार, कच्चे माल की जरूरत, इंग्लैण्ड के औद्योगिक क्रांति के लिए अतिरिक्त पूँजी और इंग्लैण्ड के कारखानों, में बनी वस्तुओं के बाजार के लिए भारत के शेष भागों पर आधिपत्य उसके लिए जरूरी हो गया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक टीपू सुल्तान, मराठा तथा रणजीत सिंह आदि हिन्दुस्तान के शासक अंग्रेजों से पराजित हो चुके थे। जैसे-जैसे शेष भारत पर उनका कब्जा होता चला गया, वैसे-वैसे सेना की बढ़ती जरूरतें, इंग्लैण्ड से आये अधिकारियों के वेतन, प्रशासन, शिक्षा आदि के लिए कम्पनी का खर्च बढ़ता चला गया। अपने व्यापारिक हितों का बढ़ावा देने के लिए वह भारत के लघु और गृह-उद्योगों को पहले ही तबाह कर चुका था। अतः उसकी आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन अधिक से अधिक भूमि कर वसूलना हो गया।

सन् 1765 में ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल, बिहार, उड़ीसा का दीवानी अधिकार प्राप्त हुआ। 1774 ई. में वारेन हेस्टिंग्स के गवर्नर बनने के बाद कर वसूली की पारंपरिक पद्धति को समाप्त कर सारा अधिकार अंग्रेज कलेक्टरों को दे दिया गया। इस नयी प्रक्रिया के तहत जो अधिक से अधिक बोली लगाता था, उसे मालगुजारी वसूलने का अधिकार दिया जाता था। ब्रिटिश भारत में जमीनी बंदोबस्त के कई रूप प्रचलित थे, जिन्हें स्थाई बंदोबस्त, अस्थाई बंदोबस्त, रैयतबाड़ी, महालबाड़ी, जमींदारी और ताल्लुकेदारी व्यवस्था कहा जाता था। उपर्युक्त बंदोबस्त के माध्यम से अंग्रेजों ने भारतीय भूमि संबंधों में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। जमीनों की रजिस्ट्री प्रारंभ हुई, उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर बेचने-खरीदने की छूट दी गयी। लगान न जमा करने पर जमीन से बेदखली की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। अंग्रेज़ी सरकार जब चाहे जमींदारों को भी हटा सकती थी। इस प्रकार अंग्रेज अचानक सम्पूर्ण भूमि के मालिक बन बैठे। कर निर्धारण, कानून बनाने, न्याय करने का सारा अधिकार एक विजातीय शासक वर्ग के हाथों में आ गया। इंग्लैण्ड की व्यवस्था एक तरह से सम्पूर्ण भारत पर जबरन थोप दी गयी।

पुराने भारत में राजा जमीन का मालिक नहीं था, उसे सिर्फ किसानों की उपज के एक निश्चित हिस्से पर अधिकार था। परिस्थिति के अनुसार फसल के कम या ज्यादा होने पर उसका

हिस्सा भी घटता-बढ़ता रहता था। पर अंग्रेजों ने जमीन के अनुसार एक निश्चित मालगुजारी तय कर दी जो फसल न होने या कम होने पर भी किसानों को चुकाना पड़ता था। यह व्यवस्था ज्यादा हृदयहीन और कठोर थी, जिसमें किसानों की स्थिति का ध्यान नहीं रखा गया। पूर्व में कृषि भूमि पर किसानों को खेती करने का अधिकार तो था पर वह उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी पर अब जमीन बेची और खरीदी जा सकती थी। लगान न चुकाने पर किसानों को जमीन से बेदखल भी किया जा सकता था।

स्थायी बंदोबस्त (इस्तमरारी बंदोबस्त) या जमींदारी प्रथा सर्वप्रथम लार्ड कार्नवालिस ने 1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में तथा आगे चलकर (टॉमस मुनरो ने) उत्तरी मद्रास में लागू किया। यह एक तरह से इंग्लैण्ड की व्यवस्था थी, जिसे थोड़ा परिवर्तित कर यहाँ लागू कर दिया गया। जमींदार भारत में पहले भी हुआ करते थे पर वे राजा के कारिन्दा मात्र थे पर अब अंग्रेजों ने उन्हें अपनी ओर से मालिक बना दिया। कम्पनी द्वारा निर्धारित कर के अलावे उन्हें अन्य तरह से किसानों को लूटने-खसोटने की पूरी छूट दे दी गयी। इस नयी प्रथा ने किसानों को तबाह और बर्बाद कर दिया। भारत के लगभग 20 प्रतिशत भूमि पर यह प्रथा लागू थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि—''वारेन हेस्टिंग्स ने सबसे पहले इस धारणा को सामने रखा कि सारी जमीन सरकार की है। ज़मीन जोतने वाला किसान तो सरकार से ज़मीन किराये पर लेता है। अतः जमीन की उपज का सरकारी हिस्सा 'टैक्स' नहीं 'रेण्ट' है। ...इस स्थायी बंदोबस्त में सरकारी हिस्सा उपज का 90 फीसदी तय हुआ। उत्तरी भारत में 83 फीसदी लगान निश्चित हुआ। जब इसको उगाहने में कठिनाई हुई तो 75 फीसदी, फिर 66 फीसदी और अंत में 1835 ई. में 50 फीसदी कर दिया गया।''[7]

स्थायी बंदोबस्त के व्यवस्थापकों का तर्क था कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' का जादुई स्पर्श एक नया उत्पादक सिद्धांत लागू करेगा। लेकिन वस्तुतः ऐसा हुआ नहीं। व्यापक पैमाने पर किसानों की भूमि से बेदखली हुई। वे किसान से खेतिहर मजदूर बनने को बाध्य हुए। दूसरी तरफ जमींदारों की जोत का आकार सुरसा की तरह फैलता चला गया। इससे बड़े पैमाने पर गरीबी फैली और सम्पूर्ण भारतीय अर्थव्यवस्था तबाह हो गयी। खुद अंग्रेजों द्वारा तैयार की गयी 'हाउस ऑफ लार्ड्स' की पाँचवी रिपोर्ट (1821 ई.) में कहा गया था ''बंगाल में इस्तमरारी बंदोबस्त की वजह से जितनी गरीबी फैली है, और भूमि अधिकारों में जितना बड़ा परिवर्तन हुआ है, उतना, उसी समय में, महज कानून के जोर से और किसी देश में या और किसी युग में शायद नहीं हुआ होगा।''[8]

भारतीय इतिहास का यह बहुत बड़ा सच है कि जमींदारी व्यवस्था ने अंग्रेजों को भारत में टिके रहने का मजबूत आधार प्रदान किया। नहीं तो मुट्ठी भर अंग्रेजों के लिए भारत पर शासन करना मुश्किल होता। जमींदार कम्पनी की लूट में उनके साझीदार थे। अगर जमींदारों का सहयोग नहीं मिलता तो अंग्रेज भारत को गुलाम बनाये रखने में कभी सफल नहीं होते। आगे चलकर भारत के स्वाधीनता संघर्ष में जमींदारों के कई संगठनों ने अंग्रेज़ी राज का खुलकर समर्थन किया। 1925 में 'बंगाल लैण्डओनर्स एसोसिएशन' के अध्यक्ष का वायसराय को दिया गया अभिनन्दन पत्र इसका गवाह है, जिसमें कहा गया था, ''महामहिम इस बात का भरोसा कर सकते हैं कि जमींदार लोग सरकार का पूरा-पूरा समर्थन करेंगे और पूरी निष्ठा के साथ सरकार की सहायता करेंगे''। अंग्रेजों को भी जमींदारों की इस भूमिका का अंदाजा था। इसीलिए तो यह व्यवस्था लागू की गयी थी। 1828 से 1835 तक भारत के गवर्नर जनरल रहे विलियम बैंटिक ने विद्रोह की स्थिति में जमींदारों को अपने सहायक के रूप में देखा था, ''यदि जबरदस्त

जनविद्रोहों या क्रांति का मुकाबला करने के लिए सुरक्षा की जरूरत है तो मैं यह कहना चाहूँगा कि कई मामलों में और कई महत्त्वपूर्ण बातों में असफल होने के बावजूद स्थायी बंदोबस्त का कम से कम यह एक बहुत बड़ा फायदा है कि उसने धनी भूस्वामियों का एक विशाल संगठन खड़ा किया जो तहेदिल से यह चाहते हैं कि अंग्रेज़ी राज बना रहे और जिनका जनता पर पूरी तरह से दबदबा कायम है।''[9]

स्थायी बंदोबस्त की कुछ सीमाओं को देखते हुए आगे चलकर अंग्रेजों के द्वारा भूमि की जो व्यवस्थाएँ की गयी वह अस्थायी प्रकृति की थी। इसमें सरकार के पास यह अवसर बचा रहता था कि समय-समय पर किसानों तथा किसान समूहों के साथ हुए समझौतों को संशोधित कर लगान बढ़ाये जाने की संभावना को बनाये रखा जाये। अस्थाई बंदोबस्त के अन्तर्गत संयुक्त प्रांत और मध्य प्रांत के अधिकांश हिस्से तथा बंगाल, बम्बई के कुछ हिस्से शामिल थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का 30 प्रतिशत क्षेत्र आता था।

रैयतबारी बंदोबस्त के अन्तर्गत बम्बई, मद्रास के अधिकांश इलाके, बरार, सिंध, असम तथा अन्य हिस्से आते थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत की कुल जमीन के 51 प्रतिशत हिस्से शामिल थे। रैयतबारी बंदोबस्त की शुरुआत टॉमस मुनरो ने 1820 ई. में मद्रास का गवर्नर रहते हुए की थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बिचौलिये जमींदारों को हटाकर सीधे किसानों के साथ करों के अस्थायी समझौते किये जाते थे। समय-समय पर भूमि कर बढ़ा दिये जाते थे, जिसे चुकाने में असमर्थ रहने पर किसानों को बेदखली का सामना करना पड़ता था। रैयतवारी व्यवस्था वाले इलाकों में भी किसानों की स्थिति अच्छी नहीं थी। बम्बई और मद्रास प्रेसीडेंसी के किसानों के बारे में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था—''जहाँ यह रीति है, वहाँ की रियाया भी खुश नहीं। सरकार अपना लगान लेने से नहीं चूकती, पर जमीन सुधारने के लिए प्रायः कुछ भी खर्च नहीं करती। जमीन को उपजाऊ बनाने या न बनाने की जिम्मेदारी काश्तकारों के हिस्से रहती है पर उनको यह डर लगा रहता है कि सरकार जब चाहेगी लगान बढ़ा देगी या जमीन से ही बेदखल कर देगी। जब पैदावार बहुत कम हो जाती है और लगान नहीं बेबाक होता, तब कर्ज लेना पड़ता है।...बम्बई और मद्रास में हर साल हजारों काश्तकारों की जमीन नीलाम होती है। बताइये, इन लोगों के बच्चों की क्या दशा होती होगी।''[10]

अंग्रेज़ी राज में एक अन्य तरह की भूमि व्यवस्था भी थी, जिसे 'महालबाड़ी' कहा जाता था। इसमें पूरे गाँव से सरकार एक निश्चित कर वसूल करती थी और गाँवों में जोतों के आधार पर किसानों के बीच करों का बँटवारा किया जाता था। यह व्यवस्था ज्यादा सफल नहीं हो सकी। इसके अलावा एक व्यवस्था ताल्लुकेदारी की भी थी जिसे अवध में 1857 के बाद लागू किया गया था। कहा जाता है कि इस व्यवस्था में किसानों के हित ज्यादा सुरक्षित थे पर 5 प्रतिशत किसानों को ही इसके अन्तर्गत अपनी जमीनों पर दावा था। शेष किसान ताल्लुकेदारों की मर्जी पर निर्भर थे। वह जब चाहे उन्हें बेदखल कर सकता था।

कम्पनी के शासन काल में भूमि लगान की बढ़ती हुई दरों ने किसानों की कमर तोड़ दी। भयंकर अकाल तथा दुर्भिक्ष की स्थिति में कर निरन्तर बढ़ाये जाते थे। कम्पनी के 30 साल के शासन में बंगाल में मुगल काल से लगभग दुगुना लगान बढ़ा दिया गया। महाराष्ट्र में महाराष्ट्रियों के द्वारा एक वर्ष में लगभग 80 लाख कर वसूल किये जाते थे पर अंग्रेजों के समय में यह बढ़कर 1 करोड़ 15 लाख तक पहुँच गया। उस पर विडम्बना यह थी कि सरकार भूमि और कृषि के विकास के लिए कुछ भी खर्च नहीं करती थी। कमोवेश यही स्थिति सम्पूर्ण भारत की थी। इसके अलावा उसने कर वसूलने के क्रूरतम और जघन्यतम तरीके अपनाये।

सन् 1797 में लार्ड बेलेजली ने कुर्की-जब्ती का एक नया कानून पास करवाया, जिसे 'जब्ती एक्ट' कहा जाता था। इस कानून के तहत लगान न चुकाने वाले किसानों के घरों में पुलिस प्रवेश करती थी और उनके हल, बैल, चौखट, दरवाजे, घर के बर्तन को जब्त कर लेती थी। किसान इससे स्वयं को अपमानित महसूस करता था और उसकी इज्जत तार-तार हो जाती थी।

सखाराम गणेश देउस्कर ने लगान न चुकाने वाले किसानों की जमीन नीलामी और बेदखली का दिल दहला देने वाला विवरण प्रस्तुत किया है—''बम्बई की व्यवस्थापक सभा के सिविलियन सदस्य मि. रोजर्स ने भारत के अंडर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को मद्रास के किसानों की अवस्था के बारे में एक पत्र लिखा था। इसमें वे कहते हैं कि सन् 1879-80 से सन् 1989-90 तक के ग्यारह वर्षों में सरकार ने जमीन का लगान वसूल करने के लिए 8,40,713 आदमियों की 19,63,364 बीघा जमीन नीलाम करा ली। केवल जमीन देकर भी प्रजा को छुट्टी नहीं मिली। उन्हें थरिया, लोटा तक बिक्री कर 29 लाख, 65 हजार 81 रुपये और भी सरकार को देना पड़ा। उक्त 19,63,364 बीघा जमीन के खरीददार न मिलने के कारण 11.75 लाख बीघा जमीन सरकार को खुद खरीदनी पड़ी थी। यदि लगान अधिक न होता तो इस जमीन के लिए खरीदार, जरूर ही मिल जाते। अत्यधिक कर का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण दिया जा सकता है?''[11]

भारतीय किसानों के खून की आखिरी बूँद तक निचोड़ लेने की ऐसी दास्तान विश्व में और कहीं नहीं मिलती। यह बर्बर लूट थी। देउस्कर ने ब्रुक्स एडम्स की पुस्तक 'लॉ ऑफ सिविलाइजेशन एण्ड डीके' के एक अंश को उद्धृत करते हुए कहा है—''पृथ्वी जब से प्रारंभ हुई है तब से आज तक के किसी व्यवसाय में इतना नफा नहीं हुआ है, जितना भारत की लूट से हुआ है।'' वे आगे कहते हैं—''अंग्रेज़ी राज्य की बढ़ती के साथ-साथ किसानों के घरों में इस दारुष राक्षस ने किस प्रकार मजबूती के साथ आसन जमाया है, यह यदि जानना चाहो तो भूमि कर बढ़ाने का यही इतिहास मन लगाकर पढ़ो। ब्रिटिश सिंह जब जिस प्रदेश में गया, तभी उस प्रदेश के किसानों का रक्त उसने इतना अधिक चूस लिया कि वे उठने-बैठने की शक्ति से भी रहित हो गये।''[12]

अंग्रेजों द्वारा भारत के औपनिवेशिक शोषण में जमींदारों के साथ-साथ साहूकारों और व्यापारियों की भी बड़ी भूमिका रही। पारंपरिक भारत में साहूकार प्रजा का विनयशील सेवक था पर अंग्रेज़ी राज का समर्थन और सहयोग पाकर वह बर्बर लुटेरा बन गया। पुराने राजाओं की तरह अंग्रेज़ी शासन में कर फसल के रूप में प्राप्त न कर नकद लिया जाने लगा। अतः फसलों को खरीदने और बेचने वाले एक साहूकार वर्ग की आवश्यकता हुई। किसानों की फसल कभी उम्मीद से कम और कभी नहीं भी होती थी। ऐसे में लगान चुकाने के लिए उसे कर्ज की आवश्यकता होती थी। किसानों को कर्ज मुहैया कराने का कार्य भी यही व्यापारी और साहूकार वर्ग करता था। एक बार ऋण के जाल में फँस जाने के बाद किसान उसमें और भी ज्यादा उलझता चला जाता था। पारंपरिक भारत में साहूकारों को किसानों की जमीन पर कुर्की या हस्तांतरण का अधिकार नहीं था पर अंग्रेजों की कानूनी प्रणाली ने महाजन को कर्जदार की कुर्की और जमीन हस्तांतरण का अधिकार देकर उनके लिए स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। पुलिस, प्रशासन और न्यायालय इस कार्य में साहूकारों के मददगार सिद्ध हुए। इस प्रकार सूदखोर महाजनों के चंगुल में फँसकर किसान अपनी जमीनों से बेदखल होते रहे। इस प्रकार औपनिवेशिक भूमि व्यवस्था, लगान नीति में जमींदार और साहूकार वर्ग अंग्रेजों के सहायक थे। अतः अंग्रेजों द्वारा बनाये गये कानून तथा अदालतों ने जमींदारों और साहूकारों को संरक्षण दिया। अदालतें शोषण का सहायक जरिया बन गयी। अतः इनके प्रति भारतीय जनमानस में तीव्र घृणा और

वितृष्णा थी।

अंग्रेज़ी औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि बंदोबस्त चाहे जो भी हो पर यह एक सर्वमान्य वास्तविकता थी कि किसानों से भूमि पर दखली का अधिकार छीन लिया गया। अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ी सरकार समस्त भूमि की मालिक बन बैठी। ज्यादा से ज्यादा नकद कर वसूलने की आकांक्षा ने जमींदारों और साहूकारों के बर्बर शोषण को बढ़ावा दिया। किसान अपनी जमीन से बेदखल होकर मजदूर बनते चले गये और दूसरी तरफ जमींदारों और साहूकारों जैसे अनुत्पादक वर्गों के हाथों में भू सम्पत्ति केन्द्रित होती चली गयी। अंग्रेजों की भूमि कर व्यवस्था, शासन व्यवस्था और न्याय व्यवस्था ने भारतीय किसानों के भीतर व्यापक असंतोष और विद्रोह का भाव पैदा किया। औपनिवेशिक नीतियों के कारण उजड़ते दस्तकारी उद्यम ने कृषि पर लोगों की निर्भरता बढ़ा दी। निरंतर करों के बढ़ते बोझ के साथ कई अन्य तरह के करों, महसूलों और बेगारों से किसान आर्थिक दृष्टि से शोषित होने के साथ नैतिक दृष्टि से भी अपमानित हो रहे थे। शोषण और दमन की इस हृदयहीन व्यवस्था ने धीरे-धीरे उन्हें इस स्थिति में ला दिया था कि मरने या लड़ने के सिवा उनके पास कोई और चारा नहीं था। अतः स्वाधीनता आन्दोलन के पूर्व और उस दौरान हमें भूमि संघर्षों एवं किसान विद्रोहों का व्यापक सिलसिला दिखाई पड़ता है। इन विद्रोहों और संघर्षों में मैसूर का किसान विद्रोह (1830-31), संथाल विद्रोह (1855-56), 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम (1857), नील के किसानों का विद्रोह (1859-60), पबना और बोगरा किसान विद्रोह (1872-73), दक्कन विद्रोह (1857), मोपला विद्रोह (1836-1896), बिरसा मुंडा का विद्रोह (1895-1900), चंपारण का किसान आन्दोलन (1905-1908), खेड़ा आन्दोलन (1917-1918), अवध का किसान विद्रोह (1918-22), वन सत्याग्रह (1921-22), बारदोली सत्याग्रह (1928), स्वामी सहजानंद सरस्वती का आन्दोलन (1938-1939), पुन्नप्रा वायलार का संघर्ष (1946), तेभागा (1946) और तेलंगाना का किसान विद्रोह (1946-1951) प्रमुख हैं।

किसान संघर्षों में कांग्रेस की भूमिका

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पूर्व जब से अंग्रेजों ने भारतीय गाँव में पाँव पसारना शुरू किया, नये तरह के भूमि बंदोबस्त को लागू किया और लगान निरन्तर बढ़ाते चले गये तब से भारतीय किसानों ने पग-पग पर उनका प्रतिरोध किया। उनकी विद्रोही चेतना उपर्युक्त भूमि संघर्षों एवं किसान विद्रोहों में अभिव्यक्त होती रही पर आज़ादी की लड़ाई में किसानों की महती भूमिका की पहचान देर से की जा सकी। सबसे पहले महात्मा गाँधी ने 1920 में कलकत्ता के व्यापारियों की एक सभा को सम्बोधित करते हुए किसानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका की ओर ध्यान दिलाया। लेकिन यह कठोर वास्तविकता है कि कांग्रेस और महात्मा गाँधी ने किसानों की क्रांतिकारी चेतना को हमेशा नियंत्रित करने का कार्य किया। किसान और किसान संघर्षों को लेकर कांग्रेस में हमेशा एक दुविधा रही। पार्थ चटर्जी का यह कहना बिल्कुल सही है कि किसानों के बारे में औपनिवेशिक दृष्टि और कांग्रेस का नजरिया मेल खाता था। पार्थ चटर्जी के अनुसार—"भारत के किसानों के बारे में औपनिवेशिक दृष्टि और कांग्रेस का नजरिया यह था कि वे सरल, अज्ञानी, जमींदारों, व्यापारियों और महाजनों द्वारा शोषित शक्ति सम्पन्नों का आदर करने वाले और अपने रक्षक शासकों के प्रति कृतज्ञता का भाव रखने वाले होते हैं। साथ ही यह भी माना जाता था कि वे स्वभाव से हिंसक और अंधविश्वासी होते हैं, जिन्हें भारतीय अभिजात वर्ग का एक हिस्सा अपने क्षुद्र राजनीतिक हितों के लिए बरगला सकता

था। आश्चर्य नहीं कि भारतीय राष्ट्रवाद भी किसानों के प्रति ऐसी ही राय रखते थे। उनके लिए भी किसान सरल और अज्ञानी थे। वे मानते थे कि औपनिवेशिक शासन के विरोध को जनान्दोलनों में तब्दील करने के लिए किसानों को अपने साथ लाने की जरूरत है। लेकिन यह कठिन और खतरनाक कार्य था, क्योंकि किसानों की अज्ञानता और स्वभावगत उग्रता उसे आसानी से भटका सकती थी।''[13]

अपने प्रारंभिक दिनों में वामपंथ अत्यन्त कमजोर था और किसानों की क्रांतिकारी चेतना से भयभीत कांग्रेस ने कभी भी कृषक क्रांति को अपना लक्ष्य नहीं बनाया। इसके विपरीत आवश्यकता पड़ने पर उसने जमींदारों का साथ दिया। ये वही जमींदार थे जो भारत में अंग्रेज़ी राज को टिकाये रखने के प्रबल आधार स्तम्भ थे और अंग्रेजों के प्रति वफादार थे। 1939 में छतारी के नवाब ने कहा था कि हमने ग्रामीण इलाकों में कानून व्यवस्था को कायम कर अंग्रेज़ी राज्य की महान् सेवा की है। अधिकतर जमींदार अंत-अंत तक अंग्रेजों के सेवक और समर्थक बने रहे। कुछ जमींदार जिनकी स्थिति बेहतर नहीं थी वे कांग्रेस में इसलिए शामिल हुए कि उन्हें महसूस होता था कि उनकी दुर्दशा के कारण अंग्रेज हैं। यह हैरत में डालने वाला तथ्य है कि जो जमींदार कांग्रेस में शामिल हुए भी उनका किसानों के प्रति नजरिया और व्यवहार अन्य जमींदारों से भिन्न नहीं था। अवध के किसानों ने कालाकांकर के राजा की शिकायत गाँधी जी से की थी कि वे खुद को राष्ट्रवादी कहते हैं पर किसानों की बेदखली, बेगार और शोषण में वे दूसरे जमींदारों से अलग नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि गाँवों में अंग्रेज़ी सत्ता अपने आप को जमींदारों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करती थी।

तीस के दशक के मध्य में किसान सभाओं के गठन ने अखिल भारतीय स्तर पर किसानों को संगठित किया और उन्हें जुझारू संघर्ष के मैदानों में उतार दिया। यह वही समय था जब अंतरिम मंत्रिमण्डल का गठन किया जा रहा था। संयुक्त प्रांत में छतारी के नवाब ने जब मंत्रिमण्डल का गठन किया तो कांग्रेस ने लगानबन्दी का आन्दोलन चलाया और किसानों को विश्वास दिलाया कि सत्ता में आते ही वे किसानों की सारी देनदारियाँ माफ कर देंगे। पर सत्ता सँभालने के बाद कांग्रेस ने गिरगिट की तरह रंग बदल लिया। उसने किसानों से कहा कि वे अपना बकाया चुकता करें अन्यथा बेदखली के लिए तैयार रहें। इस समय कांग्रेस की भूमिका अंग्रेज समर्थक और किसान विरोधी नजर आती है। खुद वायसराय की रिपोर्ट भी इसे सिद्ध करती है। अप्रैल 1938 में वायसराय ने रिपोर्ट भेजी थी—''मंत्रिमण्डल दृढ़ता के साथ इस खतरे से निपटने के श्रेय का हकदार है। किसान संगठनों के प्रति कांग्रेस पार्टी की नीति दृढ़ और यहाँ तक की दमनकारी रही है।'' इसी माह गाँधी जी ने हरिजन में लिखा ''अलग किसान संगठनों का मेरा अध्ययन इस नतीजे पर पहुँचता है कि वे किसानों के हितों के लिए काम नहीं कर रहे हैं, बल्कि उनका संगठन कांग्रेस संगठन पर कब्जा जमाने की दृष्टि से हुआ है। सही तरीका अपनाकर किसानों का नेतृत्व करते हुए वे यह कर सकते हैं, किन्तु मुझे भय है कि वे उन्हें बहका रहे हैं।'' स्पष्ट है यहाँ कांग्रेस की भूमिका किसानों के प्रति दमनकारी है और गाँधी जी किसान संगठनों से भयभीत हैं। पार्थ चटर्जी के शब्दों का सहारा ले तो गाँधी जी भी किसानों के प्रति औपनिवेशिक नजरिए के शिकार हैं, क्योंकि उनका मानना था कि किसान भोले-भाले हैं और उन्हें बहकाया जा रहा है।

किसान महात्मा गाँधी को एक ऐसे व्यक्ति के रूप देखता था, जो उन्हें औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलायेगें पर गाँधी जी अंग्रेज अधिकारियों की तरह किसान विद्रोहों और संघर्षों को एक खतरे के रूप में चिह्नित करते थे। वे चाहते थे कि किसान शांति बनाये रखें। किसानों

के लिए शांति का अर्थ यह था कि वे जमींदारों का जुल्म, अत्याचार सहते रहें। बेगार और बेदखली का विरोध न करें और लगान चाहे जितना बढ़ाया जाये उसे चुकता करते रहें। गाँधी जी की यह कृषक शांति जमींदारों और अंग्रेज़ी हुकूमत के पक्ष में उनका हित साधन करने वाली थी। कपिल कुमार महात्मा गाँधी और कांग्रेसी दक्षिण पंथियों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—''कुछ कथित मार्क्सवादी इतिहासकार गाँधी की नीति को वर्ग समझौते व वर्ग सहयोग के रूप में देखते हैं। परन्तु वास्तव में गाँधी और दक्षिणपंथी कांग्रेसी किसानों को वर्ग समझौता और वर्ग सहयोग करने का नहीं, बल्कि जमींदारों के आगे समर्पण करने का उपदेश देते थे। 'यदि जमींदार आपका उत्पीड़न करें तो आपको थोड़ा सह लेना चाहिए'। 'यदि जमींदार आपको परेशान करे तो मैं अपने किसान भाई से कहूँगा कि वे लड़ें नहीं बल्कि मैत्रीपूर्ण रुख अपनायें, उन्हें जमींदारों से झगड़ा नहीं करना चाहिए'। किसानों को सलाह दी गयी है कि वे जमींदारों से हुए उन समझौतों का दृढ़तापूर्वक पालन करें जो चाहे लिखित रूप में किये गए हों या परंपरा द्वारा स्वीकृत हों।''[14]

भारत के अधिकांश इतिहासकारों ने जवाहर लाल नेहरू की छवि को एक वाम समर्थक नेता के रूप में देखा है। लेकिन उनके वामपंथी होने या किसान समर्थक होने का निर्णय उनके वक्तव्यों और उद्‌गारों से नहीं, उनके राजनीतिक क्रियाकलापों के आधार पर लिया जाना चाहिए। रायबरेली के जमींदार उमानाथ बख्स सिंह ने 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' में शामिल किसानों को बेदखल कर दिया था। रायबरेली के जिला कांग्रेस कमेटी के सचिव कालका प्रसाद इस बेदखली के विरुद्ध उस जमींदार के घर पर शांतिपूर्ण धरना देना चाहते थे। जवाहर लाल नेहरू को जब यह पता चला तो उन्होंने कालका प्रसाद को न सिर्फ सचिव पद से हटा दिया बल्कि कांग्रेस से भी मुअत्तल कर दिया। यही नहीं इसके लिए उन्होंने उस जालिम जमींदार से खेद प्रकट किया और कालका प्रसाद को एक भटका हुआ व्यक्ति कहा। कपिल कुमार का कहना है—''प्रत्येक अवसर पर चाहे वह आन्ध्र में किसान प्रतिज्ञा का मामला हो या उग्र पंथ का या प्रत्याशियों के चयन का या किसान प्रदर्शनों का या किसान सभा पर प्रतिबंध का, प्रत्येक मायने में उन्होंने न सिर्फ दक्षिण पंथियों का साथ दिया, वरन् किसान सभा के विरुद्ध अपनी ताकत लगायी। काश्तकारी विधेयकों से असल में उन्होंने अपने को अलग रखा और दक्षिणपंथ को खुला छोड़ दिया कि वे जो चाहें करें।''[15]

एक तरफ महात्मा गाँधी किसान आन्दोलन को खतरे के रूप में देखते थे तो दूसरी ओर जवाहर लाल नेहरू उसके नेताओं की आलोचना करते थे। इसी प्रकार भारतीय पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि बिड़ला किसान आन्दोलनों पर हमला करने का एक अवसर भी नहीं चूकते थे। अंतरिम मंत्रिमण्डल के वक्त बिड़ला कांग्रेस के नेताओं, मंत्रियों और सरकार के बीच कड़ी जोड़ने का कार्य करते थे। वे सिर्फ एक पूँजीपति ही नहीं, बड़े सामंत भी थे। बिहार में उस समय उनकी आठ लाख की जमींदारी थी। इसलिए गाँधी जी की तरह वे भी किसान संघर्षों से चिंतित दिखायी पड़ते थे।

आजादी के बाद का भूमि सम्बन्ध

यह कैसी विडम्बना है कि जिस महात्मा गाँधी और कांग्रेस ने आज़ादी के दौरान कृषक अशांति, रक्तपात और हिंसा को उचित नहीं समझा, उसने आज़ादी के वक्त हुई अशांति, रक्तपात और हिंसा के सामने घुटने टेक दिये। क्या आज़ादी के पूर्व और आज़ादी के वक्त की हिंसा को अलगाया जा सकता है? चाहे कोई भी कांग्रेसी नेतृत्व हो, किसानों की समस्या के प्रति गंभीर

और संवेदनशील नहीं रहा और किसान आन्दोलनों के प्रति उदासीन बना रहा। इसकी छाया आज़ादी के बाद के भूमि सुधारों के उसके क्रियाकलापों में भी दिखाई पड़ती है। यह सच है कि भारत की समस्त कृषि समस्या की जड़ सामंती भूमि सम्बन्धों की संरचना में निहित थी। लेकिन आज़ादी के बाद भी इस संरचना में कोई मूलगामी परिवर्तन नहीं हुआ। स्वामी सहजानंद ने 30 के दशक से ही जमींदारी प्रथा के उन्मूलन को कृषि आन्दोलनों का मुख्य मुद्दा बना दिया था। अतः प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के विरोध के बावजूद सबसे पहले बिहार में जमींदारी उन्मूलन कानून बना। 1950 में भूमि सुधार अधिनियम पास हुआ। न्यायालय में चुनौती दिये जाने के बाद सुप्रीम कोर्ट की अनुशंसा पर 1952 से ही इसे लागू किया जा सका। अधिकांश राज्यों ने 1956 तक जमींदारी उन्मूलन एक्ट पास कर दिया था।

आज़ादी के बाद कथित तौर पर जमींदारी प्रथा समाप्त की गयी। काश्तकारों के जोतों को सुरक्षा प्रदान की गयी और उस पर उन्हें अधिकार दिया गया। सहकारी और सामुदायिक खेती की बात भी की गयी। लेकिन ये सभी सुधार कार्य आधे-अधूरे मन से, किसी दृढ़ इच्छा शक्ति के बगैर किये गये। अतः जमीनी स्तर पर कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ।

जमींदारी उन्मूलन एक्ट की सबसे बड़ी खामी यह थी कि इसे राज्यों के भरोसे छोड़ दिया गया। अधिकांश राज्यों में इस एक्ट को लागू किये जाने में गम्भीर खामियाँ थी। उत्तर प्रदेश में जमींदारों को उन जमीनों को अपने पास रखे जाने की इजाजत दे दी गयी, जिसे उन्होंने 'व्यक्तिगत खेती' घोषित की थी। उत्तर प्रदेश, बिहार और मद्रास में इस व्यक्तिगत खेती की कोई सीमा निर्धारित नहीं थी। इस कारण जमींदार अब बड़ी जमीनों के मालिक बन गये। अपनी व्यक्तिगत जोतों को बड़ा दिखाने के लिए बड़े पैमाने पर छोटे काश्तकारों को उन्होंने बेदखल कर दिया। कानून पास हो जाने के बाद भी कानूनी पेचीदगियों में वर्षों तक इसे लटकाये रखा गया। सबसे ज्यादा विरोध बिहार के भूस्वामियों की ओर से हुआ। इसके अलावा ग्रामीण क्षेत्र में अपना प्रभाव रखने के कारण निचले स्तर के राजस्व अधिकारियों से साँठ-गाँठ के कारण भी इस कानून को लागू करने में अड़चनें पैदा की गयी।

जमींदारी उन्मूलन का कुछ फायदा उन काश्तकारों को मिला जो लम्बे समय से जमीन पर खेती करते आ रहे थे और जिनके पास रिकॉर्ड मौजूद थे। ऐसे काश्तकार ऊपरी और मध्यम तबके के थे। जिन काश्तकारों के पास रिकार्ड नहीं थे और जो बटाईदार थे, उन्हें कुछ भी फायदा नहीं हुआ, क्योंकि कानूनों के मुताबिक बटाईदारों को काश्तकार नहीं माना जाता था। एक दूसरी दिक्कत यह भी थी कि जो पैसे के रूप में लगान चुकाते थे उन्हें ही काश्तकार माना गया पर जमींदारों को फसल के रूप में लगान चुकाने वालों को काश्तकार नहीं माना गया। काश्तकारों की असुरक्षा का सबसे प्रमुख कारण काश्तकारी का मौखिक एवं अनौपचारिक होना था। इस कानून के तहत केरल, बंगाल, बम्बई, गुजरात में कुछ काश्तकारों को सुरक्षा अवश्य मिली। इन सबों से कुछ अच्छी स्थिति गुजरात और महाराष्ट्र के रैयतवारी इलाकों के काश्तकारों की थी। इस दृष्टि से हिंदी प्रदेशों की स्थिति सबसे ज्यादा बदतर थी।

भारत में भूमि सुधार के लिए भूमि का न्यायोचित हदबंदी तय किया जाना बहुत जरूरी था। इससे अतिरिक्त भूमि वितरण की समस्या को हल किया जा सकता था पर विडम्बना यह थी कि जमींदारी उन्मूलन के साथ 'भूमि हदबंदी' का कोई कार्यक्रम नहीं था। सन् 60 के दशक में जब 'भूमि हदबंदी' की बात की जाने लगी तो प्रेस, संसद, राज्य की विधान सभाओं में निहित स्वार्थी तत्त्वों ने इसका विरोध किया। कांग्रेस संसदीय पार्टी के सचिव एन. जी. रंगा ने दिसम्बर 1958 में कांग्रेस के सौ सांसदों द्वारा हस्ताक्षरित एक पत्र प्रधानमन्त्री नेहरू को

सौंपा, जिसमें 'हदबंदी' का विरोध किया गया था। इस प्रकार हदबंदी के सवाल को टाला जाता रहा और 1961 तक जब कई राज्यों ने इससे सम्बन्धित कानून बनाये तब तक बहुत देर हो चुकी थी। जमींदारों ने कई तरीकों से अपनी अतिरिक्त जमीनों को व्यवस्थित कर लिया था। इस हदबंदी कानून में भी कई खामियाँ थीं।

हदबंदी कानून की खामियों को उजागर करते हुए बिपिन चन्द्र ने लिखा है—''ऐसी परिस्थिति में जहाँ भारत में 70 प्रतिशत से अधिक भू सम्पत्तियाँ पाँच एकड़ से कम थीं, राज्यों द्वारा तय की गयी हदबंदियाँ काफी अधिक थी। उदाहरण के लिए आन्ध्र प्रदेश में भूमि के स्वरूप के अनुसार 27 से 312 एकड़ के बीच थी, आसाम में यह 50 एकड़ थी, केरल में 15 से 37.5 एकड़ के बीच बदलाव था। पंजाब में 30 से 60 एकड़, पश्चिम बंगाल में 25 एकड़, महाराष्ट्र में 18 से 126 एकड़ इत्यादि। इसके अलावा अधिकतर राज्यों में हदबंदी व्यक्तिगत आधार पर लागू की गयी, न कि परिवार की भू-सम्पत्तियों पर। इससे भू स्वामियों को अपनी सम्पत्ति को हदबंदी से बचाने के लिए परिवार के सदस्यों के नाम अलग-अलग कर देने का मौका मिल गया। इसके अलावा कई राज्यों में हदबंदी बढ़ाई भी जा सकती थी, जैसे केरल में 67 प्रतिशत, मध्यप्रदेश में 90 प्रतिशत, बिहार, मद्रास और महाराष्ट्र में 100 प्रतिशत, त्रिपुरा में 140 प्रतिशत, इत्यादि; इसकी इजाज़त परिवार के सदस्य पाँच से अधिक होने की स्थिति में मिलती थी। ...दूसरी योजना ने सुझाव दिये कि भूमि की कुछ श्रेणियों को हदबंदी से छूट दी जा सकती है। इसका फ़ायदा उठाकर अधिकतर राज्यों में बड़े पैमाने पर छूटें दी गयी। इनमें चाय, कॉफी तथा रबर के बागान, बगीचे, पशुपालन एवं प्रजनन, दूध आदि के उत्पादन, ऊन उत्पादन वगैरह से सम्बन्धित विशेष फार्मों जैसी श्रेणियों को छूट दी गयी। ...लेकिन अक्सर ये छूटें अजीबोगरीब थी, जैसे तमिलनाडु में 26 किस्म की छूटें दी गयी थी। ...और अंतिम बात यह कि हदबंदी कानून बनाने में काफी देर कर देने से इसका उद्देश्य काफी हद तक पूरा नहीं हो पाया। बड़े भूस्वामियों को अपनी अतिरिक्त जमीनें बेचने या अपने रिश्तेदारों के नाम करने, यहाँ तक कि बेनामी हस्तांतरण करने के लिए काफी समय मिल गया। ...सच्चाई यह है कि अधिकतर राज्यों द्वारा 1961 तक हदबंदी कानून पास करने के बावजूद 1970 तक बिहार, मैसूर, केरल, उड़ीसा और राजस्थान जैसे बड़े राज्यों में एक भी एकड़ जमीन अतिरिक्त घोषित नहीं किया गया।''[16]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आज़ादी के बाद ऊपरी तौर पर जमींदारी प्रथा तो समाप्त हुई पर भूमि सम्बन्धों में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हुआ। जमींदारी समाप्ति के बावजूद बड़े-बड़े जमींदारों और जोतदारों का उनकी जमीनों पर कब्जा कायम रहा। हदबंदी कानून के चोर दरवाजों का फायदा उठाकर जमींदारों ने अपनी जमीनों पर मालिकाना हक बरकरार रखा। भारत में जातियों और वर्गों की संरचना प्रायः एक सी रही है। बड़ी जमींदारियों, जोत और भू सम्पत्तियाँ प्रायः उच्च वर्गों और जातियों तक सीमित है। निम्न जातियाँ प्रायः भूमि से उस समय और अब भी वंचित हैं। भारतीय कृषि की त्रासदी यही है कि जिनके पास भू सम्पत्तियाँ हैं, वे खेती नहीं करते और जो खेती करते हैं, वे भूमिहीन हैं। 1948 में 'महारुद्र का महातांडव' नामक लेख में सहजानंद सरस्वती ने 'अर्द्ध सर्वहारा, खेत मजदूरों, टुटपूँजियों, खेतिहारों और बटाईदारों को ही मूल रूप से किसान माना था। आज़ादी के बाद भी इन किसानों के पास भूमि नहीं थी और वे सामंती शोषण के शिकार थे।

जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की निरर्थकता सिद्ध करते हुए रजनीपाम दत्त ने लिखा था—''जमींदारी प्रथा का उन्मूलन तो नहीं हुआ और न जोतने वाले को जमीन ही मिली पर

ब्रिटेन द्वारा स्थापित बड़े जमींदारों और जागीरदारों की व्यापक जमींदारी प्रथा समाप्त हो गयी। फिर भी कानून में बचाव का रास्ता होने की वजह से जिन जमींदारों और उनके परिवारों की सम्पत्ति ले ली गयी थी, वे उल्लेखनीय सीमा तक अपनी जागीर बचाये रखने में समर्थ हो सके। इसके अलावा मुआवजे की राशि बहुत अधिक थोप दिये जाने से केवल धनी या मध्यम दर्जे के किसान को ही भूमि के व्यापक वितरण का लाभ मिल सका और गाँव की उस गरीब जनता को जिनके पास केवल अपने गुजारे भर की जमीन थी और जो मुस्तिकिल रूप से कर्ज में दबी थी तथा लाखों-करोड़ों भूमिहीन खेतिहर मजदूरों को कोई राहत न मिल सकी।''[17] स्वाभाविक है, ऐसे खेत मजदूरों और भूमिहीन किसानों के लिए आज़ादी का कोई विशेष अर्थ नहीं था और न ही इससे उनके जीवन में कोई तब्दीली आने वाली थी।

आज़ादी के बाद के भूमि सुधारों से भारतीय समाज की बुनियादी संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पुराने जमींदार बड़ी संख्या में समृद्ध भू स्वामी वर्ग में रूपान्तरित हो गये। आधे-अधूरे और ऊपरी तौर पर किये गये भूमि सुधारों ने कुछ छोटे और मंझोले किसानों को भूमि का मालिक अवश्य बना दिया। लगान में भी कमी आयी। अतः तीसरे चौथे दशक के विप्लवी किसान संघर्षों को आज़ादी के बाद जारी नहीं रखा जा सका। तेलंगाना के बर्बर दमन से उपजी निराशा और पस्ती ने नकारात्मक भूमिका निभायी। खेतिहर मजदूरों और आधे से अधिक भूमिहीन किसानों की समस्या अब भी ज्यों की त्यों थी। उनका शोषण और उत्पीड़न आज़ादी के बाद भी जारी रहा। आज़ादी के 'दाग-दाग उजाले' ने उनके 'शबजीदा सहर' में कोई तब्दीली नहीं लायी। फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद जैसे वहाँ के किसानों ने खुद को ठगा महसूस किया था, लगभग भारतीय किसानों की स्थिति वैसी ही थी।

बाल्ज़ाक के महान् उपन्यास 'किसान' के एक पात्र फूर्शों के शब्दों में भारतीय किसानों की पीड़ा और असंतोष की झलक मिलती है—''मैंने पुराना समय भी देखा है और नया भी, प्रिय बुद्धिमान महोदय, फूर्शों ने कहा, 'दरवाजे के ऊपर का साइन बोर्ड बदल गया है, यह सही है, लेकिन भीतर मिलने वाली शराब वही है—आज बीते हुए कल का छोटा भाई है, बस इतनी सी बात है।...क्या हम गरीब लोग आज़ाद हैं? हम अब भी उसी पल्ली के वासी हैं, और इसका प्रभु हमेशा की तरह वही है-मैं उसे कहता हूँ, कमरतोड़ मेहनत। कुदाल-फावड़ा हमारी एकमात्र सम्पत्ति, कभी हमारे हाथों से अलग नहीं हुई है। चाहे वे पुराने जागीरदार हों या हमारी कमाई का ज्यादा हिस्सा हड़प जाने वाले आज के ये टैक्स, इस बात में कोई फर्क नहीं आया है कि हम सारी ज़िन्दगी कमरतोड़ मेहनत करते और पसीना बहाते रहते हैं।... सारे कर्नल सिपाही के दम पर जीते हैं, वैसे ही जैसे अमीर लोग किसान के दम पर जीते हैं, और सौ कर्नलों में हमारी नस्ल का एक से ज्यादा नहीं मिलेगा। पूरी दुनिया में यह ऐसा ही है, अगर एक अमीरी में लोट-पोट हो रहा है तो सौ कीचड़ में पड़े हैं। हम कीचड़ में क्यों हैं?...यहाँ, जहाँ हम जन्मे हैं, यहीं हम इसे खोदते हैं, इस धरती को! और इसे बराबर करते हैं, और इसमें खाद डालते हैं, और इसी में रहते हैं, क्योंकि जैसे आप अमीर पैदा हुए हैं, वैसे ही हम गरीब पैदा हुए हैं।...आप हमारे स्वामी बने रहना चाहते हैं, और हम हमेशा ही दुश्मन रहेंगे, ठीक वैसे ही जैसे हम तीस साल पहले थे। आपके पास सब कुछ है, हमारे पास कुछ नहीं, आपको उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि हम कभी दोस्त बनेंगे।...गरीबी का श्राप, महामहिम एक बीज है जो बढ़ता जाता है आपके ऊँचे ओक के पेड़ से भी ऊँचा और ओक की लकड़ी से ही फाँसी का तख़्ता बनता है।''[18]

समाज की समस्याओं से मुँह मोड़ लेना किसी समस्या का हल नहीं है। आज़ादी के

बाद जॉन की जगह गोविन्द का शासन तो स्थापित हो गया पर सामंती भूमि सम्बन्धों में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आया। भूमिहीन किसानों, बटाईदारों और खेतिहर मजदूरों का बहुत बड़ा हिस्सा अब भी बर्बर सामंती और पूँजीवादी शोषण का शिकार था। आर्थिक शोषण के साथ ग्रामीण सर्वहाराओं का सामाजिक, जातीय और लैंगिक उत्पीड़न अब भी जारी था। अतः अनुकूल अवसर पाकर पुनः सातवें दशक में किसान विद्रोहों और भूमि संघर्षों की चिंगारी भड़क उठी और उसने देश के बहुत बड़े हिस्से को अपनी चपेट में ले लिया।

सातवें दशक का भूमि संघर्ष

सातवें दशक का भूमि संघर्ष औपनिवेशक युग से चली आ रही भूमि समस्या और उपेक्षित कृषि प्रश्नों की पूर्णतम अभिव्यक्ति था। अंग्रेज़ी राज से चले आ रहे किसान विद्रोहों की निरंतरता, जिन अन्यायपूर्ण भूमि सम्बन्धों की ओर संकेत कर रहे थे, उसे आज़ादी के बाद भी हल नहीं किया जा सका। लगान कुछ कम तो हुए पर सामंती शोषण, दमन और उत्पीड़न पूर्ववत् जारी रहा। भूमि सुधारों को निरन्तर टाला जाता रहा और जो थोड़े बहुत सुधार हुए भी वे दिखावटी थे।

अभय कुमार दुबे के अनुसार, ''भूमि सुधारों का चरित्र यह था कि हैदराबाद के निजाम को दस करोड़ रुपये की वार्षिक पेंशन व अनेक महल और खजानों समेत 20,000 एकड़ जमीन रखने की इजाज़त दी गयी। सरकार ने जमींदारों को मुआवजे में छः करोड़ रुपये दिये। इस तरह सरकार ने अंग्रेजों द्वारा बनाये हुए जमींदारों की जमीन पर मिल्कियत मान ली।... भूमि सुधार कानून कुछ तरह बनाये गये थे कि उनके रहते हुए जमींदारी बचा लेना आसान हो गया था।...केवल बिहार में भूमि सुधार कानूनों के बावजूद इस समय एक हजार एकड़ से ज्यादा जमीन रखने वाले 17 जमींदार, पाँच सौ एकड़ से ज्यादा जमीन रखने वाले 43 जमींदार और 200 एकड़ से ज्यादा जमीन रखने वाले 150 जमींदार हैं।''[19]

सातवें दशक में भूमि के अनसुलझे सवालों ने गंभीर कृषि संकट को जन्म दिया। एक तरफ देश अकाल की मार से त्रस्त था दूसरी ओर गरीबी और भुखमरी से परेशान लोग अनाज लूट रहे थे। चीन से युद्ध के कारण भारत की आर्थिक स्थिति पहले से ही खराब थी। हर तरफ हड़ताल, जुलूस और प्रदर्शनों को बोलबाला था। नेहरू युग से मोहभंग की प्रक्रिया पहली बार 1967 के चुनावों में दिखाई पड़ी। नौ राज्यों में कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी विस्फोटक थी। वियतनाम जैसा छोटा देश अमेरिकी साम्राज्यवादी युद्ध में उसे गंभीर चुनौती दे रहा था। पश्चिमी देशों के छात्र, नौजवान और बुद्धिजीवी सड़कों पर उतर आये थे। अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एक के बाद एक सफल होता जा रहा था। लैटिन अमेरिकी देशों में सैनिक शासकों के विरुद्ध प्रतिरोध अपने उफान पर था। फ्रांस में छात्रों, अमेरिका में अश्वेतों और स्त्रियों के आन्दोलन के साथ युद्ध विरोधी आन्दोलन भी सक्रिय थे।

यह वही समय था जब सी.पी.आई. में विभाजन और सी.पी.आई.एम. के संशोधनवादी रुझान के विरुद्ध चारु मजूमदार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुए 'आठ दस्तावेज' लिख रहे थे। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि चीन का रास्ता ही भारतीय क्रांति का रास्ता है। उन्होंने हथियारबन्द संघर्ष चलाने के लिए किसानों को संगठित करने का सुझाव दिया। इस प्रकार सातवें दशक के विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार हुई। विषम राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में तेभागा, तेलंगाना तथा पुन्नप्रा वायलार के संघर्षों की निरंतरता में नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह फूट पड़ा। अपने रूप और अन्तर्वस्तु, दोनों दृष्टियों से इन विद्रोहों में बहुत अधिक समानता थी। लेकिन अपनी तीव्रता, प्रसार और भविष्य में पड़ने वाले प्रभाव

की दृष्टि से सातवें दशक का यह किसान विद्रोह ज्यादा असरकारक था। यहाँ किसान सिर्फ अपनी चंद सुविधाओं के लिए नहीं, अन्याय और अत्याचार पर आधारित सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए लड़े। इस विद्रोह के पीछे एक वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण की स्पष्ट दृष्टि थी। चीन की सफल क्रांति के परिप्रेक्ष्य में किसानों की क्रांतिकारी भूमिका को इसमें पहचाना गया। देश के छात्रों और नौजवानों के एक बड़े हिस्से ने अपनी जान की कीमत चुकाकर इस विद्रोह का सहयोग और समर्थन किया।

चारु मजूमदार ने कृषि क्रांति को अपरिहार्य बताते हुए किसानों को राजनीतिक विचारधारा से प्रेरित करने का सलाह देते हुए भूमिहीन और गरीब किसानों के नेतृत्व पर बल दिया। 18 मार्च, 1967 को वाम मोर्चा की सरकार बनने के सिर्फ 18 दिन के बाद सिलीगुड़ी परगना के किसानों का सम्मेलन हुआ, जिसमें यह निर्णय लिया गया कि किसान जोतदारों की जमीन पर कब्जा कर किसान समितियों के माध्यम से उसके पुनर्वितरण का काम शुरू कर दें। साथ ही जोतदारों की हिंसक प्रतिक्रिया का मुकाबला करने के लिए हथियारबंद हो जायें। गाँव में किसान समितियाँ प्रशासन का कार्य अपने नियंत्रण में ले लें। मई के प्रथम सप्ताह में नक्सलबाड़ी, खेरीबाड़ी, फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी थाने के कई गाँवों में किसान विद्रोह की शुरुआत हो गयी। इसके बाद नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह जंगल की आग की तरह बहुत तेजी के साथ पूरे देश में फैल गया। आन्ध्र के श्रीकाकुलम में क्रांतिकारियों को अभूतपूर्व सफलता मिली। बिहार के मुसहरी, तमिलनाडु, केरल तथा पंजाब के कई हिस्सों को इसने अपनी चपेट में ले लिया।

इस संघर्ष से सत्ता थर्रा उठी। शासक वर्गों की नींद उचट गयी। इसके बाद शुरू हुआ जघन्य हत्याओं, क्रूर दमन और फर्जी मुठभेड़ों का अंतहीन सिलसिला। आन्ध्र और बंगाल का बहुत बड़ा हिस्सा 'मृत्यु उपत्यका' में तब्दील हो गया। कलकत्ता 18 से 25 वर्ष के मेधावी, स्वप्नदर्शी नौजवानों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी का कत्लगाह बन गया। भूमि संघर्ष और किसान विद्रोह के विरोधियों ने सत्ता के इस श्वेत आतंक और दमन को खुशनुमा तर्क के रूप में इस्तेमाल किया। अयोध्या सिंह जैसे सी.पी.एम. से जुड़े बुद्धिजीवियों ने 'नक्सलवाद की शव परीक्षा' तक कर डाली। चोटी के नेताओं और बहुसंख्यक कार्यकर्त्ताओं की नृशंस हत्याओं से शासक वर्ग इस गलतफ़हमी का शिकार हुआ कि उसने विद्रोह को कुचल दिया है। लेकिन यह विद्रोह कुछ व्यक्तियों के व्यक्तित्व तक सीमित नहीं था कि जिनकी हत्या कर उसे समाप्त कर दिया जाता। वह आर्थिक, सामाजिक शोषण, उत्पीड़न, अन्याय और अत्याचार पर आधारित सत्ता की कोख से पैदा हुआ था। अतः उन विषम और विपरीत परिस्थितियों में भी यह विचारधारा, मुक्ति की आकांक्षा और बेहतर समाज का सपना जीवित रहा।

आपातकाल का आतंक झेलकर इस विद्रोह ने अपने-आपको पुनर्संगठित किया। भोजपुर का लाल आधार इलाका देश के मानचित्र पर पुनः चमक उठा। गुरिल्ला कार्यवाहियों के लिए भौगोलिक दृष्टि से अनुपयुक्त गंगा के मैदानी इलाकों में सामंतों की निजी सेनाओं और सत्ता के दमन तंत्र का मुकाबला करते हुए इसने न सिर्फ अपने आपको जीवित रखा वरन् बिहार के बहुत बड़े भूभाग पर अपने को फैलाकर क्षणभंगुरता के आरोप को गलत सिद्ध कर दिया। दूसरे चरण के किसान विद्रोह के फैलाव पर टिप्पणी करते हुए विनोद मिश्र ने कहा था—"बिहार का संघर्ष आजकल उन तमाम जिलों में फैल रहा है, जिनको पुरानी किसान सभा के जमाने की जुझारू विरासत प्राप्त है। ये वे जिले हैं, जहाँ बड़ी जमींदारियाँ कम हैं, मगर जमींदारी का आधार विस्तृत है और इसके दायरे में न सिर्फ भूतपूर्व बिचौलिये बल्कि पहले के शक्तिशाली रैयत भी शामिल हैं।...इन जिलों में भूमि सम्बन्धों के जो मुद्दे उभर आये हैं, वे समूचे भारत

में ग्रामीण गरीबों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ न्यूनतम मजदूरी, पट्टेदारी का अधिकार, परती, बेनामी, सामुदायिक एवं सरकारी जमीन पर कब्जा, मजबूरी में फसल बिक्री पर रोकथाम, सस्ती दर पर और आसानी से लागत सामग्रियों का इंतजाम इत्यादि।''[20]

सातवें दशक के भूमि संघर्ष ने भूमिहीन मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी, हरिजनों एवं आदिवासियों के यौन शोषण, गैर मजरूआ जमीनों पर कब्जे, शराबबंदी, भ्रष्टाचार, साम्राज्यवाद की आक्रामकता तथा आगे चलकर नई आर्थिक नीतियों आदि के ख़िलाफ़ लोकप्रिय जनान्दोलनों के द्वारा व्यापक जनता के हृदय में अपनी जगह बनायी। भोजपुर और बिहार के विभिन्न इलाकों में इस संघर्ष और लड़ाई की शक्ति के मुख्य स्रोत थे भूमिहीन, हरिजन और दलित किसान एवं मजदूर। एक तरफ सदियों से दबाकर रखे गये शोषित और उत्पीड़ित दलित थे तो दूसरी तरफ सामंतों की गुंडावाहिनी-निजी सेनाएँ और पुलिस सहित राज्य की सम्पूर्ण मशीनरी। प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत का यह आकलन बिल्कुल सही है कि—''यह नक्सलवादी आन्दोलन सारतः सामंती मिजाज वाले उच्च जाति भू-स्वामियों के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न के ख़िलाफ़ मुख्य रूप से दलित जातियों के गरीब-भूमिहीन किसानों का जुझारू आन्दोलन था। (दरअसल गरीब-भूमिहीन किसानों का अधिकांश हिस्सा दलित जातियों से आता है।) इसने उच्च जातियों की सामंती धाक और आतंक को तोड़ने में तथा इन अंचलों में दलित जातियों के एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।...दलित, गरीब किसान और खेत मजदूर, पिछड़ी जातियों के गरीब तबकों का एक हिस्सा और क्रांतिकारी रुझान वाले युवकों, बुद्धिजीवियों का एक तबका इस आन्दोलन की मुख्य शक्ति थे।''[21] सामंती अत्याचार, सामाजिक उत्पीड़न, सरकारी दमन एवं भूख और गरीबी से बेहाल हरिजनों तथा आदिवासियों और भूमिहीन किसानों को इस आन्दोलन ने सर उठा कर जीने की प्रेरणा तथा संघर्ष की चेतना प्रदान की। सातवें दशक के किसान विद्रोह की सबसे बड़ी ख़ासियत यह थी कि इसने आदिवासियों और गैर आदिवासी समूहों को एकताबद्ध कर दिया। इसने आदिवासियों के अलगाव और जड़ता को भंग किया तथा उनके सशस्त्र विद्रोह की परंपरा को अपने पक्ष में इस्तेमाल किया।

दीपंकर भट्टाचार्य ने इस किसान विद्रोह का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, ''नक्सलबाड़ी अपने प्रत्यक्ष उद्देश्य को हासिल करने में कामयाब नहीं हुई। भाकपा (माले) के क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रथम गौरवशाली चरण को धक्के का सामना करना पड़ा। लेकिन उपनिवेशोत्तर भारत में हुए क्रांति के इस प्रथम बड़े पूर्वाभ्यास ने 1871 के पेरिस कम्यून अथवा 1905 की 'असफल रूसी क्रांति' जैसा अमिट महत्त्व हासिल कर लिया। सफल क्रांतियाँ हमेशा ऐसे 'असफल' पूर्वाभ्यासों के ऐतिहासिक आधार पर ही सफल होती रही हैं, और उसी आधार पर सफल हो भी सकती हैं।''[22] जब तक व्यापक विषमता, दमन और उत्पीड़न एक सामाजिक यथार्थ है। मनुष्य के भीतर सुन्दर समाज रचने का सपना है। उस सपने के लिए संघर्ष और आत्मोत्सर्ग की पवित्र भावना है। सातवें दशक के भूमि संघर्ष का महत्त्व कम नहीं होगा। अगर आन्दोलन के पीछे के कारणों को समाप्त नहीं किया जाता तो इस तरह के आन्दोलन अपनी राख से ही बार-बार आकार लेगा। बँटकर, बिखरकर भी अपने को पुनर्संगठित करेगा।

भूमि की हिंस्र और बर्बर लूट का नया दौर

बीसवीं सदी के अंतिम दशक के प्रारम्भ में सोवियत संघ में समाजवाद के संकटग्रस्त होते ही पूरी दुनिया में नव साम्राज्यवाद की सहयोगी संस्थाएँ विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन आदि के सहयोग से वैश्विक स्तर पर उदारवादी आर्थिक नीतियों की

शुरुआत हुई, जिसमें उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण पर बल दिया गया। इतिहास के अंत की घोषणाएँ हुई और पूँजीवाद को अंतिम विकल्प के रूप में पेश किया गया। इसी के साथ अपने सारे आदर्शवादी और कल्याणकारी मुखौटों को त्याग कर पूँजीवाद अपने सर्वाधिक क्रूर और बर्बर स्वरूप में उपस्थित हुआ। यहीं से सार्वजनिक सम्पत्तियों की निजी लूट और डाकेजनी प्रथा की शुरुआत हुई। विश्व बैंक ने ढाँचागत समायोजन के तहत भूमि को 'कमोडिटी' या 'बिकाऊ माल' के रूप में तब्दील कर दिये जाने में सफलता पायी। इसके साथ ही कॉरपोरेट घरानों, रियल स्टेट के बिल्डरों, खदान मालिकों के द्वारा सार्वजनिक प्राकृतिक संसाधनों के साथ-साथ किसानों, आदिवासियों की जमीनों की लूट का सिलसिला शुरू हुआ। विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों और भू-सम्पदाओं को सट्टेबाज औद्योगिक घरानों, बिल्डरों और भू-माफियाओं के हाथों सौंपा जाने लगा, जिसमें जनता के द्वारा चुनी गयी सरकारों ने उनके एजेंट की भूमिका निभायी।

आज वैश्विक पूँजीवाद स्थाई मंदी के गहन संकट के दौर से गुजर रहा है। मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र गतिरूद्धता का शिकार है। ऐसे में भू सम्पदा का लेन-देन, निर्माण उद्योग और खनन सबसे ज्यादा मुनाफे का कारोबार है। मेरिल लिंच के अनुसार भारत के भू-सम्पदा व्यवसाय का क्षेत्र 2005 में 12 अरब डॉलर का था जो 2015 में बढ़कर 90 अरब डॉलर तक पहुँच गया। 2012 के एक आँकड़े के अनुसार उस समय के 46 अरबपतियों में से 43 फीसदी की धन सम्पत्ति का मुख्य स्रोत रीयल स्टेट, कन्सट्रक्शन, इन्फ्रास्ट्रक्चर, पोर्ट सेक्टर और खनन क्षेत्र था। यह हिस्सा भारत के कुल अरब पतियों की धन-दौलत का साठ प्रतिशत था। यह सर्वविदित है इस व्यापार में सबसे ज्यादा काला धन लिप्त है और भू एवं खनन माफियाओं का राजनेताओं के साथ गहरा गठजोड़ है। इसीलिए भारत में 1991 के आर्थिक सुधारों के साथ आज़ादी के बाद आधे-अधूरे मन से किये गये भूमि सुधारों को पूरी तरह से पलट दिया गया। आज़ादी के बाद के उन सारे कानूनों को निष्प्रभावी बना दिया गया जो जमीन पर किसानों और आदिवासियों के मालिकाना हक की पैरवी करते थे पर 1894 के गुलामी के दौर के भूमि अधिग्रहण कानून से छेड़छाड़ नहीं की गयी, क्योंकि यह भूमि की वर्तमान लूट में सहायक था। भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक उत्तर प्रदेश के भट्टा पारसौल से लेकर उड़ीसा के जगतसिंहपुर तक हमारी चुनी हुई लोकतांत्रिक सरकारों ने किसानों और आदिवासियों से जमीन छीनने और छीन कर कॉरपोरेट घरानों को सौंपने का लम्बे समय से युद्ध छोड़ रखा है। इस युद्ध में उसका सबसे बड़ा हथियार था औपनिवेशिक जमाने का भूमि अधिग्रहण कानून। यह वही कानून था जिसका इस्तेमाल कभी विदेशी शासकों ने भारतीयों के विरुद्ध किया था।

हाल-फिलहाल तक लागू 1894 का भूमि अधिग्रहण कानून औपनिवेशिक जमाने का कानून है, जो 'राष्ट्रहित' या 'सार्वजनिक हित' में राज्य को जनसाधारण के भूमि अधिग्रहण का अधिकार देता है। इस कानून के तहत भूमि अधिग्रहण के लिए जमीन के मालिक की सहमति की जरूरत नहीं है और राज्य पर पुनर्वास और पुनर्व्यवस्थापन की जिम्मेदारी भी नहीं है। भू-सम्पदा का मालिक ज्यादा से ज्यादा आपत्तियाँ दर्ज करा सकता है पर राज्य को इन आपत्तियों को खारिज करने का पूरा अधिकार है। आज़ादी के पूर्व से लेकर अब तक यही भूमि अधिग्रहण कानून पूरे भारत में लागू रहा है और किसानों, आदिवासियों की जमीनों को राज्य द्वारा अधिग्रहित कर भू-माफियाओं, सट्टेबाजों और कॉरपोरेट घरानों को सौंपे जाने का ताकतवर माध्यम रहा है। इस कानून ने लाखों, करोड़ों किसानों और आदिवासियों की पीढ़ियों से संचित उनकी जमीन से वंचित कर उन्हें विस्थापित कर दिया। भूमि अधिग्रहण का यह कानून इस औपनिवेशिक

मान्यता पर आधारित है कि देश की समस्त जमीन आखिरकार राज्य की सम्पत्ति है। इसलिए इस जमीन के भावी और वर्तमान उपयोग का अंतिम निर्णय राज्य के हाथ में है।

यों तो आजादी के पूर्व से ही इस कानून के तहत किसानों का जमीन अधिग्रहित होता रहा पर नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद इसका अत्यन्त ही निर्लज्ज स्वरूप सामने आया, जिसमें किसानों को रंच मात्र मुआवजा देकर राज्य ने खुद मुनाफा कमाने के साथ उद्योगपतियों, बिल्डरों, डेव्हलपर्स को भारी मुनाफा कमाने का अवसर प्रदान किया। सरकार ने 1894 के कानून में निहित 'सार्वजनिक हित' का इस्तेमाल कॉरपोरेट घरानों के लिए किस तरह किया, इसके अनेक उदाहरण हैं। कलिंग नगर में जो जमीन आदिवासियों से मात्र 30,000 रुपये प्रति एकड़ की मामूली दर से अधिग्रहित की गयी, उसे भारतीय बहुराष्ट्रीय कम्पनी टाटा स्टील को 3.35 लाख प्रति एकड़ की दर से बेच दिया गया। दूसरा उदाहरण टप्पल का है। दिल्ली और ग्रेटर नोएडा से सटे टप्पल के किसानों ने जब अपनी जमीन अधिग्रहण का प्रतिरोध किया तो उत्तरप्रदेश सरकार ने किसानों को 880रु. प्रति स्क्वायर मीटर की दर से कीमत देने का प्रस्ताव किया, जबकि वहाँ बाजार मूल्य 25,000रु. प्रति स्क्वायर मीटर था। आगे चलकर इलाहाबाद हाइकोर्ट ने यह कहते हुए किसानों की जमीन लौटाने का आदेश दिया कि ''प्रस्तावित भूमि 850रु. प्रति स्क्वायर मीटर की दर से अधिग्रहित किया गया और एक माह के भीतर बिल्डरों को 10,000रु. प्रति स्क्वायर मीटर की दर से सिर्फ 5 प्रतिशत के भुगतान पर दे दिया गया।'' कोर्ट ने ग्रेटर नोएडा इन्ड्रस्ट्रियल डेव्हलपमेंट एथॉरिटी को जमीन किसानों को लौटाने का आदेश दिया और भू उपयोग बदलने के लिए सरकार की तीखी आलोचना की। आगे चलकर इसी मामले में सुप्रीम कोर्ट की एक बेंच ने सरकारी संस्थाओं को फटकार लगाते हुए कहा था कि ''भूमि अधिग्रहण के औपनिवेशिक कानून की आड़ में वे किसानों की उपजाऊ कृषि जमीन औने-पौने दामों पर लेकर अमीरों को फायदा पहुँचा रही है।'' शीर्ष अदालत ने यह भी कहा, ''तमाम राज्य सरकारों द्वारा एक घृणित अभियान चलाया गया, जिसके तहत कानून का इस्तेमाल गरीबों की जमीन छीन कर बिल्डरों को मॉल, बहुमंजिला इमारतें और आलीशान आवासीय परियोजना को बनाने के लिए किया जा रहा है, जो कि आम आदमी की पहुँच से बाहर है।''

भारत में भूमि की लूट का एक बहुत बड़ा माध्यम 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' कानून बना। 10 मई, 2000 को यह बिल लोक सभा में प्रस्तुत किया गया और 12 मई, 2005 को दोनों सदनों से पारित हो गया। 23 जून, 2005 को राष्ट्रपति से मंजूरी मिलने के बाद 2006 से इसे लागू किया गया। ये विशेष आर्थिक क्षेत्र भारतीय जमीन पर विदेशी टापू, जैसे होंगें, जहाँ बहुत सारे भारतीय कानून लागू नहीं होंगे। वहाँ स्थानीय निकायों की भी कोई भूमिका नहीं होगी और सारे अधिकार विकास आयुक्त के हवाले कर दिये जायेंगे। इन क्षेत्रों में उद्योग शुरू करने के पहले पाँच सालों में आयकर की पूरी छूट और अगले 10 वर्षों तक काफी घटी हुई मात्रा में आयकर वसूले जाने का प्रावधान था। पूर्व केन्द्रीय मंत्री पी. चिदम्बरम ने कहा था कि इन क्षेत्रों में टैक्स और ड्यूटी की माफी के चलते अगले चार वर्षों में राजकोष को 1,00,000 करोड़ रुपये का घाटा होगा। सेज कानून कई तरह से पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाता है। राज्य सरकारें अम्बानियों, मित्तलों इत्यादि को राज्य में आकर्षित करने के लिए आपस में प्रतियोगिता करती हैं और भूमि अधिग्रहण का पूरा जिम्मा अपने कंधों पर ले लेती हैं। कई स्थानों पर राज्य सरकारों ने किसानों और आदिवासियों को दिये गये मुआवजे से कई गुणा ज्यादा कीमत पर भी जमीनें बेची। एक माल उत्पादन क्षेत्र में अधिग्रहित भू-क्षेत्र का आधा हिस्सा ही बुनियादी आर्थिक कार्यवाहियों में लगाना आवश्यक है। शेष भू-क्षेत्र का अपार्टमेंट

से लेकर स्विमिंग पूल तक बनाने के लिए इस्तेमाल हो सकता है। अगर सेज बहु उत्पादन क्षेत्र वाला हो तो अधिग्रहित जमीन का 75 फीसदी हिस्सा गैर प्रमुख कार्यवाहियों में लगाया जा सकता है।

सेज कानून बनते ही सेज निर्माण हेतु प्रस्तावों की झड़ी लग गयी। इसके नाम पर हजारों एकड़ जमीन हड़पी जाने लगी, जिनमें से अधिकांश का इस्तेमाल उद्योग की बजाय सेज की आड़ में भू सम्पत्तियों के व्यापार चलाने के लिए किया गया। 1894 का भूमि अधिग्रहण कानून सार्वजनिक उद्देश्य के नाम पर जमीन उद्योगपतियों को सौंपने का अवसर प्रदान करता है। ख़ास बात यह है कि इस अधिग्रहण में बेदखल किये गये लोगों के पुनर्वास का कोई प्रावधान नहीं था। कुल मिलाकर भारत में सेज का निर्माण रोजगार पैदा करने की जगह जमीन हड़पने की योजना बन गया। एक बार सेज के नाम पर जमीन अधिग्रहित हो जाने के बाद उसके भीतर डेव्हलपर्स शॉपिंग मॉल, होटल और रिहायशी कॉलोनी निर्मित करने लगे और 'सेज' रियल स्टेट बिजनेस का माध्यम बन गया। अतः इस कानून का चौतरफा तीव्र विरोध हुआ। सेज विरोधी आन्दोलनों के दबाव में आखिर जनवरी 2007 से सरकार ने नये सेज की स्थापना पर रोक लगा दी।

राष्ट्रीय स्तर पर भूमि अधिग्रहण का जगह-जगह प्रतिरोध हो रहा था। अतः सरकार पर दबाव था कि इस औपनिवेशिक कानून में संशोधन किया जाये। लेकिन लम्बे समय तक इस विधेयक को लटका कर रखा गया। केन्द्रीय ग्रामीण विकास मंत्रालय ने अक्टूबर 1998 में इसे संशोधित करने की प्रक्रिया शुरू की। लेकिन सरकार के द्वारा इस विधेयक को संसद के समक्ष लाने में 10 वर्ष का समय लग गया। संप्रग सरकार ने 2007 में एक नया 'पुनर्वास एवं पुनर्स्थापन' विधेयक प्रस्तावित किया पर यह प्रस्ताव पुराने भूमि अधिग्रहण कानून को ही वैधता दिलाने वाला था। आगे चलकर 7 सितम्बर, 2011 को लोकसभा में मसविदा भूमि अधिग्रहण तथा पुनर्वास व पुनर्व्यवस्थापन विधेयक प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक के कुछ हिस्से महत्त्वपूर्ण थे पर 17 दिसम्बर, 2012 को इसमें 187 संशोधनों की सूची के साथ सरकार ने पुनः वितरित किया। लोकसभा ने अंततः भूमि अधिग्रहण पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना में उचित क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार एवं पारदर्शिता विधेयक 2012 को 29 अगस्त, 2013 को पारित कर दिया।

प्रारम्भ में जो विधेयक तैयार किया गया था वह ज्यादा किसान हितैषी था पर धीरे-धीरे सरकार पीछे हटती चली गयी। यहाँ तक कि संसदीय समिति के सुझावों को भी दरकिनार कर दिया गया। दरअसल, संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन (कांग्रेस) सरकार के कई मंत्री इस विधेयक के विरुद्ध लामबन्द हो गये। उनका कहना था कि इससे औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। परिणाम स्वरूप निजी हितों के लिए भूमि अधिग्रहण को सुविधा प्रदान करने के लिए 'जनहित' शब्द का ऐसा विस्तार किया गया कि इसके अन्तर्गत कृषि, खाद्य प्रसंस्करण, कोल्ड स्टोरेज सुविधाएँ, औद्योगिक गलियारे, खनन गतिविधियाँ, राष्ट्रीय निवेश और विनिर्माण जोन और समय-समय पर सरकार द्वारा अधिसूचित परियोजनाओं को भी शामिल कर लिया गया। सार्वजनिक हित में भूमि अधिग्रहण की परिभाषा के अन्तर्गत सार्वजनिक निजी भागीदारी (पी.पी.पी.) वाली परियोजनाएँ भी आ गयीं। इस तरह घूम-फिर कर हम पुनः उसी कानून के आस-पास पहुँच गये।

इस नये कानून की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि रेलवे अधिनियम और राष्ट्रीय राजमार्ग अधिनियम सहित 13 कानूनों को इसके दायरे से बिल्कुल अलग रखा गया, जिनके तहत सबसे ज्यादा भूमि अधिग्रहण होते हैं। इसी तरह भूमि अधिग्रहण के लिए प्रभावितों की सहमति के

प्रावधान को भी कमजोर कर दिया गया। इसी तरह ग्रामीण इलाके में 100 एकड़ और शहरी इलाके में 50 या 50 एकड़ से अधिक जमीन अधिग्रहित किये जाने पर ही पुनर्वास और पुनर्स्थापन की प्रक्रिया को अनिवार्य और आदेशात्मक बनाया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि इससे कम अधिग्रहण पर पुनर्वास और पुनर्व्यस्थापन की अनिवार्यता नहीं होगी। इस दायित्व से बचने के लिए कम्पनियाँ टुकड़ो-टुकड़ों में जमीन अधिग्रहण कर सकती हैं। पुनर्वास के सम्बन्ध में पूर्व का विधेयक, विशेषज्ञों के समूह के द्वारा 'सोशल इम्पैक्ट असिसमेंट' के सुझावों को अंतिम मानता था पर अब सरकार समिति के निर्णयों का अतिक्रमण कर सकती है। पूर्व का विधेयक खाद्य सुरक्षा की चिंता करता था। यह प्रावधान था कि किसी भी जिले में सिंचित और बहुफसली जमीन के कुल रकबे के 5 प्रतिशत से ज्यादा भूमि अधिग्रहित नहीं की जा सकती पर वर्तमान कानून में इसे भी निष्प्रभावी बना दिया गया। इस कानून में एक अच्छी बात यह है कि 5 वर्ष तक अधिग्रहित जमीन का इस्तेमाल न होने पर जमीन के मालिक को या राज्य भूमि बैंक को जमीन वापस कर दिये जाने का प्रावधान है। अधिग्रहित जमीन के मूल्य को भी कुछ हद तक तर्कसंगत बनाया गया। ग्रामीण क्षेत्र में अधिग्रहित भूमि के बाजार मूल्य का चार गुना तथा शहरी क्षेत्र में दोगुना दिये जाने की व्यवस्था है।

प्रतिपक्ष में रहते हुए भारतीय जनता पार्टी ने 2013 के भूमि अधिग्रहण कानून का विरोध यह कहते हुए किया था कि किसानों की जमीन का अधिग्रहण न किया जाकर उसे लीज पर दिया जाना चाहिए ताकि किसानों का जमीन पर मालिकाना हक भी बना रहे और लीज की शर्तों के अनुरूप उसे नियमित आय भी होती रहे पर मोदी सरकार कामकाज की शुरुआत करते ही एक साथ कई अलोकतांत्रिक अध्यादेशों को लेकर आयी। उनमें से एक अध्यादेश भूमि अधिग्रहण कानून में बदलाव से सम्बन्धित था। 2013 का कानून निजी प्रोजेक्ट के लिए 80 प्रतिशत और सार्वजनिक निजी भागीदारी के लिए 70 प्रतिशत लोगों की सहमति को आवश्यक मानता था पर इस अध्यादेश के अनुसार रक्षा उत्पादन, ग्रामीण इन्फ्रास्ट्रक्चर तथा औद्योगिक कॉरिडोर के लिए किसी प्रकार की सहमति की जरूरत नहीं थी। इसी प्रकार 2013 के कानून में बहुफसली तथा उपजाऊ जमीन का अधिग्रहण विशेष परिस्थिति में ही किये जाने की बात कही गयी थी पर इस अध्यादेश में उपर्युक्त कारणों से उपजाऊ जमीन का अधिग्रहण भी किया जा सकता था। इसी प्रकार 2013 का कानून जमीन अधिग्रहित किये जाने के बाद 5 वर्ष तक प्रोजेक्ट शुरू न हो पाने की स्थिति में किसानों या राज्य भूमि बैंक को जमीन वापस किये जाने का आश्वासन देता था पर इस अध्यादेश के अनुसार अधिग्रहण के बाद प्रोजेक्ट शुरू किये जाने की कोई समय सीमा निर्धारित नहीं थी। पूर्व का कानून जमीन अधिग्रहण के दौरान कानून तोड़ने वाले अधिकारियों, कर्मचारियों पर कार्रवाई किये जाने की बात करता था पर इस अध्यादेश के माध्यम से इस प्रावधान को निष्प्रभावी बना दिया गया। स्पष्ट है कि यह अध्यादेश खुले तौर पर जनविरोधी और किसान विरोधी था। अतः हर स्तर पर इसका प्रतिरोध हुआ। फलतः मजबूर होकर मोदी सरकार ने इस अध्यादेश की समय सीमा समाप्त हो जाने के बाद इसे फिर से आगे न बढ़ाने का फैसला लिया।

आदिवासी क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से सम्पन्न हैं। सारा लोहा, कोयला, बॉक्साइट आदि कई खनिज पदार्थ इन्हीं आदिवासी इलाकों के अन्दर भरे पड़े हैं। पिछले तीन चार दशकों से इन संसाधनों की कॉरपोरेट लूट की प्रक्रिया अत्यन्त तेज हुई है। अतः सदियों से इस वन क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों का सबसे क्रूर और बर्बर विस्थापन हुआ है। भारत की कुल जनजातीय आबादी का लगभग 40 प्रतिशत विस्थापित हो चुका है और आज भी उनके विस्थापन

की प्रक्रिया जारी है। यह तब हो रहा है जब 60 प्रतिशत से भी अधिक आदिवासी अत्यन्त गरीबी की अवस्था में जीते हैं और उन्हें स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्याप्त भोजन की बुनियादी सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं है। फिर भी उन्हें लगातार जल, जंगल और जमीन के अधिकार से वंचित किया जा रहा है।

भारत की जनजातियाँ सामूहिक रूप से संविधान की धारा 342 (1 और 2) के अन्तर्गत 'अनुसूचित जनजाति' के नाम से जानी जाती है। भारतीय संविधान पाँचवी और छठवीं अनुसूची के माध्यम से जनजातीय हितों की रक्षा करता है। छठवीं अनुसूची पूर्णतः जनजातीय इलाकों— आसाम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम में लागू है, जहाँ स्वायत्त क्षेत्रीय परिषदों के माध्यम से उन्हें विधायी और कार्यकारी अधिकार सौंपे गये हैं। पाँचवीं अनुसूची के अन्तर्गत नौ राज्यों के जनजातीय बहुल इलाके आते हैं।

प्रशासन में बढ़ती केन्द्रीयता की आलोचनाओं के कारण पी.वी. नरसिम्हा राव की सरकार ने 1992 में 73वें संविधान संशोधन के द्वारा पंचायत और नगरीय निकायों के माध्यम से स्थानीय स्वशासन को सशक्त बनाने का कार्य किया था। पाँचवीं अनुसूची के जनजातीय क्षेत्रों को संविधान द्वारा प्राप्त संरक्षण के कारण इन संशोधनों को लागू नहीं किया जा सका। अतः 24 दिसम्बर, 1996 से इन क्षेत्रों में पंचायत का अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार (पंचायत एक्शटेंशन टू शिड्यूल एरिया) का कानून 'पेशा' बनाया गया। 1995 में गठित भूरिया कमेटी ने जनजातीय क्षेत्रों में पंचायती राज व्यवस्था को बढ़ावा देने के लिए त्रिस्तरीय ढाँचा बनाने का सुझाव दिया था। सबसे नीचे पर सबसे महत्त्वपूर्ण ढाँचा ग्रामीण स्तर पर 'ग्राम सभा' का होगा, जिसका परंपरा के अनुसार विवादों को सुलझाने, प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन तथा स्कूल व सहकारी संस्थाओं की व्यवस्था पर नियंत्रण होगा। इसके ऊपर ग्राम पंचायत होगा, जिसमें सभी ग्राम सभाओं के चुने हुए सदस्य होंगे। यहाँ ग्राम सभाओं के द्वारा अनसुलझे समस्याओं को सुलझाया जायेगा। इसके ऊपर ब्लॉक और ताल्लुका स्तर की निकाय होगी। 'पेशा' कानून जनजातीय सलाहकार परिषदों को जनजातीय मसलों की देख-रेख का जिम्मा सौंपता है। यह कानून हर राज्य के राज्यपाल को अतिरिक्त न्यायिक और संवैधानिक अधिकार प्रदान करता है कि वे इस पर निगाह रखें कि जनजातीय स्वायत्तता के साथ समझौता तो नहीं किया जा रहा?

पेशा कानून यह निर्देश देता है कि इसकी घोषणा के एक वर्ष के भीतर पाँचवीं अनुसूची के अन्तर्गत आने वाले पंचायतों के नियम-कानून क्षेत्रीय विविधताओं को ध्यान में रखते हुए राज्यों की विधान सभाओं द्वारा बनाये जायें। लेकिन मध्यप्रदेश को छोड़कर किसी भी राज्य ने इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाये। उड़ीसा जैसे राज्य में आज तक उससे सम्बन्धित नियम-कायदे नहीं बनाये गये। राजस्थान और आन्ध्र प्रदेश ने तो पेशा की भावना के विपरीत कानून बनाये।

आदिवासी क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं की यह शिकायत रही है कि आज तक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है, जहाँ भूमि अधिग्रहण, खनन या पुलिस की कारगुजारियों के विरुद्ध इस नियम के तहत किसी भी राज्य के राज्यपाल ने कभी हस्तक्षेप किया हो। इस कानून की सीमा यह है कि यह अत्यन्त ही ढीले-ढाले ढंग से तैयार किया गया कानून है। इसके अन्तर्गत कोई भी ऐसी धारा नहीं है जो राज्य सरकारों को इसे नजरअंदाज करने से रोक सके। इन क्षेत्रों से सम्बन्धित किसी निर्णय के लिए आदिवासी लोगों से 'एप्रोप्रियेट लेवेल' पर 'कन्सलटेशन' की बात कही गयी है पर इसे परिभाषित नहीं किया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ सरकारों ने गलत दावा पेश किया कि ग्रामवासियों से सम्पर्क किया गया। इस कानून के अन्तर्गत

ग्राम सभा से लिखित स्वीकृति की बात नहीं कही गयी है। अतः सरकारें इसके लिए बाध्य नहीं हैं कि स्वीकृति के लिखित दस्तावेज दिखायें। इसी तरह एप्रोप्रियेट लेवल (उचित स्तर) शब्द के अर्थ को भी तोड़ा-मरोड़ा गया। सरकारों ने जमीन अधिग्रहण के लिए ग्राम सभा से सम्पर्क की जगह जिला स्तर की समितियों तक ही अपने को सीमित रखा, जिसमें ज्यादातर सदस्य राजनीतिक दलों से जुड़े लोग होते हैं। कई मामलों में जमीन अधिग्रहण स्थल से 500 कि.मी. दूर की समितियों से सम्पर्क किया गया। इस कानून में 'एप्रोप्रियेट लेवल' जैसे अमूर्त शब्द की जगह 'ग्राम सभा' और 'कन्सलटेशन' की जगह 'कन्सेंट' होना चाहिए।

उपर्युक्त कानूनी छिद्रों और राज्य सरकारों की इच्छा शक्ति की कमी के कारण 'पेशा' कानून की जितनी उपेक्षा हुई है, उतना शायद ही किसी कानून का हुआ हो। इस कानून के उल्लंघन के सैकड़ों प्रमाण मौजूद हैं। इस कानून के रहते हुए 5 फरवरी, 2013 को वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने इस बात की सहमति प्रदान की, कि जंगल की जमीन को राज्य सरकारें विकास की गतिविधियों के लिए जनहित में भू उपयोग बदल सकती है। केन्द्र सरकार का यह दिशा निर्देश पेशा के साथ वन अधिकार कानून का स्पष्ट उल्लंघन है।

जल, जंगल और जमीन पर आदिवासियों की बेदखली के विरुद्ध हुए कई आन्दोलनों और प्रतिरोधों के कारण सरकार ने 2006 में 'वन अधिकार कानून' पास कराया। इस कानून के तहत आदिवासियों को जंगल पर पारंपरिक अधिकार से किसी भी सूरत में वंचित नहीं किया जा सकता। पिछले 25 वर्षों से जंगल में रह रहे आदिवासियों एवं 75 वर्षों से रह रहे गैर आदिवासियों को जंगल में प्रति परिवार 10 एकड़ जमीन रखने का अधिकार दिया गया। गौण वन उत्पादों आँवला, हर्रे, बहेड़ा, जामुन, सतावर आदि पर उनके परंपरागत अधिकार को बहाल किया गया। इस कानून के अनुसार ग्राम स्तर पर गठित समिति की इजाज़त के बिना जंगल में कोई कार्य नहीं किया जा सकता। इन समितियों को जमीन के आवंटन, सामुदायिक जरूरत के लिए जमीन की बंदोबस्ती का अधिकार प्रदान किया गया। लेकिन यह भी सच है कि इस कानून के तहत अधिकांश आदिवासियों के दावे निरस्त कर दिये गये, क्योंकि उनके द्वारा जमीन पर निवास का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना मुश्किल है। 'पेशा' कानून की तरह 'वन अधिकार कानून' की भी धज्जियाँ उड़ायी गयीं।

भारतीय शासक वर्ग पिछले तीन दशकों से जिस सर्व समावेशी विकास की जगह एकतरफा, कैंसरग्रस्त कोशिकाओं के विकास के रास्ते पर चल रहा हैं, उसमें गाँव के गरीबों, किसानों, मजदूरों और आदिवासियों के लिए कोई जगह नहीं है। औद्योगिक विकास के नाम पर जब आदिवासियों की जमीन अधिग्रहित की जाती हैं तो उन्हें औद्योगिक विकास का रंच मात्र भी भागीदार नहीं बनाया जाता, न ही उनकी राय ली जाती। यहाँ तक कि उनका पुनर्वास और पुनर्व्यवस्थापन भी नहीं किया जाता। इन स्थितियों ने पहले से ही गरीब और साधनहीन आदिवासियों की स्थिति को और भी दयनीय बना दिया है। दूसरी तरफ वे माओवादियों और राज्य की हिंसा के बीच पिसकर बर्बाद हो रहे हैं। कुछ समय पूर्व छत्तीसगढ़ के रायगढ़ में आदिवासियों के एक समूह ने योजना आयोग के सदस्य से बहुत पीड़ा के साथ कहा था—''जब आप विकास के लिए हस्तक्षेप कर रहे होते हैं, आप हमारे भूमि के संसाधनों को छीन लेते हैं और जब हम इसके ख़िलाफ़ चिल्लाते हैं तब आप हथियारों से हस्तक्षेप करते हैं।'' आज देश के अधिकांश आदिवासी बहुल इलाके सेना और अर्द्धसैनिक बलों के हथियारों के साये में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजीपतियों और कॉरपोरेट घरानों के पक्ष में सत्ता ने अपने ही देश की जनता के विरुद्ध व्यापक युद्ध छेड़ रखा है। आदिवासी सत्ता की क्रूरता और हृदयहीनता

के सबसे आसान शिकार हैं। उद्योगपतियों, राजनेताओं, नौकरशाहों और मीडिया का अपवित्र गठबन्धन उन्हें तबाह कर रहा है। सबसे ख़ौफनाक यह है कि लंपट और आवारा पूँजी का उन्मत्त साँढ़ जन-जीवन को अपने खुरों से रौंद रहा है और इसे वश में करने वाला कोई नहीं है। हमेशा समाज के हाशिये पर रहने वाले आदिवासियों को और हाशिये पर धकेलते-धकेलते उस मुकाम पर पहुँचा दिया गया है जहाँ प्रतिरोध के सिवा उनके पास और कोई चारा नहीं है।

उपनिवेशवाद की शुरुआत भूमि पर हिंसक कब्जे के साथ शुरू हुई। इस प्रक्रिया के तहत औपनिवेशिक शासकों ने उपनिवेशों की जमीन पर जबरन कब्जा कर उसके मालिक बन बैठे। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका आदि देशों में उपनिवेशवाद का बर्बर इतिहास रहा है। उन्होंने वहाँ के मूल निवासियों का सफाया कर समस्त भूभाग और प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा कर लिया था। भूमण्डलीकरण के बाद नव औपनिवेशीकरण की यह प्रक्रिया पुनः बहुत तेज हो गयी है। धनी देशों की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और कई एशियाई देशों की जमीनों पर कब्जा कर रही है। अफ्रीकी देशों की जमीनों पर कब्जे की लड़ाई में कई भारतीय कम्पनियाँ भी अग्रणी हैं। ''अब तक इन सौदागरों ने 8.54 अरब हेक्टेयर जमीन पर नजर गड़ायी है। दुनिया की कुल साझा जमीन का 65 फीसदी हिस्सा बिकने को तैयार है। इनमें से 8 करोड़ हेक्टेयर के लिए बातचीत पूरी हो चुकी है। अफ्रीकी देशों के अलाव ब्राजील, अर्जेंटिना, कम्बोडिया, मलेशिया, फिलीपींस जैसे देशों में जमीन के सौदे बड़े पैमाने पर हुए हैं। पाकिस्तान में पट्टे पर विदेशी निवेशकों के साथ होने वाले सौदों को गुप्त रखा जाता है। हालाँकि स्थानीय रिपोर्ट के मुताबिक करीब दस लाख हेक्टेयर जमीन का सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमिरात के निवेशकों ने अकेले 2008 में सौदा किया है। 60 लाख हेक्टेयर के लिए बातचीत चल रही है।... दुनिया के बड़े पूँजीखोर इस उम्मीद में खेती लायक जमीनें खरीद रहे हैं ताकि आने वाली भुखमरी और छलाँग लगाते अनाज के दाम पर भारी मुनाफा कमाया जा सके।''[23] जिस प्रकार औपनिवेशिक देशों ने उपनिवेशों की जमीनों और संसाधनों पर जबरन कब्जा जमाये, उसी तरह आज़ादी के बाद भारतीय शासक वर्ग ने भारत के भीतर आदिवासी इलाकों के संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें निरंतर खदेड़ने और उजाड़ने का कार्य किया। भूमण्डलीकरण की नीतियों के बाद यह प्रक्रिया बहुत तेज हो गयी। कई लोग इसे आंतरिक उपनिवेशवाद भी कहते हैं।

किसानों के लिए जमीन सिर्फ एक भूमि का टुकड़ा भर नहीं है। वह उनके पूर्वजों के द्वारा सहेजी गयी और उन्हें विरासत में प्राप्त हुई है। यह उनकी आजीविका और जीवन का आधार है। किसान इससे खुद को ठगा महसूस करते हैं कि जिस विकास के नाम पर उन्हें जमीन से बेदखल किया जाता है, विकास की वह प्रक्रिया उनकी आजीविका, रोजगार और पुनर्वास की चिन्ता नहीं करती। यह कैसी विडम्बना है कि हमारी सरकारों ने बाजार को सर्वोपरि मानते हुए शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन सब कुछ बाजार के हवाले कर दिया पर जब किसानों के जमीन अधिग्रहण की बात आती है तो विभिन्न तरह के कानूनों के माध्यम से वह उद्योगपतियों, खदान मालिकों, बिल्डरों और किसानों के बीच में आ जाती है। प्रायः पुलिस, प्रशासन और कानून से उनकी मदद और तरफदारी करती हुई। यह गरीब किसानों, आदिवासियों की जमीनों की बेशर्मी भरी लूट है। दीपंकर भट्टाचार्य ने कभी कहा था कि आज जिन दो मुद्दों पर सबसे ज्यादा चर्चा चल रही है, वे हैं भ्रष्टाचार और भूमि अधिग्रहण। भ्रष्टाचार सरकारी खजाने की लूट है और भूमि अधिग्रहण किसानों के जमीनों की लूट। ये दोनों लूट एक साथ मिलकर भयावह

कॉरपोरेट लूट को जन्म देते हैं। अत्यन्त बेशर्मी और निर्ल्लज्जता के साथ हमारी चुनी हुई हर रंग की सरकारें कानूनों, अध्यादेशों, प्रशासन और अर्द्धसैनिक बलों की मदद से इस कॉरपोरेट लूट को बढ़ावा दे रही है।

भारतीय संविधान इस बात की इजाज़त देता है कि अपनी भूमि से सम्बन्धित फैसले लेने का अधिकार ग्राम सभाओं का है। लेकिन ग्राम सभाओं द्वारा लोकतांत्रिक तरीके से लिये गये फैसलों का हमारी सरकारों ने कभी सम्मान नहीं किया। उत्तर प्रदेश के भट्टा पारसौल से लेकर दादरी, नर्मदा घाटी, कुड्नकुलम, जैतपुर, कलिंग नगर, नियामगिरी, रायगढ़, प्लाचीमाड़ा, बस्तर, नन्दीग्राम तमाम जगहों पर किसान और आदिवासी अपनी जमीन छीने जाने और उजाड़े जाने के ख़िलाफ़ लम्बी लड़ाई लड़ रहे हैं। उद्योगपतियों और कॉरपोरेट घरानों के पक्ष में अपनी जनता के विरुद्ध सरकारों ने एक बर्बर युद्ध छेड़ रखा है। 5 जुलाई, 2011 को सलवा जुडूम से सम्बन्धित अपने फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने कहा था—''इस नवउदारवादी विकास प्रतिमान का अनुसरण इतिहास में कई जगह हुआ है। भारत में यह ज्यादा खूँखार रूप में उभर रहा है।... संवैधानिक मानकों और मूल्यों के ठीक उल्टा जाकर राजसत्ता पूँजीवाद के शिकारी स्वरूपों का समर्थन कर रही है और उन्हें बढ़ावा दे रही है। ये स्वरूप खनन उद्योगों के इर्द-गिर्द ही अपनी जड़ें जमाते हैं। भारत में भी हम देखते हैं कि सामाजिक असंतोष की ज्यादा हिंसक और अस्थिरकारी घटनाएँ संसाधन बहुल इलाकों में घटती रही हैं।...विकास परियोजनाओं द्वारा उजाड़े गये लोगों को वैकल्पिक रोजगार देने में भारतीय राजसत्ता कई दशकों से नाकाम रहती आयी है। एक आकलन है कि 1951 से 1990 के बीच अनुसूचित जनजाति के 85 लाख सदस्य विकास परियोजनाओं द्वारा उजाड़े गये। वे इस दौरान उजाड़े गये तमाम लोगों का 40 फीसद थे। इनमें से 25 फीसद लोगों का ही पुनर्वास हुआ।...विकास के नाम पर गरीबों के साथ क्रूरता करना एक तरह का विकासवादी आतंकवाद है। विकास के नाम पर सत्ता तंत्र द्वारा की जाने वाली हिंसा से बड़े निगमों के ही स्वार्थ पूरे होते हैं।''[24]

औपनिवेशिक शासकों ने सिर्फ अपने उपनिवेशों में ही नहीं, अपने देशों में भी पूँजीवाद के एक चरण में भयंकर लूटपाट और तबाही माचायी थी, जिसे पूँजी के आदिम संचय का दौर कहा जाता है। 15वीं, 16वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में किसानों की जमीनें जबरन छीन कर उन्हें भेड़ों के चारागाहों में बदल दिया गया था और सर्वहारा किसानों को शहरों में आवारा भटकने के लिए छोड़ दिया गया। बाद में उन्हें कोड़े लगाकर, यातनाएँ देकर श्रम की मंडी में अपना श्रम बेचने के लिए मजबूर किया गया। टॉमस मोर ने इस हिंस्र प्रक्रिया का अत्यन्त ही कारुणिक वर्णन किया है, जिसे मार्क्स ने 'पूँजी' में उद्धृत किया है—''तुम्हारी वे भेड़ें, जो कभी इतनी नम्र और विनीत और इतनी मिताहारी हुआ करती थीं, अब मैं सुनता हूँ, कि ऐसी सर्वभक्षी और इतनी जंगली हो गयी हैं कि खुद मनुष्यों को भी चबाकर निगल जाती है।''[25] भारत के वर्तमान विकास का मॉडल इसी तरह नरभक्षी स्वरूप ग्रहण कर चुका है, जिसने असंख्य किसानों और आदिवासियों की हत्याएँ करने के साथ-साथ उन्हें आत्महत्या के लिए मजबूर किया है।

आज पूरे भारत में जमीनों का जबरन अधिग्रहण पूँजी के आदिम संचय के दौर की याद दिलाता है। कार्ल मार्क्स ने बहुत सूक्ष्मता से उस प्रक्रिया का विश्लेषण किया है, जहाँ सरकारें कानूनी प्रावधानों के माध्यम से इस लूट को बढ़ावा देती थीं—''18वीं शताब्दी में जो प्रगति हुई वह इस रूप में व्यक्त होती है कि क़ानून खुद लोगों की जमीनें चुराने का साधन बन जाता है...। इस लूट का संसदीय रूप सामुदायिक जमीनों की बाड़बन्दी से सम्बन्धित कानूनों या उन अध्यादेशों की शक्ल में सामने आता है, जिनके द्वारा जमींदार जनता की जमीन को

अपनी निजी सम्पत्ति घोषित कर देते हैं और जिनके द्वारा वे जनता की सम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं।''[26] जिस प्रकार 18वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में जनता की जमीनों का अपहरण किया गया, उसी तरह हमारे देश में 1894 के भूमि अधिग्रहण कानून, 2005 के सेज अधिनियम और 2013 के नये कानूनों के माध्यम से किसानों और आदिवासियों के जमीनों की डाकेजनी की गयी।

भूमंडलीकरण के बाद नीतियों में आये बदलाव ने आज यूरोपीय और अमेरिकी किसानों के समक्ष भारतीय किसानों को सीधी प्रतियोगिता में ला खड़ा किया है। नई आर्थिक नीतियों के तहत हमारे यहाँ किसानों की सब्सीडियाँ धीरे-धीरे बिल्कुल समाप्त कर दी गयी। डीजल, खाद, बिजली, रासायनिक उर्वरकों, बीजों, कीटनाशकों आदि की बढ़ती कीमतों ने भारतीय किसानों की उत्पादन लागत बढ़ा दी है। अतः यूरोपीय और अमेरिकी किसानों को आज भी मिलने वाली भारी सब्सीडियों और कम लागत के कारण भारतीय कृषि उत्पादों का उनकी प्रतिस्पर्धा में टिके रह पाना मुश्किल हो रहा है। सरकारी खरीद और न्यूनतम समर्थन मूल्य भी निरंतर कम होते गये हैं। कई अवसरों पर तो वे बाजार मूल्य से भी कम होते हैं। इन स्थितियों ने भारतीय कृषि कार्य को निरंतर घाटे का सौदा बना दिया है। खेती में घाटे और उसके कारण बढ़ती ऋणग्रस्तता के कारण किसान आत्महत्याओं के लिए बाध्य हो रहे हैं। पिछले तीन दशकों से कृषि को घाटे का सौदा बनाकर हमारी सरकारें अप्रत्यक्ष रूप से किसानों को कृषि कार्य और जमीनें छोड़ने के लिए बाध्य कर रही हैं और कॉरपोरेट फार्मिंग का रास्ता साफ कर रही हैं।

आज़ादी के समय से ही जोतने वालों को जमीन दिये जाने का मुद्दा उठाया जाता रहा। आज़ादी के बाद ऊपरी तौर पर और आधे-अधूरे मन से किये गये जमींदारी उन्मूलन और दिखावटी भूमि सुधारों ने भी जमीन के प्रश्न को सही तरीके से हल नहीं किया। इससे उपजी हताशा, निराशा और असंतोष ने सातवें दशक में नक्सलवाद को जन्म दिया और फिर से भूमि के असमान वितरण और भूमिहीन किसानों के जमीन पर अधिकार का मामला सतह पर आ गया। आज भी ग्रामीण भारत की यह सबसे बड़ी विडम्बना है कि जिनके हाथों में भूमि का बड़ा हिस्सा संकेन्द्रित है, वे खुद खेती नहीं करते और जो खेती करते हैं, उनमें से अधिकांश के पास भूमि नहीं है। नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने न्यायोचित भूमि वितरण के सवाल को उठाया था पर वर्तमान भूमि की कॉरपोरेट लूट और जमीन हड़प अभियान ने इस प्रश्न को बहुत पीछे धकेल दिया है। आज मूल प्रश्न यह नहीं रह गया कि भूमि का न्यायोचित वितरण हो। आज सवाल यह है कि जो भी थोड़ी बहुत जमीनें हैं, उसे कॉरपोरेट लूट और डाकेजनी से कैसे बचाया जाये? आदिवासी इलाकों में माओवादी भी जमीनों को छीने जाने के विरुद्ध या जिनकी जमीनें छीन ली गयी हैं, उनकी लड़ाई लड़ रहे हैं। ग्रामीण भारत में जमीन पर काबिज निकम्मा कुलक तबका या बड़ा किसान आज भी सामंती मूल्यों, विचारों और प्रवृत्तियों का सबसे बड़ा वाहक वर्ग है। साम्प्रदायिक फासीवाद को खाद-पानी यहीं से मिलता है। बिहार और उत्तरप्रदेश के जमीनों पर काबिज ये सवर्ण जातियाँ साम्प्रदायिक फासीवादी विचारधारा की कट्टर और प्रबल समर्थक हैं। जमीन के सवाल को हल किये बिना इन सामंती तत्त्वों को शिकस्त देना मुश्किल है।

संदर्भ :

1. मार्क्स, कार्ल लीविंग, मार्क्स और मृदा उर्वरता का ह्रास : आज की कृषि में प्रासंगिकता, स्रोत-जॉन बेलेमी फॉस्टर और फ्रेड मैग्डॉफ, 'दायित्व बोध', लखनऊ, वर्ष-6, अंक संख्या-3, अक्टूबर-दिसम्बर 1999, पृ. 63-64.
2. मॉम सॉमरसेट, देशान्तर, 'वागर्थ', कलकत्ता, अंक संख्या-204, जुलाई 2012, पीछे का आवरण पृ.

3. शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत, संशोधित संस्करण, दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी. मार्च 1988, पृ.-152,53.
4. वही., पृ.-147, 48.
5. चन्द्र, सतीश, मध्यकालीन भारत-भाग-2, दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी., 1986, पृ.-14.
6. वही., पृ.-69.
7. द्विवेदी, महावीर प्रसाद, सम्पत्तिशास्त्र, संशोधित संस्करण, प्रयाग, इंडियन प्रेस प्रयाग 1908, पृ.-138.
8. नटराजन, एल., भारत के किसान विद्रोह, 1850-1900, संशोधित संस्करण, दिल्ली, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, 2008, पृ.-16.
9. दत्त, रजनीपाम, आज का भारत, संशोधित संस्करण, दिल्ली, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, 1985, पृ.-249.
10. द्विवेदी, महावीर प्रसाद, सम्पत्तिशास्त्र, वही. पृ.-122,23.
11. देउस्कर, सखाराम गणेश, देश की बात, संशोधित संस्करण, दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2006, पृ.-87.
12. देउस्कर, सखाराम गणेश, देश की बात, वही. पृ.-85.
13. चटर्जी, पार्थ, द नेशन एण्ड इट्स फ्रैगमेन्ट्स, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2001, पृ.-158, 59.
14. कुमार, कपिल, किसान, कांग्रेस और स्वतंत्रता संग्राम : 1917-39, 'साँचा', दिल्ली, अक्टूबर 1988, पृ. -30.
15. वही., पृ.-38,39.
16. चन्द्र, बिपिन, आजादी के बाद का भारत, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण-2015, पृ.-551, 52, 53.
17. दत्त, रजनीपाम, आज का भारत, वही., पृ.-12.
18. बाल्ज़ाक, किसान, पहला संस्करण, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ.-100,101.
19. दुबे, अभय कुमार, क्रांति का आत्मसंघर्ष, प्रथम संस्करण, नयी दिल्ली, विनय प्रकाशन, 1991, पृ.-56.
20. मिश्र, विनोद, संकलित रचनाएँ : खण्ड-1, प्रथम संस्करण, पटना, समकालीन प्रकाशन प्रा.लि., 1999, पृ.-134, 135.
21. चौधरी, प्रसन्न कुमार, श्रीकांत, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ.-231, 32.
22. भट्टाचार्य, दीपंकर, संग्रहित रचनाएँ : चारु मजूमदार (भूमिका से), द्वितीय संस्करण, पटना, समकालीन प्रकाशन, 2001, पृ.-XI.
23. राय, दीपू, नव उपनिवेशवाद का सच : दुनिया में बढ़ रहे हैं जमीन के सौदे, 'समकालीन जनमत' जून-2011, पृ.-7.
24. सुप्रीम कोर्ट द्वारा 5 जुलाई 2011 को सलवा जुडूम केस में दिये गये फैसले से 'फिलहाल'/वर्ष-14, अंक-9,10/मई 2012/पृ.-26, 27, 28.
25. टॉमस मोर, यूटोपिया, स्रोत-'पूँजी', कार्ल मार्क्स, खण्ड-1, भाग-8, अध्याय-27, प्रगति प्रकाशन मास्को, 1987, पृ.-756.
26. कार्ल मार्क्स, 'पूँजी', वही., पृ.-761.

संपर्क : 7/35, इस्पात नगर, रिसाली, भिलाई नगर, जिला-दुर्ग (छत्तीसगढ़) पिन-490006, मो. : 09329511024

साहित्य का देश-काल

अजय तिवारी

प्रस्तावना

तीन मूर्ति नेहरू संग्रहालय के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा कर्तव्य है कि आपने, इस संस्था के निदेशक श्री शक्ति सिन्हा ने, यह चुनौतीपूर्ण विषय चुना और मुझे इसपर बातचीत करने की ज़िम्मेदारी दी। यह विषय चुनौतीपूर्ण इसलिए है कि यह विशुद्ध साहित्य का विषय नहीं है। कारण यह कि देश-काल की अवधारणा मूलतः साहित्य की नहीं है। वह दर्शन, विज्ञान और इतिहास (समाजशास्त्र) से सम्बद्ध है। दिलचस्प बात यह है कि दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र में देश-काल की धारणा एक जैसी नहीं है। उनमें काफी भिन्नताएँ हैं। साहित्य के देश-काल पर बात करने का अर्थ है ज्ञान के इन अनुशासनों के आलोक में साहित्य को देखना। स्वभावतः यह अंतर्ज्ञानानुशासनात्मक (Interdisciplinary) विषय है। उसके विस्तार, उसके आयाम, उसकी जटिलता का संबंध इसी बात से है कि वह दर्शन-विज्ञान-इतिहास जैसी बिलकुल भिन्न और स्वतंत्र ज्ञान शाखाओं के संदर्भ में साहित्य पर विचार करने की अनिवार्यता उत्पन्न करता है।

जिसे हम देश-काल कहते हैं, वह हमारे दृष्टिकोण (Stand-point) का निर्धारण करता है। हम चाहकर भी इस दृष्टिकोण से निरपेक्ष नहीं हो सकते, भले उसके प्रति सजग हों या न हों। कालिदास बहुत महान कवि हैं। लेकिन आज कोई कालिदास की तरह लिखकर महान तो क्या, महत्त्वपूर्ण भी नहीं हो सकता। न वैसी परिस्थितियाँ रहीं, न अभिरुचि और संस्कार। यह बदलाव किसी भी प्रतिभाशाली व्यक्ति की इच्छा से नहीं होता। इस बदलाव के साथ साहित्य का स्वरूप परिवर्तित होता है। कालिदास से प्रेरणा लेकर निराला या नागार्जुन महान साहित्य लिख सकते हैं, उनकी आवृत्ति करके नहीं। निरंतरता के इस परिवर्तनशील संबंध को समझना देश-काल के माध्यम से ही संभव है। इसी प्रकार, होमर या शेक्सपीयर की महानता में भी संदेह नहीं है। लेकिन भारत में होमर या शेक्सपीयर नहीं हो सकते थे, जैसे यूरोप में वाल्मीकि

या कालिदास नहीं हो सकते थे। यदि कलिदास से हमारे समय का अंतर कालगत भिन्नता का सूचक है तो होमर से निराला का अंतर देशगत भिन्नता का। इन प्रश्नों पर विचार करना देश-काल की धारणा से ही संभव है। इसके बिना न हम अब तक के अपने विकास और वैशिष्ट्य को समझ सकते हैं, न भविष्य की दिशा का निर्णय कर सकते हैं।

साहित्य और ज्ञान की विद्याएँ

दूसरी बात यह है कि दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र एक-दूसरे से अलग-अलग विद्याएँ हैं। लेकिन साहित्य में दर्शन, विज्ञान, समाजशास्त्र या इतिहास और राजनीति सभी समाहित हैं। ज्ञान के दूसरे अनुशासनों में जीवन के अंश होते हैं, साहित्य ही अभिव्यक्ति का वह रूप है जिसमें पूरा जीवन समाहित होता है। यूनानी विचारक प्लेटो बहुत चिंतिति होते थे कि कवि या त्रासदीकार शिल्पी नहीं है फिर भी शिल्प पर बोलता है, वह वैद्य नहीं है फिर भी चिकित्सा पर बोलता है, दार्शनिक या इतिहासकार न होकर भी दर्शन या इतिहास के बारे में बात करता है, राजनीतिज्ञ न होकर भी शासन के बारे में राय देता है! साहित्य की यह जो व्याप्ति है, वह इनमें से अन्य किसी अनुशासन में नहीं है। लेकिन साहित्य में सभी अनुशासनों की व्याप्ति है। इसलिए साहित्य को यह अधिकार है कि वह देश-काल के माध्यम से इन सभी अनुशासनों पर विचार करे या इन अनुशासनों के सन्दर्भ में देश-काल के बारे में विचार करे। यह विभिन्न अनुशासनों के साथ एक प्रकार का संवाद है जिसमें साहित्य की अपनी विशिष्ट स्थिति है।

एक बात और साहित्य में जो चित्रण होता है, वह चाहे पुराने समय का साहित्य हो, मध्यकालीन साहित्य हो या आज का साहित्य हो, वह दो आधारों पर होता है। एक आधार है भाव। उस भाव के बिना साहित्य नहीं हो सकता। जैसे तर्क के बिना दर्शन नहीं हो सकता या प्रमाण के बिना विज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही भाव के बिना साहित्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, साहित्य को अन्य विद्याओं से अलग करने वाली शक्ति उसकी भावमयता है। अपनी भावमयता के कारण साहित्य का प्रभाव दर्शन या राजनीति से अधिक पड़ता है। यही कारण है कि प्लेटो कवि से कहते थे, दार्शनिक शासकों को सुधारने का काम करे और कवि नागरिकों को सुधारने का। दूसरी बात यह कि भाव मनुष्य के होते हैं। इसलिए साहित्य में उन मनुष्यों के संबंध चित्रित किये जाते हैं। मानव-संबंधों के चित्रण के नाते साहित्य का अनुकरणीय प्रभाव और विद्याओं से कहीं अधिक होता है।

भाव और मानव-संबंध—यही दो चीजें साहित्य को अपना स्वरूप प्रदान करती हैं। साहित्य मानव-संबंधों के ज़रिये इन सारी चीजों को चित्रित करता है और सारे जीवन को समाहित करता है, यही साहित्य का वैशिष्ट्य है और इसी कारण साहित्य वास्तविक देश-काल का प्रतिनिधि न होकर भी अधिक वास्तविक होता है। इसका कारण है। हमारे जीवन में केवल दर्शन नहीं होता, केवल राजनीति नहीं होती, केवल विज्ञान नहीं होता, जीवन में सारी चीजें समाहित हैं। अन्य विद्याएँ जब जीवन को चित्रित करती हैं तो वे कोई एक अंग लेकर चलती हैं, इसलिए वे अपने देश-काल का एक अंग चित्रित करती हैं। साहित्य ऐसी विद्या है जो जीवन के सभी पक्षों को एक साथ चित्रित करती है। निस्संदेह, जीवन साहित्य नहीं है, लेकिन जीवन जब साहित्य में आता है, तब वह हू-ब-हू चित्रित न होते हुए भी अधिक वास्तविक चित्र होता है, अधिक विश्वसनीय चित्र होता है।

हू-ब-हू चित्र न होने का अर्थ क्या है? जीवन जब विज्ञान, दर्शन या राजनीति में आता है तो वह काफी निरपेक्ष होकर आता है; जब साहित्य में आता है तो रचनाकार के भाव के

माध्यम से आता है। रचनाकार का भावजगत यथार्थ को देखने का 'प्रिज्म' होता है। जीवन का यथार्थ वह किरण है जो रचनाकार के मानस के प्रिज्म में से होकर व्यक्त होती है। इस प्रिज्म से होकर जीवन जब आता है तो उसमें बहुत से रंग आ जाते हैं। इसलिए साहित्य में जीवन थोडा परिवर्तित होकर आता है। यह परिवर्तन कैसे होता है? सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि कोई रचनाकार स्मृति के बिना रचना नहीं करता और कोई रचनाकार स्वप्न के बिना रचना नहीं करता। स्मृति अतीत की खोज है और स्वप्न भविष्य की। जीवन अगर हू-ब-हू होगा तो वर्तमान जैसा है, वैसा ही चित्रित होगा; लेकिन साहित्य में आने पर वह स्मृति यानी अतीत की खोज और स्वप्न यानी भविष्य की खोज से मिलकर आयेगा, इसलिए साहित्य में आनेवाला जीवन हू-ब-हू न होकर भी अधिक मानवीय, अधिक विश्वसनीय और अधिक संभावनाशील होगा।

संक्षेप में कहें तो जीवन का यथार्थ देश-कालबद्ध तात्कालिक वस्तुस्थिति है, रचनाकार का मानस स्मृति और स्वप्न से स्पंदित माध्यम है; अतः साहित्य में व्यक्त यथार्थ के साथ अतीत और भविष्य का सन्दर्भ जुड़ जाता है, वास्तविकता त्रिकालबोध-संपन्न हो जाती है, त्रिआयामी स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह इसीलिए अधिक वास्तविक और मानवीय होती है क्योंकि प्रत्येक वस्तुस्थिति अतीत का प्रतिफलन होती है और वह भविष्य की ओर अग्रसर होती है।

एक समस्या और है। प्लेटो मानते थे कि साहित्य अज्ञान पर आधारित है। उससे भी बुरी बात यह है कि जनता पर दार्शनिक से ज्यादा असर कवि का पड़ता है, जबकि दार्शनिक को वास्तविक सत्य का ज्ञान है और कविता सत्य से दुगुनी दूरी पर है—परम सत्य 'इदोस' (प्रत्यय) की नक़ल यह संसार है और संसार की नक़ल कला है। अतः साहित्य या कला में न वास्तविक जगत का प्रतिनिधित्व होता है, न वास्तविक ज्ञान का अस्तित्व। फिर भी वह मनुष्य के जीवन पर सत्य के दावेदार माध्यमों से अधिक प्रभाव डालती है। इसलिए प्लेटो चाहते हैं कि कवि अगर दार्शनिक के विचारों के अनुसार लोगों को सुधारने में हाथ बँटाता है तो ठीक वरना उसे गणराज्य में रहने की इजाज़त नहीं है। आदर्श राज्य के स्वप्नदर्शी प्लेटो को इतनी शिकायत किसी और ज्ञानानुशासन से नहीं थी, वे किसी और विद्या को नागरिक सुधार के कार्य में लगाने को उत्सुक भी नहीं थे।

इससे यह प्रमाणित होता है कि साहित्य में भले अपना समाज और समय यथावत् न आया हो, उसमें ज्ञान और शिक्षा की अंतर्वस्तु अन्य ज्ञानशाखाओं की तरह न हो, फिर भी उसकी मानवीय सारवस्तु ऐसी है जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है, प्रायः दूसरी विद्याओं से अधिक पड़ता है। इसलिए शासक या सुधारक हमेशा साहित्य-कला को लेकर द्वंद्व की स्थिति में रहते हैं। साहित्य-कला की इस प्रभावकारिता का सम्बन्ध दो बातों से है। कलाकार जब संसार की छवि उतारता है तब वह उसकी व्यावहारिक उपयोगिता का क्षरण अवश्य कर देता है लेकिन अपने भावनात्मक अंतर्जगत से छानकर वह जो चित्र देता है, उनकी मानवीय उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। वास्तविक मोनालिज़ा की मृत्यु हो गयी लेकिन लिओनार्दो द विन्ची की पेंटिंग का सौन्दर्य और जीवन अक्षुण्ण है। वह अपने वास्तविक देश-कल से आगे भी सार्थक बनी हुई है। लेकिन यह संभव नहीं था यदि विन्ची अपने समय के वास्तविक जीवन से उदासीन रहते। अतएव साहित्य का देश-काल वास्तविक न होकर विशिष्ट होता है, अधिक संश्लिष्ट और अधिक मानवीय, वह इतिहासकार या चिकित्सक की तरह उपयोगी नहीं होता लेकिन उनकी तरह एकांगी भी नहीं होता। साहित्य का संबंध पूरे जीवन से है। वह मानव-संबंधों के माध्यम

से अपने देश-काल को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए यथावत् न होकर भी अधिक वास्तविक और प्रभावशाली होता है।

संक्षेप में, भावमय अंतर्जगत और मानव-संबंध—इन दो विशिष्ट आधारों के कारण साहित्य का देश-काल अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रकट करता है, जिसपर गंभीरता से विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

देश-काल के शर से बिंधकर

महान हिंदी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'तुलसीदास' में लिखा था—

देश-काल के शर से बिंधकर
वह जागा कवि अशेष छविधर। (निराला रचनावली, 1/...)

देश-काल का तीर जिसे बींध देता है, वह अपनी काव्यप्रतिभा की शोभा बिखेरता है। 'अशेष छवि'—ऐसा सौंदर्य जिसके बाद सौंदर्य शेष न रहे। यह देश-काल का शर जब रचनाकार को बींध देता है, तब रचना अपने उत्कर्ष पर पहुँचती है। देश-काल के शर से बिद्ध होने का अर्थ है देश-काल की चेतना से बिद्ध होना। बिंधना वर्णन करना नहीं है। इसलिए स्पष्ट रूप से न दिखने पर भी रचना में देश-काल की सत्ता अन्तर्निहित होती है। कलाकार चाहे भी तो उससे बच नहीं सकता। इसका स्पष्टीकरण आगे होगा। लेकिन यह देश-काल-बद्धता कवि की संवेदना को, उसकी दृष्टि को एक वस्तुगत आधार देती है, उसे हम 'कोण' या 'स्टैंड पॉइंट' कह सकते हैं।

यहाँ दो बातों पर ध्यान जाता है। एक, निराला अपने पुरखे तुलसीदास को याद कर रहे हैं। इस तरह उनकी विशेषता पहचान रहे हैं और अपना रास्ता भी पहचान रहे हैं। देश-काल का शर तुलसी के समय एक तरह से बींध रहा था, निराला के समय दूसरी तरह से बींध रहा था। अगर तुलसी और निराला अपने-अपने समय में देश-काल के शर से बींधे जा रहे हैं तो इनके बीच एक परंपरा का भी निर्माण होता है। इसलिए साहित्य में जब भी देश-काल के संबंध का प्रश्न आता है तो उसके माध्यम से एक परंपरा का बोध भी होता है। दूसरी चीज़ है, शर से बिंधने का बिम्ब कहाँ से आया है? यह आया है आदिकवि से। क्रौंच पक्षी का जोड़ा प्रेम कर रहा था। बहेलिये ने उनमें से एक को मार दिया। वाल्मीकि ने इस दृश्य को देखा। वे इस दृश्य से इतने व्यथित हुए कि कुछ समय बाद उनके मुख से एक छंद निकला, बहुत प्रसिद्ध छंद है—

मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्। (रामायण, बालकाण्ड, ...)

काम से मोहित अवस्था में क्रौंच को एक बहेलिए ने मार दिया—यह चार चरणों में लिखा गया श्लोक है। उसके बाद वाल्मीकि खुद चकित होते हैं और कहते हैं कि पक्षी के शोक से संतप्त-व्यथित होकर मैंने यह क्या कह डाला— 'शोकार्तेनास्य शकुने किमिदं व्यहृते मया.' वाण से बिद्ध वह पक्षी हुआ था। लेकिन उसका शोक वाल्मीकि के हृदय में प्रतिबिंबित हुआ। इसीलिए 'शोकः श्लोकत्वमागतः.' (रामायण, बालकाण्ड, 2.40) देश-काल के शर से बिंधने का बिम्ब निराला ने यहाँ से लिया है।

तुलसीदास पर लिखते हुए वाल्मीकि से जुड़ना एक लम्बी परंपरा का विवेक निर्मित करता है। निराला केवल अपने पुरखे को याद नहीं कर रहे हैं, अपनी राह भी बना रहे हैं। इसलिए

नयी कृति के आने पर पुरानी कृति ख़ारिज नहीं होती, अधिक प्रासंगिक हो जाती है। जैसे तुलसी के बाद वाल्मीकि, निराला के बाद तुलसी, या नागार्जुन-केदार के बाद निराला। भिन्न-भिन्न काल में जन्म लेने वाले कवियों का यह अंतस्संबंध बताता है कि इनके बीच अलगाव भी है और जुड़ाव भी। निरंतरता और परिवर्तन का यह मायालोक ही विकास कहलाता है; संस्कृति के क्षेत्र में हम उसे परंपरा कहते है। यदि पूरी तरह अलगाव है तो वह विकास न होगा, यदि पूरी तरह समरूपता है तो वह परंपरा न बनेगा। इसीलिए दर्शन, विज्ञान या समाजविज्ञान में, जहाँ अगली खोज पुरानी धारणा को ख़ारिज करती है, वहीं साहित्य-कला-संस्कृति में वह अलगाव के साथ जुड़ाव भी व्यक्त करती है। देश-काल की धारणा हमें इस परंपरा को पहचानने और विकास की दिशा समझने में मदद करती है।

दूसरी बात यह कि देश-काल का शर प्रत्येक कलाकार को बेधता है, भले वह सचेत हो या न हो, वह स्वीकार करे या न करे। तुलसी के समकालीन कवि थे—केशवदास। उनके काव्य में देश-काल से बिद्ध होने का बिलकुल दूसरी तरह का उदाहरण मिलता है। वह काव्यशास्त्र के मानदंडों से निर्धारित है। इसलिए वाल्मीकि का 'शोक' हो या केशव का 'शास्त्र', दोनों में देश-काल का शर अपनी-अपनी तरह से मौजूद है। इस पर थोड़ा विचार करें। वाल्मीकि का जो देश-काल था, जिसमें पहली बार श्लोक का जन्म हुआ, जिसके कारण वह आदिकाव्य कहलाया, उस देश-काल में जो घटना हुई थी, उसमें एक क्रौंच-युगल ही नहीं था, एक बधिक भी था। जब वह घटना साहित्य में प्रतिमूर्तित हुई, तब साहित्य के भीतर का देश-काल इकहरा नहीं रहा। उसमें बधिक भी है, क्रौंच भी है। यदि बधिक और क्रौंच एक दूसरे की विरोधी दो शक्तियाँ हैं और उनमें इतना विरोध है कि क्रौंच को बधिक मार देता है, तब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि रचनाकार इनमें से किससे संवेदित होता है? खुद रचनाकार के लिए यह चुनाव निर्णायक हो जाता है कि उसकी संवेदना किससे प्रेरित हो, वह अपनी प्रतिश्रुति या प्रतिबद्धता किसके साथ अनुभव करे? इस चुनाव पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

कहा जा सकता है कि बहेलिए के साथ, यानी अत्याचारी के साथ शायद ही कोई लेखक सहानुभूति रखे! लेकिन ऐसा नहीं है। इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं। अभी बीसवीं सदी के अंतिम चरण में हिंदी कवि ध्रुव शुक्ल ने एक कविता में लिखा था—'अन्यायी भी बो देते हैं बीज/ नियम से उग आता है/ धरती सबकी माँ है।' यहाँ धरती माँ के बिम्ब को अन्यायी के पक्ष में तर्क बना देने का उद्यम है या नहीं? यह क्रौंच का पक्ष हुआ या बहेलिए का? निश्चित रूप से यह बहेलिए का पक्ष हुआ। अतः तटस्थता संभव नहीं है। लेकिन आप देखेंगे कि बहेलिए का पक्ष लेने वाले कभी महान साहित्य के स्रष्टा नहीं होते। इसीलिए नागार्जुन कहते थे—'शासन के कुछ और सत्य हैं, जनता के कुछ और।' नागार्जुन बहेलिए और क्रौंच, दो तरह के सत्यों की अवधारणा हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। वास्तविक देश-काल में जो बहेलिए और क्रौंच हैं, वे साहित्य के देश-काल में कवि की सहानुभूति से रँगकर आएँगे, उसकी पक्षधरता से मंडित होकर चित्रित होंगे। इसलिए भी वे हू-ब-हू देश-काल नहीं होते।

एक बड़ा उदाहरण लें। अगर शासन के सत्य से रचनाकार जुड़ता है तो कैसा परिदृश्य उपस्थित होता है? इसका बहुत बड़ा प्रमाण हिंदी का रीतिकाव्य है। रीतिकाल मोटे तौर से 1757 से 1857 तक, लगभग दो सौ साल रहा। (यह अवधि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लक्षित की है—संवत् 1700 से 1900 तक। रीति का अर्थ है परंपरा का निर्वाह करना। कुछ काव्यशास्त्रीय कसौटियाँ हैं—रस, छंद, अलंकार, नायक-नायिकाभेद, आदि। रीति साहित्य इन्हीं परिपाटियों का अनुसरण करता है। इस रीतिकाव्य की रचना कहाँ हुई, किस परिवेश में हुई? राजाओं के दरबार

में, नवाबों के दरबार में, रईसों के आश्रय में। यह समाज का एक विशेष समुदाय है, जिसके सांस्कृतिक वातावरण और प्रभाव में रहकर रीति साहित्य लिखा गया। वह भी उसी देश-काल का, उस समाज का अभिन्न-अनिवार्य अंग है। उस परिवेश से प्रभावित होकर, उसकी दृष्टि और अभिरुचि से प्रेरित होकर जब हम काव्य-सृजन करते हैं, तब रस, छंद, अलंकार, नायक और नायिकाभेद वाला पूरा काव्यशास्त्र तो आता है, लेकिन क्या चीज़ नहीं आती? 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद भारत गुलाम हुआ। भारत की गुलामी का इतिहास 1757 में शुरू हुआ और 1857 में पहला स्वतंत्रता संग्राम हुआ। भारत की गुलामी के जो प्रारम्भिक सौ वर्ष हैं, वे रीति साहित्य के उत्कर्ष के परवर्ती सौ वर्ष भी हैं। अपने उत्कर्ष के परवर्ती सौ वर्षों में लिखे गए रीति साहित्य में भारत की गुलामी के प्राम्भिक सौ वर्षों का कोई चिह्न नहीं है। रीतिबद्ध कविता लिखने वाला एक कवि नहीं मिलता, दरबारों में बैठकर लिखने वाला एक कवि नहीं मिलता, जिसके यहाँ कोई ऐसा चिह्न मिले कि यह गुलाम भारत का साहित्य है।

लोकभाषाओं में ऐसा साहित्य लिखा गया। अवधी में, भोजपुरी में, राजस्थानी में बहुत-सी रचनाएँ लिखी गयीं कि अँगरेज़ भारत में क्या तबाही मचा रहे हैं, कैसी लूट और ठगी कर रहे हैं। लोकसाहित्य में यह सब मिलता है, पर दरबारों में लिखे गए साहित्य में नहीं मिलता। यह पूरा युग है। सौ साल तक चलने वाला दौर है। इसलिए दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं, जब क्रौंच के पक्ष से देखते हैं तब अन्यायी दिखाई देता है, हत्यारा पहचान में आता है। लेकिन जब शासन के पक्ष से देखते हैं, तब ऐतिहासिक नियति के प्रश्न भी गौण हो जाते हैं। राष्ट्र की पराधीनता तक ओझल हो जाती है। जनता के सत्य को अपनाने वाले के लिए क्रौंच और बहेलिए से सामान दूरी बरतना आवश्यक नहीं है। दोनों से समान दूरी रखने का आदर्श वे अपनाते हैं, तटस्थता को साहित्यिक मूल्य वे मानते हैं, जो शासन के या अन्याय के पक्ष में खड़े हैं। जीवन के बदले शास्त्र उनका सहारा बनता है। चूँकि हमें दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं इसलिए भी साहित्य का देश-काल वास्तविक देश-काल का प्रतिरूप नहीं है।

केशवदास के समकालीन दो महत्त्वपूर्ण कवि थे। एक अकबर के दरबार में रहीम और दूसरे दरबार के बाहर तुलसीदास। मुझे क्षमा करें, मैं थोड़ा बड़बोलेपन से काम लेना चाहता हूँ—तुलसी से बड़ा उस युग में संसार का कोई कवि नहीं था। बहरहाल, तुलसीदास रहीम के अभिन्न मित्र थे। तुलसी ने केशवदास को सामने रखकर कहा था—

कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे

उल्लेखनीय है कि कबीरदास से तुलसी के झगड़े को लोग बहुत दिखाते हैं, जो उनसे डेढ़ सौ साल पहले थे, लेकिन केशवदास से भी उनका कोई झगड़ा था, यह नहीं देखते। कवित-विवेक एक नहिं मोरे—यह उक्ति कबीर से झगड़े का परिणाम नहीं हो सकता। कबीर खुद ही कहते थे—मसि कागद छूयो नहीं। केशव को अपने कवि होने का गर्व था। जिस तुलसी के आगे कोई टिकता नहीं, कलात्मक दृष्टि से भी जिससे बढ़कर कोई नहीं है, वह कह रहा है 'कवित विवेक एक नहिं मोरे!' मेरे पास कवित-विवेक नहीं है। कवित-विवेक यानी रस-छंद-अलंकार-नायक-नायिकाभेद वाला जो काव्यशास्त्र है, उस शास्त्र का विवेक मेरे पास नहीं है। ऐसा नहीं कि वे काव्यशास्त्र से अनभिज्ञ थे। उन्होंने उस 'विवेक' का तिरस्कार किया। कवित-विवेक यानी शास्त्रवादी विवेक का तिरस्कार किया। उसी देश-काल में जैसे बहेलिए और क्रौंच में, उत्पीड़क और निरीह में संघर्ष चल रहा था, वैसे ही साहित्य में भी एक संघर्ष चल रहा था। इसीलिए मैंने कहा कि वह अधिक संभावनाशील यथार्थ होता है, हू-ब-हू न होते हुए भी यथार्थ का अधिक उदात्त रूप होता है।

ध्यान देने की बात है कि इस कवित-विवेक के मुकाबले तुलसी क्या प्रस्तावित करते हैं? 'रामचरितमानस' में उनके सबसे प्रिय दो शब्द हैं—मंगल और विवेक। यह मंगल-विवेक जीवन-विवेक से पैदा होता है। इस तरह दो समांतर विवेक-परम्पराएँ हैं—एक तरफ कवित-विवेक है, शास्त्रवादी अभिव्यक्ति है; दूसरी तरफ मंगल-विवेक है, जीवन का स्पन्दनशील रूप है। इसलिए हम कह सकते हैं कि शास्त्र का विवेक केशवदास को पैदा कर सकता था, जीवन का विवेक कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, जायसी को पैदा कर सकता था। शास्त्रबद्ध कविता जीवन को अस्वीकार करती थी, जीवन विवेक का तिरस्कार करती थी। यह सर्वविदित है कि रीतिकविता सामंतों-रईसों के आश्रय में लिखी जाती थी। पहले वह जनता की उपेक्षा करनेवाले सामंतों के वैभव-विलास के स्वप्न में डूबी हुई थी, वह जनता की जगह शासन के सत्य से जुड़ी कविता थी। पतनशील सामंतवर्ग को जनता के जीवन से कुछ लेना-देना नहीं था। अंग्रेजों का राज्य कायम होने पर सामंतवर्ग उनका सहायक बन गया। उनके दरबार के कवियों के लिए जनता के संघर्ष और राष्ट्र की पराधीनता का कोई अर्थ नहीं था। क्या ऐसे में उसे हम देश-काल और समाज से तटस्थ कह सकते हैं? प्रकटतः देश-काल से निरपेक्ष होकर भी वह कविता देश-काल से बहुत गहराई से जुड़ी है, समाज से तटस्थ होकर भी समाज में एक विशेष वर्ग के हितों का प्रतिबिंब है। शासन के हितों से अलग जनता के हितों की भी अपनी परंपरा वाल्मीकि-तुलसी से होते हुए आज तक चली आई है। जिन्हें राजेश जोशी 'इत्यादि' कहते हैं, उनकी भी अपनी चेतना और परम्परा है। 'अन्यायी' से पृथक् 'इत्यादि' का दृष्टिकोण बद्रीनारायण की 'शब्दपदीयम्' में व्यक्त होता है—

मैं शब्द हूँ इसलिए ब्रह्म हूँ
बीच जंगल में न जाने कोई ब्याध / मुझी को सुन
सरवर तट पानी पीती हिरणी पर शब्दभेदी वाण चलाए,
कब कोई गवैया, कब कोई भाँट आये / और मुझी से
किसी आततायी राजा का / इतिहास लिखवाए
मैं शब्द हूँ मैं नहीं चाहता
फिर किसी क्रौंच पक्षी की कराह में बदलना। (शब्दपदीयम्, पृ. 17)

यहाँ आदिकवि का स्मरण संयोगवश नहीं है। वह जनता की संवेदना और अभिव्यक्ति परंपरा का सजग चुनाव है। इसलिए निराला की बात पूरी तरह सही है कि कविता देश-काल के शर से बिंधकर ही संभव होती है।

आदिकाव्य अथवा मानव-केन्द्रित सृजन का सूत्रपात

साहित्य पर बात करते समय आदिकाव्य के रूप में रामायण ही याद आती है, हालाँकि उसके पहले ऋग्वेद है और दोनों के बीच दो-ढाई हज़ार साल का फासला है। वैदिक भाषा मूलतः प्राकृत है। पाणिनि ने उसका संस्कार किया तब वह संस्कृत बनी। (जिन्हें प्राकृत भाषा पढ़ने में असुविधा हो, उनके लिए ऋग्वेद का पूरा काव्यानुवाद डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे ने किया है।) फिर भी आदिकाव्य का दर्ज़ा ऋग्वेद को नहीं मिलता, वह रामायण को ही मिलता है। आखिर क्यों?

इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो यह कि ऋग्वेद में अपने से पहले की बहुत सी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। ऋग्वेद खुद हज़ार साल से अधिक समय में रचा गया है। वैदिक काल से पहले के पात्र हैं मरुत। उन्हें देवताओं का स्थान प्राप्त था। ऋग्वेद में

उन्हें देवता के आसन से हटाया गया। वरुण हैं, वे पहले से स्थापित हैं और ऋग्वेद में भी देवता हैं लेकिन यहाँ उनका महत्त्व क्रमशः कम होता जाता है, इंद्र का महत्त्व बढ़ता जाता है। इंद्र यहाँ सबसे बड़े देवता हैं। विष्णु वहाँ आते हैं लेकिन इंद्र के सखा के रूप में आते हैं और वे उपेन्द्र हैं—उप-इंद्र; बाद में वे बड़े देवता बनते हैं। यहाँ छोटे देवता हैं। इस देवतंत्र के अलावा वहाँ बहुत-सा यथार्थवाद है, बहुत-सी लौकिक और बेहतरीन चीजें हैं, लेकिन ऋग्वेद की कविता का मूलस्वर देवताओं की उपासना का स्वर है। हालाँकि सिर्फ देवताओं की उपासना का स्वर नहीं है। देवों से ऋषि जो माँगते हैं, वह सब भौतिक जीवन से सम्बद्ध है। साथ ही, ऋषियों के स्वतंत्र कार्यकलाप और परिवेश का चित्रण भी है। जीवन की विविध गतिविधियों का अद्भुत चित्रण है। यह सब स्वतंत्र विचार-विमर्श का विषय है। इस अर्थ में वहाँ हम यथार्थवाद का प्राचीन रूप देखते हैं। लेकिन वे अपने सुख-साधन देवताओं से माँगते हैं। रामायण देवोपासना से पूरी तरह मुक्त है। उसमें कोई मंगलाचरण नहीं है; न शुरू में किसी देवता की उपासना है न बाद में। युद्ध कांड के अंत में राम कहते हैं—'दैव सम्पादितो दोषः मनुषेण मया जितः।' (युद्धकाण्ड, 118.5) मेरे भाग्य का दोष देवताओं का बनाया हुआ था, मनुष्य होकर मैंने उसपर विजय पायी। देवताओं की उपासना से हटकर मनुष्य के संघर्ष और मनुष्य की महिमा पर पहली बार काव्य लिखा गया इसलिए उसे आदिकाव्य का दर्जा मिला।

संक्षेप में, काव्य की, साहित्य की अवधारणा एक निश्चित देश-काल में निर्मित हुई, जब मनुष्य-केन्द्रित दृष्टि या सृजन की संभावना साकार हो सकी। जिसे आधुनिक अर्थ में 'सेक्युलर' कहते हैं, उसे मैं सेक्युलर नहीं कहूँगा क्योंकि सेक्युलर उस युग का प्रश्न नहीं था। लेकिन जो देवरहित चेतना प्रतिष्ठित हुई, उसे लौकिक कहना उपयुक्त है। जिस चेतना में देवता अपदस्थ हो जाते हैं, उनकी जगह मनुष्य प्रतिष्ठित होते हैं, वह एक तरह की मानववादी, लौकिक चेतना है। इस मानववादी-लौकिक चेतना का साहित्य में आविर्भाव हुआ। दूसरे शब्दों में, साहित्य-संस्कृति में देव-परंपरा से हटकर मानववादी परंपरा की प्रतिष्ठा वाल्मीकि से होती है। इसलिए वाल्मीकि का काव्य आदिकाव्य कहलाया। यहीं हमें यह भी ध्यान रखन चाहिए कि रामायण मनुष्य-केन्द्रित है और मनुष्य-केन्द्रित होने से वह परिस्थिति-सजग रचना है। ऋग्वेद के कवि परिवेश के प्रति सजग हैं लेकिन वह परिवेश तात्कालिक अधिक है। रामायण की परिस्थिति व्यापक सन्दर्भ रखती है। परिवेश और परिस्थिति में फर्क स्पष्ट है।

यहाँ तक काव्य की विषयवस्तु की चर्चा हुई। लेकिन साहित्य क्या केवल विषयवस्तु है? मनुष्य के महत्त्व के बारे में समाजशास्त्रीय अध्ययन को क्या साहित्य कहेंगे? या उसपर निबंध लिख दीजिए, क्या वह काव्य होगा? काव्य का अपना स्वतंत्र रूप होता है। उस रूप में बहुत सी विविधताएँ हो सकती हैं। यदि गौर करें तो ऋग्वेद का ढाँचा यह है कि मन्त्र लिखे जाते हैं और कई मन्त्रों को मिलाकर ऋचा बनती है। मन्त्र का अर्थ है छंद और ऋचा का अर्थ है काव्य। (जैसे ऋषि का अर्थ है कवि) मन्त्र और ऋचा का वही ढाँचा है जो गीत का होता है। अलग-अलग अनुच्छेद होते हैं और कई अनुच्छेद मिलकर एक गीत बनता है। यह गीत का स्वरूप है और गीत में भावों का प्रवाह होता है। गीत बनते ही हैं भावों के स्वतंत्र-निर्बाध प्रवाह से जहाँ कोई अंकुश नहीं होता। इसलिए गीतों पर देश-काल का असर सबसे कम होता है। वह बस कम ही होता है, मौजूद तो रहता है। सूरदास और मीराँ के गीत पढेंगे, निराला और महादेवी के गीतों से तुलना करेंगे, तो फर्क दिखेगा। ऋग्वेद से निराला तक गीत में जो चीज़ सामान है, वह भाव है, भावों का प्रवाह है।

क्या वाल्मीकि का भाव उससे अलग है? उस भाव के स्वरूप पर विचार करें। उसके

मूल आधार में था काम-मोहित पक्षी, यानी शृंगार; उसे बहेलिये ने मार दिया, इससे क्षोभ हुआ, क्षोभ शृंगार के विपरीत भाव है; क्रौंच युगल का जो दूसरा पक्षी बच गया था, उसके साथ सहानुभूति हुई, यह करुणा है; और बहेलिए के प्रति क्रोध भी है। विचार करने की बात है कि शृंगार, क्रोध, करुणा और क्षोभ, ये अनेक भाव या भावों के अनेक प्रसंग एक ही अनुभव में मौजूद हैं। सभी भाव एक दूसरे से बहुत अलग-अलग हैं, हालाँकि एक ही घटना से उत्पन्न होने के कारण आपस में संबंधित है। इस तरह क्षोभ, करुणा, शृंगार, क्रोध, अनेक प्रकार के भाव-प्रसंग पहली बार एक अनुभव में आते हैं। जब अनेक भावप्रसंग एक साथ संश्लिष्ट होकर आते हैं, तब उनके बीच संबंध और प्रबंध की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ प्रवाह नहीं, प्रबंधत्व है। पहली बार ऋचाओं के संकलन की प्रक्रिया से हटकर एक महाकाव्य रचा गया, जिसमें संगठन का गुण आवश्यक था, प्रबंधत्व आवश्यक था और यह विदित है कि प्रबंधत्व देश-काल की धारणा से सम्बद्ध है। इसलिए पहली बार रामायण के साथ अनेक प्रकार के भावों के संगठन की, देश-काल के प्रबंध की आवश्यकता पैदा हुई। उसे आदि-काव्य बनानेवाली महत्त्वपूर्ण चीज़ यह थी। यह प्रबंधत्व तात्कालिक स्थितियों की जगह व्यापक परिस्थिति का निर्माण करता है। मनुष्य-केन्द्रित भावबोध के नाते जिस परिस्थिति-सजग दृष्टिकोण का विकास होता है, रामायण की रचना में उसकी प्रेरणा दिखाई देती है और इस महाकाव्य के भीतर परिस्थितियों का लगातार उद्घाटन होता चलता है। दृष्टि, प्रेरणा, संगठन, सभी स्तरों पर भाव, परिस्थिति और प्रबंधत्व का निर्वाह देश-काल की उपस्थिति का प्रमाण है।

गीत और प्रबंध के बीच, परिवेश और परिस्थिति के बीच यह अंतर आकस्मिक नहीं है। वैदिक ऋषि मुख्यतः अपने लिए माँगता है, बाकी सब उससे संबंधित हैं। लेकिन वाल्मीकि अपने लिए नहीं माँगते, पीड़ित के लिए करुणा-द्रवित होते हैं। यह अंतर आधुनिक अर्थ में व्यक्तिवाद और सामाजिक चेतना का अंतर तो नहीं है, किन्तु यह उसका बीजरूप अवश्य है। इस अंतर से हम प्रारंभिक जीवन-स्थितियों में मनुष्य की चेतना के स्वरूप और वर्गों या वर्णों में विभाजित समाज की चेतना के रूप में आये बदलाव को भी पहचान सकते हैं। यह अंतर दो समाजों के बीच ऐतिहासिक परिस्थितियों का द्योतक है। इस रूप में हम दोनों रचनाओं में देश-काल की दो स्थितियों को देखते-पहचानते हैं। दोनों में उनके समय और समाज की झाँकी मौजूद है। इस तरह, देश-काल की सत्ता साहित्य का अंतरंग है, वह बाहर से आरोपित विचार नहीं है।

राजनीति का जनतंत्र और साहित्य का जनतंत्र

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि कला का अनुभव और कला का रूप दोनों देश-काल से प्रभावित होते हैं। कोई भी कला अपने अनुभव और अपने रूप दोनों ही स्तरों पर देश-काल की धारणा व्यक्त करती है। यह तभी संभव है जब कलाकार अपने समय के जीवन को स्वयं देखे और समझे। समसामयिक जीवन से उदासीन और निरपेक्ष रहकर साहित्यकार यदि प्रत्यक्षतः नहीं तो परोक्षतः अन्याय का समर्थन करता है। ऐसा 'साहित्य' समाज की अपेक्षा सत्ता के हितों से जुड़ा रहता है। उसका यह कार्य साहित्य के स्वभाव के विपरीत है। इसपर बहस की आवश्यकता है।

आदिकवि निष्पक्ष नहीं थे। पक्षधर थे। वे बहेलिए के पक्ष में नहीं थे, क्रौंच के पक्ष में थे। यह पक्षधरता कवि के कवित्व की कसौटी है। इसके बिना कवित्व पैदा नहीं हो सकता। जिसकी संवेदना किसी से जुड़ेगी ही नहीं, वह संवेदना पर आश्रित रचना क्या करेगा? कवि

जब उत्पीड़ित को और उत्पीड़क को साथ-साथ पहचानता है, तब वह उत्पीड़न के संबंधों को बदलने की प्रेरणा देता है। वर्तमान से उसका असंतोष और भविष्य का स्वप्न इसी प्रेरणा से सम्बद्ध हैं। इसलिए साहित्य की प्रेरणा जितना वर्तमान से असंतोष में निहित है, उतना ही भविष्य के स्वप्न में भी है। भविष्य के इस स्वप्न में वर्तमान से असंतोष के कारणों को दूर कर दिया जाता है। इसीलिए कहा गया है कि 'यथास्मै रोचते विश्वं तथैदम् परिवर्तते.' राजनीति जहाँ वर्तमान (उत्पीड़न के) संबंधों की रक्षा करती है, वही कविता अपनी सृष्टि में उन संबंधों को अस्वीकार और परिवर्तित करती है। कवि को अपनी सृष्टि का ब्रह्मा यों ही नहीं कहा गया है—'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू।'

अपने दृष्टिकोण, सहानुभूति और स्वप्न के नाते कवि इस बात की चिंता नहीं करता कि कितने लोग क्या बात कर रहे हैं। वह इस बात से प्रेरित होता है कि किसके साथ अन्याय हो रहा है। यही राजनीति से साहित्य का अंतर है। राजनीति का जनतंत्र, चाहे वाल्मीकि के समय का हो या 20वीं-21वीं शताब्दी का, वह हमेशा बहुमत पर और बहुसंख्यक पर बल देता है जबकि साहित्य का जनतंत्र पीड़ित पर बल देता है और पीड़ित से सहानुभूति उसकी प्रेरणा बनती है। इसलिए समाज में जहाँ भी अन्याय होगा, उत्पीड़न होगा, उसके प्रतिरोध के रूप में साहित्य का जनतंत्र अपनी वाणी मुखरित करेगा। यही कारण है कि कोई भी आततायी सत्ता, चाहे वह मध्यकाल की हो या आधुनिक काल की, वह हमेशा साहित्य के विरुद्ध होती है—याद रखिए, हिटलर के डर से सारे लेखक जर्मनी से भाग गए थे। यह सब देखते हुए कहना पड़ता है, हमारे पुरखे बहुत समझदार थे, वे कहते थे कि जो साहित्य और कला से विहीन होता है, वह सींग-पूँछ के बिना पशु होता है, वह देखने में भले मनुष्य लगता हो!

यह देखना साहित्य के लिए आवश्यक है कि राज्य की शक्ति दमन में परिणत होती है और साहित्य की शक्ति दमन के विपरीत प्रतिरोध की दिशा में चलती है। जनता की चेतना का निर्माण राज्य की दमनकारी शक्ति से नहीं होता, साहित्य की मानवीय शक्ति से होता है। ऐसा इसलिए कि साहित्य पीड़ित के पक्ष में होता है और इस पक्षधरता को भाव के माध्यम से व्यक्त करता है, इसलिए उसका प्रभाव व्यापक होता है। दूसरे अर्थ में कहें तो वाल्मीकि अगर क्रौंच के मन में प्रवेश न करते तो श्लोक न रचते, तुलसी अगर अपने समय के पीड़ितों से सहानुभूति अनुभव न करते तो वैसी रचना न करते, निराला हों या प्रेमचंद या नागार्जुन, सभी लेखक उत्पीड़ितों से अपनी सहृदयता के तार जोड़ते हैं। इस प्रक्रिया के लिए साहित्य में एक पारिभाषिक पद है—परकाया प्रवेश।

साहित्यकार उसकी पीड़ा को अपनी पीड़ा की तरह अनुभव करता है, जो उत्पीड़ित है। यह सामान्य नागरिक और साहित्यकार का मौलिक अंतर है। इसलिए अपनी पीड़ा पर सामान्य नागरिक साहित्य रचना नहीं कर पाता जबकि उसी पीड़ा पर साहित्यकार लिखता है, भले वह उसकी निजी पीड़ा न हो। जिस जनता की पीड़ा का अनुभव साहित्यकार करता है, वह उसके अपने समय की जनता होती है। कोई व्यक्ति अगर पाँच हज़ार साल पहले की या पाँच सौ साल पहले की पीड़ा अनुभव करे लेकिन वर्तमान की पीड़ा को अनुभव न करे तो वह साहित्य की रचना नहीं कर सकता, प्रचारात्मक 'साहित्य' भले लिख ले। साहित्य रचना तब तक नहीं हो सकती जब तक अपने सामने के जीवन और यथार्थ से हम अपनी करुणा और सहृदयता के तार न जोड़ें। यह प्रक्रिया साहित्य रचना की अनिवार्य शर्त है।

क्रौंच और बहेलिए का हो या शासक और प्रजा का अथवा अन्यायी और किसान का, सभी संबंध सामाजिक संबंध हैं। साहित्य इन संबंधों का चित्रण करता है। इस चित्रण का

समाज में रहने वाले मनुष्यों पर असर पड़ता है। साहित्य-कला के दर्शक, श्रोता और पाठक को 'भावक' या 'सामाजिक' कहा गया है। वह सामाजिक इसलिए है कि साहित्य में जिस जीवन का चित्रण हो रहा है, वह सामाजिक संबंधों का गठन है और जो सामाजिक है, वह इन संबंधों के चित्रण से प्रेरित-प्रभावित होता है। वह उस चित्रण को अपने अनुभव की तरह ग्रहण करता है। परकाया प्रवेश की तरह हमारे यहाँ साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक संबंध को भी परिभाषित किया गया है—'वसुधैव कुटुम्बकम्।' वसुधा यानी पृथ्वी, कुटुंब यानी परिवार; वसुधा कुटुंब की तरह है—एक परिवार है। यह भी सामाजिक संबंध है। संबंधों के साथ भाव जुड़े हुए हैं। संबंधों और भावों की इस व्याप्ति के कारण साहित्य में उदात्त की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। उदात्त केवल आदर्श नहीं है। आदर्श में असम्भाव्यता का पक्ष होता है, उदात्त जीवन में उपस्थित रहता है।

सामाजिक संस्कृति और खलनायक की भूमिका

यदि साहित्यकार दूसरे के अनुभवलोक में प्रवेश करके अपने साहित्य की वस्तु निर्मित करता है, तो निराला का यह कथन याद आता है कि साहित्य में केवल धर्म की सफेदी पर्याप्त नहीं है, वह मनुष्य को और साहित्य को विकृत करती है, पाप की स्याही भी पर्याप्त नहीं है, वह भी मनुष्य और साहित्य को विकृत करती है; साहित्यकार के लिए धर्म की सफेदी और पाप की स्याही, दोनों की कलाएँ आवश्यक हैं। धर्म और पाप, सफेदी और स्याही—दोनों मनुष्य की अतिरंजित कल्पनाएँ हैं। जीवन में दोनों घुले-मिले रहते हैं। जैसे देवता और दानव, मनुष्य में दोनों तरह की प्रवृत्तियाँ हैं; इन्हीं के आधार पर अतिरंजित कल्पनाएँ की गयी हैं। जीवन कल्पना नहीं है, वह दोनों विपरीत शक्तियों के मेल से बना है। इस दृष्टि से धर्मशास्त्र या किसी भी अन्य आदर्शवादी ज्ञान की अपेक्षा साहित्य जीवन के अधिक निकट है।

साहित्य में धर्म की सफेदी और पाप की स्याही दोनों काम्य नहीं हैं। जीवन जैसा है, उसे उसी रूप में अपनाने और ग्रहण करने का प्रश्न है। अगर ऐसा है तो साहित्य में आप खलनायक आसानी से नहीं बना सकते। उदाहरण के लिए, 'गोदान' में प्रेमचंद ने राय अमरपाल सिंह को चित्रित किया है। क्या 'पाप' के अर्थ में वे खलनायक हैं? और क्या होरी 'धर्म' के अर्थ में नायक है? प्रेमचंद ने अमरपाल सिंह के जीवन के दुःखों को भी सहानुभूति से चित्रित किया है। रायसाहब की बेटी भरी जवानी में विधवा हो गयी, यह खलनायक का नहीं, मनुष्य का दुःख है; वे किसानों का उत्पीड़न करते हैं और अंग्रेज़ रायसाहब को परेशान करते हैं, उनसे अधिक से अधिक उगाही करते हैं, जिसके लिए रायसाहब फिर किसानों पर दबाव बनाते हैं; राय अमरपाल सिंह एक तरफ स्वराज्य का पक्ष लेते हैं, जेल जाते हैं, दूसरी तरफ अंग्रेजों के आगे घुटने भी टेकते हैं, डर के मारे नज़राने और डालियाँ भी पहुँचाते हैं।

इस तरह, जीवन को हम धूप-छाँही रूप में देखते हैं। जब इस तरह देखेंगे तो आप किसी को खलनायक नहीं बनाएँगे। साहित्य में खलनायक बनाना सबसे कठिन काम है। इस दृष्टि से गाँधी सबसे बड़े कलाकार थे। उन्होंने कहा कि जो विरोधी है, वह ज़रूरी नहीं कि शत्रु हो। विरोधी हमेशा शत्रु नहीं होता—यह उदात्त भावभूमि है। जब आप किसी को शत्रु मानते हैं, तब खलनायक बनाते हैं। जब केवल विरोधी मानते हैं, तब मनुष्य के रूप में देखते हैं; जब मनुष्य के रूप में देखते हैं, तब उसमें सारी चीजें आती हैं, केवल स्याही या सफेदी नहीं। इसलिए साहित्य हमें अधिक बेहतर मनुष्य बनाता है। स्वभावतः वह आदर्श नहीं, उदात्त है।

विभिन्न देश-काल में ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जब खलनायक बनाये जाते हैं। शेक्सपीयर का नाटक 'ओथेलो' देखें। उसका एक पात्र है इयागो। वह इर्ष्या का, छल और विश्वासघात का प्रतिरूप है। ऐसा ही 'जूलियस सीज़र' का डंकन है। ऐसे अधिक पात्र शेक्सपीयर में भी नहीं हैं। ये दो चरित्र खलनायक हैं। लेकिन शेक्सपीयर के यहाँ खलनायक हमेशा मुस्कुराते रहते हैं। हैमलेट एक जगह अपने चाचा के बारे में कहता है, 'One may smile and smile and be a villain.* एक आदमी हमेशा मुस्कुराता रह सकता है लेकिन वह खलनायक है—महानीच है। वहाँ यूरोप में यह चरित्र पैदा होता है। आप इयागो या डंकन या इस महानीच के समकक्ष कोई खलनायक भारतीय साहित्य में खोजें। जहाँ तक मेरी सीमित जानकारी है, ले-देकर एक खलनायक मिलता है—जायसी का अलाउद्दीन। बस। वैसा खलनायक पूरे भारतीय साहित्य में बंगला, तमिल, मलयालम, कन्नड़, हिंदी में—कहीं भी नहीं मिलता। इसका कारण यह हो सकता है कि जायसी ने इस्लाम की धारणा के अनुसार 'शैतान' बनाया है और शैतान अति-निन्दित है। कंडेम्ड है।

जायसी के सौ साल बाद तुलसी हैं। उनके यहाँ खलनायक रावण है। वह असुर है, राक्षस है। लेकिन रावण विद्वान है और मर्यादा का बहुत ख्याल रखता है। सीता को पुष्पवाटिका में यातना तो देता है, राम की बुराई करता है, कहता है, तुम मेरी बात मान लो, लेकिन सीता को स्पर्श नहीं करता, बल्कि सीता की देख-रेख के लिए जिस राक्षसी को लगाता है, वह रामभक्त है, यह गौर करने की बात है। और, वह मरने से पहले लक्ष्मण को राजनीति के सारे पाठ पढ़ाता है। उसमें दुर्बलताएँ हैं। जिनके कारण उसका विनाश अनिवार्य है और राम विनाश करते हैं, वह एक पक्ष है। लेकिन उसके बावजूद वह इयागो या डंकन की तरह या अलाउद्दीन की तरह 'खलनायक' नहीं है। मतलब यह कि खलनायक की धारणा भारतीय साहित्य में लगभग नहीं मिलती। अपवाद रूप में कहीं-कहीं मिलती है। यह दो देशों की सांस्कृतिक परम्पराओं का अंतर है। अतः देश-काल की धारणा बिलकुल एक जैसा काम नहीं करती। एक ही काल में दो समाजों के बीच या अलग-अलग कालों में एक ही समाज के भीतर विभिन्न प्रक्रियाएँ दिखाई देती हैं।

एक बात पर और ध्यान जाता है। 'परकाया प्रवेश' का सिद्धांत केवल आदर्श नहीं है। वह सहृदय रचनाकार का व्यवहार है। तुलसी के लिए 'स्वांतः सुखाय' और 'सबकँह हित' के बीच विरोध नहीं है। निजी और सामाजिक पीड़ा का एकीकरण श्रेष्ठ रचना का आधार है। इसीलिए व्यक्तिवाद भारतीय साहित्य का जीवन दर्शन नहीं बना। परिणामस्वरूप हमारे कवियों ने मनुष्य के रूप में मनुष्य को देखने की क्षमता प्रदर्शित की, केवल 'शत्रु' मानकर नहीं देखा। वह लेखक हो ही नहीं सकता जिसमें सब प्रकार के मनुष्यों के अंतःकरण में प्रवेश की क्षमता न होगी। इलियट कहते थे, सभी चरित्रों में लेखक का अंश होता है। यह बात यूरोप के साहित्य से अधिक भारत के साहित्य पर लागू होती है।

त्रिआयामी देश और एकायामी काल

यहाँ एक और बात पर ध्यान देना ज़रूरी है। देश की धारणा त्रिआयामी है और काल की धारणा एकायामी। काल एक ही दिशा में चलता है, दूसरी दिशा में नहीं चलता। त्रिआयामी देश और एकायामी काल—इनका संबंध साहित्य में काफी जटिल होता है। जब देश त्रिआयामी है तो एक ही काल में विभिन्न देशों के साहित्य में मिलती-जुलती प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। जैसे, शेक्सपीयर और उन्हीं के युग में जायसी और तुलसी। इनके साहित्य में बहुत-सी भिन्नताओं

के बावजूद कई मिलती-जुलती प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। वे अपने-अपने समाज में आधुनिकता की करवट से संबद्ध नए जागरण के प्रतिनिधि हैं, जिसे यूरोप में पुनर्जागरण कहते हैं और भारत में लोकजागरण। इस प्रकार, विभिन्न साहित्यों में और साहित्य के इतिहास में समांतरता का एक संबंध दिखाई देता है। लेकिन यह किसी प्रकार संभव नहीं है कि साहित्य का एक युग बीत जाय तो फिर आगे उसकी वापसी हो जाय। पुनरागमन नहीं होता।

जैसे एक युग बीत जाय तो वापस नहीं लौट सकता, वैसे साहित्य में भी एक प्रवृत्ति बीत जाय तो वापस नहीं लौट सकती। पुनरुत्थान हो सकता है लेकिन पुनरुत्थान कभी भी ज्यों-का-त्यों अतीत का आगमन नहीं होता। जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाव्य के बारे में लिखा है कि संस्कृत की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिंदी में तैयार हो गयी। रीतिकवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की बहुत नक़ल की। फिर भी केवल संक्षिप्त उद्धरणी तैयार हुई। उसका ज्यों-का-त्यों आगमन हो नहीं सकता था। इसलिए कि वह दौर जिसमें केशव थे, उसमें कबीर भी थे, तुलसी भी थे, रैदास भी थे, वह संस्कृत के पिछले दौर से अलग था। संस्कृत रीतिकाव्य उस समय की रचना है जब सामंती सत्ता को चुनौती नहीं थी, वर्ण-व्यवस्था अटूट थी, कवि उच्च-कुलीन वंश के होते थे, अधिकांशतः ब्राह्मण। हिंदी रीतिकाव्य उस समय की रचना है जब व्यापारिक उन्नति ने सामंती संबंधों को कमज़ोर कर दिया है, व्यापार के कारण समृद्धि आई है, कारीगरों को—हाथ से श्रम करनेवाले मनुष्यों को—संस्कृति में भूमिका निभाने का अवसर मिला है। ज़रा सोचिए, जिन श्रम करने वालों को कुलीन सामंती-पुरोहिती संस्कारों के नाते 'अछूत' समझा जाता था, वे आत्मसम्मान के साथ खड़े होते हैं, बराबरी का दर्ज़ा माँगते हैं और कविता लिखते हैं, अपनी कविता से जनता में आदर पाते हैं। इस दौर में लिखे गए रीतिसहित्य की वही भावभूमि नहीं हो सकती थी जो संस्कृत रीतिकाव्य की थी। अकारण नहीं है कि रीतिकवि अधिकांशतः अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाते हैं, शास्त्रज्ञान का नहीं; वे अपने को 'कविता का सौदागर' कहते हैं, जो किसी संस्कृत रीतिकवि के लिए असंभव था।

व्यापारिक क्रांति भारत से यूरोप तक सब जगह दिखाई देती है। इतिहासकार इस बात पर अब सहमत हैं। इयागो जैसे जो चरित्र मुस्कुराते रहते हैं और महानीच हैं, वे नए व्यापारी वर्ग का सांस्कृतिक चेहरा हैं। सामंत इस तरह के नहीं होते। सामंत में अकड़ होती है, हेकड़ी होती है, वह क्रूर है तो स्वभाव और आचरण दोनों में एक जैसा है। लेकिन यह नया व्यापारी वर्ग क्रूर ही नहीं होता, कमीना भी होता है। इस वर्ग की पहचान शेक्सपीयर में है, उनसे पहले कबीर के यहाँ है—

मन बनियाँ बनिज न छोड़े। ...
कुनबा वाके सकल हरामी अमृत मा विस घोले।

सूरदास के यहाँ भी इस नए व्यापारी वर्ग की पहचान है—'आयो घोष बड़ो व्यापारी।' गोपियाँ उद्धव से कहती हैं, 'नफा जान कै ह्याँ लै आयो सबै वस्तु अकरी।' हमें बेवक़ूफ़ समझते हो, अपनी सारी टेढ़ी-मेढ़ी चीजें हमारे पास ले आये हो? तुम समझते हो, हम गोपियाँ हैं, भावुक हैं, हमें ठग लोगे? इस तरह नए व्यापारी वर्ग की सांस्कृतिक छवियाँ यूरोप के साहित्य में भी हैं और भारतीय साहित्य में भी हैं। यह एक युग में सामान परिस्थितियों के चलते दूर-दूर तक मिलते-जुलते चरित्रों का उद्भव है। देश की भिन्नता के बावजूद काल की समानता के कारण सामान प्रवृत्तियों का विकास होता है, भले उस समय के लेखक इस बारे में स्वयं जागरूक न रहे हों। सांस्कृतिक जीवन में ऐसी व्यापक अंतर्राष्ट्रीय समानता के युग में सामंती अलगाव के युग की प्रवृत्तियों का ज्यों-का-त्यों पुनरागमन असंभव था।

दूसरी तरफ एक फर्क भी था। शेक्सपीयर के 'जूलियस सीज़र' का एक चरित्र है ब्रूटस। उसके विरोधी भी मानते हैं कि वह हमेशा सार्वजनिक हित के लिए काम करता है। खलनायकों से अलग वह आदर्श चरित्र है। तुलसी के चरित्रों की तरह वह भी परिस्थितियों का दास नहीं है। सार्वजनिक हित के कार्य वह स्वतंत्र प्रेरणा और अपने विवेक से करता है। जो परिस्थितियों का दास होगा, वह विवेक की प्रेरणा से नहीं चलेगा। तुलसी के राम की तरह ब्रूटस भी लोक कल्याण का वाहक है। वह नैतिक है, साहसी है और निरंतर संघर्ष करता है। वह राज्य के लिए या संपत्ति के लिए संघर्ष नहीं करता। इसलिए बड़ा भव्य चरित्र है। उदात्त। लेकिन ब्रूटस जिस जनता के लिए संघर्ष कर रहा है, वह जनता ब्रूटस के साथ नहीं है। वह जनता ऐसी है जिसे बरगलाना आसान है। वह अस्थिर है, चंचल है। दूसरी तरफ भारत में देखें। राम भी सार्वजनिक हित के लिए संघर्ष कर रहे हैं। 'सुरसरि सम सबकँह हित होई'—सबकँह हित का अर्थ सार्वजनिक हित ही है। राम जिस जनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, वह जनता—कोल, किरात, वनवासी—सब राम के साथ हैं।

नायक और जनसाधारण का जैसा निकट संबंध भारतीय साहित्य में है, वह यूरोपीय साहित्य में नहीं है। यूरोप के व्यापारी और दस्यु 'नयी' दुनिया की खोज कर रहे थे, उनके लिए नैतिकता और मानवता का कोई अर्थ नहीं था, किसी भी कीमत पर सफलता चाहिए थी। ऐसे में नैतिक नायक और अनैतिक व्यापारी का अंतर्विरोध अनेक रूपों में दिखता है। भारत समृद्ध, उन्नत और स्थिर समाज था। यहाँ अपवादों को छोड़कर वैसी स्थितियाँ नहीं मिलतीं। कबीर की विद्रोही वाणी को भी जनता में स्वीकृति थी। उनके शत्रु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके थे। भारतीय साहित्य की इस परंपरा का विकास हिंदी के आधुनिक साहित्य में मिलता है। राम की तरह नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' का वीर नायक दलित लड़का कलुआ भी अपनी प्रजा का आत्मीय और चहेता है—होंगे उसके सौ सहयोद्धा, लाख-लाख जन अनुचर होंगे! अगर यह कवि का स्वप्न है तो भी यह स्वप्न एक सांस्कृतिक परंपरा में ही है, यूरोप की परंपरा से उसका काफी फासला है। लोकप्रिय नायक और जनसाधारण का यह निकट संबंध भारतीय साहित्य में ही मिलता है। औपनिवेशिक काल में लिखी गयी जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' इसका अपवाद है, जहाँ राजा-प्रजा के बीच रक्तरंजित संघर्ष का दृश्य उपस्थित होता है। जिस राजा को जनता अपना हितरक्षक समझती थी, वह अपने भोग-विलास में डूबकर लोकहित का तिरस्कार करता है। ऐसे राजा को यदि प्रजा हथियार उठाकर परास्त करती है तो कवि उसका साथ देता है। यह औपनिवेशिक समाज का दृश्य है और कवि का विद्रोही भावबोध है, जो अपने चित्रण के समर्थन में प्राचीन वांग्मय से कथानक ही नहीं, औचित्य भी ले आता है।

ब्रूटस जैसी नियति निराला की है। 'सरोज स्मृति' में वे अनुभव करते हैं, 'मैं खड़ा देखता रहा अपल/ वह शरक्षेप वह रणकौशल' वीरनायक अकेला है, चारों ओर से प्रहार हो रहे हैं। वह आक्रान्ता नहीं है। वह सभी प्रहार झेल रहा है, न 'अहो' कहता है, न 'अहा' कहता है। वह इसे निजी हार-जीत नहीं मानता। 'यह हिंदी का स्नेहोपर'—वह भाषा-साहित्य के लिए संघर्ष कर रहा है। उसे साहित्य के रूढ़िवादियों से ही नहीं समाज के रूढ़िवादियों से भी संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन विडम्बना ज्यादा गहरी इसलिए है कि उसका भाग्य अपने संघर्ष और जीवन-मूल्यों से तय नहीं होता, उसे तय करती हैं समाज की आर्थिक शक्तियाँ। यह अनुभव पहली बार हिंदी काव्य में निराला के माध्यम से व्यक्त हुआ कि :

लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।

आर्थिक शक्तियों की यह नियामक भूमिका तुलसी के सामने नहीं थी। यह आधुनिक पूँजीवाद है, संयोग देखिए कि यह औपनिवेशिक युग है, जिसने सांस्कृतिक संघर्ष को भी आर्थिक मोर्चे से जोड़ दिया है और जीवन को स्वार्थ-समर बना दिया है। इन परिस्थितियों ने नायक और जनता में अलगाव ला दिया है। ऐसा अलगाव लोकजागरण काल में नहीं था। बंदर-भालू पूजक कोल-किरात वनवासियों के सहयोग से राम सीता को पुनः प्राप्त करते हैं और राज्य भी प्राप्त करते हैं। यह परिदृश्य केवल स्वप्न और विश्वास का अंतर नहीं प्रकट करता, दोनों समाजों का अंतर भी प्रकट करता है।

इंग्लैण्ड और भारत के नवजागरणकालीन समाज का अंतर दो बातों में है। इंग्लैण्ड उस समय सभ्यता में बहुत पिछड़ा हुआ था, व्यापर में भी पिछड़ा हुआ था। भारत की सभ्यता बहुत पुरानी थी। यूरोप के जो व्यापारी भारत आते थे, वे कहते थे कि दिल्ली और आगरे के बाजारों के आगे लन्दन और पेरिस गाँव जैसे लगते हैं। यह दोनों स्थानों की भौतिक समृद्धि का अंतर था। फिर भी, व्यापारी समाज के उदय के साथ मनुष्य की नियति प्रभावित होती है, समाज की स्थिरता भंग होती है और मनुष्य अपनी स्थिति से विच्छिन्न होता है। इसका मार्मिक चित्र तुलसी में मिलता है—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

इस समाज की एक समस्या यह है कि जो नैतिक, चरित्रवान मनुष्य है, उसके सामने सबसे अधिक आत्मिक संकट है। यह अभ्युदयशील पूँजीवाद के दौर की सार्वभौम समस्या है। शेक्सपीयर का हैमलेट कहता है, 'To be or not to be-that is the question.* यह अस्तित्वगत प्रश्न है। तुलसीदास ने शेक्सपीयर को नहीं पढ़ा था। यह भी निश्चित है कि शेक्सपीयर ने भी तुलसी को नहीं पढ़ा था। लेकिन यही संकट तुलसी का भी है, 'कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू, मरिबोई रह्यो है।'

दोनों जगह संक्रमणशील समाज में जब नयी व्यवस्था उभर रही है, पुरानी व्यवस्था टूट रही है, तब समाज के भीतर की उथल-पुथल से सर्वाधिक पीड़ित वे होते हैं जो समाज को उत्पीड़ित जनता के हित में बदलने का संघर्ष करते हैं। लेकिन समाज जिनके हाथों बदल रहा है, वे जनता का उत्पीडन ही कर रहे हैं। वे जनता के हित में समाज को बदलने वाले नहीं हैं। इसका परिणाम पूरे वातावरण में दिखाई देता है। हमने कुछ चरित्रों के उदाहरण देखे। कुछ परिस्थितियों के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। संक्रमण की अवस्था में मानव-संबंध टूट रहे हैं, नैतिक मूल्य भी टूट रहे हैं। पद्मावत, मानस, हैमलेट, मैकबेथ, सबमें इसके उदाहरण मिलते हैं। भविष्य का रूप क्या होगा, इसकी परिकल्पना हैमलेट और मैकबेथ में नहीं है, जायसी में भी नहीं है। वह सौ साल बाद तुलसी में झलकता है। लेकिन शेक्सपीयर, जायसी, तुलसी के साहित्य में राज्य के भीतर इर्ष्या और षड्यंत्र का बोलबाला है। सत्ता के लिए हैमलेट का चाचा अपने भाई की हत्या करता है, अपनी भाभी को अपनी पत्नी बना लेता है। इन बातों का पता चलने पर अपनी माँ के विश्वासघात से पीड़ित हैमलेट स्त्री जाति की भर्त्सना करता है—इसे शुक्लजी ने लक्षित किया है। अपने पुत्र को सत्ता दिलाने के लिए कैकेयी षड्यंत्र करती है, अपने पति की मृत्यु का कारण बनती है। इन बातों का पता चलने पर भरत अपनी माँ की निंदा करते हैं। राम चूँकि मर्यादा पुरुषोत्तम हैं इसलिए वे इस निंदा-भाव से दूर रहते हैं।

इसे तुलसी का आदर्शवाद कह सकते हैं जो अपने निजी अनुभव के उदात्तीकरण का परिणाम है। खुद तुलसी अपनी पत्नी की अवहेलना से पीड़ित होकर स्त्रीनिंदा करते हैं, जिसे संत मानकर भी शुक्लजी क्षमा नहीं कर पाते! लेकिन यह क्षमता तुलसी में थी कि वे इस निंदाभावना से ऊपर उठकर स्त्री की दासता को भी देखें। 'कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' उस युग में यह महान करुणा स्त्रीनिन्दक तो क्या, किसी स्त्री प्रेमी में भी कहीं देखने को नहीं मिलती।

देश त्रिआयामी है और काल एकायामी, फिर भी उनमें अंतस्संबद्धता होती है। इस अंतस्संबद्धता को हम ऐतिहासिक प्रवृत्तियों में ही नहीं सौन्दर्यबोध में भी देखते हैं। देश की अंतस्संबद्धता यह है कि एक काल में दुनिया सांस्कृतिक जागरण से परिचालित है। भारत में भक्ति आन्दोलन, अरब में सूफ़ी आन्दोलन और यूरोप में पुनर्जागरण। काल की अंतस्संबद्धता हमें किसी देश के विभिन्न युगों के साहित्य में निहित अंतर्धारा के रूप में दिखाई देती है। भक्ति साहित्य से छायावाद का संबंध, छायावाद से प्रगतिशील साहित्य का संबंध ऐसा ही है। तुलसी-निराला-केदार की कविताएँ एक ही अंतर्धारा से सम्बद्ध हैं, यह भारत की, विशेषतः हिंदी संस्कृति की अंतर्धारा है।

यदि सौन्दर्यबोध के स्तर पर देखें तो यूरोप में शेक्सपीयर की ईव का सौन्दर्य देखकर शैतान ठगा-सा रह जाता है, भारत में कालिदास के 'कुमारसंभव' की उमा का सौन्दर्य 'पापवृत्तये न', पापवृत्ति भुला देता है। सौन्दर्य का प्रभाव शैतान और पाप-वृत्ति का प्रतिषेध कर देता है, यह भारत की ही नहीं, यूरोप की अनुभूति भी है। यह विभिन्न देशों में मानव-संस्कृति की मूल प्रवृत्तियों की समानता है। दूसरी तरफ, 'रघुवंश' में गर्भवती स्त्री को जो महत्त्व मिला है, या दिनकर की 'उर्वशी' में मातृत्व को जैसी गरिमा प्रदान की गयी है, वह यूरोप के साहित्य में दुर्लभ है। इस प्रसंग में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है, जैसे पृथ्वी अपने गर्भ में बीज छिपाए रहती है, वैसे ही अग्निवर्ण की रानी (रघुवंश, सर्ग-3) अपने गर्भ में नया जीवन छिपाए हुए है। "पाश्चात्य साहित्य में गर्भवती स्त्री को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ जो उसे भारतीय साहित्य में प्राप्त है।" (आस्था और सौन्दर्य, पृ. 63) यह सांस्कृतिक मूल्यों का वैशिष्ट्य हुआ। इसके कारणों का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है।

सौन्दर्यबोध के निर्माण में जितनी भूमिका सामाजिक परिवेश की है, उतनी ही प्राकृतिक परिवेश की भी है। हमारे इन्द्रियबोध को ही नहीं, भावबोध के भी कई स्तरों को प्राकृतिक परिवेश निर्धारित करता है। इस स्तर पर देश-काल की स्थिति अत्यंत सूक्ष्म होती है, हालाँकि उसे पहचानना संभव है। दुनिया का कौन-सा देश है जहाँ बादलों के प्रेम पर साहित्य नहीं लिखा गया? प्राचीन युग हो या आधुनिक—विशेषतः रोमांटिक युग—प्रायः सभी देशों में बादलों पर मोहक ढंग से लिखा गया। भारत में 'मेघदूत' से 'बादल राग' तक उसकी सुदीर्घ परंपरा है। लेकिन यूरोप के कवियों में वर्षा के प्रति वह आकर्षण नहीं है जो भारतीय जीवन में है। वर्षा को हमारे साहित्य में उत्सव का स्थान प्राप्त है। कविता ही नहीं, संगीत में भी राग मेघ और राग मल्हार से लेकर मेघ मल्हार और मियाँ की मल्हार तक वर्षा के अनेक राग प्रचलित हैं। कारण स्पष्ट है। यूरोप में जहाँ छः-सात महीने की ठंड के बाद वसंत में बर्फ़ पिघलती है, वहाँ बादल से प्रेम हो सकता है, वर्षा से नहीं। 19वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी, आयरिश और रूसी उपन्यासों में ग्रीष्म ऋतु सुखद दिखाई देती है। भारतीय समाज में ऋतुओं का संतुलन है। ग्रीष्म से पीड़ित मन को वर्षा से राहत मिलती है। 'लू के झोंकों झुलसे हुए थे जो/ भरा दौंगरा उन्हीं पर गिरा' इससे पता चलता है कि प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से बनने

वाला मनुष्य का सौन्दर्यबोध विशिष्ट है, उसकी जातीय विशेषताएँ होती हैं, वे अपने भीतर देश-काल के प्रभावों को सूक्ष्म रूप में समाहित किये रहती हैं। साहित्य में विचारधारा या सामाजिक घटनाओं की अपेक्षा यह सौन्दर्यबोध व्यक्त होता है और देश-काल की सत्ता इस स्तर पर अन्तर्निहित होती है।

सौन्दर्यबोध के कारण ही बहुधा साहित्य में सामाजिक देश-काल प्रत्यक्ष नहीं होते। उन्हें पहचानना पड़ता है। इस कार्य में इतिहास और समाजविज्ञान हमारी सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए कालिदास के साहित्य में हम उनके युग और परिवेश को सीधे नहीं देख पाते। 'देश' तो फिर भी सांस्कृतिक प्रतीकों और कथाओं के माध्यम से पहचाना जाता है। कामदेव जैसी कल्पना और 'कामशास्त्र' जैसा ग्रन्थ किसी दूसरे समाज में नहीं रचा गया। कलिदास के यहाँ इनका उपयोग अपनी सांस्कृतिक परंपरा से संबंध सूचित करता है। लेकिन काल की पहचान काफी विवादस्पद रही है। कालिदास के काव्य में समसामयिक घटनाओं और चरित्रों का उल्लेख नहीं है। वे हैं तो प्रच्छन्न रूप में हैं। 'मेघदूत' की नागरी स्त्रियों या 'शकुंतला' की वन्य स्त्रियों को देखकर यह पता लगाना कठिन है कि कालिदास का समाज वनचारी है या व्यापारी। एक परिवेश समृद्ध सामंती भोग-विलास का दृश्य प्रस्तुत करता है, दूसरा नैसर्गिक सहजता का। समृद्ध सामंती-व्यापारी परिवेश से भोग-विलास का संबंध है, नैसर्गिक परिवेश से सहज मानव-भावनाओं का। 'रघुवंश' में एक ओर विवाहिताएँ हैं, दूसरी ओर वारयोषिताएँ; 'मेघदूत में एक ओर यक्ष की अलका है, स्वाभाविक भावों वाली सुंदरियाँ है, दूसरी ओर 'पण्यस्त्री' है, 'वेश्यास्त्वन्तो' है—पैसों के लिए शरीर बेचने वाली वेश्याएँ आदिम समाज में नहीं थीं।

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने बड़े मनोयोग से कालिदास के समय का निर्धारण किया है। उनका कथन है, "कवि की रचनाओं से विदित होता है कि चारों ओर शांति और समुन्नति का साम्राज्य था। विलासी जीवन, कला तथा साहित्य की प्रवृत्ति और किसी जाति की सामाजिक तथा आर्थिक महत्ता केवल सुरक्षित राज्य में ही संभव है और कालिदास का काल उन्नतिशील और परोपकारी शासन का है।" (कालिदास का भारत, 1954; ज्ञानपीठ, चतुर्थ संस्करण 2010, पृ. 479) हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों का और उनकी साज-सज्जा का वर्णन कुषाण काल के बाद का संकेत करता है। (उप. पृ. 477) सबसे बढ़कर, कालिदास के ग्रंथों में धार्मिक सहिष्णुता का समावेश है, जो गुण गुप्त सम्राटों के शिलालेखों में है और फाहियान ने उसका वर्णन किया है। गुप्तकाल में पौराणिक परम्पराओं का संकलन हुआ, हिन्दू देवी-देवताओं की असंख्य प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई; इसके पहले "प्राक-गुप्त युगों में भास्कर्य-कला में यक्ष और बुद्ध की मूर्तियों का अधिपत्य था।" (पृ. 479-80)

कालिदास के साहित्य में एक तरफ पौराणिक परम्पराओं और हिन्दू देवी-देवताओं का प्रचुर उपयोग है, दूसरी तरफ शृंगारिक दृश्यों के वर्णन में वात्स्यायन का अनुकरण मिलता है। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने अन्यत्र कहा है कि, "संसार के सभी साहित्यों ने कामदेव को रूप और अस्त्र दिए हैं पर संस्कृत की परंपरा ने जैसी उसे वेशभूषा दी है वह अनूठी है, नितांत मृदु, पर नितांत प्राणहर भी।" (कालिदासम् नमामि, 1966, रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, पृ. 63) कामदेव इंद्र के मित्र हैं। इन्द्रासन की आकांक्षा करने वाले को, इंद्र को मोह लेने वाली रमणी को, स्वयं शिव को, अपने मृदु वाणों से, वसंत को साथ लेकर, वे परास्त करते हैं। ऐसा युद्ध दुनिया के किसी अन्य साहित्य में नहीं है। निष्ठा, मित्रता अपनी जगह, लेकिन 'शत्रु' का वध न करके उसे मोहित करना एक समृद्ध, शांतिमय समाज का चित्र है। यह सब कालिदास को एक समृद्ध, शांत और सौहार्दपूर्ण वातावरण का रचनाकार सिद्ध करता

है और यह वातावरण भारतीय है, यूरोपीय नहीं। इस प्रकार, देश और काल अत्यंत सूक्ष्म रूप में रचना के ताने-बाने में अन्तर्निहित रहते हैं।

आदर्श और संभावना

पहले हमने 'आदर्श' की चर्चा की। यह चर्चा सकारात्मक नहीं है। क्या साहित्य में आदर्श की भूमिका नहीं होती? या यह भूमिका सहायक नहीं होती? साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। इसलिए वह वास्तविकता पर आधारित होता है। वह अतीत के चित्र अनुभव और कल्पना के सहयोग से खींचता है लेकिन भविष्य के चित्रण के लिए अनुभव नहीं होता। केवल कल्पना चित्र को अयथार्थ बना सकती है। यहाँ वास्तविकता का ज्ञान रचनात्मक कल्पना की सहायता करता है। काल्पनिक चित्रण कभी अच्छा नहीं माना जाता। भविष्य का वही चित्र विश्वसनीय होता है, जो वास्तविकता के तारतम्य में हो। यह वास्तविकता देश-काल-संयोग का गठन है, यह हम जानते हैं। केवल कल्पना देश-काल के वास्तविक आधार से असम्बद्ध होती है इसलिए वह अन्यत्र काम आये तो आये, साहित्य के काम नहीं आती।

दूसरे शब्दों में, काल्पनिक चित्रण असंभव कल्पना का कौतुक होता है, वास्तविकता पर आधारित चित्रण संभावनाशील जीवन-चित्र होता है। जिसे आदर्श कहते हैं, वह जीवन से उत्पन्न होकर भी संभावना की अपेक्षा परिपूर्णता को व्यक्त करता है। परिपूर्णता जीवन का लक्षण नहीं है। जीवन का लक्षण है विकासमानता। संभावना इस विकासमानता को व्यक्त करती है। फिर भी आदर्श मनुष्य को प्रेरित करते हैं, परिपूर्णता की ओर बढ़ने की चेतना देते हैं। इसलिए आदर्श जीवन-व्यवहार में न आकर भी मूल्यों की कसौटी का काम करते हैं। आदर्शवादी साहित्य उपदेशक बन जाता है। उसकी परिपूर्णता का विचार एक असंभव कल्पना है, संभावना एक जीवित प्रेरणा। इसलिए साहित्य का जीवन-चित्र आदर्श नहीं, संभावनापूर्ण होता है। यह ध्यान देने की बात है कि प्रचारात्मक या मतवादी साहित्य आदर्श को लेकर चलता है, संघर्ष का साहित्य आदर्श के रूप में भी संभावना को लेकर चलता है। धार्मिक कवियों, अर्थात् जैन मुनियों, बौद्ध सिद्धों और नाथपंथी योगियों का साहित्य बहुत दूर तक जीवन की आलोचना करते हुए भी आदर्श से प्रेरित है इसलिए उसे साहित्य की कोटि में रखने से कुछ आलोचकों को परहेज़ था। कबीर-सूर- जायसी-मीराँ-तुलसी-रैदास के साहित्य को कभी किसी ने मतवादी नहीं कहा।

इसका एक कारण है। धार्मिक कवियों के साहित्य में एक सिरे पर सामाजिक पाखंड आदि की आलोचना है, दूसरे सिरे पर अपने पंथ की प्रतिष्ठा; बीच में है समाज, जिसके प्रति करुणा के दर्शन ज़रा कम ही होते हैं। उनका दृष्टिकोण लगभग सर्वनिषेध (Nihilism) का-सा है। भक्तकवियों ने अपने इन पूर्वजों से पाखंड-खंडन की युक्तियाँ तो लीं किन्तु किसी पंथ की स्थापना न करके समाज के लिए महान करुणा का परिचय दिया। वे सर्वनिषेधवादी न हो सकते थे। सर्वनिषेध भी एक तरह का आदर्शवाद ही है, जो या तो ऐतिहासिक निराशा से उत्पन्न होता है या चरम व्यक्तिवाद से। मध्यकाल में उसके स्रोत ऐतिहासिक निराशा में थे, आधुनिक काल में वह व्यक्तिवाद की उपज है। इसमें संदेह नहीं कि देश-काल का जितना परिणाम मध्यकालीन निराशा थी, उतना ही आधुनिक व्यक्तिवाद भी है।

आधुनिक साहित्य में आदर्शवाद के उदाहरण प्रायः उन लेखकों में मिलते हैं जो साहित्य की सामाजिकता और उद्देश्यवत्ता से इंकार करते हैं। इसका प्रमाण जैनेन्द्र का साहित्य है। उनके अधिकांश उपन्यास स्त्री और पुरुष के चरम प्रतीक निर्मित करते हैं और उनके आधार पर जीवन को अपनी संकल्पना के ढाँचे में तराशकर प्रस्तुत करते हैं। ऐसा चित्रण न प्रेमचंद ने

किया है, न आदर्शवादी कहे जाने वाले जयशंकर प्रसाद ने। बाद के लेखकों में इसकी कोई संभावना नहीं थी। इसका एक बड़ा कारण भारतीय समाज का संघर्ष है। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष ने आदर्शवाद के मूल्यों की जगह संघर्ष के मूल्यों की आवश्यकता उपस्थित की। यह परिस्थिति स्वाधीनता के बाद भी बनी रही। इसके बहुत-से या बड़े-बड़े उदाहरण लेने की जगह सांकेतिक ढंग से कहें तो औपनिवेशिक दमन और भेदभाव का प्रतिकार करने के लिए जनता के संगठन और जागरण की आवश्यकता थी; इस बात को सामने रखकर अकबर इलाहाबादी ने कहा—'जब तोप मुकाबिल हो तब अखबार निकालो!' स्वाधीनता के बाद भी दमन की प्रक्रिया नहीं रुकी लेकिन पर्याप्त प्रतिरोध होता न देखकर नागार्जुन ने प्रकृति का प्रतीक लेकर कहा—

जली ठूँठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक।
बाल न बाँका कर सकी शासन की बन्दूक।

शासन और जनता के सत्य अलग-अलग हैं, शासन का साधन बन्दूक है और जनता का साधन भविष्य का विश्वास। दमन के सामने अख़बार निकालना संवाद और जागरूकता का साधन है; जली ठूँठ पर कोयल का कूकना दमन के सामने जीवन के विश्वास का संकेत है। दोनों ही प्रस्ताव किसी आदर्श के नहीं, वास्तविकता पर आधारित संभावना के द्योतक हैं। सत्ता के दमनकारी-विध्वंसकारी रूप का प्रतिकार करने के लिए रचनात्मक उपाय पर बल देना राजनीति से साहित्य का अंतर प्रकट करता है। रचनात्मक उपाय का यह प्रस्ताव देश-काल के सजग बोध का परिणाम है। देश-काल से निर्विकार अनुभव के बारे में युवा कवि विवेक निराला ने लिखा है—

धर्म, ध्वजा, धन और धजा/ का शंख बजा
कुल, गोत्र, क्षेत्र और जाति/ के विभाजन से
न मनुष्य रह गया मनुष्य जैसा/ न देश जैसा रहा देश
न भाषा बची भाषा की तरह
शक्ति के अधिवाचन में
इस बार निर्वाचन में। (ध्रुवतारा जल में, पृ. 75)

यह कविता लगभग एक दशक पहले की है। यहाँ कविता का परिदृश्य देश की समसामयिक जीवन-वस्तु से बना है। लेकिन जिन प्रवृत्तियों से समसामयिक 'देश' की पहचान निश्चित की जा रही है, वे अतीत की मृतप्राय धारणाएँ हैं—जाति, धर्म, कुल, गोत्र इत्यादि। नतीजा यह कि देश की पहचान भी खो जाती है। दूसरे शब्दों में, 'देश' तो आज का ही है लेकिन उसकी सारवस्तु अतीत की है इसलिए देश-काल की अविच्छिन्नता खंडित हो गयी है। देश जैसा देश नहीं है, इसका यह कारण है। इससे पृथक, समसामयिकता की एक अन्य प्रवृत्ति है, जहाँ देश-काल दोनों नदारद हो जाते हैं—

महर्षि समाधि में सिर्फ/ अनाहत नाद सुन रहे थे।
पहले भ्रमर फिर किंकिणी/ फिर वंशी और वीणा
वे क्रमशः आठों चक्र/ पार कर/ पहले से ज्यादा वक्र थे।
आश्रम के भीतर सब उज्ज्वल था, पावन था
आश्रम के बाहर/ कूड़ा था, जलप्लावन था। (उपर्युक्त, पृ. 76)

यहाँ देश के भीतर दो तरह के 'देश' हैं। एक कूड़ा और जलप्लावन वाला, दूसरा निर्विकार साधना वाला। एक 'देश' यदि दूसरे का निषेध नहीं तो वहिष्कार अवश्य कर रहा है। आश्रम की साधना इतनी ठहरी हुई है कि जीवन की गति से उसका संबंध टूट गया है। यही आज

हमारा समाज है, हमारी राजनीति है। जिन चमत्कारिक साधनों से जनसाधारण को बहलाया जाता है, वे उसके जीवन से कोई संबंध नहीं रखते। अनाहत नाद और अष्ट चक्र उस जनता के लिए संभावना नहीं, अयथार्थ हैं। बहेलिए और क्रौंच के जिस संघर्ष में वाल्मीकि, निराला, बद्री नारायण क्रौंच का पक्ष लेते हैं, यहाँ भी क्या हम उसी पक्ष से इस आडम्बर का चित्रण नहीं पाते? मतलब यह कि अपने देश-काल का निर्विकार चित्र साहित्य को प्रासंगिक और प्रभावशाली नहीं बनाता, उसे प्रासंगिक और प्रभावशाली बनाता है रचनाकार का संवेदनात्मक पक्ष।

निजता, वास्तविकता और अस्मिता

यहाँ हम वास्तविकता और संवेदनात्मकता के आपसी संबंध पर कुछ विचार करें। आदिकवि ने जिस असंतोष का अनुभव किया था, उसके दो पहलू थे। एक, परिस्थिति से असमंजस्य; दूसरा, परिवर्तन का विश्वास। यदि यह विश्वास न होता तो वे परिस्थिति में हस्तक्षेप न करते। असंतोष ने रचना के लिए प्रेरित किया। अपने बीजरूप में असंतोष एक अनुभूति या भाव है। लेकिन यह असंतोष जब पूरी परिस्थिति के बोध से जुड़ा, तब उसने संवेदना का रूप लिया। उस भाव में करुणा, क्रोध आदि अनुभूति-प्रसंग निहित थे, यह हम देख चुके हैं। इन विभिन्न प्रसंगों की उपस्थिति यह बताती है कि कवि के भाव का दूसरे प्राणियों के अनुभव तक विस्तार हुआ। इसलिए अनुभूति या भाव आत्मगत है लेकिन संवेदना सामाजिक। दूसरे शब्दों में, अनुभूति से संवेदना तक की यात्रा ही सार्थक रचना का स्रोत है। अनुभूति में तात्कालिकता और आवेश होता है। अनुभूति जब अथिर होती है, तब वह भाव बनती है। इसलिए भाव में संयम और अनुशासन होता है। भाव जब सहानुभूति का प्रसार करता है तब संवेदना बनता है। संवेदना का क्षेत्र विस्तृत है। सम-वेदना—एक के भाव का दूसरे के भाव से संबंध या समानता ही संवेदना की पहचान है। इसलिए भाव, संवेदना मानव-संबंधों पर निर्भर हैं। इस सीमा तक कि भक्ति साहित्य में भगवान भी संबंधों MEIAWATARIT में अवतरित होते हैं। निर्गुण कबीर के राम भी पति हैं, कबीर बहुरिया; राम स्वामी हैं, कबीर उनकी जेवड़ी डाले मुतिया! सगुणभक्त तो संबंधों से ही अपने ईश्वर को परिभाषित करते हैं।

इस पूरी प्रक्रिया पर ध्यान दें। भाव का उदय रचनाकार व्यक्ति में होता है। उसका विस्तार अवश्य सामाजिक संबंधों में होता है, किन्तु संसार से उसका यह संबंध निजी-विशिष्ट होता है। इसका परिणाम है कि चरित्र कलाकार के आत्मरूप में ढलकर आते हैं। वाल्मीकि अपने समाज से वहिष्कृत किये गए थे। शील से भ्रष्ट होकर समाज के निम्नस्तर पर रहने को अभिशप्त थे। उन्हें 'कुशीलव' कहा गया है। उनके राम भी शील से भ्रष्ट होते हैं। पिता और राज्य के अन्य नियामकों के प्रति राम के क्रोध से अनुमान किया जा सकता है कि वाल्मीकि को अपने विरोधियों पर कितना क्रोध रहा होगा। वाल्मीकि के राम सहज मानव रूप में अपने भाव प्रकट करते हैं। लेकिन तुलसी के राम में बहुत अधिक मर्यादा है। यह मर्यादा कहीं तुलसी की यातना की क्षतिपूर्ति है। जन्म लेते ही तुलसी को उनके माता-पिता ने त्याग दिया था, राम को भी उनके माता-पिता त्याग देते हैं। शृंगवेरपुर के लोग पूछते हैं—'कहु सखि मातु पिता वे कैसे। जिन पठए वन बालक ऐसे।' लगता है, राम के बहाने नगरवासियों के मुँह से तुलसी अपने माता-पिता को धिक्कार रहे हैं। इसी प्रकार, तुलसी के जीवन में दो चरम अभाव थे। दरिद्रता और काम। रामचरित मानस का अंत वे इन शब्दों से करते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

तुलसी यहाँ अभाव का भाव में रूपांतरण करते हैं। यह साहित्य की अपनी युक्ति है। निजी कोण से दुनिया के साथ निजी संबंध बनाना, किन्तु दूसरों के अनुभव से साझेदारी के बिना यह संबंध नहीं बन सकता और यह साझेदारी सहानुभूति से ही संभव है। इसलिए जो बात सबसे अधिक आवश्यक है, वह इसे समझना है कि साहित्य की प्रक्रिया में अस्मिता नहीं, सम्बद्धता महत्त्वपूर्ण है। जिसे पहले परकाया प्रवेश कहा गया, वह सम्बद्धता का ही पारिभाषिक नाम है। दूसरे शब्दों में, भाव का संवेदना में रूपांतरण साहित्य का आधार है। संवेदना घृणा के विपरीत है। घृणा विच्छिन्नता का भाव है, संवेदना सम्बद्धता का। घृणा आवेशमूलक है। आवेश स्वार्थबद्धता का द्योतक है। वह उत्तेजना से आगे नहीं जाता। श्रेष्ठ साहित्य उत्तेजना से निर्मित नहीं हो सकता। इसलिए हम देखते हैं कि प्रचारात्मक साहित्य, चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक, साहित्य के आसन तक नहीं पहुँचता। आजकल मंचों पर ऐसे 'साहित्य' की धूम है। साहित्य के भाव उत्तेजना के क्षरण के बाद आते हैं। वड्र्सवर्थ ने नाहक ही नहीं कहा था कि कविता उन भावों-विचारों का स्वयंस्फूर्त प्रवाह है जो शांत मन में उठते हैं। तात्कालिक प्रतिक्रिया नहीं, शांत मन। तब किसी घटना या अनुभव की उत्तेजना समाप्त हो जाती है। उसका आत्मगत स्वरूप भी छँट जाता है। आलोचनात्मक विवेक उसमें काट-छाँट कर देता है। फिर भी जिस भाव या विचार का प्रवाह बरबस हो जाय, वह कविता का भाव है। संक्षेप में, भाव के साथ ज्ञानमयता भी है। विवेक और आत्मपरीक्षा भी है।

यदि इस प्रक्रिया को पुनः व्यक्त करें तो सामाजिक अनुभव पहले आत्मगत भाव में रूपांतरित होता है, फिर वह भाव सम-वेदना में विकसित होता है। देश-काल से सृजन के दोहरे और द्वंद्वात्मक संबंध का निर्धारण इसी प्रक्रिया से होता है। मतवादी साहित्य इस प्रक्रिया को न अपनाता है, न अपना सकता है। वह आत्मगत आधार पर चलता है, अन्याय के प्रतिरोध की जगह वह न्याय-अन्याय के भेद को धुँधला करता है। इस अर्थ में वह अत्यंत तात्कालिक होकर भी न अपने समय को व्यक्त करता है, न समाज को। इसलिए हम देखते हैं कि जनता उस साहित्य को अपनी निधि नहीं मानती लेकिन सत्ताएँ उसे संरक्षण देती हैं। जबकि वास्तविक साहित्य अन्याय के प्रतिरोध में खड़ा होता है। यह संयोग नहीं है कि स्थायी भावों पर लिखकर केशव-देव-बिहारी आज के पाठक के लिए अप्रासंगिक हो गए हैं, भूख, गरीबी, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, नारी पराधीनता, सामाजिक भेदभाव जैसे नितांत सामयिक समस्याओं पर लिखकर कबीर-मीराँ-तुलसी अमर यश के भागी हो गए हैं।

देश-काल और रूपगठन

अंत में, थोड़े-से प्रसंग साहित्य के कलारूप के बारे में, जहाँ देश-काल धँसा रहता है। रामराज्य कायम होने पर तुलसीदास ने लिखा था—'बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई।' यह उनका स्वप्न है कि विषमता का अंत हुआ। लेकिन विषमता का अंत कैसे हो रहा था? मध्यकालीन समाज में जब जनता संगठित नहीं थी, संगठित होकर अपने जीवन को बदलने का संघर्ष नहीं कर रही थी, तब जीवन को बदलने का स्वप्न किसी ठोस आधार पर साकार नहीं होता। जीवन को बदलना चाहिए, बदलकर विषमतारहित होना चाहिए, पर उसे ऐसा बनाने के लिए सामाजिक शक्ति के अभाव में कवि दैवीशक्ति का सहारा लेता है—'राम के प्रताप से विषमता का अंत हुआ! लेकिन 1857 का अनुभव घटित होने के बाद भारतेंदु

जब लिखते हैं, 'डूबत भारत, नाथ बेगि जागहु अब जागहु.' तब वहाँ वे प्रकटतः कृष्ण की उपासना कर रहे हैं, लेकिन कृष्ण को 'भारतनाथ' बना देते हैं। भारतनाथ वस्तुतः भारत की जनता है। इस तरह, 'रामप्रताप' से 'भारतनाथ' तक देश वही है लेकिन काल का फर्क है। काल के साथ साहित्य के प्रतीक कैसे यात्रा करते हैं, कैसे अपना अर्थ बदलते हैं, इसका साक्ष्य मिलता है।

एक दूसरा उदाहरण लें। केशवदास का ज़िक्र हुआ। केशव पनघट पर बैठे हुए थे। उम्र ज्यादा नहीं हुई थी, पर शायद खिज़ाब तब उतना प्रचलित नहीं था, उनके सफ़ेद बाल देखकर पनघट पर आनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ उन्हें 'बाबा' कहकर चली गयीं। उनका प्रसिद्ध दोहा है—

केशव केसन असि करी, जस अरिहू न कराहिं।
चंद्रवदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

इसमें 'चंद्रवदन' पर ध्यान दीजिए। ये स्त्रियाँ चंद्रवदन है। औरतें हमेशा चाँद जैसे मुखड़े वाली क्यों होती हैं? चाँद का अपना प्रकाश नहीं होता। वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। सामंती समाज में, जहाँ स्त्रियाँ स्वाधीन नहीं हैं, पुरुष पर आश्रित हैं, वहाँ कविता में उनके बिम्ब भी 'चंद्रमुखी' हैं।

बीसवीं सदी में निराला ने शृंगार पर एक गीत लिखा है। उसमें उन्होंने स्त्री के मुख की उपमा सूर्य से दी है—

खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ ग्रीवा बाहु उर पर तर रहे;
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे।

शृंगार का रूपक है। आप कल्पना कर सकते हैं कि केश खुल गए हैं और अशेष शोभा भर रहे हैं; केश पृष्ठ ग्रीवा बाहु उर पर आ-जा रहे हैं; मानों अपर दिनकर बादलों में घिरे हैं। चारों ओर घेरे हुए बाल बादल हैं, उनके बीच जो मुख है वह सूर्य है। यह आधुनिक जनतान्त्रिक युग का सौन्दर्यबोध है। चंद्रमुखी नायिकाएँ सूर्यमुखी नहीं हो सकती थीं। जहाँ स्त्री का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, उस स्वतंत्र व्यक्तित्व की कवि के द्वारा स्वीकृति है, वहाँ सूर्यमुखी नायिका का आविर्भाव होता है। यह काल के साथ चेतना का, विचारधारा का रूपांतरण है। समाज में आनेवाले इस परिवर्तन के साथ कला के उपमान में परिवर्तन आता है। इतिहास की इस अवश्यकता को, देश-काल की ऐतिहासिक अनिवार्यता को, व्यक्त करनेवाला कलाकार असाधारण प्रतिभा का धनी होता है।

शुरू में हमने प्रबंध की चर्चा की थी। वह ऋग्वेद की प्रगीतात्मकता से भिन्न था। उसी के कारण आदिकाव्य का स्थान रामायण को मिला। लेकिन वह आदि-काव्य है, उस समय समाज वर्गों में बँट गया है लेकिन अभी यह विभाजन कट्टर नहीं हुआ है। छोटे-बड़े का भेद बहुत कायम नहीं हुआ है। इसलिए वाल्मीकि की कविता में भी विभिन्न भावों में छोटे-बड़े वाला भेद नहीं है। रामायण के प्रबंधत्व में कोई प्रधान रस हो और कोई गौण रस हो, ऐसा नहीं है। आगे चलकर महाकाव्य की जो परिभाषा दी गयी, उसमें एक अंगीरस होता था, बाकी संचारी भाव होते थे। यह ढाँचा सामंती दरबारों के ढाँचे का प्रतिरूप था। एक राजा है, बाकी दरबारी हैं—उसी तरह एक अंगीरस है, बाकी संचारी हैं। इतना ही नहीं, 'रसराज' की कल्पना का संबंध भोग-विलास के राजसी वातावरण से और अधिक प्रत्यक्ष है। इस तरह सामंती ढाँचा ही महाकाव्य के ढाँचे के रूप में आदर्शीकृत हुआ, उसके रूप का प्रतिमान बना।

इससे अलग, आधुनिक समाज ने, सामंती समाज के टूटने के साथ, फ्रांस की क्रांति

के समय ही, समता-स्वतंत्रता-बंधुत्व को आदर्श के रूप में पेश किया। यह आदर्श साहित्यकारों को प्रेरित करता है। सभी मनुष्य मानवीय दृष्टि से एक समान होते हैं, उनके बीच छोटे-बड़े का भेद नहीं माना जाता, यह आधुनिक जनतान्त्रिक समाज की विशेषता है। जब ऐसा समाज आया, तब प्रबंधत्व का अंगीरस वाला ढाँचा टूट गया। उसकी जगह एक नया ढाँचा उभरा। उसकी व्याख्या डॉ. नित्यानंद तिवारी ने पहली बार की है। वह है लम्बी कविता का ढाँचा। लम्बी कविता में अनेक भाव होते हैं लेकिन उनमें कोई प्रमुख नहीं होता। अनेक भाव साथ-साथ होते हैं और सभी बराबर महत्त्व के होते हैं। ऐसी पहली लम्बी कविता भारतेंदु की प्रबोधिनी है, जैसा डॉ. तिवारी ने कहा, प्रबोधिनी में एक तरफ भक्ति है, दूसरी तरफ शृंगार है और तीसरी तरफ देशप्रेम है—जिसे देशभाव कहना चाहिए। इस तरह शृंगार, भक्ति और देश-प्रेम, तीन स्वतंत्र भाव सामान महत्त्व के साथ एक कविता में समाहित हैं। यह नया विधान है। आधुनिक समाज के जनतान्त्रिक मूल्यों ने साहित्य के मूल ढाँचे को परिवर्तित कर दिया, एक नए काव्यरूप को जन्म दिया। इस तरह, देश और काल अपने साथ केवल अंतर्वस्तु नहीं लाते, कला का ढाँचा भी लाते हैं।

संक्षेप में, देश-काल की सत्ता साहित्य का अंगभूत है। वह उसका बाह्य तत्त्व नहीं, आंतरिक विधान है। प्रत्यक्षतः देश-काल निरपेक्ष साहित्य भी अपने गठन में देश-काल के दबाव को लेकर चलता है, उससे बाहर नहीं होता। साहित्य में बिम्ब हो या चरित्र, कथानक हो या संवेदना, उपमान हो या ढाँचा, सब पर देश-काल की छाप अनिवार्यतः मौजूद रहती है। इसलिए साहित्य जीवन और इतिहास से ही नहीं, ज्ञान की अन्य शाखाओं से भी सम्बद्ध है। यही उसकी शक्ति है।

(9 जनवरी, 2018 को तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली में दिया गया व्याख्यान)

संपर्क : बी-30, 32/4, श्रीराम अपार्टमेंट्स, द्वारका, नयी दिल्ली-110078, मो. : 9717170693

लेखक क्या है?
(What is an Author?)

मिशेल फ़ूको
अनु. रामकीर्ति शुक्ल

नोट :

मैं सत्य में इतना अधिक विश्वास करता हूँ कि मेरे लिये यह न मानना संभव ही नहीं कि सत्य अनेक प्रकार के होते हैं और यह कि सत्य बोलने के कई तरीके होते हैं। यह ठीक है कि हमें सरकार से यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह सच बोलेगी, पूरा सच बालेगी, और सच के सिवा कुछ नहीं बालेगी। दूसरी ओर, जो हमारे शासक हैं उनसे उनके अंतिम उद्देश्य के बारे में एक प्रकार का सच बोलने, उनकी नीतियों से संबंधित सामान्य वरीयताओं और उनके कार्यक्रमों के कुछ बिंदुओं के बारे में सवाल अवश्य ही पूछे जाने चाहिये। यह हमारे शासित जन समूहों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की दरकार है कि वे अपने शासकों से सवाल पूछें और उन्हें अवश्य ही पूछना चाहिये अपने ज्ञान और अनुभव के नाम पर, नागरिक होने के नाम पर, उन्हें पूछना चाहिये अपने शासकों के काम के बारे में, उनके काम के निहितार्थों के बारे में, उनके द्वारा लिये गये निर्णयों के बारे में। ... नागरिकों की हैसियत से हमें सच के बारे में सवाल पूछने का पूरा अधिकार है...।—मिशेल फ़ूको 1984, लारेंस डी. क्रित्ज़मन (सं.), मिशेल फ़ूको : पॉलिटिक्स, फिलॉसफी, कल्चर, इण्टरव्यूज़ एण्ड अदर रायटिंग्ज़, रूटलेज 1988, पृ. 51-52।

हमारे जैसे समाजों में सत्य की 'पॉलिटिकल इकॉनॉमी के पाँच प्रमुख लक्षण हैं। सत्य केंद्रित होता है वैज्ञानिक विमर्श के स्वरूप पर और उस विमर्श को उत्पादित करने वाली संस्थाओं पर; यह (सत्य) अधीन होता है अनवरत चलने वाले आर्थिक और राजनीतिक उत्प्रेरकों के...; अनेक रूपों में यह विशाल विस्तार और उपभोग की वस्तु होता है (यह शिक्षा और सूचना के ऐसे संजाल से प्रसरित होता है जिसकी पहुँच सामाजिक देह के भीतर बहुत दूर तक होती है, बावजूद कुछ कठोर प्रतिबंधों के); इसका उत्पादन और संचरण होता है कुछ बड़े विशाल

राजनीतिक और आर्थिक संजालों के नियंत्रण में जो शक्तिशाली तो होते ही हैं, भले ही उनका एकाधिकार न होता हो (जैसे विश्वविद्यालय, सेना, लेखन, मीडिया); और अंत में, यह पूरे के पूरे राजनीतिक विवाद और सामाजिक स्वीकृति (विचारधारात्मक संघर्ष) का मामला होता है।

फूको, ''ट्रुथ एण्ड पावर'' कॉलिन गॉर्डन (सं.), पावर/नॉलेज : सेलेक्टेड इण्टरव्यूज़ एंड अदर रायटिंग्ज़ 1972-77 (द हारवेस्टर प्रेस), 1980, पृ. 131-2।

मिशेल फूको के हिस्से में बहुत लंबी जिंदगी तो नहीं आयी (1926 में जन्म और 1984 में एड्स से मृत्यु), लेकिन जितनी आयी वह सारी की सारी उन्होंने पूरी प्रतिबद्धता से और व्यवहार और सिद्धांत के स्तर पर सत्ता का प्रतिपक्ष रचने में खपा दी। सत्ता उनके लिये कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं थी और न ही इससे उनका तात्पर्य केवल राज्य सत्ता ही था; सत्ता अनेक रूपों में और अनेक स्तरों पर समाज में प्रचालित होती है। कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष, कभी विचारधारा के नाम पर, कभी नैतिकता के नाम पर, कभी सामान्य और असामान्य के प्रवर्गों के नाम पर, कभी लैंगिक आधार पर, नस्ल के आधार पर, परंपरा और जातीयता के आधार पर और कभी राष्ट्रीयता के आधार पर यह मानव समाज में भेद पैदा कर उन पर निगरानी रखने, उनका दमन करने और यहाँ तक कि उन्हें बहिष्कृत करने के लिये ऐसे प्रशासनिक संजालों का एक पूरा यंत्रविन्यास निर्मित करती है जो इसे चुनौती देने वाले अथवा इसका प्रतिरोध करने वाले जन समूहों की पहचान करने और नियंत्रित करने में सक्षम होती है। और फिर इसी के अनंतर पैदा होता है एक 'अनुशासित' समाज जो सत्ता के साथ अनुकूलित हो जाता है।

उनके लेखन और चिंतन में एक विद्रोही आलोची-तत्त्व हमेशा विद्यमान रहा। एक सवाल जो उन्हें आजीवन मथता रहा, वह यह कि कैसे हम अपने ही इतिहास में, इतिहास के क्रम में उदित होने वाली कर्म और विचार की उन पद्धतियों में फँसा दिये जाते हैं जो हमारे रोजमर्रा के व्यवहार को नियामित करती हैं। उनकी समस्त बौद्धिक ऊर्जा इसी सवाल के जवाब की तलाश में लगी रही क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इसका जवाब मिल जाने पर नियामित करने वाली इन वाली शक्तियों को बदला और मार्जित किया जा सकेगा। एक समय वे मार्क्स, हीगेल और फ्रायड से बहुत प्रभावित थे और उन्हीं की भाँति अपने को वर्तमान का इतिहासकार कहा करते थे। वर्तमान का इतिहास तो उनके साथ हमेशा ही लगा रहा लेकिन मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद अथवा संरचनावाद के रास्ते चलने की बजाय उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाने की कोशिश की और आजीवन अपने को इनसे मुक्त करने में सफल रहे। लेकिन नीत्शे का प्रभाव उनके साथ हमेशा बना रहा। नीत्शे विप्लवी आवेगों और विघ्वंसक ऊर्जा के मुखर पक्षधर थे। नीत्शे, हीगेल और मार्क्स के बारे में क्या सोचते थे, यह बता पाना तो संभव नहीं लेकिन अठारहवीं सदी की 'ज्ञानोदय' परियोजना के महानायकों में से एक इमैनुएल काण्ट को वे 'रूसो की राह चलने वाला नैतिक कठमुल्ला' कहते थे। फूको इस सीमा तक तो नहीं गये लेकिन काण्ट के प्रति उनका दृष्टिकोण आजीवन समस्याग्रस्त बना रहा। और इसका कम से कम एक प्रमाण है 1984 में काण्ट के सुपरिचित लेख 'वाट इज़ इनलायटेनमेंट?' की दो सौवीं जयंती पर लिखा गया उनका लेख जिसके शीर्षक के शब्द तो अक्षरशः काण्ट के ही हैं लेकिन अंतर्वस्तु पूरी तरह से अलग ही नहीं अपितु विरोधी स्वर से भरी हुई है। लेख में काण्ट के ज्ञानोदय की आलोचना के बहाने उस मानवतावाद पर तीखी प्रतिक्रिया भी शामिल है जो ज्ञानोदय का ही उपांग है। नीत्शे के संपर्क में वे तब आये जब मार्क्सवाद, फ्रायडवाद तथा संरचनावाद से उनका मोहभंग हो चुका था। उनका मानना था कि ज्ञान, तर्कणा और बुद्धिवाद की जो विरासत

उन्हें अठारहवीं सदी की वैचारिक क्रांति से मिली थी, उसको सामयिक राजनीतिक-दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में विस्तारित और व्याख्यायित करना आवश्यक है और ऐसी ही मनोदशा में फूको नीत्शे के अध्ययन में संलग्न हुए। उन्हें यह बात भी समझ में आ गयी कि तर्क के इतिहास के समान ही कर्त्ता (subject) का भी इतिहास है लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि तर्क का इतिहास अपने को बुद्धिवादी कर्ता के संस्थापन कर्म के रूप में प्रस्फुटित कर सकता है।

फूको के बौद्धिक जीवन और लेखन को प्रायः तीन चरणों में बाँटा जाता है और इस विभाजन का आधार सत्ता और उसके बुनियादी चरित्र में कोई अवधारणात्मक बदलाव न होकर इसी विषय के अध्ययन-अनुसंधान में आने वाला प्रणाली भेद हैं। पिछली सदी के साठ में दशक में जिन कृतियों के कारण वे चर्चा में आये और विवादित भी हुये, उनमें *दि ऑर्डर ऑव थिंग्ज़* तथा *दि आर्कियॉलॉजी ऑव नॉलेज* प्रमुख है। *हिस्ट्री ऑव मैडनेस* (1961) तीसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जिसके साथ इस चरण की शुरुआत होती है। इस चरण में वे अध्ययन और अनुसंधान की जिस प्रणाली का प्रयोग कर रहे थे, उसे उन्होंने आर्कियॉलॉजिकल अर्थात् पुरातात्विक प्रणाली की संज्ञा दी है जिसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह ऐसी प्रणाली है जिसके अनुसार चिंतन और ज्ञान की प्रचलित पद्धतियाँ कुछ ऐसे नियमों अथवा नियमों के अनुक्रम द्वारा नियामित-शासित होती हैं जो किसी व्यक्ति की चेतना की सतह के नीचे से अर्थात् अवचेतन के स्तर से प्रचालित होती हैं और उन अवधारणात्मक संभावनाओं को परिभाषित करती हैं जो किसी काल अथवा अनुशासन की सीमाओं का निर्धारण करती हैं। उदाहरण के लिये *हिस्ट्री ऑव मैडनेस* के संदर्भ में वे कहते हैं कि सोलहवीं से लेकर उन्नीसवीं सदी के अंत तक विक्षिप्तता के बारे में जो कुछ भी कहा और सोचा जाता रहा था, इस पुस्तक को उसके उत्खनन के परिणाम के रूप में पढ़ा जाना चाहिये। इतिहास केवल वही नहीं होता जो वैयक्तिक चेतना पर निर्भर होता है; अवचेतन प्रत्यक्ष चेतना को पदच्युत कर उस चीज को भी सामने ले आता है, जिसे चेतन स्तर पर दमित कर दिया गया होता है। यह पुरातात्विक प्रणाली एक स्तर पर संरचनावाद का भी अतिक्रमण करती है हालाँकि उसके लिये फूको ने 'एपिस्टीम' का उपकरण इस्तेमाल किया है जो इतिहास की उस समय प्रचलित धारणा का खण्डन करता है। उनकी दृष्टि में इतिहास में लक्षित करने वाली बात उसकी निरंतरता न हो कर अनिरंतरता होती है और इन निरंतरताओं को उन्होंने 'एपिस्टीमिक ब्रेक्स' अर्थात् ज्ञानात्मक टूटनों का प्रतिफल माना है। दि ऑर्डर ऑव थिंग्ज़ में पुनर्जागरण काल से लेकर आधुनिक काल के इतिहास को इन्हीं एपिस्टीमिक ब्रेक्स के परिप्रेक्ष्य में देखा है। फूको इस बात पर बराबर आग्रह करते रहे कि इतिहास के प्रत्येक काल खण्ड में सत्य की अपनी अंतर्निहित दशाएँ होती हैं जो उस विशिष्ट काल खण्ड में वैज्ञानिक सत्य का निर्माण करती हैं। ये दशाएँ एक जैसी नहीं रहतीं और इनके बदलते ही वैज्ञानिक विमर्श भी बदल जाता है। इन्हीं अंतर्निहित दशाओं को वे 'एपिस्टीम' कहते हैं। द ऑर्डर ऑव थिंग्ज़ का प्रकाशन ऐसे समय हुआ जब संरचनावाद अपने शिखर पर था और परिणामतः उन्हे भी संरचनावादियों के ग्रुप से जोड़ दिया गया। दूसरी ओर सार्त्र जैसे मार्क्सवादी-अस्तित्ववादियों के हमले भी फूको पर तेज होते गये। वे चुप नहीं बैठे और अपने विरोधियों के मार्क्सवादी विश्वास पर हमला करते हुए जवाब दिया कि उन्नीसवीं सदी के चिंतन में मार्क्सवाद वैसे ही बैठा है जैसे पानी में मछली रहती है। उनके कहने का मतलब था कि मार्क्सवाद अन्यत्र कहीं जीवित ही नहीं रह सकता। सार्त्र से वे विशेष रूप से इसलिये भी चिढ़ते थे क्योंकि सार्त्र मानव 'कर्त्ता' को बहुत महत्त्व देते थे जबकि फूको इस कर्त्ता को अपेक्षाकृत नया आविष्कार मानते थे और उनका यह भी विश्वास था कि यह कर्त्ता शीघ्र ही तिरोहित भी हो जायेगा। *दि ऑर्डर*

ऑव थिंग्ज़ के प्रक्कथन में वे लिखते हैं कि यह मानवतावादी कर्त्ता वस्तुओं के क्रम में किसी टूटन से अधिक कुछ भी नहीं है। यही कर्त्ता मानवतावाद के सभी छाया रूपों का भी स्रोत है। कर्त्ता अर्थात् मनुष्य अभी हाल का ही आविष्कार है, मुश्किल से दो सौ साल पुराना, ज्ञान के चेहरे पर एक नई झुर्री जोकि ज्ञान द्वारा किसी नये रूप की तलाश करते ही फिर तिरोहित हो जायेगा। पुस्तक का उपसंहार करते हुए अपनी भविष्यवाणी एक बार फिर दुहराते हुए कहते हैं कि पश्चिमी संस्कृति में मनुष्य अपेक्षाकृत नया प्रवर्ग है तथा वह पश्चिमी ज्ञानमीमांसा का न तो प्राचीनतम न ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सवाल रहा है। निश्चित ही वह अभी हाल ही में आविष्कृत किया गया है और यह मान लेना सही नहीं होगा कि मनुष्य के उदय के साथ ज्ञानमीमांसा के सौ सवालों, सारी समस्याओं का समाधान मिल गया। जैसाकि हमारे चिंतन के पुरातत्व से साबित होता है कि मनुष्य अभी किसी हाल ही की तिथि का आविष्कार है, ऐसा आविष्कार जो अपने अंत के निकट पहुँचने वाला है।

दि आर्कियॉलॉजी ऑव नॉलेज में वे इतिहास के उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य के सहारे आधुनिक एपिस्टीम के उदय को समझने का प्रयास करते हैं जिसके चलते ज्ञान की वे संभावनाएँ प्रकाश में आयीं जिन्होंने मनुष्य की मीमांसा को अपना केंद्रीय सरोकार बनाया और इस प्रकार जिन्हें आज कल मानव विज्ञान अर्थात् नृविज्ञान, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण आदि कहा जाता है, वे प्रकाश में आये। इन्हीं मानव विज्ञानों में कर्त्ता की आधुनिक धारणा सामने आयी और मानव प्रकृति को नये सिरे संरचित अथवा निर्मित किया गया। फूको किसी पूर्व-प्रदत्त अथवा नैसर्गिक स्व अथवा मानव प्रकृति को नहीं मानते और उसे हमेशा ही ऐतिहासिक संदर्भ में सिचुएट करते हैं। कम से कम इस संदर्भ में फूको और देरिदा एक ही पेज पर हैं क्योंकि दोनो उद्भव के किसी तत्वमीमांसीय अथवा रहस्यमय क्षण में विश्वास नहीं करते।

इस पुस्तक सहित पहले की अपनी सभी पुस्तकों में उन्होंने पुरातात्विक प्रणाली का इस्तेमाल इसलिये किया था क्योंकि वे इतिहास-लेखन की एक ऐसी विधा की तलाश करने में लगे थे जो व्यक्ति की चेतना को प्राथमिकता देने की बजाय उसके अवचेतन के स्तर पर सक्रिय तत्त्वों की पहचान करने और चेतना को विस्थापित करने की उनकी क्षमता पर निर्भर हो। यह प्रणाली लेकिन विभिन्न ऐतिहासिक काल खण्डों के विमर्शी निर्मितियों अथवा विरचनाओं के तुलनात्मक अनुशीलन में ही अपनी सारी आलोची शक्ति खर्च कर देती है। फूको इस प्रणाली की सीमाओं से परिचित हो चुके थे और उन्हें एक नई प्रणाली की तलाश थी जो एक विमर्शात्मक निर्मिति से दूसरी विमर्शी निर्मिति के बीच होने वाले परिवर्तनों / विकासों के कारणों पर भी प्रकाश डाल सके और इसी क्रम में उन्होंने 'वंशानुक्रम' प्रणाली को अपना उपकरण बनाया।

डिसिप्लिन एंड पनिश (1975) में वे जिस विधि का प्रयोग करते हैं, उसे उन्होंने वंशानुक्रमिक उपागम की संज्ञा दी है जिसमें उन्होंने अनुशासित करने की उस प्रणाली का अध्ययन प्रस्तुत किया है जो पहले की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक 'सभ्य' है जिसका मोटो है ''कम दण्डित करना लेकिन बेहतर दण्डित करना'', एक ऐसा मोटो जो राजसत्ता तक ही सीमित न रह कर पूरे समाज का हथियार बन गया। यह दण्ड विधि कारखानों, अस्पतालों और स्कूलों तक ने अपना लिया। यह उन्नीसवीं सदी के उपयोगितावादी दर्शन के जनक जेरेमी बेंथम का मॉडल था जिसके तीन पक्ष थे और ये थे अनेक सोपानों में निर्मित निगरानी, निगरानी करने वालों की पारियाँ और तीसरा, निगरानी करने वालों का श्रेणीक्रम। इन तीनों का काम है 'अपराधियों' के बारे में ब्यौरे अथवा आँकड़े सत्ता तक पहुँचाना ताकि वह इन आँकड़ों के आधार पर अपराधियों का वर्गीकरण कर उनको दिये गये दण्ड में कमी अथवा बढ़ोत्तरी का निर्णय ले सके। निगरानी

को चाकचौबंद बनाने के लिये बेंथेम ने एक स्थापत्य का मॉडल भी सुझाया था जिसे उन्होंने पैनॉप्टीकॉन का नाम दिया था जिसमें एक ही चौकीदार सभी अपराधियों के ऊपर एक साथ निगरानी कर सकता है हालाँकि आधुनिक सत्ताओं के बीच यह स्थापत्य मॉडल पापुलर नहीं हो पाया लेकिन जेलों का स्थापत्य इससे बहुत मिलता-जुलता है। स्कूलों और अस्पतालों का स्थापत्य और निगरानी की व्यवस्था जेलों से काफी मिलती- जुलती है जहाँ उन पर नियंत्रण रखने के लिये और अलग-अलग श्रेणियों के हिसाब से पुरस्कारों और दण्ड की व्यवस्था रहती है। ध्यान में रखने की बात है कि शिक्षण संस्थाओं और अस्पतालों पर निगरानी के क्रम में छात्र और बीमार लोग लगभग एक ही श्रेणी में आ जाते हैं। दोनों को परीक्षा से गुजरना पड़ता है और दोनों के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है—छात्रों का नियंत्रण पाठ्यक्रम द्वारा और रोगियों को कुछ विशेष दवाओं का सेवन करने की हिदायत द्वारा। सत्ता की निगरानी से कोई भी बच नहीं पाता। हाँ, पहले जो काम शारीरिक यातना और कभी-कभी हत्या का सहारा लेकर किया जाता तथा, उसे अब किंचित 'सभ्य' तरीके से किया जाता है।

यही आनुवंशिक विधि फूको अपनी अगली महत्त्वपूर्ण पुस्तक *हिस्ट्री ऑव सेक्सुअलिअी* में भी अपनाते हैं। उनका मानना है कि सेक्सुअलिटी को आधुनिक समय में ठीक उसी प्रकार नियंत्रित करने की कोशिशे की जाती हैं जैसे अपराध और अपराधियों को। आधुनिक सत्ताएँ सेक्स को एक ऐसी मानवीय निर्मिति मानती हैं जो किसी व्यक्ति की नैतिकता, उसके स्वास्थ्य, उसकी इच्छाओं और उसकी पहचान निर्धारित करती हैं। फूको इस प्रवृत्ति की निंदा करते हैं और सत्ता की दमनकारी शक्तियों से इसकी मुक्ति का आह्वान करते हैं।

अपने जीवन के अंतिम चरण (1980-1984) में फूको की वैचारिकी में एक नये विषय का प्रवेश होता है और वह है स्वतंत्रता और स्व के सौंदर्यशास्त्र का। ऐसा माना जाता है कि फूको की दृष्टि में स्वतंत्रता वह है जो हमें अपने विशिष्ट इतिहास में प्राप्त होता है और जिसका निर्धारण इस बात से होता है कि सत्ता ने किस प्रकार इसे रचित और प्रभावित किया है। फूको का यह पक्का विश्वास है कि जिन शक्तियों के हाथों हम अपनी स्वतंत्रता गँवाते हैं, उनसे हम इसे छीन भी सकते हैं। स्वतंत्रता एक अभ्यास है न कि कोई जीवन-स्थिति, एक ऐसा अभ्यास जिसे हम अपने साथ, दूसरों के साथ और पूरे समाज और विश्व के साथ साझा करते हैं। वे यह तो मानते हैं कि हम सत्ता संबंधों से बाहर तो नहीं जा सकते लेकिन यह संभव कि सत्ता संबंधों के बीच से गुजरने का हम कोई अलग रास्ता खोज लें।

प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के सूत्र 'स्व के प्रति उत्तरदायित्व' की चर्चा करते हुए फूको कहते हैं कि ग्रीक दार्शनिकों के लिये आत्म-ज्ञान अपने आप में जीवन का परम लक्ष्य न होकर आत्म के प्रति इसी प्रेम ('care for the self') की ओर अग्रसर होने का साधन था। स्वतंत्रता का अर्थ विस्तार करने के क्रम में ही वे 'सच्चे स्व' की तलाश की बात करते हैं और इसी को वे जीने की कला अथवा 'स्व की टेक्नॉलॉजी' कहते हैं जिसका उद्देश्य होता है शुभतर मानवीय आचार (इथिक्स) का अभ्यास करते हुए एक बेहतर मनुष्य बनने का प्रयास करना।

इस सबके बावजूद यह सही है कि उनके लेखन की केंद्रीय विषयवस्तु है सत्ता और ज्ञान का अंतःसंबंध और यह कि किस प्रकार सत्ता ज्ञान को परिभाषित और नियंत्रित करती है। जिन्हें सत्ता के बुद्धिजीवी वैज्ञानिक ज्ञान कहते हैं वास्तव में वह सामाजिक नियंत्रण का साधन या उपकरण होता है। अपनी गहन मेधा और निरंतर चलने वाली अनुसंधान प्रक्रिया द्वारा वे यह सफलतापूर्वक सिद्ध कर देते हैं कि किस प्रकार अठारहवीं सदी में केवल मनोरोगियों को वर्गीकृत और बदनाम नहीं किया जाता था बल्कि इसी प्रकार, गरीबों, निराश्रितों, रोगियों,

बेघर आदि के सहित ऐसे सभी लोगों को इसमें शामिल कर लिया जाता था जो खुल कर अपनी बात कहने का साहस रखते थे।

संयोग ही कहा जायेगा कि फूको फ्रेंच बुद्धिजीवियों की ऐसी पीढ़ी के सदस्य थे जो सत्ता के मुँह पर सत्य बोलने का साहस रखते थे। ऐसे ही बुद्धिजीवियों के संदर्भ में बात करते हुए ज्याँक देरिदा ने, जो स्वयं उसी पीढ़ी से जुड़े थे, निम्नलिखित उद्‌गार व्यक्त किये थे :

मेरी अपनी पीढ़ी के प्रति मेरा वफादार बने रहना, किसी भेदीकृत पर समान रिक्थ का संरक्षक होना, इसके दो अर्थ हो सकते हैं : प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति से विरोध के बावजूद कुछ साझे अनुभवों से जुड़े रहना और इस क्रम में मैं कुछ नामों का उल्लेख करना चाहूँगा - लाकाँ से लेकर अल्थ्यूजर तक जिसमें इमैनुऐल लेविनास, मिशेल फूको, रोलाँ बार्थ, ल्यौतार, सारा कॉफमन इत्यादि के नाम शामिल हैं। ... वास्तव में मै बात कर रहा हूँ लेखन और चिंतन के एक विशेष 'पर्यावरण' की या जिसे 'इथॉस' कहा जाता है उसकी, एक ऐसे दृढ़, आग्रही, निर्भ्रष्ट पर्पावरण की, अर्थात् एक ऐसा लेखकीय पर्यावरण जिसने दर्शन को कोई छूट नहीं दी और जो लोकमत, मीडिया और भयाक्रांत करने वाले पाठक-समूह के प्रेतों के सामने कभी डरा नहीं क्योंकि इन प्रेतों का उद्‌देश्य होता है लेखकीय अस्मिता का दमन कर चीजों का सरलीकरण करना। मेरी पीढ़ी की दृढ़ता और समझौता न करने की प्रवृत्ति का ही परिणम था शोध-परिमार्जन, विरोधाभास, संदेहात्मकता (aporia), के प्रति एक गहरी रुचि; इस प्रकार की अभिरुचि के परिणामस्वरूप उत्तरदायित्व का एक गहरा बोध लगातार बना रहता था। यह बोध...लेखकों और चिंतकों को ही नहीं बल्कि उस पूरे वातावरण को एकजुट किये रहा जो उन्हें ऊर्ज्वसित करता रहता था। वह दौर फिलहाल बीत चुका है।...आज उस उत्तरदायित्व का बोध अत्यावश्यक है। इस उत्तरदायित्व में निहित है उन लोगों के प्रति अविराम युद्ध जिन्हें आज-कल 'मीडिया बुद्धिजीवी' कहा जाता है, युद्ध उस सामान्य हो चले विमर्श के विरुद्ध जो उन मीडिया ताकतों द्वारा तैयार किया गया है जो स्वयं किन्हीं राजनीतिक-आर्थिक-सम्पादकीय और अकादमिक प्रभव-समूहों की कठपुतलियाँ हैं... ।

देरिदा ने जिस बौद्धिक पर्यावरण की बात की है और बुद्धिजीवी की जिस भूमिका की ओर संकेत किया है, फूको ने अपने जीवन और चिंतन-लेखन में उसे पूरी तरह चरितार्थ किया। उन्होंने अपने बौद्धिक कर्म से कभी समझौता नहीं किया।

प्रस्तुत लेख मूल फ्रेंच में 1969 में प्रकाशित हुआ था और इसका अंग्रेज़ी अनुवाद दस साल बाद 1979 में प्रकाशित हुआ। इसी अंग्रेज़ी अनुवाद का हिंदी अनुवाद किया गया है। लेख उनके एक व्याख्यान का मुद्रित रूप है जो उन्होंने अपने वरिष्ठ समकालीन संरचनावादी आलोचक रोलाँ बार्थ के लेख 'द डेथ ऑव दि ऑथर' की प्रतिक्रिया में दिया था। अपने इस लेख में फूको लेखक की पारंपरिक धारणा को संकुचित बताते हुए इस तथ्य पर जोर देते हैं कि लेखक एक ऐतिहासिक प्रवर्ग है जो लेखक की रोमांटिक धारणा का खंडन करता है। लेखन किसी लेखक की आत्माभिव्यक्ति न होकर लेखन को व्यस्थित करने वाला तत्त्व होता है जिसे उसके प्रकार्य से अलग कर सोचा ही नहीं जा सकता। **–अनुवादक**

●●●

लेखक की धारणा का उदय विचारों, ज्ञान, साहित्य, दर्शन तथा विज्ञानों के इतिहास में *व्यक्तिकरण* के एक विशिष्ट क्षण की निर्मित करता है। आज भी जब हम किसी अवधारणा, साहित्यिक विधा, अथवा दार्शनिक संप्रदाय के इतिहास की पुनर्रचना करते हैं, तो लेखक और उसके लेखन की ठोस और मूलभूत इकाई की तुलना में इस तरह के प्रवर्ग अपेक्षाकृत कमजोर, दोयम दर्जे के और उथले लगते हैं।

मैं यहाँ लेखक के व्यक्तित्व का समाजैतिहासिक विश्लेषण नहीं प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। निश्चित ही इस बात की पड़ताल करना काफी महत्त्वपूर्ण होगा कि हमारी जैसी पश्चिमी-संस्कृति में लेखक का व्यक्तिकरण कैसे हुआ, उसे क्या दर्जा दिया गया, प्रामाणिकता और आरोपण का अध्ययन कबसे शुरू हआ, किस प्रकार की मूल्यवर्द्धन-पद्धति में लेखक को संलिप्त किया गया, समय के किस बिंदु पर हमने नायकों की जीवनियों के स्थान पर लेखक की जीवनियों को प्रतिष्ठत करना प्रारंभ किया और कब 'व्यक्तित्व-कृतित्व' समालोचना का प्रारंभ हुआ। फिलहाल मैं यहाँ केवल पाठ और लेखक के संबंध पर ध्यान केंद्रित करने के साथ ही उस प्रक्रिया पर भी विचार करने का प्रयास करूँगा जिसके तहत पाठ उस 'व्यक्ति' की ओर संकेत करता है जो कम से कम देखने में पाठ के बाहर और उसका पूर्ववर्ती होता है।

बेकेट ने बड़ी खूबसूरती से इस विषय को इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है जिससे मैं प्रारंभ करना चाहता था : ''इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि कौन बोल रहा है'', किसी ने कहा, ''इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि कौन बोल रहा है।'' इस तरह की उदासीनता व्यक्त करता है समकालीन लेखन का एक मूलभूत नैतिक सिद्धांत। मैं 'नैतिक' सिद्धांत की बात कर रहा हूँ क्योंकि यह उदासीनता कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है जो उस प्रक्रिया का लक्षण है जिसके अंतर्गत कोई लिखता और बोलता है अपितु यह संकेत है एक प्रकार से किसी सर्वव्यापी नियम का जिसे बार-बार उठाया गया है लेकिन जिसे पूरी तरह से कभी प्रयोग नही किया गया, जो किसी पूर्ण चीज के रूप में लेखन को नामित नहीं करता बल्कि व्यवहारतः लेखन पर अपना वर्चस्व रखता हैं। हमारे लिये यह इतना परिचित है कि इसे किसी लंबी-चौड़ी व्याख्या अथवा विश्लेषण की दरकार ही नहीं और इस सर्वव्यापी नियम की दो प्रमुख विषयवस्तुओं के माध्यम से इसे आसानी से समझा जा सकता है।

प्रथम विषयवस्तु के रूप में यह कहा जा सकता हे कि आज के लेखन ने अपने को अभिव्यक्ति के आयामों से मुक्त कर लिया है। अपने को ही संदर्भित करते हुए किंतु अपने अंतःस्थ की चहारदीवारों तक अपने को सीमित किये बिना, लेखन की पहचान उसकी अपनी ही असम्पुटित बाह्यता के साथ की जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि लेखन ऐसे संकेतों की अंतःक्रीड़ा होता है जिन्हें इसकी संकेतित अंतर्वस्तु के हिसाब से उतना व्यवस्थित नहीं किया जाता जितना कि संकेतक की अपनी प्रकृति के हिसाब से। लेखन अपने को किसी ऐसी क्रीड़ा के रूप में व्यक्त करता (खोलता) है जो अनवरत रूप से अपने ही नियमों और सीमाओं का उल्लंघन करता रहता है। लेखन में मुद्दा लेखन कर्म को प्रकट करने अथवा उसे प्रतिष्ठा देने का नहीं होता, न ही किसी विषय को भाषा के भीतर समेटना होता हैं; सवाल असल में होता है एक ऐसा स्थल सृजित करना जिसके भीतर लिखा जाने वाला विषय लगातार तिरोहित होता रहता है।

दूसरी विषयवस्तु अर्थात् लेखन का मृत्यु से संबंध तो और अधिक जानी-पहचानी है।

यह संबंध ग्रीक महाकाव्यों द्वारा प्रवर्तित पुरानी परंपरा का उच्छेदन करता है। इस परंपरा का आशय नायक के अमरत्व को चिरस्थायी बनाना था। यदि नायक युवावस्था में ही मृत्यु का वरण करना चाहता था तो इसलिये कि मृत्यु द्वारा पवित्रीकृत एवं महिमामंडित उसका जीवन अमरत्व प्राप्त कर ले; इस क्रम में महाकाव्य का आख्यान इस स्व-इच्छित मृत्यु की क्षतिपूर्ति कर देता था। एक दूसरे तरह से अरबी आख्यानों की अभिप्रेरणा के साथ ही उनकी विषयवस्तु और बहाना था बुद्धि-कौशल के माध्यम से मृत्यु से बच निकलना : कोई रात के अंतिम प्रहर तक कहानी कहता रहता था ताकि मृत्यु को चकमा दिया जा सके, उस क्षण को स्थगित किया जा सके जो आख्यानकर्त्ता को मौन कर देगा। प्रत्येक रात्रि नए-नए आख्यान प्रारंभ करने का शहरजाद का प्रयास मृत्यु को जीवन के मंडलाकर वृत्त से बाहर रखने का प्रतीक है।

हमारी (पश्चिमी) संस्कृति ने आख्यान अथवा लेखन की इस परिकल्पना को किसी ऐसी चीज में कायांतरित कर लिया है जो मृत्यु को परे रख सकती हैं। लेखन बलिदान, जीवन के बलिदान से जुड़ गया है : यह अब ऐसा स्वैच्छिक विलोपन है जिसे पुस्तकों में प्रतिनिधित किये जाने की जरूरत ही नहीं है क्योंकि यह तो लेखक के जीवन में ही घटित होता है। कृति अर्थात् लेखन जिसका कभी दायित्व होता था अमरत्व प्रदान करना अब मृत्यु प्रदान करने के अधिकार से युक्त है, यह अपने रचनाकार का हत्यारा है जैसे फ़्लाबेयर, प्रूस्त तथा काफ़्का के संदर्भ में हुआ। लेकिन इतना भर ही नहीं हुआ। लेखन और मृत्यु के बीच यह संबंध कर्त्ता अर्थात् लेखक के वैयक्तिक लक्षणों के विलोपन में भी प्रकट होता है। उन सारी संभव युक्तियों का प्रयोग करते हुए जिन्हें लेखक अपने और अपने लेखन के बीच खड़ा करता है, वह अपनी विशिष्ट वैयक्तिकता के सभी लक्षणों को खारिज कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि लेखक की छाप उसकी अनुपस्थिति की अद्वितीयता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाती। लेखन की क्रीड़ा में लेखक को एक मृत व्यक्ति की भूमिका अवश्य ही स्वीकार कर लेनी चाहिए।

इस सब में कुछ भी नया अथवा चौंकाने वाला नहीं है। आलोचना और दर्शन ने कुछ समय पहले ही लेखक के विलोपन अथवा मृत्यु को भाँप लिया था। लेकिन आलोचना और दर्शन की इस खोज के परिणामों पर पर्याप्त विचार नहीं किया गया है और न हीं इनके निहितार्थों को समझने का प्रयास किया गया है। लेखक के प्रतिष्ठित दर्जे के स्थानापन्न के रूप में सामने आने वाली अनेक धारणाएँ तो वास्तव में उस प्रतिष्ठित स्थिति को संरक्षित करती हुई प्रतीत होती हैं और उसके विलोपन के सही अर्थ को दमित करती लगती हैं। यहाँ मैं इनमें से दो पर विचार करूँगा क्योंकि इन दोनो का महत्त्व आज बहुत हैं।

पहली का संबंध कृति की अवधारणा से है। यह बहुत ही परिचित मान्यता है कि आलोचना का काम लेखक के साथ लेखन के संबंध को उजागर करना नहीं है और न ही इसके माध्यम से किसी विचार अथवा अनुभव का रूपांकन करना है। इसके विपरीत, आलोचना का कार्यभार है कृति की संरचना, उसके शिल्पविधान, उसके आंतरिक रूप विधान और उसके आंतरिक संबंधों की क्रीड़ा विश्लेषण करना। लेकिन इस बिंदु पर एक समस्या भी उठ खड़ी होती है। कृति अथवा लेखन क्या है? वह विचित्र ऐक्यता क्या है जिसे हम कृति के रूप में संज्ञापित करते है? कौन से वे तत्त्व हैं जो इसे संरचित करते हैं? क्या यह वही नहीं होती जिसे लेखक ने लिखा है? इस तरह की कठिनाइयाँ तत्काल खड़ी हो जाती हैं। अगर कोई व्यक्ति लेखक नहीं होता, तब क्या हम कह सकते थे कि जो कुछ उसने लिखा, कहा अथवा अपने पीछे कागजों में लिख कर छोड़ गया, वह सब कुछ उसका लेखन है? उदाहरण के लिये, नीत्शे के लेखन को प्रकाशित करने का उपक्रम करते समय किसी को कहाँ रुकना चाहिए? निश्चित ही सब

कुछ प्रकाशित किया जाना चाहिए, लेकिन यह 'सब कुछ' क्या है? निश्चित ही, सब कुछ जो नीत्शे ने स्वयं प्रकाशित किया था। लेकिन उनके लेखन के प्रथम प्रारूपों का क्या होगा? स्पष्ट ही उन्हें भी प्रकाशित किया जाना चाहिये। उनकी सूक्तियों की योजना? हाँ, क्यों नहीं! उनकी पाण्डुलिपियों में काटे गये अंश अथवा पृष्ठ के नीचे दी गयीं पाद-टिप्पणियाँ? हाँ, उन्हें भी। लेकिन सूक्तियों से भरे हुए पृष्ठ में किसी को कोई संदर्भ मिल जाय अथवा किसी बैठक का विवरण अथवा धोबी को दिये जाने वाले कपड़ो की सूचीः क्या इस सब को भी नीत्शे के लेखन में शामिल किया जाय? इसी तरह आप अनंत सीमा तक चलते रहें। अपने पीछे इस प्रकार के लाखों चिह्न छोड़ जाने वाले लेखक के 'लेखन' को कैसे परिसीमित किया जाय? लेखन की कोई सैद्धांतिकी है ही नहीं और उन लोगों का अनुभव-आधारित कार्य जो भोले-भाले तरीके से कृतियों के संपादन के कार्य में लगे रहते हैं किसी सैद्धांतिकी के अभाव के कारण बाधित होता है।

हम और आगे जा सकते हैं क्या *एक हजार और एक रातें* किसी एक कृति की संज्ञा के अनुरूप है? क्लीमेंट ऑव अलेग्जांड्रिया की *मिस्सेलीनीज़* अथवा डिओजेनी लेयरटियस की *लाइव्ज़* को क्या किसी कृति की श्रेणी में रखा जा सकता है? कृति की इस धारणा को लेकर इस तरह के अनेक सवाल खड़े हो जाते हैं। परिणामतः इतना घोषित करना पर्याप्त है कि हम लेखक को परे हटा कर स्वयं पाठ का ही अध्ययन करें। ''कृति'' शब्द और जिस ऐक्यता की ओर यह शब्द संकेत करता है शायद उतने ही समस्यामूलक हैं जितना कि ''लेखक'' की वैयक्तिक्ता की धारणा।

एक अन्य धारणा जो हमें लेखकीय विलोपन की अवधारणा को पूरी तरह समझने के रास्ते में बाधा खड़ी करती है, इस विलोपन के क्षण को धुँधला करने के साथ ही उसे छिपाने का प्रयास करती है और बड़ी चतुराई से लेखक के अस्तित्व को बनाये रखने की युक्ति में लगी रहती है, वह है लेखन की धारणा। कठोरता से इसका अनुपालन करने पर इस धारणा को हमें केवल लेखक के संदर्भों को ही रोकने की छूट नहीं देनी चाहिए बल्कि उसकी हाल ही में घटित होने वाली अनुपस्थिति को स्थित करने की भी छूट देनी चाहिये। आज जिस रूप में लेखन की धारणा का इस्तेमाल किया जा रहा है, उस रूप में उसका संबंध न तो लेखन-कर्म से है, न ही उस अर्थ से संबंधित है जिसे किसी ने व्यक्त करना चाहा था। बड़ी मशक्कत से हम प्रत्येक पाठ की सामान्य दशा की कल्पना करने का प्रयास करते हैं, उस विस्तार की दशा की कल्पना जिसमें यह छितराता अथवा फैलता है और साथ ही उस समयावधि की दशा की भी कल्पना जिसमें यह अपने को असम्पुटित करता है।

वर्तमान प्रयोग में लेकिन लेखन की यह धारणा लेखक के अनुभवाश्रित लक्षणों को किसी अतींद्रिय अनामता में ढकेलती लगती है। हम लेखक की अनुभवाश्रितता के दिखायी पड़ने वाले चिन्हों को मिटाने के लिये लेखन को पहचानने के दो तरीकों को एक दूसरे के बरक्स रख कर संतोष कर लेते है : लेखन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना और उसे धार्मिक दृष्टि से देखना। लेखन को प्राथमिक स्थान देना इसके पवित्र चरित्र की धर्मशास्त्रीय मान्यता और इसके सृजनात्मक चरित्र की आलोची मान्यता, दोनों का अतींद्रिय पदों में पुनरानुवाद लगता है। यह मानना कि अपने ही द्वारा संभव बनाये गये इतिहास के कारण लेखन विस्मृति तथा दमित किये जाने के लिये अभिशप्त होता है, अतींद्रिय पदों में, गोपनीय अर्थ के (वह गोपनीय अर्थ जिसे समझने के लिये कोई व्याख्याकार अपेक्षित होता हैं) धार्मिक सिद्धांत, और अंतर्निहित संकेतन के आलोचना सिद्धांत, मौन नियामन तथा गूढ़ बना दी गयी विषयवस्तु (जिसके कारण व्याख्याकारों

का उदय होता है) का प्रतिनिधित्व करता लगता है। अनुपस्थिति के रूप में लेखन की कल्पना करना, अतींद्रिय पदों में, अपरिवर्तनीय किंतु कभी भी पूर्ण न होने वाली परंपरा के साथ ही कृति की अमरता, लेखक की मृत्यु के बाद भी इसकी निरंतरता तथा लेखक के साथ इसके संबंध के गूढ़ अतिरेक की सहज आवृत्ति लगता है।

लेखन की धारणा के इस प्रकार के उपयोग में कारण-कार्य न्याय के अनुसार लेखन की प्रतिष्ठा के संरक्षण के अंतर्गत लेखक के विशेषाधिकारों को बनाये रखने का खतरा मौजूद रहता है। तटस्थीकरण की मद्धिम रोशनी में यह उन प्रतिनिधिकरणों की अंर्तक्रीड़ा को जीवित रखती है जिन्होंने लेखक की एक खास छवि बना रखी थी। लेखक का विलोपन जो (उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के फ्रेंच कवि) मलार्मे के बाद से ही एक लगातार घटने वाली घटना रहा है, अतींद्रिय अवरोधों की एक शृंखला के अधीन रहा है। ऐसा लगता है कि उन लोगों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा है जो यह मानते हैं कि वे उन्नीसवीं सदी के ऐतिहासिक-अतींद्रिय परंपरा में आज की अनिरंतराओं को अभी भी खोज सकते हैं।

इस खोखली स्वीकृति को दुहराने का कोई मतलब नहीं कि लेखक विलोपित हो गया है और न ही नीत्शे की इस पुरानी पड़ चुकी घोषणा को दुहराने की कोई जरूरत है कि ईश्वर और मनुष्य की साझी मौत हो चुकी है। इसकी बजाय हमें उस स्थान को अवश्य ही खोजना चाहिए जो लेखक के विलोपन से खाली हुआ है, अंतरालों और दरारों के वितरण पर निगाह रखनी है और उस नई शुरुआत पर निगाह रखनी है जो लेखक का विलोपन खोलती है।

पहले हमें उन समस्याओं का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये जो लेखक के नाम के कारण पैदा होती हैं। लेखक का नाम क्या है? यह कैसे काम करता है? इन सवालों का समाधान प्रस्तुत करने की बजाय मैं उन कठिनाइयों का संकेत करता हूँ जो इससे पैदा होती हैं।

लेखक का नाम एक व्यक्तिवाचक नाम है, और इसीलिये यह ऐसी समस्याएँ उठाता है जो अन्य व्यक्तिवाचक नाम उठाते हैं। (यहाँ मैं जॉन सियर्ल की 1969 में प्रकाशित पुस्तक *स्पीच ऐक्ट्सः ऐन एसे इन द फिलॉस्फी ऑव लैंग्वेज* में उपलब्ध विश्लेषण का संदर्भ ले रहा हूँ।) स्पष्ट ही किसी व्यक्तिवाचक नाम को सरल और शुद्ध संदर्भ में नहीं बदला जा सकता। संकेतवाचक प्रकार्य के अतिरिक्त भी इसके प्रकार्य होते हैं। किसी की ओर संकेत करने, उसके प्रति किसी भंगिमा का प्रयोग करने, अथवा उँगली से इशारा करने से अधिक यह किसी वर्णन का समानार्थक होता है। जब कोई अरस्तू कहता है, तब वह एक ऐसे शब्द का प्रयोग कर रहा होता है जो 'एनालिटिक्स के लेखक', 'सत्ताविज्ञान के संस्थापक' जैसे किसी एक अथवा अनेक वर्णनों की पूरी शृंखला का समानार्थक होता है। हम यहीं नहीं रुकते क्योंकि किसी व्यक्तिवाचक नाम का केवल एक ही संकेतन नहीं होता। जब हमें यह पता चलता है कि रिम्बो (उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रेंच प्रतीकवादी कवि) ने *द स्प्रिचुअल परसूट* (आध्यात्मिक साधना) की रचना नहीं की थी, तब हम यह स्वांग नहीं कर सकते कि इस व्यक्तिवाचक नाम अथवा लेखक के नाम का अर्थ बदल दिया गया हैं। व्यक्तिवाचक नाम और लेखक का नाम वर्णन और नामकरण के दो स्तंभों के बीच स्थित होता है। जिसका नामकरण वे करते हैं उसके साथ उनकी कोई न कोई कड़ी जरूर जुड़ी होती है, लेकिन ऐसी कड़ी जो न तो पूरी तरह नामकरण के रूप में होती है और न ही वर्णन के रूप में; यह कोई *विशिष्ट* कड़ी होती है। लेकिन यहाँ लेखक के नाम से जुड़ी कुछ खास समस्याएँ सामने आ जाती हैं—व्यक्तिवाचक नाम और नामित व्यक्ति तथा लेखक के नाम और यह जिसे नामित करता है उनके बीच की कड़ियाँ समाकारी नहीं होतीं और एक ही तरीके का काम नहीं करतीं। उनके बीच तमाम तरह के भेद होते हैं।

उदाहरण के लिये अगर पियरे द्युपाँ की आँखें नीली नहीं हैं या वह पेरिस में नहीं पैदा हुआ था या वह पेशे से डॉक्टर नहीं है, तो भी पियरे द्युपाँ नाम उसी व्यक्ति को संदर्भित करेगा; इस तरह की चीजें नामकरण की कड़ी को संशोधित नहीं करतीं। फिर भी लेखक के नाम के द्वारा उठायी गयी समस्याएँ जटिल होती है। अगर मुझे पता चले कि शेक्सपीयर उस घर में नहीं पैदा हुए थे जिसे देखने आज हम जाते हैं, तो यह एक संशोधन जरूर होगा लेकिन यह लेखक के नाम के प्रकार्य को नहीं बदल देगा। लेकिन कोई यदि यह प्रमाणित कर दे उनके द्वारा लिखित माने जाने वाले सॉनेटों के लेखक वे नहीं हैं तो यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का कारक बन जायेगा और इससे उस विधि पर प्रभाव पड़ जायेगा जिस विधि से लेखक का नाम कार्य करता है। अगर कोई यह प्रमाणित कर दे कि फ्रांसिस बेकन के *ऑर्गनॉन* का लेखन शेक्सपीयर ने किया है और बेकन तथा शेक्सपीयर के लेखन का लेखक एक ही आदमी है तो इससे एक तीसरे प्रकार का परिवर्तन होगा जो लेखकीय नाम के प्रकार्य को पूरी तरह बदल देगा। इस प्रकार लेखक का नाम सभी नामों की तरह महज एक व्यक्तिवाचक नाम नहीं होता। लेखक के नाम के विरोधभासी अनूठेपन का संकेत कई अन्य तथ्यों से भी मिलता हैं। यह कहना कि पियरे दुचो नाम का कोई आदमी अस्तित्व में है ही नहीं यह कहने जैसा बिल्कुल नहीं है कि होमर का भी अस्तित्व नहीं था। पहले उदाहरण में पियरे द्युपाँ किसी का नाम ही नहीं है; दूसरे का मतलब है कि तमाम लोग एक ही नाम में धुला-मिला दिये गये हैं अथवा यह कि वास्तविक लेखक में वे सारे गुण थे ही नहीं जो होमर के व्यक्तित्व के साथ चस्पा कर दिये गये हैं। यह कहना कि 'क' का नाम ज़्याक द्यूराँ है न कि पियरे द्युपाँ यह कहना नहीं है कि स्तेंदा का नाम एनरी बेले था। ऐसी प्रस्तावों के अर्थ अथवा प्रकार्यों पर भी सवाल उठाया जा सकता है जैसे कि 'बोबकी फलाँ, फलाँ है' या 'विक्तरएरेमिता, क्लायमेकस, ऐंटीक्लायमेकस, फ्रैतरतैसीतरनस कांस्तेताइन, कांस्तैंतियस, ये सभी किर्केगार्द हैं।'

इस तरह के भेद इस तथ्य के परिणाम हो सकते हैं कि लेखक का नाम किसी विमर्श में महज एक तत्त्व भर नहीं होता (जो कर्त्ता अथवा कर्म बनने में, किसी सर्वनाम द्वारा अपना स्थान ले लिये जाने में समर्थ होता है, इत्यादि)। आख्यानात्मक विमर्श में इसकी एक भूमिका होती है जो वर्गीकरण प्रकार्य को सुनिश्चित करता है। इस तरह का नाम एक विशेष किस्म के पाठों को एकजुट करने का, उन्हें परिभाषित करने का, उन्हें अलग करने और अन्य पाठों से उनकी तुलना करने का रास्ता देता है। इसके अलावा, यह पाठों के संबंध स्थापित अथवा निर्धारित करता है। हरमीज़ अथवा हिपोक्रिटीज़ का अस्तित्व उस अर्थ में नहीं था जिस अर्थ में बाल्ज़ाक का लेकिन यह तथ्य कि अनेक पाठ किसी नाम के साथ जुड़े हुए हैं इस बात की ओर इशारा करता है कि उनके बीच एक प्रकार का पारिवारिक संबंध बन गया है, उनमें से कोई पाठ अन्य पाठों को प्रमाणित करता है, एक की व्याख्या अन्य पाठों की व्याख्या पर रोशनी डालती है अथवा एक ही प्रकार से उनका उपयोग किया जा सकता है। लेखक का नाम विमर्श के जीवन के एक खास स्वरूप को पहचानने में मदद करता है : यह तथ्य कि विमर्श के साथ एक नाम जुड़ा है, कि कोई कह सकता है कि 'इस विमर्श को फलाँ ने लिखा है', अथवा 'फलाँ आदमी इसका लेखक है' यह दर्शाता है कि यह विमर्श कोई ऐसा घिसा-पिटा वार्तालाप अथवा कथन नहीं है जो आता-जाता रहता है अथवा न ही ऐसी कोई चीज जो आसानी से तत्काल ही उपभोग योग्य है। इसके विपरीत, यह एक ऐसा कथन है जिसे एक खास तरह से ग्रहण किया जाना चाहिये और कि किसी विशेष संस्कृति में इसे एक विशेष दर्जा दिया जाना चाहिए।

ऐसा लग सकता है कि अन्य व्यक्तिवाचक नामों के विपरीत किसी लेखक का नाम किसी पाठ की अंतःस्थता से किसी ऐसे यथार्थ एवं बाह्यस्थ व्यक्ति तक नहीं पहुँच जाता जिसने इसे जन्म दिया होता है; इसकी बजाय ऐसा लगता है कि पाठ के किनारों को चिन्हित करते हुए, इसके अस्तित्व के विशेष रूप को प्रकट करते हुए अथवा कम से कम इसका चरित्रांकन करते हुए लेखक का नाम सदैव उपस्थित रहता है। लेखक का नाम एक विशेष विमर्शात्मक अनुक्रम के उदय को प्रकाशित करता है और किसी समाज अथवा संस्कृति में इस विमर्श के स्थान का संकेत करता है। इसका कोई वैधानिक स्थान नहीं होता और न ही कृति की कल्पना में यह स्थित होता है; वास्तव में यह स्थित होता है उस टूटन अथवा चिटकन में जो किसी विमर्शात्मक निर्मिति की और इसके अस्तित्व के स्वरूप की नींव डालती है। परिणामतः हम कह सकते हैं कि हमारी अपनी जैसी किसी सभ्यता में ऐसे विमर्शों की एक विशेष संख्या होती है जो 'लेखक-प्रकार्य' से युक्त होते हैं जबहि दूसरी सभ्यताएँ इससे वंचित हैं। किसी व्यक्तिगत पत्र का कोई हस्ताक्षरकर्ता हो सकता है—इसका लेखक नही होता; किसी ठेके का कोई गारंटर हो सकता है—इसका कोई लेखक नहीं होता। इसलिये 'लेखक-प्रकार्य' किसी समाज के भीतर एक विशेष प्रकार के विमर्शों के जीवन के स्वरूप, उनके संचरण और प्रकार्य-प्रणाली की चारित्रिक पहचान होता हैं।

जिस लेखक-प्रकार्य की चर्चा हमने की है, अब उसका विश्लेषण किया जाय। हमारी संस्कृति में हम लेखक-प्रकार्य से युक्त विमर्श को हम किन लक्षणों के आधार पहचानते हैं? किस तरह यह विमर्श अन्य विमर्शों से भिन्न होता है? यदि हम अपनी टिप्पणियों को किसी किसी पुस्तक अथवा पाठ तक ही सीमित रखें तो हम चार अलग-अलग लक्षणों को रेखांकित कर सकते हैं।

पहला, विमर्श विनियोजनों की वस्तु होते हैं। स्वामित्व के जिस रूप से उनका उदय होता है, वह एक विशेष प्रकार का होता है, ऐसा जिसे बहुत वर्षों से संहिताबद्ध कर लिया गया है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि ऐतिहासिक रूप से इस प्रकार का स्वामित्व उस प्रकार के स्वामित्व का सदैव ही पूर्ववर्ती रहा है जिसे दंडनीय विनियोजन कहा जा सकता है। पाठों, पुस्तकों और विमर्शों ने वास्तव में (मिथकीय, पवित्रीकृत और पवित्रता प्रदान करने वाले लेखकों से अलग) इस सीमा तक लेखक रखने शुरू कर दिया कि लेखक दण्डविधान के अधीन हो गये अर्थात् इस सीमा तक कि विमर्श अतिक्रमणकारी हो गये। हमारी संस्कृति में (और निश्चित ही अन्य संस्कृतियों में भी) विमर्श मूलतः उत्पाद, वस्तु, एक प्रकार का माल नहीं था, तत्वतः यह एक कर्म था - ऐसा कर्म जो अलौकिक और लौकिक, वैध और अवैध, धर्म-सम्मत और धर्म-विरुद्ध के द्विध्रुवीय दायरे के बीच स्थित होता था। ऐतिहासिक रूप से, स्वामित्व के संजाल में फँसे किसी माल का रूप ग्रहण करने के पूर्व विमर्श एक ऐसी भंगिमा होता था जो खतरों से भरा रहता था।

एक बार पाठों के स्वामित्व की पद्धति के अस्तित्व में आ जाने, लेखकीय अधिकारों, लेखक-प्रकाशक संबंधों, पुनर्प्रकाशन और इससे संबंधित अन्य मामलों के बारे में कठोर नियम-उपनियम बन जाने के बाद—और यह सब अठारहवीं सदी के प्रारंभ और उन्नीसवीं के प्रारंभिक वर्षों मे हुआ—से ही लेखन-कर्म के अतिक्रमण की संभावना ने एक ऐसे आदेशक का रूप ले लिया जो साहित्य के लिये बहुत विचित्र था। ऐसा हुआ मानो लेखक ने, उस क्षण के प्रारंभ के बाद जब वह हमारे समाज की पहचान बनने वाली संपत्ति-पद्धति में अवस्थित कर दिया गया, अपनी इस प्रकार स्व-अर्जित प्रतिष्ठा की भरपायी कर दी। उसने विमर्श के

उस पुराने द्विध्रुवांतीय प्रखण्ड की पुनः खोज और व्यवस्थित रूप से अतिक्रमण के अभ्यास के द्वारा लेखन के लिये उस खतरे को पुनर्स्थापित कर दिया जिसे अब स्वामित्व के लाभों की गारंटी मिल गयी।

फिर भी लेखन-प्रकार्य सदैव एक ही प्रकार से सभी विमर्शों को प्रभावित नहीं करता। यह इसका दूसरा लक्षण है। हमारी सभ्यता में एक ही प्रकार के पाठों को सदैव किसी लेखक के नाम से आरोपित नहीं किया जाता रहा है। ऐसा एमय रहा है जब आज 'साहित्यिक' कहे जाने वाले पाठ (आख्यान, कहानियाँ, महाकाव्य, दुःखांत एवं सुखांत नाटक इत्यादि) स्वीकार कर लिये जाते थे, संचरण के लिये खोल दिये जाते थे और उनके लेखक की पहचान के बिना भी उन्हें मूल्यवान समझा जाता थाः; लेखकों की अनामता से कोई कठिनाई नहीं होती थी क्योंकि उनकी यथार्थ अथवा काल्पनिक प्राचीनता उनकी प्रतिष्ठा की गारंटी हुआ करती थी। दूसरी ओर, आज वैज्ञानिक कहे जाने वाले पाठ - अर्थात् ऐसे पाठ जिनका विषय ब्रह्माण्डविद्या, और अंतरिक्ष, औषधि एवं दैहिक व्याधि, प्राकृतिक विज्ञानों तथा भूगोल इत्यादि होते थे–

मध्यकाल में तभी सत्य माने जाते थे जब उनके साथ किसी लेखक का नाम जुड़ा होता था। 'हिपोक्रेटीज़ का कहना है', प्लिनी के अनुसार 'जैसे किसी प्राधिकार पर आधारित तर्क के सूत्र नहीं थे; वे विमर्शों से नत्थी ऐसे संकेत थे जिन्हें सिद्ध सत्य के कथनों के रूप में ग्रहण और स्वीकार कर लिया जाता था।

सत्रहवीं अथवा अठारहवीं सदी में एक प्रकार का विपर्यय घटित हुआ। किसी सुस्थापित अथवा पुनः सिद्ध किये जा सकने वाले सत्य की अनामता में वैज्ञानिक विमर्श स्वतःस्वीकृत किए जाने लगे; किसी व्यवस्थित विचार-समूह में उनकी सदस्यता, न कि उन्हें उत्पादित करने वाले व्यक्ति के नाम का आधार, उनकी सत्यता का प्रमाण होता था। लेखक-प्रकार्य धूमिल हो गया था और आविष्कारक का नाम केवल किसी सिद्धांत, प्रस्तावना, विशेष प्रभाव, प्रयुक्त रसायनों, तत्त्व-समूह अथवा नैदानिक लक्षणों का नामकरण करने के काम आता था। इसी तरह, साहित्यिक विमर्शों को तभी स्वीकृति मिलती थी जब वे लेखक-प्रकार्य से युक्त होते थे। अब हम सभी काव्यात्मक अथवा कथात्मक पाठ से यह सवाल करते हैं : यह कहाँ से आया, इसका लेखक कौन है, कब और किन पस्थितियों में, अथवा किस इच्छा से प्रेरित होकर इसे लिखा गया? इसको दिया जाने वाला अर्थ और इसकी प्रतिष्ठा इस पर निर्भर करता है कि उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर हम कैसे देते हैं। और यदि किसी पाठ की खोज उसकी अनामता की स्थिति में होती है - फिर चाहे यह किसी संयोगवश हुआ हो अथवा उसके लेखक की इच्छा के कारण - तब लेखक की खोज का खेल शुरू हो जाता है। क्योंकि साहित्यिक अनामता स्वीकार्य नहीं होती, अतः इसे हम किसी समस्या अथवा पहेली के ही रूप में स्वीकार करते हैं। नतीजतन हमारी साहित्यिक दृष्टि में लेखक-प्रकार्य बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

लेखक-प्रकार्य का तीसरा लक्षण है कि यह उस रूप में स्वाभाविक रूप से नहीं विकसित होता जिस रूप में किसी विमर्श को किसी व्यक्ति के नाम से जोड़ना। वास्तव में यह किसी जटिल प्रचालन का परिणाम होता है जो किसी बुद्धिमान व्यक्ति को गढ़ता है जिसे हम 'लेखक' कहते हैं। आलोचक निश्चित ही इस व्यक्ति में किसी गहन 'मनोभाव, 'किसी सृजनात्मक' शक्ति, किसी सोची-विचारी 'योजना', लेखन के उद्भव को संभव बनाने वाले किसी परिवेश की खोज के माध्यम से इस बुद्धिमान व्यक्ति को यथार्थ स्थान देने की कोशिश करते हैं। फिर भी किसी व्यक्ति को लेखक बनाने के लिये जरूरी समझे जाने वाले उसके ये आयाम कमोबेश मनोवैज्ञानीकरण के पदों में महज एक प्रक्षेपण होते हैं उन प्रचलनों का जिससे गुजरने के लिये हम पाठों को

मजबूर करते हैं, इस प्रक्षेपण के आधार पर हम संबंधों को बनाते हैं, उन प्रवृत्तियों अथवा लक्षणों को निर्धारित करते हैं जो विश्वसनीय होते हैं, उन निरंतरताओं की बात करते हैं जिनकी हम पहचान करते हैं अथवा उन बहिष्करणों को रेखांकित करते हैं जिनका हम अभ्यास करते हैं। इस तरह के प्रचालन विमर्श के काल और वर्गीकरणों के हिसाब से बदलते रहते हैं। 'कवि' की तर्ज पर हम किसी 'दार्शनिक लेखक' को नहीं गढ़ते, ठीक वैसे ही जैसे अठारहवीं सदी में कोई उपन्यासकार को वैसे ही लेखक नहीं मानता था जैसे हम आज मानते हैं। फिर भी हम युगों से लेखक-निर्मिति के क्रम में कुछ ऐसी चीजें अवश्य ही पाते है जो अपवर्तनीय रही हैं।

उदाहरण के लिये, ऐसा लगता है कि साहित्यालोचन ने कभी जिस रूप में लेखक को परिभाषित किया था या यूँ कहें कि जिस तरह उसने उपलब्ध पाठों और विमर्शों के आधार पर लेखक का खाका तैयार किया था, वह प्रत्यक्षतः उस तरीके से लिया गया था जिस तरीके से ईसाई परंपरा ने अपने समक्ष उपलब्ध पाठों को प्रमाणित (अथवा अस्वीकृत) किया था। किसी कृति में लेखक को पुनः खोजने के लिये आधुनिक आलोचना उन्हीं विधियों का इस्तेमाल करती है जो ईसाई मीमांसाकार तब इस्तेमाल करते थे जब वे किसी पाठ का मूल्य अथवा महत्त्व निर्धारित करते समय लेखक के संतत्व का सहारा लेते थे। *कंसर्निंग इलस्ट्रियस मेन* (आदर्श पुरुषों की कथाएँ) में सेण्ट जेरोम स्पष्ट करते हैं कि एक से अधिक कृतियों के लेखकों की पहचान के लिये समान नाम होना पर्याप्त वैध आधार नहीं माना जा सकता; अलग-अलग व्यक्तियों का एक ही नाम हो सकता है अथवा एक ही व्यक्ति अवैध तरीके से कई पितृपरंपराओं का दावा कर सकता है। एक वैयक्तिक ट्रेडमार्क के रूप में नाम तब पर्याप्त नहीं होता जब कोई किसी पाठीय परंपरा में काम कर रहा होता है।

तब कोई तमाम विमर्शों को एक ही लेखक के नाम कैसे जोड़ सकता है? वह कैसे यह निर्धारित करने के लिये लेखक-प्रकार्य का इस्तेमाल कर सकता है जब वह किसी एक अथवा अनेक व्यक्तियों की बात कर रहा होता है? सेण्ट जेरोम इस संदर्भ में चार कसौटियाँ प्रस्तावित करते हैं—(1) यदि एक ही लेखक के नाम से जुड़ी अनेक पुस्तकों में कोई एक पुस्तक अन्य पुस्तकों से निकृष्ट कोटि की है, तो इसे उस लेखक की कृतियों की सूची से बाहर कर दिया जाना चाहिये (इस प्रकार लेखक परिभाषित होता है मूल्य की अपरिवर्तनीयता के आधार पर); (2) यही विधि तब भी अपनायी जानी चाहिये जब किसी लेखक के कुछ पाठ उसकी अन्य कृतियों में प्रतिपादित सैद्धांतिक स्थापनाओं की विरोधी स्थापनाएँ प्रतिपादित करते हैं (इस क्रम में लेखक परिभाषित किया जाता है अपनी अवधारणात्मक अथवा सैद्धांतिक सुसंगति के आधार पर); (3) किसी लेखक की उन कृतियों को भी छोड़ दिया जाना चाहिये जो अलग शैली में लिखी गयीं हैं तथा जिनमें ऐसे शब्दों और अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल किया गया है जो उस लेखक के लेखन में नहीं खोजी जा सकतीं (यहाँ लेखक को एक शैली विशेष के आधार पर परिभाषित किया जाता है); अंत में, 4) ऐसे अंश जिनमें लेखक की मृत्यु के बाद दिये गये वक्तव्यों को उद्धृत किया गया हो अथवा ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया गया है जो उसकी की मृत्यु के बाद घटित हुई हों निश्चित ही क्षेपक मानी जानीं चाहिएँ (यहाँ लेखक को ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में देखा जाता है जो कुछ घटनाओं के संधि-क्षण पर खड़ा है)।

जैसाकि अब सामान्य चलन हो गया है, आधुनिक साहित्यिक आलोचना अभी भी लेखक की परिभाषा उसी तरह करती है, और ऐसा तब भी जब प्रमाणीकरण इसकी चिंता है ही नहीं। यही नहीं उसके लेखन में मौजूद कुछ घटनाओं की व्याख्या के लिये आज भी लेखक का ही

सहारा लिया जाता हैं बल्कि उन घटनाओं के रूपांतरणों, विरूपणों और तमाम तरह के संशोधनों को भी उसकी जीवनी, उसके व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्यों के निर्धारण, उसकी सामाजिक स्थिति के विश्लेषण और उसके बुनियादी आशयों की खोज के आधार पर व्याख्यायित किया जाता है। लेखन की ऐक्यता के लिये भी लेखक ही प्रधान संदर्भ के रूप में सामने कर दिया जाता है। सारी भिन्नताओं को, कम से कम, आंशिक रूप से विकास, वयस्कता अथवा प्रभाव के आधार पर सुलझा लिया जाता है। लेखक का इस्तेमाल उन अंतर्विरोधों के तटस्थीकरण के लिये भी कर लिया जाता है जो पाठों की शृंखला में सामने आ सकते हैं : ऐसा मान लिया जाता है कि कोई ऐसा बिंदु अवश्य ही होगा—उसकी सोच अथवा इच्छा के स्तर पर, उसकी चेतना अथवा अचेतन के स्तर पर—जहाँ अंतर्विरोध शमित हो जाते हैं, जहाँ असंयोज्य तत्त्व कम से कम एक साथ गुँथ जाते हैं अथवा किसी मूल अथवा उद्‌भावी अंतर्विरोध में व्यवस्थित हो जाते हैं। और अंतिम बात यह कि लेखक एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का स्रोत माना जाता है जो कमोबेश अपने पूर्ण रूप में समान रूप से और पूरी वैधता के साथ उसके द्वारा रचित रेखचित्रों, पत्रों, आधे-अधूरे प्रारूपों में पूरी आभा के साथ प्रकट होते हैं। स्पष्ट है कि सेण्ट जेरोम द्वारा प्रस्तुत प्रामाणिकता की चारों कसौटियाँ (ऐसी कसौटियाँ जो आज के व्याख्याकारों के लिये पूर्णतया अपर्याप्त हैं) उन विधियों को परिभाषित करती हैं जिनके आधार पर आधुनिक आलोचना लेखक-प्रकार्य को व्यक्त करती है।

लेकिन लेखक-प्रकार्य कोई ऐसा शुद्ध और सरल पुनर्निर्मिति नहीं है जो निष्क्रिय पदार्थ के रूप में उपलब्ध किसी पुराने पाठ से तैयार किया गया हो। पाठ में लेखक को संदर्भित करने वाले अनेक संकेत होते हैं। वैयाकरणों के सुपरिचित ये संकेत व्यक्तिवाचक सर्वनाम, समय और स्थान के क्रियाविशेषण तथा क्रियारूप लेखन-प्रकार्य से युक्त विमर्शों वही भूमिका नहीं सम्पन्न करते जो वे उन विमर्शों में सम्पन्न करते हैं जिनमे लेखन-प्रकार्य इंगित नहीं होता। इन संकेतों से रिक्त विमर्शों में ये 'परिवर्तक' यथार्थ वक्ता तथा उसके विमर्श के स्थानिक-कालिक समकक्षों का संदर्भ देते हैं (हालाँकि कुछ संशोधन भी हो सकते हैं, जैसे विमर्शों को उत्तम पुरुष सर्वनाम द्वारा कथन मानना)। विमर्शों की पहली कोटि में उनकी भूमिका काफी जटिल और पविर्तनीय होती है। यह सर्व विदित है कि उत्तम पुरुष सर्वनाम द्वारा आख्यायित किसी उपन्यास में न तो उत्तम पुरुष सर्वनाम और न ही वर्तमान काल का संकेतक ठीक-ठीक लेखक को संदर्भित करते हैं या लेखन के समय को संदर्भित करते हैं, बल्कि वे किसी ऐसे अंतरंग मित्र को संदर्भित करते हैं जिसकी लेखक से दूरी लेखन के क्रम में प्रायः बदलती रहती है। लेखक को किसी यथार्थ के समकक्ष मानना उतना ही भ्रामक और त्रुटिपूर्ण होगा जितना कि उसे कथात्मक वक्ता के समकक्ष मानना; लेखक-प्रकार्य इस विभाजन और अंतराल के भीतर सम्पन्न और प्रचालित होता है।

किसी को यह आपत्ति हो सकती है कि यह किसी काव्यात्मक अथवा औपन्यासिक विमर्श अथवा किसी क्रीड़ा का लक्षण हो सकता है जिनमें केवल 'अर्द्ध-विमर्श' ही शामिल होता है। वास्तव में इस बात के बावजूद भी, लेखन-प्रकार्य से युक्त सभी विमर्शों में स्व की यह बहुलता मौजूद होती है। किसी गणित पर लिखित ग्रंथ के प्राक्कथन में वक्तव्य देने वाला स्व—और यह उस ग्रंथ की रचना की स्थितियों का संकेत देता है—न तो अपनी अवस्थितियों में और न ही अपनी कार्य पद्धति में उस स्व के समान होता है जो किसी प्रस्तुति के क्रम में बोलता है, जो 'मेरा निष्कर्ष है' अथवा 'मैं समझता हूँ' के रूप में सामने आता है। पहले उदाहरण में 'मैं' बिना किसी समकक्ष वाले व्यक्ति को संदर्भित करता है जिसने किसी नियत समय अथवा

स्थान पर किसी कार्यभार को सम्पन्न किया; दूसरे उदाहरण में 'मैं' किसी प्रस्तुति और उसके स्तर का संकेत करता है जो कोई भी व्यक्ति निष्पन्न कर सकता था, बशर्ते कि उसने प्रतीकों, सूत्रों, पूर्व प्रस्तुतियों के अनुक्रम को स्वीकार कर लिया होता। उसी ग्रंथ में हम एक तीसरे स्व को भी खोज सकते हैं जो ग्रंथ की अर्थवत्ता, इसकी रचना के क्रम में आने वाली कठिनाइयों, ग्रंथ की उपलब्धियों तथा इसकी रचना के बाद की बची हुई समस्याओं को बतलाने के लिये बोलता है:; यह स्व-अस्तित्वमान और भावी गणितीय विमर्शों के क्षेत्र में स्थित होता है। उपर्युक्त में से पहले स्व द्वारा उन शेष बचे दो स्व की कीमत पर लेखक-प्रकार्य को नहीं मान लिया जाता क्योंकि ऐसा मान लिये जाने के बाद शेष दोनों स्व पहले स्व की किन्हीं काल्पनिक टूटनों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जायेंगे। इसके विपरीत, इन विमर्शों में लेखक-प्रकार्य इस तरह प्रचालित होता है ताकि एक ही समय घटित होने वाले ये तीनों स्व बिखर जाएँ।

इसमें संदेह नहीं कि विश्लेषण के माध्यम से लेखक-प्रकार्य के और अधिक लक्षणों को खोजा जा सकता है। लेकिन मैं अपने को इन्हीं चारों तक ही सीमित रखूँगा क्योंकि ये एक तो अधिक दिखायी देते हैं और दूसरे ये सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें निम्नलिखित तरीके से सारांशित किया जा सकता है: 1) लेखक प्रकार्य उस न्यायिक और संस्थानिक व्यवस्था से जुड़े होते हैं जो विमर्शों की व्याप्ति निर्धारित करते हैं; 2) सभी प्रकार की सभ्यताओं में सभी विमर्शों को लेखक-प्रकार्य हमेशा एक ही प्रकार से नहीं प्रभावित करता है; 3) लेखक-प्रकार्य किसी विमर्श को उसके उत्पादक के नाम के साथ स्वाभाविक रूप से जोड़े जाने के द्वारा नहीं परिभाषित होता बल्कि यह परिभाषित होता है सुनिश्चित और जटिल प्रचालनों की किसी शृंखला द्वारा; और 4) यह किसी शुद्ध ओर सहज रूप से किसी व्यक्ति को नहीं संदर्भित करता क्योंकि यह एक ही समय अनेक स्व, अनेक कर्ताओं को नहीं संदर्भित करता - ऐसी अवस्थितियाँ जिन्हें व्यक्तियों के अलग-अलग वर्ग अधिकृत कर सकते हैं।

यहाँ तक मैंने अन्यायपूर्वक इस विषय को सीमित रखा है। निश्चित ही चित्रकला, संगीत तथा अन्य कलाओं में लेखक-प्रकार्य पर बात की जानी चाहिये थी लेकिन मान लीजिये कि हम अपने को विमर्श की दुनिया तक ही सीमित रखते, जैसाकि मैं करना चाहता हूँ, तो ऐसा लगता कि मैंने 'लेखक' पद को बहुत ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया है। मैंने लेखक को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे किसी पाठ, किसी पुस्तक अथवा किसी कृति के उत्पादक के रूप में विधिसम्मत तरीके से अभिहित किया जा सकता है। यहाँ यह आसानी से देखा जा सकता है कि विमर्श के क्षेत्र में कोई व्यक्ति किसी एक पुस्तक से अधिक का लेखक हो सकता है—वह किसी सैद्धांतिकी, किसी परंपरा अथवा किसी अनुशासन का लेखक हो सकता है जिसमें अपनी बारी आने पर अन्य लेखक भी जगह पा सकते हैं। ये लेखक ऐसी अवस्थिति में होते हैं जिसे हम 'विमर्शोपरि' की संज्ञा दे सकते हैं। यह एक लगातार घटित होने वाली परिघटना है जो हमारी सभ्यता जितनी ही पुरानी है। होमर, अरस्तू तथा चर्च के पुरोहितों के साथ ही पहला गणितज्ञ और हिपोक्रेटिक परंपरा के उन्नायक—इन सभी की भूमिका रही है।

इसके अतिरिक्त, उन्नीसवीं सदी के दौरान योरोप में एक अन्य, किंचित अपरिचित किस्म के लेखक का उदय हुआ जिसे हम न तो 'महान' साहित्यिक लेखकों की, न ही धार्मिक पाठों के लेखको की कोटि में रखने की गलती करें। इस नये किस्म के लेखक को हम विज्ञान के संस्थापकों की भी कोटि में न रखें। हम उन्हें किंचित मनमाने ढंग से इस नई कोटि के लेखकों को 'विमर्शात्मकता के संस्थापक' कह सकते हैं। ये लेखक इस अर्थ में अनूठे हैं कि वे अपनी

ही पुस्तकों के लेखक भर नहीं, उन्होंने कुछ और भी उत्पादित किया है—उन्होंने ऐसी परिपाटियाँ और संभावनाएँ पैदा की हैं जिनसे अन्य पाठों का जन्म संभव हुआ है। ये लेखक, उदाहरण के लिये, किसी उपन्यासकार से भिन्न हैं जो अपने पाठों का लेखक होने के अलावा कुछ भी नहीं है। फ्रायड *दि इण्टरप्रिटेशन ऑव ड्रीम्स* अथवा *जोक्स ऐण्ड दियर रिलेशन टु दि अनकांशस* के लेखक भर ही नहीं हैं; मार्क्स *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* अथवा *कैपिटल* के लेखक भर ही नहीं हैं : इन्होंने विमर्श की अंतहीन संभावनाओं का रास्ता खोल दिया है।

स्पष्ट है कि आपत्ति करना आसान है। कोई यह कह सकता है कि यह सच नहीं है कि किसी उपन्यास का लेखक केवल अपने पाठों का ही लेखक होते है; एक अर्थ में वह भी अपने उपन्यास के लेखक होने के अतिरिक्त भी सम्मान का अधिकारी होता है और पाता है, बशर्ते वह एक 'महत्त्वपूर्ण' रचनाकार के रूप में अपने को स्थापित कर ले। हम एक साधारण उदाहरण ले सकते हैं। कहा जा सकता है कि एनी रैडक्लिफ (17वीं-18वीं सदी की अंग्रेज़ी उपन्यासकार) ने *द कासल ऑव अथलिन एण्ड डनइायेन* और अन्य अनेक उपन्यासों का लेखन ही नहीं किया बल्कि उन्होंने उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में गोथिक उपन्यासों के उदय की संभावना का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया; इस अर्थ में उनका लेखन-प्रकार्य उनके अपने लेखन का अतिरेक कर जाता है। लेकिन इस आपत्ति का उत्तर दिया जा सकता है। विमर्शात्मकता के इन संस्थापकों ने (मैं फ्रायड और मार्क्स को इस संदर्भ में उदाहरणीय मानता हूँ क्योंकि वे इस प्रवृत्ति के प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं) कुछ ऐसी चीज को संभव बना दिया जो किसी उपन्यासकार द्वारा संभव बनाये जाने वाली चीज से एकदम अलग है। एनी रैडक्लिफ के पाठों ने कुछ ऐसी समानताओं और सादृश्यताओं का द्वारा खेल दिया जिनके समरूप अथवा सिद्धांत उनके उपन्यासों में मौजूद हैं। उनके उपन्यासों में ऐसे चारित्रिक संकेत, रूप, संबंध तथा संरचनाएँ हैं जिन्हें दूसरे लोग दुबारा इस्तेमाल कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहना कि एनी रैडक्लिफ गोथिक उपन्यास विधा की संस्थापक हैं, इसका मतलब है कि उन्नीसवीं सदी के गोथिक उपन्यासों में इस तरह के चरित्र और स्थान मिल सकते हैं : अपनी मासूमियत के ही फंदे में फँसी नायिका, तिलस्मी किला, अभिशप्त अश्वेत नायक जो उन अन्यायों के लिये दुनिया को पश्चाताप करने के लिये बाध्य करने में डटा हुआ है जो अश्वेत होने के कारण उसे स्वयं भुगतना पड़ा है।

दूसरी ओर, जब मैं फ्रायड और मार्क्स की बात विमर्शात्मकता के संस्थापकों के रूप में करता हूँ तब मेरा आशय यह भर नहीं होता है कि उन्होंने कुछ सादृश्यताओं को संभव बनाया, बल्कि यह भी होता है कि उन्होंने (और यह उतना ही महत्पूर्ण है) कुछ भिन्नताओं को भी संभव बनाया। उन्होंने विमर्श से अलग किसी अन्य चीज के लिये संभावना को जन्म दिया जो उस चीज से ही जुड़ी हुई है जिसकी आधारशिला उन्होंने रखी थी। कहने का मतलब यह कि फ्रायड ने मनोविश्लेषण की स्थापना की केवल यही नहीं होता कि हम लिबिडो की अवधारणा अथवा स्वप्न विश्लेषण की तकनीक कार्ल अब्राहम अथवा मेलानी क्लीन के लेखन में पाते है; इसका मतलब होता है कि फ्रायड ने कुछ विचलनों को भी संभव बनाया—उनके अपने पाठों, अवधारणाओं अथवा संकल्पनाओं से विचलन—जो सब के सब उनके मनोविश्लेषणात्मक विमर्श के ही विचलन हैं।

इससे लेकिन एक नई कठिनाई का जन्म होता प्रतीत होता है; क्या सब कुछ के बावजूद उपर्युक्त बात विज्ञान के किसी ऐसे संस्थापक अथवा किसी भी लेखक के लिये सच नहीं है जिसने विज्ञान के क्षेत्र में किसी महत्त्वपूर्ण रूपांतरण की नींव रखी हो? अंततः गैलेलियो ने

ऐसे विमर्शों को ही संभव नहीं बनाया जिनमें उन्हीं के नियमों को दुहराया गया है बल्कि ऐसे कथनों और वक्तव्यों को भी संभव बनाया जो गलेलियों के कथनो और वक्तव्यों से बिल्कुल भिन्न हैं। अगर कूविए जीवविज्ञान के संस्थापक हैं अथवा सश्योर भाषा विज्ञान के, तो इसलिये नहीं कि उनका अनुकरण किया जाता है, अथवा इसलिये नहीं कि लोगों ने अवयवी अथवा संकेत की अवधारणा को अपना लिया है; बल्कि इसलिये कि कूविए ने एक सीमा तक विकास के ऐसे सिद्धांत को संभव बना दिया जो उनके अपने ही स्थिरवाद के पूर्णतयाः विरुद्ध है; इसलिये क्योंकि सश्योर ने एक ऐसे उत्पादी व्याकरण को संभव बना दिया जो उनके अपने संरचनावादी विश्लेषणों से पूरी तरह भिन्न है। ऊपरी तौर पर विमर्शात्मक अभ्यासों का प्रारंभ किसी वैज्ञानिक उपक्रम की संस्थापना जैसा ही लगता है।

फिर भी एक अंतर है और यह अंतर खास है। विज्ञान के मामले में इसकी संस्थापना करने वाला कर्म कुछ अर्थों में भविष्य में होने वाले उन रूपांतरणों के अनुक्रम का एक अंश बन जाता है जिन्हें यह संभव बनाता है। किसी विज्ञान के भावी विकास में संस्थापन कर्म किसी ऐसी परिघटना के घटित होने के एक उदाहरण जैसा ही लग सकता है जो इस प्रक्रिया के क्रम में अपने को खोलती है। यह भी हो सकता है कि यह किसी अंतःबोध तथा अनुभवपरक पक्षपात से दूषित हो जाय; तब हमारे लिये इसका पुनर्सूत्रीकरण करना जरूरी हो जाता है और इस क्रम में हमें इसे कुछ ऐसे पूरक सैद्धांतिक प्रचलनों की वस्तु बनाना पड़ेगा जो इसे और अधिक दृढ़ता से स्थापित करते हैं और अंततः, यह जल्दी में किया सामन्यीकरण लग सकता है जिसे सीमित करना जरूरी होता है और जिसके सीमित वैधता-क्षेत्र के पुनरेखांकन की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान के संस्थापन-कर्म को उन रूपांतरणों की मशीनरी में पुनः प्रविष्ट कराया जाना चाहिये जो इससे निःसृत होते हैं।

इसकी तुलना में विमर्शात्मक अभ्यासों का प्रारंभ अपने बाद के रूपांतरणों का विषमाँगी होता है। जिस रूप में फ्रायड ने मनोविशलेषण का विस्तार किया, उस रूप में किसी विमर्शात्मकता के किसी रूप का विस्तार करना इसे किसी ऐसी रूपात्मक सामन्यता प्रदान करना नहीं होता जिसकी छूट प्रारंभ में इसने न दी होती। वास्तव में इसका मतलब होता है इसे कुछ संभव प्रयोगों के लिये खोल देना। मनोविश्लेषण को एक खास कोटि की विमर्शात्मकता के रूप में सीमित करना सचमुच ऐसा प्रयास करना है जिसके फलस्वरूप संस्थापन कर्म में ऐसे कथनों अथवा प्रस्तावनाओं की सीमित संख्या को अलग करना है केवल जिन्हें ही कोई संस्थापन मूल्य प्रदान करता है और जिनके संबंध में फ्रायड द्वारा स्वीकृत कुछ विशेष अवधारणाएँ और सिद्धांत ही निःसृत, द्वितीय कोटि के और सहायक माने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, इन संस्थापकों के लेखन में मौजूद कुछ प्रस्तावनाओं को कोई झूठा नहीं घोषित करता; इसकी बजाय संस्थापन कर्म ग्रहण करने के क्रम में, हम ऐसे वक्तव्यों को परे हटा देते हैं जो या तो इसलिये अनुकूल नहीं होते क्योंकि वे उन प्रस्तावनाओं से तत्वतः सम्बद्ध नहीं होते अथवा वे 'प्राक्ऐतिहासिक' होते हैं और किसी अन्य प्रकार की विमर्शात्मकता से निःसृत होते हैं। दूसरे शब्दों में, विज्ञान की संस्थापना के भिन्न, किसी विमर्शात्मक अभ्यास का प्रारंभ भविष्य में घटित होने वाले अपने रूपांतरणों में सहभागी नहीं होता।

परिणामस्वरूप, किसी प्रस्तावना की सैद्धांतिक वैधता की परिभाषा संस्थापकों के काम के संदर्भ में की जाती है—जबकि गलेलियो और न्यूटन के मामले में यह (अपनी आंतरिक संरचना और 'मानकता' में) उस भौतिकी और ब्रह्माण्ड विज्ञान का यथार्थ स्वरूप होता है जिसके कारण कोई किसी भी ऐसी प्रस्तावना की वैधता को प्रमाण मान लेता है जिसे उन लोगों ने

प्रस्तावित किया रहा होगा। हम इसे और अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार कह सकते हैं : विमर्शात्मकताओं के पुरस्कर्ताओं का कार्य उस क्षेत्र में स्थित नहीं होता जिसे विज्ञान परिभाषित करता है; इसकी बजाय, यह उस विज्ञान अथवा विमर्शात्मकता में स्थित होता हैं जो उनके कार्यों को प्रारंभिक निर्देशांकों के रूप में संदर्भित करते हैं।

इस तरह हम विमर्शात्मकता के इन क्षेत्रों के भीतर 'जड़ों की ओर 'वापसी' की अपरिहार्य आवश्यकता को समझ सकते हैं। यह वापसी, जो कि स्वयं विमर्शात्मक क्षेत्र का अंग है, अपने को बदलना कभी रोकती नहीं। यह वापसी कोई ऐसा ऐतिहासिक पूरक अथवा अलंकरण नहीं है जिसे विमर्शात्मकता में जोड़ दिया जायेगा; इसके विपरीत, यह विमर्शात्मक अभ्यास को ही रूपांतरित करने वाले प्रभावी एवं आवश्यक कार्यभार को निर्मित करती है। गैलेलियो के पाठ की पुनर्परीक्षा मेकैनिक्स के इतिहास की हमारी पूरी समझ बदल सकती है लेकिन स्वयं मेकैनिक्स को बदलने में यह कभी भी समर्थ नहीं हो सकती। दूसरी ओर, फ्रायड के पाठों की पुनर्परीक्षा मनोविश्लेषण को बदल देगी, ठीक वैसे ही जैसे मार्क्स के पाठों की पुनर्परीक्षा मार्क्सवाद की पूरी दिशा ही बदल देगी।

विमर्शात्मक अभ्यासों के प्रारंभ के विषय में मैने जो कुछ अब तक कहा है, वह वास्तव में काफी संक्षिप्त है; यह बात खास तौर पर सही है विमर्शात्मक प्रारंभ और वैज्ञानिक संस्थापना के बीच विरोध के बारे में जिसकी ओर संकेत करने का प्रयास मैंने किया हैं। दोनों के बीच अंतर करना हमेशा कठिन होता है; इसके अतिरिक्त; कुछ भी ऐसा नहीं होता जो दोनों प्रक्रियाओं के बीच किसी प्रकार के ऐकांतिक विरोध को सिद्ध करता हो। मैंने दोनों के बीच अंतर दिखाने की कोशिश केवल यह बताने के लिये किया है कि लेखन-प्रकार्य तब काफी जटिल हो जाता है जब कोई इसे किसी ऐसी पुस्तक अथवा पाठों की शृंखला में स्थित करना चाहता है जो किसी प्रदत्त हस्ताक्षर से युक्त होती हैं। ऐसे समय लेखन-प्रकार्य में और अधिक नियामन तत्त्व तब शामिल हो जाते हैं जब हम इसे कृतियों के किसी समूह अथवा पूरे अनुशासन जैसे अपेक्षाकृत बड़े प्रवर्गों के पदों में विश्लेषित करने का प्रयास करने लगते हैं।

निष्कर्ष रूप में मैं उन कारणों की समीक्षा करना चाहूँगा जिनके चलते मैंने जो कुछ कहा है, उसे कुछ विशेष महत्त्व देता हूँ।

पहला यह कि इसके कुछ सैद्धांतिक कारण हैं। एक ओर, जिस दिशा की ओर मैंने संकेत किया है, उसमें किया गया कोई विश्लेषण विमर्श के प्रारूप-वर्गीकरण के लिये कोई रास्ता उपलब्ध करा सकता है। कम से कम पहली निगाह में मुझे ऐसा लगता है कि इस प्रकार का प्रारूप-वर्गीकरण केवल व्याकारणिक लक्षणों, रूपात्मक संरचनाओं और विमर्श के उद्देश्यों के ही आधार पर नहीं बनाया जा सकता; अधिक संभव है कि विमर्श के लिये कुछ विशिष्ट गुण-धर्म और संबंध होते हैं जिन्हें व्याकरण और तर्क के नियमों में न्यून नहीं किया जा सकता और किसी व्यक्ति को विमर्श के प्रमुख प्रवर्गों को एक दूसरे से अलग करने के लिये इनका इस्तेमाल अवश्य करना चाहिये। किसी लेखक से संबंध (अथवा संबंध का अभाव) और इस संबंध के अलग-अलग रूप बिल्कुल दिखायी पड़ने वाले तरीके से इन विमर्शात्मक गुण-धर्मों में से किसी एक की निर्मिति करते हैं।

दूसरी ओर, मेरा यह विश्वास है कि इस बिंदु पर किसी को विमर्श के ऐतिहासिक विश्लेषण का परिचय मिल सकता है। शायद समय है कि विमर्शों का अध्ययन केवल उनके अभिव्यक्तिपरक मूल्य अथवा रूप संबंधी रूपांतरणों के ही पदों न करके उनके अस्तित्वमान रहने की विधियों के अनुसार किया जाय। विमर्श के संचरण, मूल्यकरण, आरोपण तथा विनियोजन की विधियाँ

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न होती हैं और प्रत्येक संस्कृति में उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में परिवर्तन भी भिन्न होते हैं। सामाजिक संबंधों के अनुसार उनकी अभिव्यक्ति के तरीकों को लेखन-प्रकार्य की क्रिया में और इसके बदलावों में आसानी से से देखा जा सकता है, न कि उन विषयों अथवा अवधारणाओं में जिन्हें विमर्श क्रियान्वित कर देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस तरह के विश्लेषणों के माध्यम से कोई भी कर्त्ता अर्थात् लेखक को दी जाने वाली प्रतिष्ठाओं पर फिर से निगाह डाल सकता है। मैं मानता हूँ कि यदि किसी कृति की (चाहे वह साहित्यिक रचना हो, कोई दार्शनिक पद्धति हो अथवा कोई वैज्ञानिक ग्रंथ हो) अंतःनिर्मिति या शिल्पगत विश्लेषणों का सहारा लेते हुए और साथ ही जीवनीपरक अथवा मनोवैज्ञानिक संदर्भों को दरकिनार करते हुए पुनर्परीक्षा करने का उपक्रम करता है तो वह इसके माध्यम से पहले ही कर्त्ता की निरपेक्ष भूमिका तथा संस्थापन की उसकी प्रतिष्ठा पर सवाल उठा रहा होता है। फिर भी, शायद उसे सवाल की ओर लौटना चाहिये, इसलिए नहीं कि उसे किसी प्रारंभकर्ता की विषयवस्तु को पुनः आधार देना है बल्कि कर्ता के प्रवेश के बिंदु को जानने के लिये, इसके क्रियाकलाप की विधि जानने के लिये तथा निर्भरताओं के क्रम को जानने के लिये। यह सब करने का मतलब होता है पारंपरिक समस्या को उलटना। इसका मतलब होता है अब इस सवाल को न उठाना कि 'कैसे एक मुक्त कर्त्ता चीजों के अंतःतत्व को वेध कर इसे अर्थ प्रदान करता है? कैसे वह किसी भाषा के नियमों को भीतर से क्रियाशील करता है और इस प्रकार उन आशयों को जन्म देता है जो समुचित रूप से इसके (कर्त्ता के) अपने ही आशय होते हैं?' इन सवालों की बजाय ये सवाल उठाये जायेंगेः कैसे, किन स्थितियों में तथा किस रूप में कर्त्ता जैसी किसी चीज विमर्श के क्रम में उदय हो सकती है? विमर्श की प्रत्येक कोटि में यह कर्त्ता किस स्थान का अधिकारी हो सकता है, कौन सा प्रकार्य यह संपन्न कर सकता है और किन नियमों का पालन करते हुए? संक्षेप में, प्रश्न होता है कर्त्ता अथवा इसके स्थानापन्न को इसके उद्भवकर्ता की भूमिका से वंचित रखना और कर्त्ता को विमर्श के एक परिवर्तनीय और जटिल प्रकार्य के रूप में विश्लेषित करना।

दूसरा, कर्त्ता की 'विचारधारात्मक' अवस्थिति की व्याख्या के पीछे कारण होते हैं। ऐसे में प्रश्न यह उठता है : उस विशाल संकट, विशाल खतरे को कम कैसे किया जाय जिसके माध्यम से कथा हमारी दुनिया को धमकाती है? इसका उत्तर है : हम इसे लेखक नामक हथियार की सहायता से कम कर सकते हैं। लेखक उस दुनिया के भीतर संकेतकरण के उस मारक और खतरनाक फैलाव को सीमित करने का रास्ता खोल देता है जहाँ कोई व्यक्ति अपने संसाधनों और संपत्तियों के विषय में ही नहीं कंजूसी बरतता है अपितु अपने विमर्शों और संकेतकरणों के साथ भी करता है। अर्थ के फैलाव के संदर्भ में लेखक कंजूसी का सिद्धांत होता है। परिणामतः, हमें निश्चित ही लेखक की पारंपरिक मान्यता को उलट देना चाहिये। जैसाकि हम कह चुके हैं, हम यह कहने के आदी हो गये हैं कि लेखक उस कृति का जैविक प्रारंभकर्ता है जिसमें वह अपने असीमित संसाधन और उदारता के साथ संकेतनो की एक अव्यय दुनिया जमा कर देता है। हम ऐसा सोचने के आदी हो गये हैं कि लेखक अन्य सभी मनुष्यों से इतना भिन्न और सभी भाषाओं के संदर्भ में इतना अतींद्रिय होता है कि जैसे ही वह बोलना शुरू करता है, अर्थों की संख्या बढ़ने लगती है और अनंत काल तक बढ़ती चली जाती है।

वास्तविकता इसके विपरीत है। लेखक उन संकेतकरणों का अनंत स्रोत नहीं है जो किसी कृति को भरते हैं; लेखक कृतियों का पूर्ववर्ती नहीं होता, वह एक प्रकार का प्रकार्यगत सिद्धांत होता है जिसके माध्यम से, हमारी संस्कृति में, कोई सीमित और बहिष्कृत चुनाव करता है;

संक्षेप में, जिसके माध्यम से कोई कथा के मुक्त संचरण, उसके मुक्त परिचालन, मुक्त संघटन, विखराव, और पुनर्संघटन को नियंत्रित करता है। वास्तव में, यदि हम लेखक को प्रतिभा-पुंज के रूप में, आविष्कार के निरंतर अग्रगामी प्रवाह के वाहक के रूप में प्रस्तुत करने के आदी हो गये हैं, तो यथार्थतः हम इस बात के आग्रही हैं कि वह अपनी छवि के ठीक विपरीत काम करे। कोई कह सकता है कि लेखक एक विचारधारात्मक उत्पाद होता है, क्योंकि हम उसे अपने यथार्थ ऐतिहासिक प्रकार्य के विपरीत काम करने वाले के रूप में प्रस्तुत करते हैं। (जब किसी ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त प्रकार्य का प्रतिनिधित्व किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाता है जो इसे उलट देता है, तब हमें एक विचारधारात्मक उत्पाद मिलता है।) इस प्रकार लेखक वह विचारधारात्मक व्यक्ति होता है जिसके माध्यम से कोई उस विधि को लक्षित करता है जिसमें हमें अर्थ की प्रचुरता का भय होता है।

यह सब कुछ कहने से ऐसा लग सकता है कि मैं किसी ऐसी संस्कृति का आह्वान कर रहा हूँ जिसमें काल्पनिकता पूरी उन्मुक्तता से प्रचालित होगी और किसी लेखक के नियंत्रण से सीमित नहीं होगी। लेकिन किसी ऐसी संस्कृति की अवधारणा करना शुद्ध कपोलकल्पना होगी जिसमें काल्पनिकता सभी को सुलभ होगी और जिसका विकास किसी अपेक्षित अथवा अनुशासी चित्र अर्थात् लेखक से गुजरते हुए नहीं होगा। यद्यपि अठारहवीं सदी से लेखक काल्पनिकता के नियामक की भूमिका का निर्वहन करता आ रहा है, एक ऐसी भूमिका जो हमारे औद्योगिक और मध्यवर्गीय, व्यक्तिवाद और निजी सम्पत्ति वाले समाज का पारिभाषिक लक्षण रही है, तो भी वर्तमान समय में घटित हो रहे ऐतिहासिक बदलावों के मद्देनजर यह आवश्यक नहीं प्रतीत होता कि लेखन-प्रकार्य अपने रूप, अपनी जटिलता, और अपने अस्तित्व में ज्यों का त्यों बना रहे। मैं समझता हूँ कि जिस क्रम में हमारा समाज बदल रहा है, जिस क्रम में यह बदलाव की प्रक्रिया से गुजर रहा है, उसी क्रम में लेखन-प्रकार्य लुप्त हो जायेगा और इस प्रकार लुप्त हो जायेगा कि काल्पनिकता और उसके बहुलार्थी पाठ एक बार फिर एक नई विधि के अनुसार अपना प्रकार्य करने लगेंगे लेकिन तब भी अनुशासन की एक पद्धति के अधीन - एक ऐसी पद्धति जिसका नाम अब लेखक नहीं होगा लेकिन जिसे निर्धारित अवश्य किया जायेगा और शायद अनुभव भी।

सभी विमर्श, उनका स्थान, रूप, मूल्य जो भी हो और उन्हें जिस भी व्यवहार के अधीन रखा जाय, किसी गुनगुनाहट की अनामता में विकसित होंगे। अब हम उन प्रश्नों को कभी नहीं सुनेंगे जिन्हें इतने समय से दुहराया जाता रहा हैः 'सचमुच कौन बोला? क्या यह उसी की आवाज है या किसी और की? किस प्रामाणिकता और मौलिकता के साथ? और अपने गहनतम स्व के किस अंश को उसने अपने विमर्श में व्यक्त किया?' इनकी जगह कुछ नये प्रश्न ले लेंगे : इस विमर्श के अस्तित्व के रूप क्या हैं? इसे कहाँ प्रयुक्त किया गया है, इसका संचरण कैसे होगा, और कौन इसे अपने लिये विनियोजित कर सकता है? इनमें ऐसे स्थान कहाँ हैं जहाँ संभावित कर्त्ताओं के लिये स्थान हो सकता है? कौन इन अनेक कर्त्ता-प्रकार्यों को ग्रहण करेगा?' और इन सारे प्रश्नों के पीछे हम किसी उदासी की कुनमुनाहट के अलावा शायद ही कुछ और सुनेंगे : 'इससे क्या फर्क पड़ता है कि कौन बोल रहा है?'

संपर्क : 27, कोसलेश नगर, सुंदरपुर, वाराणसी-221005, मो. : 9451585423

लम्बी कहानी

टूटन...

उस्मान ख़ान

मैं जागा था...

मैं ठंड लगने या रेल गुज़रने की आवाज़ से जागा था, पता नहीं। मेरा पहला अहसास शरीर टूटने का था। मैं आँखें नहीं खोल पा रहा था कि अचानक मेरे पेट से उबकाई का एक गुबार उठा, पर बाहर नहीं आया। मेरे सीने में कुछ चुभा था। एक झटके से मेरी आँखें खुल गई थीं। ठंड तेज़ महसूस होने लगी थी। दूर-दूर रोशनी के गुब्बारे लहराते दिख रहे थे। मुझे दाईं हथेली के पिछले तल पर पानी की बूँदें बहती लगीं। मैंने अपने अकड़े हुए पैरों को सीधा किया। मेरे सीने पर से दौड़ता एक चूहा नाले में कूद गया। मेरे दिमाग़ में झूम थी।

चारों तरफ़ कोहरा छाया हुआ था, पर मुझे यह जगह जानी-पहचानी-सी लग रही थी, जैसे अभी कोई मुझे कम्बल ओढ़ा देगा। मैं फिर लेट गया, पर मैं जागा हुआ था। आँखें बंद होते ही दिमाग़ चालू हो गया था। मेरे दिमाग़ में शब्द छपने लगते हैं, छवियाँ घूमने लगती हैं, ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं—सरसराहटें और सन-सन की आवाज़ें। कोई खटाखट टाईप कर रहा है। कोई आदेश है। पानी की खलबली की आवाज़ें। डरावना पानी। बाढ़ में अकेली बची रह गई एक बुढ़िया के शरीर से उठती दुर्गंध मेरे पेट में उबकाई का एक और गुबार पैदा करती है। मैं बिना आँखें खोले ही मुँह से कड़वा तरल निकल जाने देता हूँ।

दोबारा आँखें खुलीं, तो देखा धुंध छँट रही थी। रोशनी के गुब्बारे धीरे-धीरे बुझ रहे थे। मेरा सिर भन्ना रहा था। आँखें खुलना नहीं चाहती थीं। थोड़ी ही दूर तीन लड़के बोतलें पास में रखकर बैठे हुए थे। वे कभी-कभी हँसकर मेरी तरफ़ देख लेते थे। मेरे सामने हरे पत्तों का जंगल-सा था, फ़िर रेलवे की फ़ेन्स और उसके पीछे ढेर सारी छतें और उन पर टी.वी. छतरियाँ।

ठंड अब भी शरीर को खुलने नहीं दे रही थी। मैंने ज़ोरदार खँखार के साथ थूका। शरीर

अकड़ा हुआ था, और आँखें अभी तक पूरी तरह नहीं खुली थीं। मैं अपनी जेबें टटोलने लगा। शायद सबकुछ ठीक था। जेब में सिगरेट थी। पर मैं यहाँ कैसे पहुँचा। मुझे कुछ याद नहीं आ रहा था। मैं सपने में था। मैं नींद में था। मैं नशे में था। मैं अपने में था। फ़िर क्या हुआ! मैं यहाँ कैसे पहुँचा! मुझे समझ नहीं आ रहा था। मेरा सिर घूम रहा था। आँखें बार-बार बंद हो रही थीं। मैं ख़ुद को छूकर अपने सही-सलामत होने की तसल्ली कर रहा था। मैं देख रहा था, नाले की पाल से गर्दन निकाल-निकाल कर एक चूहा मुझे देख रहा था। फ़िर उसके कुछ और साथी भी आकर मुझे देखने लगे थे। मेरी कमर में तेज़ दर्द था। सिगरेट के दो कश खींचने के बाद ही मैंने आँखों के पास से चिपचिपा पदार्थ हटाया था। मुझे याद आने लगा, रात मैंने ढेर सारे सपने देखे थे। पर कोई भी सपना पूरा याद नहीं आ रहा था। टुकड़े-टुकड़े में कुछ बातें और कुछ दृश्य थे। दिमाग़ अब भी घूम रहा था। मैं नींद से बाहर आने की पुरज़ोर कोशिश कर रहा था। मैंने कुछ लंबी-लंबी साँसे लीं। ठंड जैसे सीने में घुस गई। पेट से उबकाई उठी तो अचानक आँखें खुल गईं। मैंने देखा तीनों लड़के बोतलें उँगली में फँसाए नाले की पाल पर चलते चले जा रहे हैं। मैं हैरत में था। ख़ुद को सँभालता मैं उन लड़कों का अनुसरण करता सड़क पर पहुँचा था। पुलिया के दोनों और दुकाने खुलने लगी थीं। मुझे अभी भी आँखें खोलने में तकलीफ़ हो रही थी, लेकिन मैं आते-जाते वाहनों को देख रहा था। मुझे लग रहा था, मैं कहीं और आ गया हूँ। या मैं कुछ और हो गया हूँ।

मैंने एक बार और ज़ोरदार खँखार के साथ थूका। मेरी गर्दन में दर्द था। मुझे लगने लगा हर कोई मुझे ही देख रहा है, मैं गर्दन घुमाकर दर्द दूर करने की कोशिश कर रहा था। मैं इस जगह को पहचानता हूँ। चाय की दूकान देखकर मेरे पाँव ख़ुद-ब-ख़ुद वहाँ पहुँच गए। मैं पहचान गया। चायवाला भी मुझे पहचान गया। मेरी हालत देखकर उसे अजीब लगा, पर वह कुछ बोला नहीं। वह पहले भी मुझे ऐसी हालत में देख चुका है। मैंने हाथ-मुँह धोए। मेरा दिमाग़ अब स्थिर हो रहा था। मुझे लगा मैं अब जागा हूँ।

मैं काँप रहा था। मैंने पर्स निकालकर देखा। तीन पाँच सौ, एक दो सौ और दो बीस-बीस के नोट, वैसे ही सोए हुए, जैसा मैंने उन्हें आखिरी बार देखा था। मैंने एक को जगाया। मैं चाय पीकर, सिगरेट पीने लगा। वाहनों की आवाजाही बढ़ गई थी। मैं सामने कचरे के ढेर के पास हाथ तापते लोगों को देख रहा था। उनमें से एक बैठा-बैठा ही गिर गया। दूसरे ने उसे उठाकर फ़िर बैठाया। वह काँप रहा था। आज भी धूप नहीं निकलने वाली। बस-स्टैंड पर बस रुकी, तो मैं उस ओर दौड़ पड़ा। चायवाला चौंका, मैंने बस में बैठने के बाद देखा, वह हँसता हुआ मेरी ओर हाथ हिला रहा था। वह मेरा मित्र था। मेरे दुःखी दिनों का सच्चा साथी। मुझे विश्वास है, मैं उसे रुपये नहीं भी देता, तो भी वह इसी तरह हँसता। मैं उसका नाम याद करने लगा—हेमन्त...

...बस चलते-चलते ही धूप निकल आई थी। मैं अब भी समझ नहीं पा रहा था, मैं वहाँ कैसे पहुँचा! दिमाग़ में ख़यालों के आवर्त बनने लगे थे। नशा हल्का होने लगा था। मेरे दिमाग़ ने मान लिया कि मैं अपने कमरे से ही निकला था। तलब गला खींच रही थी। मैंने लंबी साँस ली, तो खाँसी उठ खड़ी हुई। मुझे लगा कंडक्टर मेरी ही ओर देख रहा है। मैंने टी-स्टॉल के काँच में देखा था, मेरे कपड़े साफ़-सुथरे थे, और चेहरा धुला हुआ, लेकिन बाल सँवरे हुए नहीं थे। खाँसी रुक नहीं रही थी। बस में चार लोग और चढ़ गए थे, जो भी चढ़ता था, मुझे देखता था। मैंने देखा ड्राईवर भी मुड़कर मेरी ओर देखने लगा। मैं उन सबसे आँखें चुराकर खाँस रहा था। मैं थूक भी नहीं सकता था और बार-बार बलगम मुँह में आता था।

खाँसी रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। मैं उसे दबाने की भरपूर कोशिश कर रहा था। मेरी दाईं पलक पर आँसू की एक बूँद आकर कुछ देर ठहरी रही। मैं लार से गला तर करने की कोशिश कर रहा था। आख़िर मैं अपने गंतव्य से एक स्टॉप पहले ही उतर गया। वे दोनों मुझे ही देख रहे थे।

उतरते ही मैंने दो-तीन बार खँखारकर थूका। अब गला थोड़ा साफ़ लग रहा था। लेकिन गले में बाल महसूस हो रहा था। मैं मुँह में उँगली डाल उसे निकालने का प्रयास करने लगा। अचानक मेरे पेट के अंदर से एक चक्कर उठा। मैं बेतहाशा उलटी करने लगा। बस-स्टैंड के पास एक पेड़ का तना पकड़कर मैं बैठा था—मछली, मैगी, मोमो, चाय, व्हिस्की, रम—कुछ जाने-पहचाने स्वाद याद आ रहे थे। मुँह एकदम कड़वा हो गया था। मैंने देखा सड़क के उस पार बस-स्टैंड पर खड़ा एक लड़का मुझे देख रहा है—और कोई नहीं है—सड़क के दोनों मोड़ों तक कोई नहीं। मैंने कई बार थूककर अपने मुँह का स्वाद ठीक किया। मेरे दिमाग़ ने हल्का महसूस किया। मैंने देखा एक बँगले से दो कारें निकलीं और सन-सन करती हुई सड़क का मोड़ मुड़ गई। गेट पर खड़े गार्ड ने मेरी ओर देखा, तो मैं उठकर खड़ा हो गया और आगे की ओर बढ़ गया। पेट और दिमाग़ को एक साथ राहत मिली थी। सबकुछ जाना-पहचाना महसूस हो रहा था।

दो मोड़ मुड़ने के बाद एक अलाव जलता दिखा। मैं उन लोगों के पास जाकर खड़ा हो गया। पाँवों पर हल्का ताप लग रहा था। उनमें से दो ने मेरी ओर देखा, फ़िर वे बातें करने लगे। मैं दूर से ही ताप लेने की कोशिश कर रहा था, उस गोल में मेरे लिए जगह न थी। दिमाग़ जैसे अब भी पूरी तरह जागा नहीं था, पर बाकी शरीर जाग चुका था और दिमाग़ को जगाने की कोशिश कर रहा था—मोबाइल बजा, तो मुझे लगा मैं इस दुनिया में ही हूँ—

'कहाँ है?'

'इधर!' और मैं इधर-उधर देखने लगा। इस सड़क पर भी कुछ वाहन आने-जाने लगे थे।

'इधर-किधर?' उधर से आवाज़ आई।

'निज़ामुद्दीन!' मैंने यूँ ही कह दिया। एक आदमी मेरी ओर शंकाभरी नज़रों से देखने लगा। मैं दूसरी तरफ़ मुँह करके बात करने लगा। मैंने मोबाइल पर वक़्त देखा—साढ़े सात।

'ये निज़ामुद्दीन नहीं है भैया।' उनमें से एक बोला। मैं भी जानता था, पर चुप रहा।

उनमें से एक बोला—'क्या मियाँजी हो?'

मैंने कहा—'नहीं! मैं दूसरी बात कर रहा था।'

मैं उन लोगों को देख रहा था। मेरा गला सूख रहा था, पर अपनी कँपकँपी मिटाने के लिए मैंने सिगरेट जला ली। फ़िर खाँसी की एक लहर उठी। मैंने सिगरेट फेंक दी। एक फटी शॉल ओढ़कर बैठा बूढ़ा अचानक तैश में आ गया—'निकल जा अब!'। मुझे अजीब लगा। मैं निकल गया। मैंने आँखों के किनारों से देखा, एक ने मेरी फेंकी हुई सिगरेट उठा ली, और पीने लगा। मैं उन लोगों से चिढ़ गया था। मैंने गुस्से में ज़ोर से थूका—वे लोग मेरी ओर देखने लगे। मैं तेज़-कदम अगला मोड़ मुड़ गया।

यहाँ बँगलों की एक और कतार थी। हर गेट पर गार्ड तैनात थे। बँगलों के आस-पास बाग़ीचे थे। फुटपाथ पर भी पेड़ लगे थे। मेरे दिमाग़ में ख़याल घूमने लगे। मैं कहाँ जा रहा हूँ। मैं घर क्यों नहीं जाता। मैं कोई काम क्यों नहीं ढूँढता। यूँ भटकते रहने से क्या होगा। काश, इनमें से कोई बँगला अपना होता। मैं सोचने लगा, अगर किसी दिन मैं कार में बैठकर अप्पा के घर पहुँच जाऊँ तो, अप्पा तो तालियाँ बजाकर नाचने लगेगी। मेरे कानों में अप्पा

की हँसी गूँज गई। मेरी आँखों में हैरान खड़े जीजा की तस्वीर आ गई। मैंने सोचा अगर मैं इस बाग़ीचे का माली होता, तो भी क्या बुरा था। मैंने देखा कुछ लड़के-लड़कियाँ हँसते हुए मेरे सामने से आ रहे हैं। एक लड़की पर मेरी नज़र टिक गई। वह स्नेहा की तरह दिख रही थी। वे मुझे उपेक्षित कर गुज़र गए। आख़िर मैं उन्हें नहीं जानता, और वे मुझे नहीं जानते। लेकिन, स्नेहा की याद आते ही, मुझे उन लड़के-लड़कियों से ईर्ष्या होने लगी। मेरे मन में एक टीस उठी। एक बार ख़याल आया कि मुझे उनके पीछे जाना चाहिए, और उस स्नेहा-जैसी लड़की को एक पत्थर मारकर भाग जाना चाहिए—पर स्नेहा की याद आते ही मेरा दिल बैठने लगा था। मैं गुस्से में दाँत पीसने लगा।

अगले मोड़ पर जाकर मैंने सिगरेट जलाई। वाहनों की आवाजाही अपनी गति पकड़ चुकी थी। सूरज कहीं खो गया था।

मैं बस-स्टैंड के पास जाकर खड़ा हो गया। सागर का फ़ोन आने के साथ ही मेरा आज का कार्यक्रम तय हो गया था। मैं ऑटो का इंतज़ार कर रहा था। सामने वाले बस-स्टैंड पर दो भिखारी मस्ती कर रहे थे। उन्हें ख़ुश देखकर मुझे अच्छा लगा। थोड़ी देर में एक ऑटो रुका—

'रीगल।'

'सत्तर।'

'चल!'

बीच-बीच में हवा की लहरें शरीर में सिहरन पैदा कर रही थी। कँपकँपी दूर करने के लिए मैंने एक सिगरेट जलाई। जलाते ही फ़िर खाँसी उठी। ऑटोवाले ने मुड़कर मेरी ओर देखा। आईने में उसका चिंतातुर चेहरा देख मुझे अच्छा लगा। पता नहीं, पर एक अपनापन उसकी आँखों और मेरी आँखों के बीच फैला हुआ लगा। मैंने सिगरेट फेंक दी। ऑटो जंतर-मंतर के पास से गुज़रा तो मैंने उसे रोकने को कहा। मैं पैदल फूटपाथ पर चलने लगा। मैंने देखा कोहरे का लोगों पर विशेष असर नहीं था। वे धुजते-काँपते भी अपने कामों में लग चुके थे। आना-जाना, बेचना-ख़रीदना सब वैसे ही चल रहा था। मैंने देखा, कुछ बैनर यहाँ-वहाँ लटके हुए हैं। कुछ मंच बने हैं। कुछ तम्बू तने हैं। सबकुछ नियमित था। मैंने सोचा अलग-अलग लोग अपनी-अपनी समस्याओं को लेकर यहाँ बैठे रहते हैं। कैसे-कैसे लोग हैं, कहाँ-कहाँ से आ जाते हैं। कुछ तो सालों से यहाँ हैं। उन्होंने यहीं डेरा डाल लिया है। वे जंतर-मंतर में रह गए हैं। एक समय मैं भी यहाँ आता-जाता रहता था। तरह-तरह की माँगे और तरह-तरह के प्रदर्शन और सारे बेरिकेड्स के पार फ़िर सड़कें! वही लोग, अपने-अपने कामों में व्यस्त। रुपये की धुन पर नाचते-गाते, रोते-गुस्साते, लड़ते-झगड़ते लोग। पशु होते, रोबोट होते, इंसान होते लोग। कैसा जंतर था, कैसा मंतर था!

क्या मेरा जागना एक अंध-विश्वास था?

मैं और सागर शराब की दुकान के सामने कचरे के ढेर के पास खड़ी थैलागाड़ी से कमर लगाए बियर पी रहे थे। उसके एक हाथ में नमकीन की थैली थी। मैं पेशाबख़ाने के पास से निकली गली से आते-जाते लोगों को देख रहा था, हालाँकि थैलागाड़ी के दूसरी ओर बैठे दो अधेड़ तेज़ी से व्हिस्की के पैग खींच रहे थे। सागर मंद-मंद गति से घूँट ले रहा था और मेरे मन में खटका लगा था कि कहीं कोई टोक ना दे। सागर मुझे जल्दी-जल्दी पीते देख ख़ुद भी बड़े-बड़े घूँट लेने लगा। मैंने बोतल खाली कर कचरे के ढेर पर लुढ़का दी। बोतल घुमती हुई एक

सुअरी के स्तनों से टकराकर रुकी—वह चौंककर उठ खड़ी हुई और उसके पीछे-पीछे उसके बच्चे भी एक-एककर कचरे का ढेर पार करने लगे। जब वे थैलागाड़ी के उस ओर से गुज़रे व्हिस्की पीने वालों ने मेरी ओर चिढ़कर देखा। सागर का ध्यान आख़िरी घूँट पर था। उसने बोतल अपने सिर से भी ऊपर उठाई और नारे की तरह कहने लगा—

'जो रूह हो चुकी इक बार दाग़दार मेरी,
तो और होने दे लेकिन शराब पीने दे।'

मैं अचकचा गया था, लेकिन मैंने देखा थैलागाड़ी के उधर से एक ने हाथ उठाकर कहा—'वाह, भाई, वाह!'। मैं भी मुस्कुराने लगा।

सागर यूँ शराब का शौक़ीन नहीं था, उसे चरस की लत थी। हम दोनों पहली बार एक छात्र-संगठन के जुलूस में मिले थे। उस संगठन से पहले वह जुड़ा था, फ़िर मैं। पहले मुझे प्रेम हुआ, फ़िर उसे। पहले उसे काम मिला, फ़िर मुझे। पहले मैंने संगठन छोड़ा, फ़िर उसने। पहले उसका प्रेम-विच्छेद हुआ, फ़िर मेरा। पहले उसने काम छोड़ा, फ़िर मैंने। पहले मैं शराब पीने लगा, फ़िर वह—लेकिन वह जल्द ही शराब से गाँजे और फ़िर चरस की ओर मुड़ गया। हम दोनों की हालत एक-सी थी। हम दोनों के अनुभव एक-से थे। हम दोनों प्यार करना चाहते थे, नौकरी नहीं। कोई काम हमें नहीं भाता था या किसी काम को हम नहीं भाते थे। पिछले कुछ महीनों से हम दोनों इस भाने और ना भाने के सिलसिले से भी बाहर हो गए थे। हम अब कुछ नहीं करना चाहते थे, शायद प्यार भी नहीं। इस बादल भरी सुबह में, सारी हलचलें एक गाढ़े नशे में उतर रही थीं। दिमाग़ में कोई रंग घना हो रहा था। मुझे लगा हम दोनों साथ-साथ भीड़ में डूब रहे हैं और वह रंग ठंडक की तरह वातावरण में फ़ैल रहा है।

सागर को देखता हूँ—चार सालों में वह कितना बदल गया है, फ़िर भी उसकी दिल्लगी वैसी ही है। वह जोश से भरा, कर्मठ नौजवान था। लोगों के बीच, ज्ञान-विज्ञान की चर्चाओं के बीच रहने वाला व्यक्ति। फ़िर उसे प्रेम हुआ और वह अलग होता गया। सभाओं, जुलूसों और बहस-मुबाहिसों से अलग वह मोहिता के साथ था। दोनों जगह-जगह घूमते थे। अपनी तस्वीरें इंटरनेट पर शेयर करते थे। फ़िर उसे एक एनजीओ में काम मिल गया। साल पूरा होते ना होते उसने काम छोड़ दिया। मोहिता दो महीने का कोई कोर्स करने के लिए लंदन गई। उसे वहीं एक लड़के से प्रेम हो गया। धीरे-धीरे दोनों की अनबन हो गई। वह अपने दोस्तों से भी दूर होता गया। कभी ये काम, कभी वो काम करता रहा। कभी यहाँ रहा, कभी वहाँ। कभी इसके साथ, कभी उसके साथ। धीरे-धीरे उसका दिमाग़ शांत हुआ था। उसका मन हल्का हुआ। मैंने उसे तब देखा था। वह अंदर से टूट चुका था। फ़िर कुछ महीने उसकी कोई ख़बर नहीं थी। उसने फ़ोन बंद कर दिया था। कुछ समय मैं भी चिन्तित रहा, फ़िर मैंने सोच लिया कि उसने हिमालय की किसी चोंटी से कूदकर ख़ुदकुशी कर ली है। लेकिन, वह फ़िर प्रकट हो गया।

अभी वह बेरोज़गार है, राहुल के साथ रहता है। फ़िलहाल, मैं भी बेरोज़गार हूँ। मैंने भी तरह-तरह के काम किए हैं। मैं जानता हूँ, रुपया जहाँ से भी आए, अच्छा है। पटना में एक न्यूज़-चैनल में काम कर रहा था, फ़िर दिल्ली लौट आया। मैं स्नेहा के बिछोह का दाह लेकर पटना गया था। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मैं स्नेहा के साथ जीवन बिताने का विचार बना चुका था, पर ना जाने क्या हुआ, उसे कोई और पसंद आ गया। यहाँ लौटा, तो शराब पीने लगा। शराब पहले भी पीता था, पर इस तरह नहीं! जब मुझे पता चला कि सागर ज़िंदा है, तो मुझे बहुत अच्छा लगा था। मैंने राहुल के कमरे के ऊपरी माले पर कमरा ले

लिया था। पिछले कुछ महीनों में मैंने सागर का बदला रूप देखा है। वह बेहद दुबला हो गया था। हम दोनों एक-सी स्थितियों से गुज़रे थे। हम दोनों नौकरी और प्रेम के सताए हुए थे, सो इन दोनों विषयों पर चर्चा नहीं करने का एक मौन अनुबंध कर चुके थे।

पीने के बाद मुझे शरीर में तरावट महसूस हो रही थी। दिमाग़ ताज़ा लग रहा था। अगर सागर ज़िद नहीं करता, तो मैं रम पीना चाहता था। हम दोनों पुदीने की गोली खाकर बाज़ार में निकल आए थे। दुकानों के किनारे-किनारे हम आगे बढ़ रहे थे। दिमाग़ हल्का था, लेकिन चलते-चलते घुटनों पर अपना ही वज़न ज्यादा महसूस होता था। मुझे भूख लग रही थी, लेकिन उसका अभी कुछ खाने का मन नहीं था। मैं एक मोमो बेचनेवाली महिला को देखकर रुक गया था। वह अपने बच्चे को पीठ से बाँधे हुए काम कर रही थी। मैं मोमो खाते हुए उस औरत को ही देख रहा था। वह कहाँ से आई है? अपने घर क्यों नहीं चली जाती—पहाड़ों पर क्या कमी है? लोग तो वहाँ रहने के लिए तरसते हैं, और ये लोग यहाँ मरने आते हैं—पेट ही के पीछे तो। भूख एक आग है, जो सारे सपने जलाकर राख कर देती है। मैं उसके बच्चे को देखने लगा, वह भी उसी की तरह था। इस ठंड में धुएँ और लोगों के बीच आसमान में घूमते बादल देखता हुआ। एक नया सपना देखता हुआ।

हम लोग दुकानों और लोगों के बीच थे। ऊँची-ऊँची पिलरें, काँच के पीछे की जगमगाहटें, बड़े-बड़े होर्डिंग्स, रंग-बिरंगे स्वेटर, कोट, जरकिन पहने, अलग-अलग तरह से अपने कानों को ढँके लोग, सामान बेचने-ख़रीदने की आवाज़ें। इन ऊँची-ऊँची इमारतों के पास से गुज़रते हुए हैरानी होती है, कितनी तरह की चीज़ें दुनिया में बनती हैं। कोई ना कोई चीज़ आपको अपनी ओर खींच ही लेगी। आप बाज़ार में जाएँगे, तो कुछ ना कुछ खरीद ही लेंगे। शॉल ओढ़े बैठा एक बुढ़ा पान बेच रहा था। मैंने पान ख़रीदे। एक पान मेरे मुँह में गया और दूसरा सागर की जेब में।

...हम लोग अंडर ब्रिज से ऊपर निकले ही थे कि मेकडोनाल्ड की दुकान के सामने फुटपाथ पर लगे पेड़ के पास मुझे अशोक दा खड़े दिखे। वे चित्रकार थे, सागर उनका शिष्य था। वे सामने खड़ी ऊँची दुकानों के पार कहीं देख रहे थे। वे अकेले थे। मैंने सागर को दिखाया—अशोक दा वहीं बैठ गए थे। मैं उनसे मिलना चाहता था, लेकिन सागर ने मना कर दिया।

'क्यों?'

'अभी मूड नहीं है यार!'

मुझे अशोक दा के चारों ओर एक अकेलापन घिरता दिख रहा था। बड़ी हुई दाढ़ी और उलझे हुए बाल—वे सड़क को, या वाहनों को, या उस पार की दुकानों को देख रहे थे, या उसके भी पार कहीं। लेकिन सागर उनसे नहीं मिलना चाहता था। मैं समझता था कि सागर उनसे क्यों नहीं मिलना चाहता था। उसने मुझसे कई बार कहा है कि वह मोहिता से संबन्धित किसी व्यक्ति से मिलना पसंद नहीं करता। मैं वह टीस जानता था, जब कोई पूछता था—'और 'वह' कहाँ है?' या ना पूछकर तरस खाती नज़रों से देखता था। लोग हमेशा आपका दिल दुःखाने के लिए ऐसे सवाल नहीं करते, लेकिन दिल दुःख जाता है। और जब दिल दुःखता है तो देर तक दुःखता रहता है—कभी-कभी धड़कना बंद करने तक। मैंने देखा एक आदमी सफ़ेद चादर पर ढेर सारे खिलौने रखकर बैठा था—रंग-बिरंगे पशु-पक्षी, मोटर-गाडियाँ, घर, होटल और मनुष्य।

...हम लोग एक घंटे से इधर-उधर घूम रहे थे। हम लोग अशोक दा से नहीं मिले, लेकिन सागर कुछ बेचैन हो गया था। वह तेज़-तेज़ चलने लगा था। हम लोग बिना बातचीत किए

ही घूम रहे थे। हमने सड़क पार की, सागर कहने लगा—

'चित्रकारी भी धंधा है!'

'हर काम धंधा है।' हम लोग ऊँचे-ऊँचे पेड़ों ओर बंगलों की बगल से गुज़रते फुटपाथ पर चले जा रहे थे।

'हर काम धंधा नहीं है।'

'तो धंधा क्या है?

'जहाँ रहस्य है। धंधा मतलब रहस्य।'

'क्या रहस्य? आदमी बस पेट भरना चाहता है।'

'और अगर पेट भर जाए तो... '

'...सेक्स कोई बड़ी चीज़ नहीं।'

'जेब में माल हो तो सबकुछ संभव है।' उसने कहा। मैं ना जाने क्यों अशोक दा के बारे में बात करना चाहता था, पर अपना मन मारे जा रहा था।

हम लोग अपनी पहचानी जगह पर रुके। अभी तक मुझे ख़याल ही नहीं था कि हम लोग किधर जा रहे हैं। पर अब मैं समझ गया था। क्या सागर इसलिए तेज़ चलने लगा था! ये तलब थी या वह मोहिता के बारे में सोचने लगा था। हम दोनों पुश्किन की मूर्ति के पास एक पेड़ के पीछे खड़े थे। सागर ने ज्वाइंट निकाला, तो हम दोनों के बीच खींचा तनाव कुछ कम महसूस हुआ।

'पहले क्यों नहीं निकाला।' मैं मुस्कुराया।

वह हँसने लगा—'वक़्त से पहले और क़िस्मत से ज्यादा किसीको कुछ नहीं मिलता, बालक!'

'बकवास!' मैं भी हँसने लगा।

उसने पेड़ के तने पर अपनी उँगली से ज्वाइंट पकड़ा और कहा—

"When noisy day to mortals quiet grows,
And upon the city's silent walls
Night's shadow half&transparent lies..."
(जब शोर भरा दिन नश्वरों का निःशब्द फैलता है,
और ख़ामोश दीवारों पर शहर की
रात की परछाई लेटती है अर्ध-पारदर्शी...)

मैं ठीक से समझ नहीं पाया, पर उसका अंदाज़ देखकर मैं ख़ुश हो गया था। यूँ ऐसे वक़्त पर, सागर विदेशी कवियों की कविताएँ बहुत कम सुनाता था। शायद वह मोहिता की याद में था, या अशोक दा की याद में। मैं ज्वाइंट की लंबाई से आतंकित था, और छोटे-छोटे कश ले रहा था। वह साँसभर खींच रहा था और मुझे भी प्रोत्साहित कर रहा था।

'तुझे वो फ़िल्म याद है।'

'कौन-सी?'

'एक्स्टेर्मिनेटिंग एंजेल।'

'वो भेड़ वाली।'

'हाँ, वही चर्च वाली।'

'हाँ, याद है, पर सबटाईटल...' उसने मेरी बात काट दी।

'...जैसे उसमें एक चर्च में सब लोग एक अंधविश्वास के चलते फँस जाते हैं, वैसे ही हम लोग यहाँ फँसे हैं। इस शहर में।'

'काहे का अंधविश्वास!'

'पता नहीं!' वह जैसे अपने में खो गया। उसने राख झाड़ी और पुश्किन की ओर देखने लगा—'जयपुर में एक प्रोजेक्ट मिल रहा है।'

'चला जा।' लेकिन यह बोलकर मुझे लगा, मैं उससे चिपकना चाहता हूँ। अगर सागर चला जाएगा, तो मेरा क्या होगा! मुझे एक पल के लिए महसूस हुआ कि मैं इस शहर में सागर के अलावा किसी और को नहीं जानता, या शायद कोई मुझे नहीं जानता। मैं किसी से मिलना नहीं चाहता, और शायद कोई मुझसे भी मिलना नहीं चाहता। जब तक खाते में रुपया है, मैं यहाँ हूँ, फ़िर मैं कहाँ जाऊँगा, मैं नहीं जानता, लेकिन जब तक यहाँ हूँ, हूँ...

'कितना देंगे।'

'हटाओ यार!' उसने मेरी ओर देखा। मेरी पलकें भारी हो रही थीं, मैं भी पुश्किन की ओर देखने लगा। मूर्ति लहराती सी लग रही थी। मैं भी अभी इस विषय पर बात नहीं करना चाहता था।

सागर मोबाइल निकालकर देखने लगा था और मैं आते-जाते लोगों को। एक लड़का-लड़की बुलेट पर बैठे जा रहे थे। मुझे उनसे रश्क़ हो रहा था। वे कितने ख़ुश थे। फ़िर मैंने महसूस किया आती-जाती हर युवती मेरे मन में चुभी वासना की फाँस पर पैर रखकर गुज़रती थी। मैं तहे-दिल से किसी लड़की का साथ चाहता था।

मुझे याद है एक दिन स्नेहा ने कहा था—'तुम्हें गोरी लड़की चाहिए थी ना!' मैंने कभी इस तरह नहीं सोचा था, वह जैसी थी, मुझे पसंद थी। मैं उसके रंग से नहीं, उसकी आत्मा से प्यार करता था। पर क्या आत्मा! कैसी आत्मा! शायद मैं पहचान नहीं पाया। शायद मैं उसकी उम्मीदों पर खरा नहीं उतरा। सागर मोबाइल की ओर देखते हुए ही कहने लगा—'अमित आ रहा है!' मुझे सुनकर अच्छा लगा। मैंने एक झटके में स्नेहा का ख़याल सड़क के उस पार उछाल दिया। मैं शरीर की अकड़न निकालने लगा। राहुल फुटपाथ के पास बैठ गया था। मैं भी उसके पास बैठ गया। वह फ़ेसबुक देख रहा था।

'पास में आदमी बैठा है और तुम फ़ेसबुक देख रहे हो। मोबाइल आत्मा का पिंजरा हो गया है। यही अख़बार है, घड़ी है, किताब है, संगीत है, सिनेमा है—सबकुछ है। नहीं क्या!'

उसने मेरी ओर मुस्कुराकर देखा और फिर मोबाइल पर उँगलियों और अँगूठे के पोर घिसने लगा।

'लेकिन, कोई करे, तो करे क्या? अगर मोबाइल ना होता, तो कितने लोग आत्महत्या कर चुके होते, पता नहीं। मैं तो सोचता हूँ, स्वीडन चला जाऊँ, या जापान या क्यूबा।' वह मोबाइल देखते हुए ही कह रहा था।

'वहाँ भी कोई मेरे जैसा ही भाई तेरे पास बैठा होगा, तू इसी तरह से मोबाइल देख रहा होगा और सोच रहा होगा कि इंडिया चला जाऊँ। मुझे तो लगता है, मोबाइल के होने से आत्महत्या करने वालों की संख्या बढ़ रही है।' वह मेरी ओर देखने लगा।

'तू नहीं समझेगा! साइबेरिया में तापमान माइनस तीस डिग्री सेंटीग्रेट तक गिर जाता है, वहाँ रहने का मतलब जानता है।'

'नहीं, और जानना भी नहीं। मैं यहाँ ख़ुश हूँ।'

'ख़ुश है!' कहकर उसने होंठ चबाए, मुझे अजीब लगा। मुझे लगा मोबाइल एक गहरा अंधकार है, जिसमें सागर खोया हुआ था। बीच-बीच में उसकी आवाज़ें आ जाती थीं। वह हँसते हुए कहने लगा—'यार, राहुल कह रहा है, ताजमहल तेजोमहालय था।'

मुझे इस विषय में विशेष रुचि नहीं थी, फ़िर भी मैंने कहा—'क्या?'

उसने मुझे एक वीडियो दिखाया। फ़िर उस वीडियो के नीचे-नीचे कुछ वीडियो हमने देखे।

'मुझे तो ऐसे वीडियो अच्छे नहीं लगते।'

'क्यों?'

'पता नहीं, मुझे भूखे-नंगे-मरे-कटे लोग अच्छे नहीं लगते।'

'तो हम क्या नरभक्षी हैं!'

'नहीं यार, मेरा ये मतलब नहीं, ये लोग नेगेटिविटी पैदा करते हैं।'

'यही वास्तविकता है। इसे कोई कुछ भी कहे। अब देखो, ये क्या भेज रहा है।' उसने मोबाइल मुझे दे दिया। मैंने देखा राहुल ने मेसेज किया था, लिखा था—

'जो एक लंबे अरसे से बेघरबार और बेकार रहा है, उसकी इन्स्टिंक्ट (प्रवृत्ति) शायद आपको मालूम नहीं। वह व्यक्ति क्रांतिकारी नहीं होता, वह ख़ासतौर पर...घुमन्तू 'जिप्सी' होता है। उसे चाहे जो वस्तु, दृश्य, घटना, दुर्घटना, यात्रा, बारिश, कष्ट, दुःख, सुंदर चेहरा, बेवक़ूफ़ चेहरा, मलिनता, कोढ़, सब तमाशे-नुमा मालूम होता है। चाहे जो...खींचता है...आकर्षित करता है, और कभी-कभी पैर उधर चल पड़ते हैं।'—गजानन मुक्तिबोध

राहुल ने सागर को चिढ़ाने के लिए लिखा था, लेकिन मुझे लग रहा था जैसे वह मेरे बारे में कह रहा हो।

'यार, ये राहुल का मामला मुझे समझ नहीं आता।'

'क्यों?'

'मतलब वह मुक्तिबोध का फैन है, और दूसरी तरफ़ तेजोमहालय बनाना चाहता है।'

'उसे सभी ब्राह्मण पसंद हैं, उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता किसी के विचार क्या हैं।'

'अजीब बात है, नहीं! उसे ग़ज़ल पसंद है, उर्दू नहीं!' मैं मुस्कुराने लगा।

'अजीब क्या! वह अपनी तरह जी रहा है।'

'अपनी तरह कोई जी सकता है क्या? मुझे तो लगता है, वह एड्स से मरेगा।' मैंने कहा। सागर हँसने लगा।

'क्या फ़र्क़ पड़ता है, मलेरिया से मरो या एड्स से।' कहकर उसने मोबाइल जेब में रख लिया। 'जानकारी की बमबारी से दूर!' और एक लंबी साँस छोड़ते हुए कहा—'कुछ ना जानना कितना अच्छा है!'

'जानकारी से कोई बच नहीं सकता। वह आपकी पीठ पर लदी है, बेताल की तरह। और उसे उठाकर घुमने के अलावा आपके पास कोई रास्ता नहीं है।'

'यही तो रास्ता है, यह बेताल ही तो हमारी समस्याओं का हल भी है!'

'मुझे तो जानना परेशानी लगती है, सिरदर्द लगता है।'

'मुक्ति का रास्ता आसान तो नहीं है।' मुझे लगा सागर चार साल पीछे से बोल रहा है।

'कैसी मुक्ति?'

'हाँ, कैसी मुक्ति, जो अभी नहीं मिले, यहाँ नहीं मिले!'

'मुक्ति कुछ नहीं है, संघर्ष ही जीवन है।'

'वही बड़ी-बड़ी बातें! जीवन कितना नीच है!' उसने गर्दन नीचे झुका ली।

'नीच!' मुझे खुद से चिढ़ होने लगी। मैं दीवार पर आ बैठे एक सफ़ेद कबूतर को देखता सोच रहा था। 'हाँ, कैसी मुक्ति! कपोल कल्पनाएँ!'

मैंने चमकते मोरपंख देखे थे...

ठीक डेढ़ बजे हम लोग एक बरगद के नीचे बैठे कॉफी पी रहे थे। थोड़ी ही दूरी पर कुछ बच्चे हाथ ताप रहे थे। बारिश के आसार लग रहे थे। मुझे खादी की दुकान के सामने से अमित आता दिखा। मैंने सागर को दिखाया, पर तब तक वह भीड़ में खो गया था। अमित पाँच फुट दो इंच का किताबी कीड़ा है। वह कुछ ना कुछ पढ़ता ही रहता है। उसकी उम्र सत्ताईस साल है, लेकिन वह दाढ़ी बढ़ाकर पैंतीस का दिखना चाहता है। उसकी दाढ़ी में कुछ सफ़ेद बाल भी हैं, सागर के अनुसार अमित उन्हें सफ़ेद रंगवाता है। भीड़ में खोया अमित सीधे कॉफी लेते दिखा। मैंने सागर को दोबारा दिखाया, उसने हमें देख लिया था। वह सीधा हमारे पास आया और दो-तीन घूँट में ही कॉफी ख़तम करके बोला—'क्या ठंड है यार!' वह काँप रहा था। सागर चुपचाप उसकी हरकतें देख रहा था। अमित ने सागर की तरफ़ देखा—'और क्या विट्गेंस्टाइन!'

सागर चिढ़कर बोला—'अभी मैं ज़िगा वर्तोव के अलावा किसी पर बात नहीं करना चाहता। ही इज़ फेंटास्टिक।'

'फेंटास्टिक ऑर रियलिस्ट!' अमित ने मेरी तरफ़ देखकर कहा।

'मुझे तो कुछ समझ नहीं आता।' मैंने कहा। मैं ख़ुद को नालायक़ महसूस करने लगा।

'ऐसा क्या है!' अमित अपना चश्मा साफ़ करने लगा था। वह ग़ौर से अंडरब्रिज की ओर देख रहा था। मुझे उसके होंठों पर उसकी तलब दिखाई दे रही थी।

मैंने कहा—'दीदी छुट्टी पर हैं।'

अमित चिढ़-सा गया, पर बोला—'कोई नहीं!' और अपनी मूँछों पर हथेली रगड़ने लगा। मैं उसकी बेचैनी का लुत्फ़ ले रहा था। सागर भी उसे देखकर मुस्कुरा रहा था। अमित उठकर हाथ ताप रहे बच्चों की ओर चल दिया। मैंने कहा—'क्या हुआ।' पर अमित अपनी तेज़ी में था। वह उन बच्चों के पास जाकर खड़ा हो गया। मुझे लगा उसे ठंड तेज़ लगने लगी है। मैंने देखा, उनमें से एक बच्चा अंडरब्रिज के नीचे चला गया। थोड़ी ही देर में अंडरब्रिज के उस पार से हाथ हिलाती दीदी दिखी। अमित स्वतःस्फूर्त उस ओर बढ़ गया। थोड़ी देर में वह गंभीरता से चलता हुआ आ रहा था। आकर बोला—'और कॉफी लोगे!'

हम दोनों ने ना में गर्दन हिला दी।

'तो चलो!'

'कहाँ!' सागर बोला।

'वहीं जहाँ कोई आता-जाता नहीं...' अमित गुनगुनाता हुआ चल दिया। हम दोनों उसके पीछे थे। वह भीड़ में तीर की गति से चल रहा था। सागर लोगों से बचता चल रहा था। पर अमित से कोई नहीं टकरा रहा था। मैं अमित के ठीक पीछे था और सागर मेरे दाईं ओर। हम लोग एक गली से होकर गुज़रे, इस गली में पेशाबघर था। अमित को यह गंध पसंद थी। मैं पहले भी दो बार उसके पीछे-पीछे इसी गली से, इसी तरह नाक दबाकर गुज़रा हूँ। जब मैंने इस बदबू की बात कही थी, अमित ने कहा था—'ये है आम आदमी की असली गंध।' हम लोग दोबारा भीड़ के बीच थे। मुझे पता था अमित सीधे अपने घर जाएगा, फ़िर हम लोग शराब पी रहे होंगे और अमित कोईल खींच रहा होगा। अमित सड़क किनारे खड़ा होकर ऑटोवालों को ईशारा कर रहा था। एक ऑटो रुका, अमित ने कहा—'चिराग़ दिल्ली।' मुझे समझ नहीं आया, वह कहाँ जाना चाहता था। उसका फ़्लैट तो रोहिणी में है। आज शायद

उसकी कुछ और योजना थी। मुझे लगा शायद सागर उस जगह जा चुका है, इसलिए उसने कोई हैरानी नहीं जताई, लेकिन मैं ज्यादा देर अपनी जिज्ञासा दबा नहीं पाया—'कहाँ ले जा रहे हो।' मेरा मन ना जाने क्यों शंकित था। एक बार मैं अमित के साथ लाल क़िले के पीछे एक झुग्गी में गया था, वहाँ से जैसे-तैसे जान बचाकर हम लोग भागे थे। अमित के हाथ से किसी ने पुड़िया छीन ली थी, हाथापाई होने लगी थी, मैं डर गया था। मैं भागा, तो अमित भी भाग निकला। अमित मेरी शंका पहचान गया था—'एक पुराना शहर दिखाते हैं तुम्हें।' उसने मुझे अपनी बगल में भींचा—'घबराते क्यों हो बे इतना!' मैंने कसमसाकर ख़ुद को छुड़ाया। सागर मुझे देखकर हँस रहा था या शायद मुझ पर तरस खा रहा था। चें-चें-पों-पों के बीच ऑटो रुका था। मुझे अजीब बेचैनी महसूस हो रही थी। अमित और सागर बातें कर रहे थे। ऑटो चला तो जान में जान आई।

'तो, 'कल्चर एंड वैल्यू' पढ़ी पूरी।'

'मुझसे नहीं पढ़ी गई यार!'

'तुमसे क्या पढ़ाएगा फ़िर!'

'अरे, कहाँ-कहाँ के तो रेफरेंस रहते हैं।'

'ये कविता-कहानी पढ़ने से कुछ नहीं होता।'

'होता क्यों नहीं! मुझे तो अच्छा लगता है, राहत मिलती है।'

'समझ भी तो ज़रूरी है। डीप स्टडी।'

'मुझे इतना विस्तार पसंद नहीं। छोटे में अपनी बात कहो ना।'

'विस्तार क्या, तुम उपन्यास तो पढ़ते हो!'

'उपन्यास की बात और है, उसमें कहानी होती है।'

'सत्य विस्तार में ही व्यक्त हो सकता है।'

'ऐसा कुछ नहीं है।'

'और तुम तो कह रहे थे कि गोदार्ड को समझना है, ऐसे क्या समझोगे।'

मैं इस ज्ञान-वर्षा से घबरा रहा था। वे दोनों इंग्लिश में बातें कर रहे थे। मैंने ऑटोवाले से पूछा—

'कहाँ के हो भय्या!'

'गाज़ियाबाद!'

'वहीं के हो!'

'नहीं तो!' वह जैसे तैश में आ गया। अमित चिढ़कर मेरी ओर देखने लगा। फ़िर ऑटोवाले से हँसकर बोला—'कहाँ तक पढे हो भाई!'

'एम.ए.।'

'क्या बात कर रहे हो! क्या विषय था?'

उसने पीछे मुड़कर अमित को देखा, फ़िर आगे मुँहकर बोला—'राजनीति।'

अमित बोला—'तो क्या है राजनीति?'

'अरे अब तो भुल-भाल गए भय्या!'

'राजनीति कैसे भुल गए, राजनीति ही तो सबकुछ चला रही है। विधायक-सांसद-मुख्यमंत्री-प्रधानमंत्री ये ही तो देश चलाते हैं। हमको तुमको सबको।'

'वो तो है।'

'राजनेता ना हो तो क्या देश चल सकता है?'

'चल तो सकता है भय्या! जब मुख्यमंत्री-प्रधानमंत्री नहीं थे, तब भी तो लोग जीते थे, जब ये नहीं होंगे, तब भी जी लेंगे...'

सागर हँसने लगा। अमित सीट से कमर लगाकर बैठ गया। ऑटोवाला कहने लगा—'क्या ग़लत बोला भय्या!'

'नहीं, एकदम सटीक।' मैंने कहा।

ऑटोवाला एक जगह रुका—'लो भय्या तुम्हारी 'चिराग़ दिल्ली'।'

'पार्क के पास!' अमित बोला।

'किधर?'

'चलो, मैं बताता हूँ।' ऑटो फ़िर चल दिया।

ऑटो से उतरकर, हम लोग एक फुटपाथ पर चलने लगे थे। अमित ने फ़ोन कर रुचिका को भी बुला लिया था। मुझे हैरानी थी। हम लोग एक लंबी दीवार के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। दीवार के उस तरफ़ कुछ-कुछ पेड़ दिख जाते थे। सामने सड़क के उस पार एक बड़ा मंदिर दिख रहा था। हम लोग कहाँ जा रहे थे? पर मैं चला जा रहा था। सागर के साथ रहने पर मन में एक विश्वास रहता है। सागर और अमित फ़िर बातें करने लगे थे। अमित एक जगह रुककर दाएँ-बाएँ देखने लगा। फुटपाथ के कोने पर खड़े एक पेड़ से चढ़कर वह दीवार फाँद गया, सागर ने मेरी ओर ईशारा किया। मैंने कहा—

'किधर?'

'अरे, चलो तो सही।'

मैं भी दीवार पर चढ़ गया, उस पार अमित एक चट्टान पर बैठा था, सागर भी मेरे पीछे-पीछे चढ़ आया। मैंने देखा इस ओर एक जंगल फैला हुआ था। मुझे आश्चर्य हुआ, मैं इतने सालों से इस शहर में हूँ, और अब तक इस शहर के कई राज़ नहीं जानता। मुझे तीन कव्वे उड़ते हुए दिखे। मैं याद करने लगा, मैंने आख़िरी बार कव्वों को कब देखा था, मुझे याद नहीं आ रहा था। शायद किसी के श्राद्ध में, और वहाँ भी कव्वे किराए पर लाए गए थे। मैं कह उठा—'तीन कव्वे!'

अमित हँसने लगा। उसने वास्तविक कव्वे नहीं देखे थे, जो अब एक नीम पर जाकर बैठ गए थे। सागर दीवार की एक दरार में पाँव रख उतरा, उसके पीछे मैं।

सागर कहने लगा—'कव्वे कवियों को अपने रंग और आवाज़ के कारण कभी पसंद नहीं आए और इसलिए उनके खो जाने का ग़म भी किसी को नहीं।'

'एडगर एलन पो...'

'...अरे, सच में तीन कव्वे उड़ रहे थे।' मैंने अमित की बात काटते हुए कहा। वे लोग इधर-उधर देखने लगे, उन्हें कव्वे नहीं दिखे।

...हम लोग फिर अमित के पीछे चलने लगे थे। अमित हमें जंगल के बीच लिए जा रहा था। इसी बीच दोबारा धूप निकल आई थी। जंगल जैसे चमक उठा था। एक-दो जगह अब भी डबरों में पानी था। हम लोग एक खंडहरनुमा कमरे के पास आकर खड़े हो गए थे। धूप तीखी थी। अमित ने कमरे के अंदर झाँका। मैंने कमरे के अंदर जाकर देखा। यह एक गुंबद थी। किसी ने इस पर हल्का सफ़ेद रंग पोत दिया था। रंग के पीछे, दिल में घुसे हुए तीर बने दिख रहे थे, कुछ लड़के-लड़कियों के नाम, कुछ गालियाँ। कमरे के बीचों-बीच हनुमानजी की मूर्ति थी, जिसके आस-पास अगरबत्तियों की राख और नारियल की खोल के टुकड़े पड़े दिख रहे थे। मैंने प्रणाम किया। अमित हँसने लगा। फ़िर सागर भी। मैंने कहा—'क्या हुआ?'

अमित और सागर भी अंदर आ गए थे। अमित कहने लगा—'मैं जब पिछली बार यहाँ आया था, यहाँ एक बाबा बैठे थे, आज-कल में मरने की हालत में, अकेले। शायद मर गए।'

'हो सकता है, कौन थे वो बाबा?'

'मु-स-ल-मा-न!'

मुझे हैरानी हुई—'तो उनका क्या हुआ?'

'पता नहीं, कह रहे थे, ये जगह उनकी है, लेकिन उनका कोई वारिस नहीं।'

'कोई तो होगा ही!'

'हो सकता है, विवाद हो जाए।'

...हमारे आस-पास कुछ मधुमक्खियाँ मँडराने लगी थीं। वे गुंबद के दो पत्थरों के बीच खाली जगह में अपना घर बना रही थीं। मैंने उन्हें पहले ही देख लिया था। मैं कमरे से बाहर निकल आया। हम लोग गुंबद की टेकरी उतर कर, दोबारा जंगल में चलने लगे थे। हम पत्तियों पर चल रहे थे, पत्तियाँ नम थीं, कभी-कभी पाँव फिसलने लगता था। हम लोग एक नाले से थोड़ी ऊपर दो-तीन बड़ी-बड़ी चट्टानों के बीच जाकर बैठ गए थे, और रुचिका का इंतज़ार कर रहे थे। मैं चारों ओर देख रहा था—पेड़ ही पेड़ थे। पेड़ों से गिरी पत्तियों ने ज़मीन को पूरी तरह ढँक रखा था। रुचिका और अमित प्रेम-संबंध में हैं। मुझे इन दोनों की जोड़ी कभी नहीं भाई। मैं सोचता था रुचिका को सागर से प्रेम करना था। रुचिका हष्ट-पुष्ट गोरवर्णा युवती थी और अमित जैसे गाढ़े काले रंग के व्यक्ति के साथ अजीब लगती थी। मुझे लगता था यह संबंध अधिक दिन नहीं रहेगा, लेकिन दोनों पिछले छः साल से संबंध में हैं। मैं खुद को अमित से नीचा महसूस करने लगा। अमित में वह क्या बात है, जो मुझमे नहीं! शायद यही कि उसके पिताजी के पास चाय का बाग़ान है और मैं एक ठेले पर सब्ज़ी बेचने वाले की औलाद हूँ। मुझे अपने पिता पर गुस्सा आने लगा था। पर शायद यह वजह नहीं। रुचिका समझदार लड़की है। अपना भला-बुरा जानती है। शायद वह अमित में बैठे ज्ञानी से प्यार करती है। अमित और रुचिका पीएच.डी. कर रहे हैं, दोनों का विषय भी एक ही है—सिनेमा। शायद यही वजह है। या शायद यह कि मैं बेरोज़गार हूँ। उनके बच्चे किसी अपार्टमेंट के आँगन में खेल रहे होंगे और मेरे बच्चे किसी तंग मुहल्ले में साँस के लिए तरस रहे होंगे। मेरे बच्चे. ..मुझे ये सोचकर दुःख हुआ। या शायद कोई और वजह है! कोई दूसरी लड़की भी तो मुझे प्यार नहीं करती। मैं अमित की तरफ़ देखने लगा, वह थोड़ा बेचैन लग रहा था। वह बार-बार जेब में अपनी पुड़िया सँभाल रहा था। मैं सोच रहा था अमित अजीब है, वह संस्कृत जानता है, लेकिन हिंदी में बात करना पसंद नहीं करता, कहता है, संस्कृत में बात करो या इंग्लिश में। पर शायद मुझ-जैसों पर तरस खाकर बीच-बीच में हिंदी में बात करता है। रुचिका इतनी अजीब नहीं, वह सिनेमा, मीडिया, वीडियो—ग़रज़ कि हर छवि का अध्ययन करने की बात करती है। वह विदेश जाकर अध्ययन करना चाहती है। कहती है, यहाँ उस स्तर के शिक्षक ही नहीं। मैं सोचने लगा, मुझे सिर्फ़ रुचिका की सुंदरता पसंद है, वरना रुचिका भी किताबी कीड़ा है, मेरी-उसकी ज्यादा दिन नहीं बनती—मुझे ना जाने क्यों उन दोनों की जोड़ी अच्छी लगने लगी।

धूप अचानक ही कहीं खो गई, और धूप के साथ ही जंगल की चमक भी। मैं इस अनजानी जगह, जंगल में, चट्टानों के बीच सागर के भरोसे ही बैठा था। बीच-बीच में खटका लगा रहता था, कोई आ ना जाए। आख़िर हम दीवार फाँदकर आए थे। सागर बेफ़िक्री से चट्टानों से नीचे की तरफ़ नाले में रुके पानी को देख रहा था। वह किसी आर्य-देवता की तरह

दिख रहा था—उसके बालों में गुलमोहर की तीन पत्तियाँ उलझी हुई थीं।

...रुचिका आई, तो हम तीनों से गले मिली। वह एक पल के लिए मुझे इतनी अपनी लगी कि मैं देर तक उसे प्यार से देखता रहा। रुचिका के आते ही अमित अपने काम में लग गया था। उसकी तेज़ी देख मैं अपनी हँसी रोक नहीं पाया। उसकी तलब उसे खींच रही थी। रुचिका भी उसकी ही ओर देख रही थी—'अपने लिए भी कुछ है?' अमित की उपेक्षा देखकर वह सागर और मेरी ओर देखने लगी। मैं सोच रहा था, काश थोड़ी रम होती कि तभी सागर ने जेब से एक ज्वाइंट निकाला और मध्यमा, तर्जनी और अँगूठे के बीच उसे पकड़कर हवा में उठाया, और नाटकीय ढंग से ज्वाइंट की ओर देखते हुए बोला—

'यूँ तो एहसान हसीनों के उठाए हैं बहुत,
प्यार लेकिन जो किया है तो तुम्हीं से हम ने।'

रुचिका खुश होकर बोली—'बहुत खूब! आई नौ देट! कहाँ का है?'

'जाति ना पुछो साधू की।' मैंने कहा।

हम सब हँस रहे थे। लेकिन ना जाने क्यों रुचिका और सागर को खुश देख, मुझे अच्छा नहीं लगा। मुझे लगा जैसे वे दोनों आँखों ही आँखों में कुछ बात कर रहे हैं। मैं अमित की ओर देखने लगा। वह कोईल के नीचे आग दिखा रहा था। मैंने कहा—'मैं भी लूँगा!' अमित जैसे खुश हो गया। रुचिका मेरी ओर देखने लगी—'डोंट स्टार्ट दिस।' मैं इंग्लिश में जवाब देना चाहता था, लेकिन बोला—'नहीं, यूँ ही, देखते हैं!' मैं थोड़ा हिचक रहा था। पर मैं रुचिका को दिखाना चाहता था कि मैं अमित से कम नहीं हूँ। मैं अमित के पास जाकर बैठ गया।

अचानक फ़िर तेज़ धूप निकल आई थी। बादल छँट गए थे। दो मोर हमारे सामने से गुज़र रहे थे। दोनों के पंख अद्भुत चमक से भरे थे। धूप गर्दन में चुभ रही थी। मैंने स्वेटर उतार दिया। वे दोनों, नाले के बीच जमा, पानी के पास पहुँचे, और इधर-उधर घूमने लगे। उनके पैर उठते थे, तो उनके साथ कुछ कीचड़ भी उठती थी। वे दोनों धीरे-धीरे कीचड़ पार कर उड़े और नाले के उस पार एक चट्टान पर जाकर बैठ गए। उन्होंने अपने पंख खोल लिए। उनकी चमक से मुग्ध हम चारों शान्त बैठे थे। रुचिका हँसने लगी।

'क्या हुआ?' सागर ने पूछा।

'पंख दिखाते ही मोर नंगा हो जाता है।'

'पता है, वो बूढ़ा कह रहा था कि मोर का नाख़ून तकिये के नीचे रखकर सोओ, तो बुरे सपने नहीं आते।' अमित हँसते हुए कह रहा था।

'वो तो यह भी कह रहा था कि मोर अपने पंख देखकर खुश होता है, लेकिन अपने पैर देखकर रोता है।' सागर ने कहा।

'क्यों?' रुचिका ने जिज्ञासा व्यक्त की।

'क्योंकि उसके पैर बदसूरत हैं।'

'बकवास!' मैंने कहा।

'हाँ भाई!' सागर मज़ा लेकर बोल रहा था, '...और कह रहा था, मोर के आँसू मोरनी पी लेती है, इसी आँसू से मोरनी के पेट में बच्चा बनता है।'

'एसहोल!' रुचिका ने कहा।

'ऐसे पंख तो बोझ ही लगते हैं। मोरनी ही खुश रहती है...' मैंने कहा।

'...डिड यू हीअर मनु चाओ!' अमित ने मेरी बात काट दी, मुझे बुरा लगा।

'नो! हू?'

अमित ने मोबाइल निकाला और एक गीत की आवाज़ आने लगी। मैं आस-पास देखने लगा। सूरज फ़िर छुप गया था। मैंने अपना स्वेटर पहन लिया। इस सुनसान जंगल में गाने की आवाज़ से मुझे भय महसूस हो रहा था। धीरे-धीरे ठंड और बढ़ने लगी थी। शाम होने वाली थी। हम चारों चुपचाप बैठे थे। रुचिका ने उठते हुए कहा—'लेट्स मूव!'

अमित ने कहा—'थोड़ी देर में चलते हैं!'

सागर बोला—'हाँ। ठंड तो कुछ चढ़ने ही नहीं दे रही।'

'कहाँ चढ़ना है?'

'बहुत ऊपर, बहुत ऊपर!'

'कितना ऊपर!'

'टॉप पे!' कहते हुए सागर ने एक और ज्वाइंट निकाला। सागर घर से निकलते वक़्त पाँच ज्वाइंट रोल कर अपने छोटे बेग में रख लेता था। उसका कहना था—'अब यही मेरा ईमान है! पंजवक्ता नमाज़ी हूँ!' मैं उसे देखकर सोचने लगा, वह कितना दुबला हो गया है। मुझे अफ़सोस हुआ। सागर को जितना शौक़ शेर-ओ-शायरी पढ़ने का है, उससे कहीं ज्यादा चित्रकारी का। वह अपने अधिकतर चित्रों पर कोई शेर लिखा करता है। मैं फ़िर सोचने लगा कि रुचिका को अमित की बजाय सागर से संबंध बनाना था। सागर ज्वाइंट देखता अपने अंदाज़ में कह रहा था—

'ये जगह हैरत-सराय है कहाँ थी ये ख़बर,
यूँ ही आ निकला था मैं तो सैर करने के लिए।'

मैंने देखा दोनों मोर जंगल के अंदर उड़ गए। हल्की हवा चलने लगी थी। शरीर में रह-रहकर सिहरन उठती थी। मुझे ना जाने क्यूँ अशोक दा की याद आने लगी। वे कितने अकेले लग रहे थे। वे अजीब होते जा रहे थे। बात-बात में चिढ़ते थे। सागर बहुत पहले ही उनसे दूर हो चुका था। वे अब भी छात्र-संगठनों के बीच रहते थे। बीच-बीच में गायब हो जाते थे। सागर जब गायब हुआ, मुझे लगा था, वह भी अपने गुरु के चरण-चिह्नों पर चलेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। सागर केके की मंडली में आने-जाने लगा। शायद इसीलिए सागर आज ज़िंदा है, और मेरे सामने बैठा कश खींच रहा है।

हम जब खंडहरों में घूम रहे थे, मैं सोच रहा था, यह शहर वह शहर नहीं। यह शहर उजड़ चुका है, यह अब कभी नहीं बसेगा। और वह जो शहर है, वह बस रहा है, बसता चला जा रहा है। वह फैल रहा है, वही सत्य है। तो यह शहर क्या है? हम लोग सीढ़ियों पर बैठ गए थे। हम चुप थे। कोहरे में डूबे ऊँचे-ऊँचे दरवाज़े मौन खड़े थे। मुझे लगा पूरा शहर कोहरे में लीन हो रहा है। सारी हलचलें बंद हो रही हैं। कान सुख का अनुभव कर रहे थे। कोहरे का घनत्त्व बढ़ता जा रहा था। हम अपने-अपने में गुम हो चुके थे। एक-दूसरे से बेपरवाह। मुझे महसूस हुआ वह शहर एक महाबाज़ार है, जिसमें यह शहर समाधि लगाए बैठा एक अवधूत है, जिसके मस्तिष्क की नाड़ियों में असंख्य विद्युत-कण प्रकट और अप्रकट होते जा रहे हैं। किसी नाड़ी में तीव्र उत्तेजना है। कोई तीखा दर्द बह रहा है। कोई संकट निरंतर गहरा रहा है, कहीं किसी दबाव से कोई नाड़ी फट ना जाए। कहीं कोई शॉट-सर्किट ना हो जाए। यह समाधि भंग ना हो जाए!

आकाशगंगाएँ घूमती थीं...

हम लोग ऑटो में थे। अमित और सागर किम जोंग उन पर बातें करने लगे थे। मैं ड्राईवर

को देखता अप्पा के बारे में सोचने लगा था। मेरे जीजा अलीगढ़ में ऑटो चलाते हैं। अप्पा क्या कर रही होगी? शायद सोनू को पढ़ा रही होगी या सब्ज़ी लेने गई होगी। अप्पा के साथ मैं जितना खुश था, उतना कभी नहीं रहा—स्नेहा के साथ भी नहीं। अप्पा मेरे सारे राज़ जानती हैं। अप्पा ने मेरे लिए पापा से भी लड़ाई कर ली थी। अप्पा से प्यारा कोई नहीं था। फिर क्या हुआ? अप्पा की शादी हो गई। अप्पा 'अपने घर' चली गई। कभी शादी-ग़मी में मिलती, तो कभी त्योहार पर घर आती। फिर मैं यहाँ आ गया। अप्पा से संबंध जैसे टूट सा गया। मुझे जीजा कभी भाया नहीं। अप्पा भी उसे पसंद नहीं करती, पर कहती है—'बाँधने से पहले सोचना था।' अब दो-चार महीने में कभी फ़ोन आता है। मम्मी-पापा तो मुझे भूल ही गए हैं। अप्पा से बात करना भी अब अच्छा नहीं लगता। वही बातें—'वहाँ क्या कर रहा है? अलीगढ़ में क्या काम नहीं है? आजा बेटा! मम्मी ने बात चलाई है। अच्छी लड़की है। वहीं कोई पसंद आ गई है क्या? देख, जो भी है, बता दे। क्यों चिपका है वहाँ?' कितने सवाल होते हैं अप्पा के। मैं जवाब नहीं दे पाता। मैं कह नहीं पाता कि मैं दिल्ली से नहीं चिपका हूँ, दिल्ली मुझसे चिपक गई है। यूँ मैं वहाँ भी क्या करूँगा! पापा के साथ सब्ज़ी बेचूँगा! फ़िर वही गालियाँ और ताने होंगे। पर मैं यहाँ भी क्या कर रहा हूँ? शायद, ख़ुद के ख़त्म होने का इंतज़ार या इस शहर के ख़त्म होने का इंतज़ार। पर ये शहर है कि बार-बार उजड़कर भी उजड़ता नहीं। बार-बार बसकर भी बसता नहीं।

रुचिका की कलाई मेरी कलाई से छू रही थी। मेरा ध्यान अमित की ओर गया। वह कह रहा था—'सेल्फ़-सेंट्रिक होने में क्या बुरा है? हर कोई अपना इंटरेस्ट देखता है। मुझे ऑक्सफोर्ड जाना है। इट्स सिंपल!'

''मैं तो कहीं भी रह सकता हूँ।' सागर बोला।

'मैं भी यहाँ नहीं रहना चाहती।'

ना जाने किस भावना से ऑटोवाले बूढ़े सरदारजी बोले—'मैं भी यहाँ नहीं रहना चाहता, पर क्या करें?'

मैंने सोचा—पर मैं यहीं रहना चाहता हूँ, जब तक मैं हूँ—मैं कहीं और नहीं जाना चाहता!

अमित बोला—'व्हिस्की लेते हैं!'

सरदारजी बोले—'कभी-कभी!'

सागर हँसा।

अमित जैसे चिढ़ गया —'आपसे नहीं पूछ रहा हूँ भय्या!'

रुचिका बोली—'ओ.के.।'

सागर ने मेरी ओर देखा, मैं असमंजस में पड़ गया। ना जाने किस प्रभाव में मेरे मुँह से भी निकला—'ओ.के.।' मुझे सरदारजी के चेहरे पर तैश नज़र आ रहा था।

हम लोग जब तक रुचिका के फ्लैट पर पहुँचे थे, अँधेरा हो चुका था। मेरा विचार था कि सागर के साथ मेरे कमरे पर बैठकर पीता, पर ये भी ठीक था। रुचिका ने अपने फ्लैट में जगह-जगह देसी-विदेसी फ़िल्मों के पोस्टर लगाए हुए थे। कुछ तस्वीरें भी थीं। मैं सागर के बनाए एक चित्र को देखने लगा। हॉल से ऊपर की ओर जाती हुई सीढ़ियो के पास दीवार पर वह चित्र टंगा था। एक गुलमोहर का पेड़ फूलों से लदा है—सड़क पर जाम लगा है—उस पार बिल्डिंगें हैं, और उनके बीच कहीं सूरज डूब रहा है, जैसे कोई गुलमोहर का फूल।

यूँ मैं आज रात अकेले ही रहना चाहता था, अप्पा के बारे में सोचना चाहता था। शायद मैं घर चला जाऊँ! या कहीं और! मैं सोफ़े पर बैठा ही था कि मेरा सिर भन्नाने लगा। हॉल

की चमक और साफ़-सुथरापन मुझे डराने लगे। मैं अपने-आप पर क़ाबू करने लगा। सागर टॉइलेट से निकला और मैं घुस गया। मुझे लगा अमित कह रहा है—

'इसको कहाँ साथ लिए घूम रहे हो?'

'क्या कर रहा है यह अभी?'

'इसकी गर्लफ्रेंड का क्या हुआ?'

मुझे लगने लगा, रुचिका भी इस बातचीत में शामिल हो गई है। सबके हँसने की आवाज़ें आने लगीं। शायद कुछ और लोग भी आ गए हैं। मुझे उबकाई आने लगी। मैंने आईने की ओर देखा—मुझे अपने-आप से निराशा हुई। मैं सोचने लगा कुछ लोग हमेशा साफ़-सुथरे कैसे रहते हैं? मेरे चेहरे पर मैल जमा दिख रहा था। मेरे बाल रूखे और आँखें बेजान लग रही थीं। अचानक मुझे बाहर सन्नाटा महसूस होने लगा। मैंने देखा आईने के पास कई तरह के शृंगार-प्रसाधन रखे थे। मैंने नीमवाले फ़ेस-वॉश से चेहरा धोया। काफ़ी देर तक मैं चेहरा रगड़ता रहा। मैंने शैम्पू से बाल धोए। मुझे अपना चेहरा खिला-खिला और सुगंधित लगने लगा। मैंने हाथ-पैर भी धोए। मैं बाल जमाने लगा। गोल कंघे में रुचिका के बाल उलझे थे, पर फ़िर मुझे लगा शायद अमित के हों, दोनों के बाल बराबर हैं। मैं आईने के चारों ओर बने बेल बूटों को देख रहा था, पर अचानक मुझे अजीब लगने लगा, कहीं रुचिका नाराज़ ना हो जाए। मुझे उससे इजाज़त लेनी चाहिए थी। मैंने खुद को पोंछा, तो विचार आया कि हाथ भी सोचते हैं। मैं आईने में अपनी ही आँखों में आँखें डाल सोच रहा था, आँखें भी सोचती हैं। सबकुछ दिमाग़ पर निर्भर करता है। मैं अपने दिमाग़ पर अपना नियंत्रण नहीं खोना चाहता था। दिमाग़ आख़िर पूरा शरीर था, सिर्फ़ सिर नहीं। मैं खुद पर खुद के नियंत्रण से खुश हुआ। मैं अपने पैरों पर खड़ा था। मुझे अच्छा महसूस हो रहा था। मैं टॉइलेट से बाहर निकला। हॉल में संगीत की ध्वनियाँ मँडरा रही थीं। एक गर्माहट फ़ैल रही थी। मुझे लगा सब टैरेस पर गए हैं। मैं टैरेस पर गया। कोई नहीं था। अचानक गर्माहट से ठंडक में आने पर मुझे छींक आने लगी। मैंने ज़ोर से छींका। मेरे शरीर में सिहरन की लहरें दौड़ने लगीं। मैं फ़िर हॉल में आ गया। मैं रसोई की ओर गया। रुचिका और एक चोंटीवाला आदमी ग्लास निकाल रहे थे। उन्होंने मेरी ओर देखा। रुचिका ने परिचय कराया। वे इंग्लिश-लेक्चरर थे और एक ऑनलाइन-मैग्ज़ीन के संपादक-मण्डल में थे। उन्होंने मुझे सिर से पाँव तक देखा। रुचिका ने उन्हें बताया कि मैंने हिंदी से एम.ए. किया है, और मैं पत्रकारिता के क्षेत्र में हूँ। उन्होंने कहा—'पत्रकार!'। मुझे बड़ा अजीब लगा। उन्होंने मेरे हाथ में ग्लास की ट्रे दे दी। मैं अपमानित महसूस कर रहा था, लेकिन जब रुचिका ने ट्रे लेना चाही, मैंने उसके हाथ से ट्रे ले ली।

मैं हॉल में पहुँचा, तो देखा अमित, सागर और केके बातें कर रहे थे। मैंने ट्रे उनके सामने पड़ी काँच की टेबल पर रख दी। केके को देखकर मुझे राहत मिली थी। केके ज़िंदादिल इंसान है। मैं उससे अपनापन महसूस करता हूँ। उसके आते ही एक नई बहस शुरू हो गई थी।

'कश्मीरी कौन-से दूध के धुले हैं?'

'कौन दूध का धुला है?'

'बात नारे पर हो रही थी, उनका नारा क्या है?'

'आज़ादी!'

'सिर्फ़ आज़ादी नहीं, अल्लाह-ओ-अकबर भी है।'

'पाकिस्तान ज़िंदाबाद भी है।'

'जो भी है, उनके साथ ठीक नहीं हो रहा है।'

'लेकिन और कोई रास्ता नहीं।'

'रास्ता क्यों नहीं है!'

'क्या रास्ता है?'

'सेना को वापस बुला लेना चाहिए!'

'...और छत्तीसगढ़ में लगा देना चाहिए, नहीं?'

'समस्या लोग नहीं, सेना है! सेना जहाँ भी होगी, दमन होगा।'

'हर जगह ऐसा नहीं है!'

'पर यहाँ तो है!'

'बात केके की इस उपमा पर थी कि कश्मीर कठुआ का मंदिर है।'

'मुझे लगता है, ये एक महान सभ्यता का पतन है, सिर्फ़ कश्मीर ही नहीं, इस पूरे महाद्वीप की। हम किसी भी दिन मोहनजोदड़ो बन सकते हैं। ये सब गणित और व्याकरण ख़त्म हो जाएँगे।'

'कॉकरोच फ़िर भी रहेंगे!'

'सभी रहेंगे, इंसानों के ना रहने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जब इस धरती पर एक भी मनुष्य नहीं था, तब भी ये धरती थी। आकाशगंगाएँ घूमती थीं। सितारे दूर-दूर छिटक रहे थे। और जब मनुष्य नहीं होगा, तब भी सितारे होंगे। और कॉकरोच क्या, बंदर, कबूतर, मछली, मच्छर सब खुश रहेंगे। एक यही जीव है, जिसने गंद मचाई हुई है...'

केके बोलता जा रहा था। यह दूसरे पैग का दौर था। अब तक हॉल में बारह लोग जमा हो चुके थे। तीन समूहों में हम बैठे थे। अमित एक लड़का-लड़की के साथ खड़ा बातें कर रहा था। मैं, केके, सागर, उर्मिला और महेश्वर साथ में बैठे थे। रुचिका और दो लड़कियों के साथ खड़ी हँस रही थी, चोटीवाला आदमी उनके पास खड़ा ज्वाइंट के कश खींच रहा था। केके ने बातचीत की कमान सँभाल ली थी। मैं खुश था। मैं मन ही मन इंग्लिश में वाक्य बनाना छोड़कर केके को सुन रहा था। केके जितनी अच्छी इंग्लिश बोलता था उससे कहीं अधिक अच्छी हिंदी, यूँ उसे जर्मन भाषा भी आती थी। धीरे-धीरे मैंने देखा सभी लोग हमारे आस-पास इकट्ठा हो गए थे। अमित ने कहा—

'एण्ड व्हाट अबाउट कानू सान्याल?'

'अभी पहले मायकोव्स्की का केस तो निपटाने दो!'

'यू आर अ स्टालिनिस्ट!'

'अब आपके लिए ये शब्द गाली की तरह हो सकता है, मेरे लिए तो सम्मान की तरह है।' महेश्वर तैश में बोला।

'मामला अल्टिमेटली मेथड का है, जीवन-दृष्टि का है।' सागर बोला।

महेश्वर बोला—'मेथड फॉर व्हाट? कैसी जीवन-दृष्टि, जिसे जीवन में लागू ही नहीं किया जा सकता।'

'खुद को, और दुनिया को, समझने के लिए।'

'मामला सिर्फ़ समझने का नहीं है, बदलने का है।'

'हाँ, पर जिसे बदलना है, मतलब कि ये दुनिया, उसे, और जो इसे बदलेगा, उसे भी तो समझना ज़रूरी है।'

'समझना तब तक अधूरा बना रहेगा, जब तक वह आचरण में नहीं आ जाता।'

'देखिए, मेरा सवाल यह था कि रूस में क्रान्ति के बाद भी मायकोव्स्की ने आत्महत्या

क्यों की? क्या वे क्रान्ति से खुश नहीं थे?' चोटीवाला आदमी ज़बान साधकर हिंदी में बोला।

'किन्हीं दो-पाँच लोगों के खुश ना रहने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मेरे लिए सवाल यह है कि मज़दूर खुश थे या नहीं।'

'मायकोव्स्की मज़दूरों के कवि थे, और अच्छा, अगर मज़दूर खुश थे, तो उन्होंने रूस में समाजवाद के पतन को रोका क्यों नहीं?'

मैं देख रहा था सभी आहिस्ता-आहिस्ता छोटे-छोटे घूँट ले रहे थे, सिवाय सागर और केके के। वे दोनों अपना ग्लास खाली कर चुके थे। अब जाम का हिसाब किसी के हाथ में नहीं रह गया था। हर कोई मनमाफ़िक पी रहा था। रुचिका को शायद नशा हो गया था। वह सोफ़े पर लगभग लेटी-सी थी। उसकी आँखें अधखुली थी और वह कहीं खोई-सी मुस्कुरा रही थी। मैं जिनको नहीं जानता था, उन्हें देखकर सोच रहा था, ये लोग क्या करते हैं? क्या ये लोग खुश हैं? मैं सुन रहा था, बात बात में बात बदलती जाती थी।

'आज क्या किसी को पता है कि उसके पूर्वज कहाँ के थे? अय्यर क्या नागालैंड का हो सकता है? आबादी आज जितनी तेज़ी से संचरण कर रही है, कभी करती थी क्या? बेरोज़गार होते थे, लेकिन रोज़गार से असंतुष्ट लोग इतने थे क्या? आज रोबोट सबकुछ करने लगे हैं, काम करनेवालों की ज़रूरत ख़त्म हो गई है। सब कुछ मशीनों से हो रहा है—फ़िर वो गेंहूँ बोना हो या रोटी बनाना। इंसान के पास सोचने के अलावा कुछ काम नहीं रह गया है।'

'पर वह सोचता कहाँ है?'

'कुछ लोग तो सोचते हैं।'

'मुझे तो लगता है वह अपना आपा खो चुका है। वह एक पागल साँड़ है।'

'गाएँ भी हैं।' बिना आस्तीन का टी-शर्ट पहने हुई एक लड़की बोली। मैं तब से देख रहा था, और सोच रहा था, क्या उसे ठंड नहीं लगती या वह एसी में ही रहती है।

'प्रदूषण भी है।'

'लेकिन सभ्यता मरती नहीं है।'

'मरती है।'

'फ़िर ज़िंदा हो जाती है।'

'ज़रूरी नहीं!' केके कहकर चुपचाप पीने लगा। मुझे लगा, उसके मन में भी कोई निराशा गहरी बैठी हुई है। या शायद वह किसी और जगह के बारे में सोचने लगा है—किसी और सभ्यता के बारे में।

मैंने देखा सब फ़िर छँटने लगे थे। रुचिका ने इशारे से अमित को अपने पास बुलाया। दोनों कुछ बात करने लगे। अमित रुचिका के माथे पर हाथ फ़ेर रहा था। सागर ने मेरी ओर इशारा किया। हम दोनों टैरेस पर चले आए। हमने उर्मिला और महेश्वर को खड़े देखा। ठंडी हवा की लहरें कानों को सनसना रही थी। उन दोनों ने टोपियाँ पहनी हुई थीं। मैं अभी उन दोनों की तरफ़ नहीं जाना चाहता था। मैं थोड़ी देर सागर के साथ रहना चाहता था, पर इससे पहले कि मैं कुछ कहता, सागर ने अपने अंदाज़ में ज्वाइंट उठाकर उन दोनों को सुनाते हुए कहा—

'पत्थर के ख़ुदा वहाँ भी पाए,
हम चाँद से आज लौट आए।'

टैरेस पर एक पीला बल्ब जगमगा रहा था। उर्मिला ने उधर आने का इशारा किया। हम दोनों उधर चल दिये। महेश्वर की घनी दाढ़ी-मुछों में से उसके दाँत चमक रहे थे। उर्मिला

और मैंने एक ही साथ पत्रकारिता का कोर्स किया था। यूँ वह मुझसे तीन साल बड़ी थी, लेकिन मुझसे छोटी दिखती थी। महेश्वर से मिलने के बाद उर्मिला कितनी तेज़ी से बदली थी, मुझे आश्चर्य था। महेश्वर और उर्मिला एक ही न्यूज़-चैनल में काम करते हैं। वहीं दोनों का प्रेम-संबंध बना।

उर्मिला टैरेस से अट्टे पर जाने वाली सीढ़ियों के नीचे खड़ी थी। सागर ने ज्वाइंट उसकी ओर बढ़ाया। मैं महेश्वर के पास अट्टे की दीवार का टेका लगाकर खड़ा हो गया। महेश्वर होल-टाइमर है, वेनगार्ड। वह खुद को कम्युनिस्ट कहता है। मुझे कम्युनिस्ट नाम से उलझन होती है। मुझे पुलिस, आर्मी, जेलें और यातनाएँ दिखाई देने लगती हैं। मैं और सागर भी कुछ समय एक कम्युनिस्ट संगठन में थे, पर भगत सिंह और मार्क्स के लिए नहीं, मोहिता और स्नेहा के लिए। महेश्वर दूसरे कम्युनिस्ट संगठन से जुड़ा है, दूसरे कारणों से। क्या-क्या बहसें करते थे हम लोग। अब लगता है, जान छूटी। एक अलग दुनिया के लिए जीना, परेशान कर देता है। मैं यूँ भी कभी खुद को कम्युनिस्ट नहीं कह पाया, मुझे उलझन होती है। मैं और सागर अक्सर मज़ाक़ करते हैं—250 कम्युनिस्ट दल और सब पूँजी के दलदल में फँसे हुए। केके भी पहले महेश्वर के दल में था, फ़िर केके की अनबन हो गई। मुझे केके पसंद है, पर वह सागर की तरह मेरा साथी नहीं। वह अपनी नाट्य-मंडली में रहता है। खुद को कला-समीक्षक कहता है। तरह-तरह की किताबें पढ़ता रहता है। उसके पास हज़ारों क़िस्से हैं—देवी-देवताओं, पीर-पैग़ंबरों से लेकर यूनानी दार्शनिकों, अलिफ़-लैला, पंचतंत्र। वह चंद्रकांता के पैराग्राफ पर पैराग्राफ सुनाता जाता है। केके का अपना नाट्य-दल है, पर वह कहता है—'साले, सब तो बॉलीवुड जाना चाहते हैं, सड़क पर कौन घूमना चाहता है।' वह नाटक से समाज बदलने की बात करता है। मुझे वह अजीब लगता है और आकर्षक भी। उसके मन में धैर्य है और उसकी वाणी में ओज।

मैं सोचता हूँ मैं, महेश्वर, सागर, उर्मिला, केके, अशोक दा सभी तो सड़क पर हैं, फ़िर! नहीं, हम तो टैरेस पर हैं, और उर्मिला सीढ़ियों से अट्टे के ऊपर जा रही है। उसके पीछे सागर था, महेश्वर भी उधर चल दिया और फ़िर मैं भी।

हम तीनों अट्टे पर थे—दूर-दूर तक सन्नाटा लगता था। बीच-बीच में वाहनों के गुज़रने की आवाज़ आती थी। यहाँ हवा और तेज़ थी। मेरा नशा उड़ने लगा। मुझे हल्की ठंड महसूस हो रही थी। मैं धीरे-धीरे काँपने लगा। मैं अपने कान हथेलियों से ढँककर बैठा था। उर्मिला ने अपनी जेब से एक कान पर बाँधने की पट्टी निकाली और मेरी ओर बढ़ाई। उर्मिला कई देशों की यात्राएँ कर आई है, और महेश्वर भी। दोनों साथ रहते हैं। मुझे कभी-कभी उर्मिला से रश्क़ होता है। कभी हम लोग साथ पढ़ते थे। उर्मिला मुझे अप्पा की तरह लगती थी। उसे, मेरे और स्नेहा के प्रेम-विच्छेद से दुःख हुआ था। वह खासतौर पर मुझसे मिलने मेरे कमरे पर आई थी। तब तक भी शायद मैं उतना दुःखी नहीं था। मुझे स्नेहा के फैसले से चोंट पहुँची थी, मेरे सीने में फाँस-सी चुभ गई थी, मैंने सोचा था, मैंने वह फाँस निकाल फेंकी है। लेकिन ऐसा नहीं था, उस फाँस का एक टुकड़ा अंदर रह गया था, जो अब नासूर बन गया लगता है। कभी-कभी ज़ख्म कुरेदने में भी मज़ा आने लगता है। मैं जान-बूझकर स्नेहा को याद करता हूँ—वह एक मीठा दर्द है। लेकिन जब उर्मिला मुझसे मिलने आई थी, तब बात और थी। मेरे पास नौकरी थी, काम था, मुझे बाढ़ पर रिपोर्ट बनानी थी। मुझे पटना जाना था। मुझे लगता था कि सबकुछ ठीक हो जाएगा। स्नेहा मेरे बिना रह ही नहीं पाएगी। वह लौट आएगी। उर्मिला ने उस दिन कहा था—'तुममें आत्म-विश्वास की कमी है। तुम अपनी बात बोलते क्यों नहीं।'

लेकिन, मैं तो बोलता ही था। फ़िर क्या हुआ था? आलोक एसपी है, वह रौब दाब मुझमें कहाँ! और क्या बात होगी! उर्मिला अब भी मुझमे संभावना देखती थी, मुझे अच्छा लगता था। महेश्वर भी मेरे प्रति सकारात्मक था। वह मुझे अपना कैडर बनाना चाहता था।

ज्वाइंट जल्दी ही खातमे की तरफ़ था, हालाँकि मैं छोटे-छोटे कश ही ले रहा था। महेश्वर कह रहा था—'तुम क्या सोचते हो?'

मैंने एक कश खींचकर उर्मिला की ओर बढ़ाया, सागर बोला—'क्या हुआ ब्रो!'

मैंने इशारे से कहा कुछ नहीं। मैं तबसे चुप था। उर्मिला ने कहा—'उतर तो जाओगे?', फ़िर मेरी गर्दन पर अपने ठंडे हाथ फेरती हुई कहने लगी—'जी तो नहीं घबरा रहा!'

मैं ना जाने क्यूँ सीधा बैठकर हँसता हूँ और बाकी सब भी। मैं ज़ोर से थूकता हूँ, और गला साफ़ कर अपनी बात कहता हूँ—'मुझे तो केके का आइडिया ठीक लगता है।'

'क्या ख़ाक़ केके! वह इंडिविजुअलिस्ट है—घोर व्यक्तिवादी! पतनशील मध्य-वर्ग का नुमाइंदा।'

'और हम?' उर्मिला ने कहा।

'जो भी है, अब मेरी बात सुनो! मुझे नहीं लगता कि लेनिन या माओ या चे की रणनीतियाँ आज सफल हो सकती है। आज चियापास और रोजावा जैसे नए रास्ते खुले हैं। आज की दुनिया मार्क्स, लेनिन, माओ, चे की दुनिया से अलग है। निश्चित ही, इन्हीं जैसे लोगों ने इसे बदला है—विचार और व्यवहार दोनों स्तरों पर। लेकिन आज हम एक बदली हुई दुनिया में जी रहे हैं, ज़रूरत है इसे समझने की।'

'और समझकर क्या करेंगे?'

'अगर वह ग़लत है, तो उसे सही करेंगे।'

'तो आप की सोच में जब दुनिया ग़लत साबित हो जाएगी, तब आप उसे बदलने निकलेंगे। और ऐसा कब होगा, इसी जीवन में, या अगले जनम में!'

'क्या जपातिस्ता और पीकेके मूलभूत आर्थिक-प्रवर्गों को समाप्त करने का विचार रखते हैं, मुझे नहीं लगता! वे भी मुख्यतः आत्मिक-उन्नति के अवसर के अलावा कुछ नहीं!'

'हो सकता है। मैं ठीक से नहीं कह सकता, केके कह सकता है, लेकिन मैं इतना समझता हूँ कि राष्ट्र की नई कल्पना करने की ज़रूरत है, ना कि उसे समाप्त करने की। मुझे लगता है केके पोपुलर सेंटिमेंट्स नहीं समझता। तुम्हें क्या लगता है?'

केके का विरोध सुन महेश्वर को अच्छा लगा, वह बोला—'यही तो, ये लोग जनता के बीच नहीं हैं, यही सच्चाई है। लोगों के समुद्र में डूबे बिना कोई असली क्रांतिकारी नहीं बन सकता।'

'हाँ, पर मुझे उसका विचार नया और उपयोगी लगता है। आज के समय में कम्यून के बारे में सोचना चाहिए। एक नए राजनैतिक संगठन के ढाँचे के बारे में।'

'सिर्फ़ नया होने से ही क्या कोई विचार सही हो जाता है?'

'पर वो एक नया संसार रच रहे हैं! यह सच है!!'

'तो क्या रूस, चीन, क्यूबा सब फ़ैल हो गए।'

'फ़ैल-पास की बात नहीं है, वह एक समय था, आज का समय दूसरा है। रूस, चीन, क्यूबा भी बदल रहे हैं। दरअसल, मामला बदलाव को मापने का है।' सागर ने कहा। मुझे सागर की बात अच्छी लगी।

'देखो, असली फेल-पास जनता करती है, अगर केके के विचार लोग अपना लें, तो अच्छा

है। मेरी नज़र में समानान्तर-राज्य की कल्पना—राज्य के भीतर राज्य की कल्पना - सार्थक नहीं हो सकती। तुम्हें लगता है, यहाँ दिल्ली में, तुम समानान्तर-राज्य बना सकते हो, तो ऐसा ख्वाब तुम्हें ही मुबारक़! फ़र्क़ यही है, कि तुम लोग सोचते हो, हम लोग करते हैं। केके जिस उत्पीड़ित, शोषित की बात करता है, उसके साथ कुछ दिन बिताकर देखे। मेरा दावा है, वह नाटक करना भुल जाएगा। लोगों के बीच जाओ, तब पता चलेगा क्या करना है? कैसे करना है?'

'धरना करना है, जुलूस-रैली निकालना है, सभा करना है, चुनाव लड़ना है—और क्या करते हो तुम लोग?'

'और क्या सह-नेतृत्व का सवाल उठाने का यह सही समय नहीं है?' उर्मिला ने कहा।

'तो क्या तुम्हें लगता है, मार्क्स आज प्रासंगिक नहीं?' महेश्वर की आवाज़ में दुःख था।

'मामला मार्क्स का नहीं, तुम्हारी पार्टी की, उसकी रणनीति की प्रासंगिकता का है।' सागर ने कहा।

मुझे लगने लगा, जैसे हम सब मिलकर उसकी खिंचाई कर रहे हैं। मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मैं चुप हो गया। महेश्वर के दुःख पर सागर हँसने लगा। महेश्वर मुझे और सागर को केके के चेले मानता है, जो कि हम नहीं हैं। केके बनावटी नहीं है। वह खुशमिज़ाज व्यक्ति है, मुझे उसका साथ पसंद है। जबकि महेश्वर को देखकर लगता है, वह बीमार है। वह खुलकर नहीं हँसता। उसके सिर और दाढ़ी पर काले और सफ़ेद बालों का समान वितरण है। वह उर्मिला के साथ रहकर तेज़ी से इंग्लिश सीख रहा है। वह अपनी पार्टी का महासचिव बनना चाहता है। उसके दिमाग़ में यह बात बैठ गई है कि बिना इंग्लिश के वह महासचिव नहीं बन सकता। उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उसके इस ख्वाब को लोग बचकाना कहते हैं। वह सोचता है कि वह पार्टी की दशा-दिशा बदल देगा, और भारत और फ़िर पूरी दुनिया साम्यवादी बना देगा। बस उसके महासचिव बनने की देर है। पर ये पागल समाज उसे कहाँ समझता है। मेरा सिर अपने-आप झुककर मेरे घुटनों पर टिक गया था। मेरे कानों में उर्मिला की आवाज़ आती रही, फ़िर धीरे-धीरे उसकी आवाज़ एक गहरे कुएँ से आती लगी। मुझे लगा मेरा दिमाग़ सुन्न हो रहा है। उर्मिला की आवाज़ बहुत दूर चली जा रही थी—'साथी, हमसफ़र, सहकर्मी, सहचर, मित्र जैसे शब्दों का क्या कोई अर्थ है? किस दुनिया की बात...'। शब्द खोते जा रहे थे। मैंने एक-दो लम्बी साँसें लीं और कुछ याद करने लगा, पर सिर्फ़ अँधेरा ही घुम रहा था। मुझे प्यास लग रही थी। मैंने उस अँधेरे को अपनी आँखों में स्थिर किया। सागर की आवाज़ आ रही थी—

'रात दिन गर्दिश में हैं सात आसमां,
हो रहेगा कुछ ना कुछ घबराएँ क्या!'

मुझे एक और ज्वाइंट जलने का अहसास होने लगा। मुझे पीठ पर किसी का हाथ फ़िरता महसूस हुआ। मैं बैठ गया। मुझे महेश्वर का चेहरा घूमता नज़र आ रहा था। महेश्वर के कोट का नीला रंग मेरी आँखों में धुएँ की तरह लहरा रहा था। मेरे कानों में अजीब ध्वनियाँ गूँज रही थीं। मुझे भूख लगने लगी थी। मैंने धीरे-धीरे खुद को स्थिर किया।

उर्मिला कह रही थी—'ठीक लग रहा है।'

मैंने सँभलते हुए कहा—'हाँ, व्हिस्की जमती नहीं मुझको!'

'चार पैग ही तो थे।' सागर बोला। मैं आस-पास देखने लगा।

'क्या हुआ?' उर्मिला बोली, शायद उसे लगा मैं उलटी करना चाहता हूँ, वह मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगी।

'पानी है क्या?' मैंने कहा।

'हाँ, चलो, नीचे ही चलते हैं।' सागर बोला।

'हाँ, तुम्हारे गुरुजी इंतज़ार कर रहे होंगे!' महेश्वर व्यंग्य करता बोला। मैं फ़िर जागृत हो गया।

'तुम ऐसा कौन-सा तीर चला रहे हो?'

'तो क्या एके-47 लेकर सड़क पर निकल जाऊँ! हर कार्य की योजना होती है। अभी मेरी ऐसी योजना नहीं, मुझे ऐसी स्थितियाँ नहीं दिखतीं।'

'मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ!' मैंने चिढ़कर कहा।

'मैं भी नहीं!' सागर ने मुस्कुराकर कहा।

'मैं भी नहीं!' उर्मिला हँसने लगी।

'मैं तब भी हूँ!' महेश्वर ने ज़ोर देकर कहा, और उर्मिला की ओर देखकर रूठी आवाज़ में कहने लगा, '...और उर्मी तुम भी इन लोगों के साथ हो गई।'

मुझे उर्मिला के लिए उर्मी शब्द सुनकर महेश्वर से चिढ़ होने लगी। पर इस चिढ़ को महसूस कर मुझे खुद से ही चिढ़ होने लगी। हम सब क्या हो गए थे। हम लोग साथ थे और अलग-अलग। हम लोग जुड़े थे और टूट रहे थे। हम सब चुप हो गए और कश खींचने लगे। उर्मिला ना जाने किस मूड में गुनगुनाने लगी—

'पिया बिन सूनो छे जी म्हारो देस...'

उर्मिला कितना अच्छा गाती है। काश, मैं भी ऐसा गा पाता। कभी-कभी, अक्सर ही दुःख में, गाने का मन होता है। पर मैं ऐसा नहीं गा सकता। उर्मिला शास्त्रीय-संगीत सीखती है। वह जिम भी जाती है। कितना कुछ वह अकेली कर लेती है। शायद इसीलिए वह उन्नति करती जा रही है। ज्वाइंट का आखिरी कश खींचते हुए महेश्वर बोला—'जिसने मुंबई की ट्रेन पकड़ी है, वह चेन्नई नहीं पहुँच सकता।' ना जाने क्यूँ मुझे अमित की बात याद आई—महेश्वर एक बीमार ईश्वर है। उसने ऐसा क्यूँ कहा था! मेरे दिल में ख़याल आया कि चे की तरह निकल जाऊँ सैर पर—पूरा भारत घूमूँ और कहीं किसी फ़िदेल से मिल जाऊँ। क्या महेश्वर मेरा फ़िदेल हो सकता है या केके या कोई और किसी और शहर में। मैं अपनी ही कल्पना पर हँसने लगा—कोई फ़िदेल नहीं है, क्योंकि मैं चे नहीं हूँ। मैं कहीं नहीं जाऊँगा—ये शहर ही मेरा अंतिम मुक़ाम है।

मुझे प्यास लग रही थी। मैं जानता था कि सागर के ज्वाइंट्स का जखीरा भी ख़त्म हो गया है, पर उर्मिला थोड़ी देर और यहीं बैठना चाहती थी। उसने अपनी जेब से रोलिंग-पेपर निकाला और एक ज्वाइंट रोल करने लगी। ठंडी हवा ने मेरा नशा हल्का कर दिया था। मैं आकाश की ओर देखने लगा। कोई तारा नहीं था। हम लोग फ़िर बैठ गए, पर मुझे प्यास लग रही थी। मैंने कहा—'पानी लेकर आता हूँ।'

'सही है!' सागर बोला।

मैं सँभलता हुआ सीढ़ियाँ उतरा, मैंने ऊपर देखा, उर्मिला मुझे देख रही थी। मुझे लगा कोहरा छत पर उतर आया है। मैंने ना जाने किस भावना से पर्स चेक किया—बारह सौ। मैंने मन ही मन अपने एटीएम का पासवर्ड दोहराया—एक नौ नौ दो—मेरा जन्म। दोनों बल्ब धुँध की ओट में समा गए थे। मैं हॉल में उतरने वाली सीढ़ियों पर बढ़ गया। कोई आवाज़ नहीं थी। मैंने दीवार के कोने-से देखा—रुचिका के मम्मी-डैडी और एक बूढ़ा आदमी सोफ़े पर बैठे हैं। बाक़ी लोग जा चुके हैं। रुचिका वहीं सोई हुई है। मुझे अजीब लगा। मेरे पाँव वहीं ठिठक

गए। कुछ ग्लास और भुनी हुई मछलियाँ वहाँ थीं। मुझे भूख लग रही थी, और थोड़ी शराब की भी तलब थी। पर मैं उनके गंभीर चेहरों और सन्नाटे से आशंकित था। मैं कौन हूँ, यहाँ क्या कर रहा हूँ, और टैरेस पर कौन-कौन हैं? मेरे दिमाग़ में सवाल चक्कर काटने लगे। यूँ मैं रुचिका के मम्मी-डैडी से मिल चुका हूँ, पर मुझे लग रहा था, वे मुझे पहचान नहीं पाएँगे। तब मैं कैसा दिखता था, और अब कैसा हो गया हूँ! मैं दबे पाँव टैरेस पर लौट आया। अट्टे की सीढ़ियों पर खड़े-खड़े ही, मैंने जो नीचे देखा था, उन्हें बताया। उर्मिला ने अमित को फ़ोन किया और फ़िर हमसे बोली—'वो लोग निकल गए, बहुत हँगामा हुआ नीचे शायद! हम लोग टैरेस की छत से उतर जाते हैं, रुचिका से घर पहुँचकर बात कर लेंगे।'

सागर हैरानी से सुन रहा था और महेश्वर हँस रहा था। रुचिका के मम्मी-डैडी को अमित पसंद नहीं था, और ना ही रुचिका की हर दूसरे दिन की पार्टियाँ। अमित कई बार रिहेब जा चुका है। बीच-बीच में पहाड़ों पर भाग जाता है। रुचिका के माँ-बाप मानते हैं कि अमित की संगत का नतीजा है कि रुचिका ऐसी हो गई है। किसी की नहीं सुनती। उसके डैडी की बात मुझे याद है—'अगर एकमात्र संतान नहीं होती, तो मैं कब का इसे भूल चुका होता।' मुझे तब लगा था कि वे 'मार' की जगह 'भूल' बोल गए थे। मुझे वे एक सख्तमिज़ाज व्यक्ति लगे थे। वे रिटायर्ड ग्रेड वन अफ़सर थे।

हम लोग अपार्टमेंट के पीछे की तरफ़ उतरे। मैं डर रहा था। गेट पर गार्ड खड़ा दिख रहा था। मैंने सागर की बाँह पकड़कर उस ओर दिखाया। सागर बोला—'बाक़ी लोग भी तो निकले होंगे!' पर मुझे घबराहट हो रही थी। कमरे पर ही अकेला पीता, तो कितना अच्छा होता, अभी कम्बल में घुसकर नुसरत को सुन रहा होता। गार्ड ने इतना ही पूछा—'45 नंबर!'। उर्मिला ने कहा—'हाँ, भय्या!' गार्ड मुस्कुराया और उसने गेट खोल दिया।

हम लोग चौड़ी सड़क के किनारे फुटपाथ पर चल रहे थे। एक मॉल के पास आकर हम लोग खड़े हो गए।

सागर कहने लगा—'कितने सारे ख़याल चमक रहे हैं, दूर-दूर, कोई ख्वाब नाचता दिख रहा है। मैं भूलना चाहूँ भी, तो नहीं भूल सकता। सब खो गए हैं। मैं इस चौराहे पर खड़ा हूँ। किसका इंतज़ार है मुझे।'

'ऑटो का।' महेश्वर बोला।

'तुम ठीक तो हो!' उर्मिला ने कहा।

मैंने सागर को सँभाला। वह अचानक बैठ गया। वह नशे में झूम रहा था। मेरा नशा तो रुचिका के मम्मी-डैडी को देखकर ही हिरन हो चुका था। एक ऑटोवाला रुका। उर्मिला ने मेरा हाथ दबाते हुए कहा—'टेक केयर!'

'इसको भी देखना!' महेश्वर ने हँसकर कहा, 'और अपनी लाईन याद रखना—

'...शहर में चे, गाँव में माओ,

घटना घटाओ, फ़ायदा उठाओ!...'

वह मुझसे हाथ मिलाकर ऑटो में बैठ गया। मुझे महसूस हुआ उसके हाथों में शक्ति है, और मन में विश्वास। शायद वह महासचिव बन जाए।

ऑटो निकल गया—मैं मुसकुराता रह गया। महेश्वर सागर को पसंद करता था। उसने सागर के कुछ चित्र ख़रीदे भी थे। मेरे मन में ख़याल आया—महेश्वर एक भावुक आदमी है, उर्मिला और वे दोनों खुश हैं। यह सोचकर मुझे अच्छा लगा। मैं महेश्वर की लाईन दोहराता रहा।

...मॉल बन्द हो चुका था, बीच-बीच में कोई वाहन तेज़ी से गुज़र जाता था। मैं देख रहा था, एटीएम से एक गार्ड निकला और इधर-उधर देखकर पास वाली दुकान के सामने खड़े होकर पेशाब करने लगा। मैंने सड़क के उस पार एक रोशनी को रुकते देखा, तो चिल्लाया—'ऑटो।' पर वह रोशनी मेट्रो-स्टेशन की ओर चली गई। सागर बैठा-बैठा लंबी-लंबी साँसें खींच रहा था। हम दोनों ठिठुरने लगे थे। मैं चार बड़े फ़ोकसों के नीचे बने छोटे-से गोल बग़ीचे की रेलिंग से पैर टिकाए खड़ा था। जैसे ही मैंने सिगरेट जलाई, लगा सागर होश में आ गया है। पीने पर सागर का नियंत्रण नहीं है। अब बैठे-बैठे झूम रहा है, लेकिन सिगरेट चाहिए। मैंने जाकर उसे सिगरेट दी। वह फुटपाथ पर बिछी नीम की छाँव ओढ़े बैठा था।

'यार, मोहिता फ़ोन करती है कभी?'

'नहीं, क्यों?' सागर ने रूखेपन से जवाब दिया और उसी रूखेपन से सवाल किया।

'यूँ ही, ख़याल आया। ये भी क्या चक्कर है, नहीं! एक तिलिस्म लगता है कभी-कभी—लगता है किसी जादू के घेरे में था उस वक़्त। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से मिलता है, दोनों प्यार का इज़हार करते हैं, एक-दूसरे की केयर करते हैं, सेक्स करते हैं, घूमते-फ़िरते हैं, नोक-झोंक करते हैं, रूठते हैं। क्या यही प्यार है!'

'ये सेक्स बीच में कहाँ से आ गया! क्या सेक्स के बिना प्यार की कल्पना नहीं की जा सकती?'

'सेक्स और प्यार में कोई फ़र्क़ नहीं। बिना सेक्स के प्यार का क्या मतलब है? वह तो फ़िर दोस्ती है।'

'दोस्ती, प्यार, रिश्ते सब बकवास लगते हैं—मतिभ्रम। इन सम्बन्धों के साथ, या बिना इनके, पर मैं खुश रहना चाहता हूँ - बस और कुछ नहीं। रुपया हो, तो सबकुछ संभव है—दोस्ती, प्यार, सेक्स सबकुछ। आज अपने पास कुछ नहीं है, पर सबके दिन फ़िरते हैं, पिकासो भी कभी खाना खाने के लिए अपनी पैंटिंग्स बेचता था।'

'सच्चा कलाकार अपनी रचना को बेचता नहीं।'

'सच्चा क्या और झूठा क्या! हर कलाकार बाज़ार में खड़ा है। मैं अपने आप को ना धार्मिक मान पाता हूँ ना अधार्मिक, ना आस्तिक ना नास्तिक, ना दक्षिणपंथी ना वामपंथी। पर मुझे लगता है मैं किसी पाप का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ, लेकिन किस पाप का?'

'किसके पाप का?'

'पता नहीं! मैंने क्या किया मुझे पता नहीं, शायद मेरा जन्म ही पाप था। मुझे हिमालय की गोद में ही शांति मिलेगी। मेरा कहीं मन नहीं लगता। सारे दोस्त कहाँ चले गए...'

'सब अपनी-अपनी जगह सेट हैं यार। मुझे तो लगता है हमी रह गए हैं। हमी हैं, जिनमें कोई काम करने की इच्छा नहीं। हमी गुनाहगार हैं।'

'पर हम कामचोर नहीं! लेकिन बिना गर्दन झुकाए क्या कोई काम हो सकता है। मैं तो अब यही कहता हूँ—मैं अयोग्य हूँ। आपके इस सिस्टम के लायक़ नहीं। मुझे मेरे हाल पे छोड़ दीजिए। तुम्हें पता है, परसो मैंने अपने सारे सर्टिफ़िकेट्स पर रंग फ़ेर दिया... '

'...कभी-कभी मुझे लगता है, तुम्हें घर चले जाना चाहिए... कौन-सा रंग?' मैं पूछकर मन ही मन दुःखी हुआ।

'...मुझे भी कभी-कभी घर की याद आती है, पर उस याद का अंत उन लोगों को गालियाँ देते हुए ही होता है। मैं घर नहीं जा सकता... ', वह मुस्कुराने लगा, 'स्याह!'

'...मैं भी नहीं जा सकता। पर कभी-कभी बहुत घुटन महसूस होती है यहाँ। मैं खुद

को कमज़ोर महसूस करने लगता हूँ। मैं सुबह उठना नहीं चाहता। अपना ही बदन अपना साथ देता नहीं लगता। एक गहरी सुकून की नींद चाहता है, मेरा दिमाग़। जबकि तुम भी जानते हो, अभी एक साल पहले तक भी ऐसा नहीं था...'

'तब तुम नौकर थे, अब आज़ाद हो, यह भी तो सोचो!'

'पर यह आज़ादी दो महीने ही और है।'

'क्यों?'

'पैसा ख़तम हो जाएगा!'

'यही तो हम चाहते हैं!' कहकर वह हँसने लगा।—मैं भी हँसने लगा।

'फ़िर क्या करोगे?'

'फ़िर निकलूँगा फ़ेरा लगाने—अपनी आज़ादी बेचने।'

'ख़ुद को बेचना भी मुश्किल होता जा रहा है। क़ाबिलियत क्या है तुम्हारी, क्या हुनर जानते हो?' सागर जैसे जाग गया था।

'चाय का ठेला लगा लूँगा, ऑटो चला लूँगा, जिगोलो बन जाऊँगा, सुपारी-किलर...'

'अय्यार क्यों नहीं बन जाते!'

'तुम क्यों नहीं बन जाते?'

'मैं तो हूँ! तुमने मुझे ठीक से नहीं देखा!' और वह खड़ा होकर नाटकीय ढंग से हँसने लगा। कोहरे में स्ट्रीट-लाईट का उजाला उतरा हुआ था। मुझे लग रहा था, सच में वह कोई अय्यार है।

कान जैसे नींद चाहते थे...

...जब ऑटोवाले को रुपए दिए, तो मुझे हल्की नींद महसूस हो रही थी, शरीर अकड़ रहा था। मैं अन्दर से कमज़ोर महसूस कर रहा था। दिल की धड़कन की लय बदली हुई लग रही थी। कोहरा कुछ छँट गया था। भूख लग रही थी। कमरे पर मैगी तो है ही—ब्रेड और जैम भी है। मुझे जैम से आनेवाला मूँगफली का स्वाद याद आने लगा। मैंने सागर को ऑटो से बाहर निकाला। वह अपने पैरों पर खड़े होने में असमर्थ था। वह लड़खड़ाकर गिर गया। मैं उसे जल्दी-जल्दी पैग खींचते देखकर ही समझ गया था कि आज यही होनेवाला है—बियर, व्हिस्की, स्कॉच...। ऑटोवाला तुरंत बाहर निकल आया। उसकी सिर्फ़ आँखें दिख रही थीं। मैं ठंड से काँप रहा था, और कचरे के ढेर के पास सागर गिरा पड़ा था। हम उसे उठाकर फुटपाथ तक ले आए।

'पिए हैं, हम तो देखकर ही समझ गए थे।' मुझे उसकी आँखों में एक शराबी की आँखों की चमक दिखी। सागर जैसे होश में आने का प्रयास कर रहा था। पास ही बस-स्टैंड पर लगी बेंच पर पाँव रखकर बैठे दो बच्चे थे। बेंच के नीचे कोई काला कंबल ओढ़े सो रहा था। एक बोर्ड चमक रहा था—कोई नेता हाथ जोड़े हुए खड़ा था। मुझे लगा वह माफ़ी माँग रहा है, पर वह हँस क्यों रहा था! माफ़ी माँगते हुए कोई हँसता है क्या?

मैंने सागर की ओर देखा। वह अपने माथे पर तेज़-तेज़ उँगलियाँ रगड़ रहा था। ऑटोवाला उसकी पीठ सहला रहा था। वह गंभीर हो गया था। उसने मेरी ओर देखकर कहा—'तबीयत ख़राब है क्या?'

'नहीं, थोड़ा ज्यादा पी लिया है।'

वह हँसने लगा—'पकड़िए इन्हें!' मुझे आदेश-सा देकर वह ऑटो की ओर चला गया।

मैंने सागर को सँभाला। वह कुछ बुदबुदा रहा था। ऑटोवाला पानी की बोतल लेकर आया। मैंने बोतल खोलकर दो घूँट पिए।

'अरे भय्या, इनको पिलाओ!' वह चिढ़ गया था।

मैंने सागर को पानी पिलाया। ऑटोवाला थोड़ा गुस्से में, बोतल मेरे हाथ से लगभग छीनकर, निकल गया।

सागर थोड़ी देर में खड़ा होकर इधर-उधर देखने लगा। मैं उन बच्चों को देख रहा था, वे कुछ सूँघ रहे थे। उनमें से एक अचानक गिर पड़ा। दूसरा उसे बैठा-बैठा देखता रहा। मैं उस ओर चल दिया। नीचे गिरने वाला बच्चा बेहोश हो गया था। मैंने उसे हिलाया-डुलाया। दूसरा बच्चा सुन्न होकर वहीं बैठा था। उसके चेहरे पर कोई भाव नहीं था। वह कहीं शून्य में देख रहा था। मैंने नीचे लेटे हुए व्यक्ति को हिलाया—वह नहीं जागा। इतने में देखता हूँ, बेहोश हुआ बच्चा अचानक उठा और ताली बजाकर हँसने लगा, और मेरी ओर भद्दे इशारे करता ठुमक-ठुमक कर नाचने लगा। दूसरा उसी अभाव की स्थिति में बैठा हुआ था।

'नशेड़ी!' मैंने कहा।

'...नशेड़ी!' अभावग्रस्त चेहरे पर एक भाव आया। मुझे लगा, वह मुझे जानता है या उसने सागर को देख लिया था। मैं अजीब उलझन महसूस करने लगा।

'...मरोगे सालों!' कहकर मैं सागर के पास आ गया। सागर फ़िर बैठ गया था। मैंने उसे खड़ा किया और हम दोनों सड़क पार कर अपने कमरों की तरफ़ जाने वाली गली में घुस गए। गली में एक-दो दुकाने खुली थीं। एक मोड़ पर दो लड़कियाँ सज-सँवर कर खड़ी थीं। गली में लगभग सन्नाटा था। अधिकतर लोग सो चुके थे। कई अँधेरों-उजालों की ऊँचाई-नीचाई पार करते हम अपनी बिल्डिंग के नीचे पहुँचे थे। असल में ना कमरा हमारा था, ना बिल्डिंग—हम किराएदार थे, लेकिन जब तक वहाँ थे, उन्हें अपना कह सकते थे। मैं सागर का बोझा खींचते हुए सीढ़ियाँ चढ़ रहा था। यूँ वह 55 किलो से ज्यादा का नहीं होगा, पर मेरे शरीर में शक्ति कहाँ थी। मुझे सागर से कोफ़्त होने लगी। सागर जैसे समझ गया और मेरा हाथ छुड़ाकर रेलिंग के सहारे चढ़ने लगा। मैं चिढ़ गया और आहिस्ता-आहिस्ता उसके पीछे सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। उसने ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया—मुझे लगा पूरी बिल्डिंगवालों को सागर के आने का अहसास हो गया होगा। मैं अचकचा गया था। राहुल ने दरवाज़ा खोला—अन्दर साकेत बैठा शराब पी रहा था, उसने मेरी ओर देखा और मुस्कुराया। सागर दरवाज़ा खुलते ही तीर-सा निकला और टॉइलेट में घुस गया। ज़मीन पर लगे दो गद्दों में से एक के किनारे लैपटॉप के सामने बैठा साकेत मुझे देख रहा था। राहुल दूसरे गद्दे पर बैठ गया और मोबाइल देखने लगा। मैं अकेला दरवाज़े पर खड़ा था, साकेत मेरे असमंजस को समझ गया था। उसने संगीत रोक दिया था।

'आओ!' मैं सहज ही उसके पास जाकर बैठ गया।

उसने मुझसे हाथ मिलाते हुए कहा—'पीओगे!'

'क्या है?'

'ओल्ड-मोंक!'

'एक पैग!' मैं मना नहीं कर पाया। मैंने देखा राहुल मेरे आने से असहज हो रहा था।

साकेत ने मुझे पैग बनाकर दिया और मुस्कुराकर कहने लगा—'तो, रुचिका के मम्मी-डैडी से मिले!'

'तुम्हें किसने बताया?'

'उर्मिला का फ़ोन आया था बे! वही पूछ रही थी कि पहुँचे या नहीं!'

मुझे अजीब लगा। उर्मिला को क्या मतलब, हम क्या बच्चे हैं। सब दूर बताती फ़िर रही है। हम अपना भला-बुरा जानते हैं। सागर आकर हँस रहा था। मुझे और अजीब लगा—अभी तो साले से उठते भी नहीं बन रहा था, और अब हँस रहा है।

'एक मेरा भी बनाना ब्रो!' उसने साकेत से कहा और राहुल के पास जाकर बैठ गया—'कोई ग़ज़ल-वज़ल चलाओ यार! क्या मातम फ़ैलाया हुआ है।' मुझे लग रहा था, जैसे वह अभी जागा है।

सागर और राहुल बचपन के दोस्त हैं। राहुल अलग मिज़ाज का आदमी है, कम बोलता है, कम हँसता है। शराब छूता भी नहीं, कभी-कभी ज्वाइंट पीता है, वह भी सिर्फ़ सागर के साथ। कहता है, भोलेनाथ का प्रसाद है। सागर ने फुर्ती से पैग ख़तम किया और आलमारी से एक डिबिया निकाली। डिबिया से एक काली गोटी निकालकर वह जलाने लगा। चरस की महक सारे कमरे में फ़ैल गई। राहुल ने उठकर बालकनी की खिड़की खोल दी। दूसरा पैग ख़तम होते ना होते सागर ज्वाइंट बना चुका था। वह फुर्ती में था। मुझे उसका यह रूप देखकर अच्छा लग रहा था। पर मेरा शरीर ढीला पड़ता जा रहा था। आँखें बन्द हो रही थीं। सागर साकेत के पास आकर घुटनों के बल बैठ गया और अपने अंदाज़ में बोला—

'भुला भी दे उसे जो बात हो गई प्यारे,
नए चिराग़ जला रात हो गई प्यारे।'

मुझे सागर की बात से अद्‌भुत सुख महसूस हो रहा था। मैं फ़िर जाग रहा था। मैंने देखा राहुल भी मोबाइल छोड़ कश खींचने लगा था। राहुल कुछ दिनों से कनिका के पीछे पड़ा था, या यूँ कहें कि उससे संबंध बनाना चाहता था, लेकिन वह राहुल को दाना नहीं डालती थी और राहुल भी हार मानने को तैयार नहीं था। वह एक बार उससे संबंध बनाना चाहता था। उसने बताया था, कनिका के कई लड़कों के साथ संबंध थे। वह भी एक रात के लिए कनिका को इन गद्दों पर सोई देखना चाहता था। राहुल के लिए तय था कि वह शादी अपने माता-पिता की इच्छा के अनुसार करेगा। पर संबंध उसके बहुत से थे। साकेत इस तरह का नहीं था। वह कुछ-कुछ सागर और मेरी तरह का था। वह आफ़रीन से प्यार करता था। उसने मुझे उससे मिलवाया भी था। मैं और सागर पहले प्यार की चोट खाए हुए थे, और अपनी-अपनी अखंड प्रतिबद्धता दर्शाते रहते थे, पर राहुल की बातें सुनते-सुनते मेरे दिमाग़ में उन दो लड़कियों की नंगी बाहें लहराने लगीं। क्या वे ऐसी लड़कियाँ थीं—एक रातवाली। मुझे सड़क पर घुमती अलग-अलग लड़कियाँ याद आने लगी, मैं हर एक से प्यार करना चाहता था। मैं रात-रात भर संभोग करना चाहता था। अचानक कई चेहरों के बीच मुझे अमित की पुड़ियावाली दीदी का चेहरा दिखाई दिया। मुझे अजीब लगा। साकेत कह रहा था—

'क्रिकेट पर कंट्रोल क्यों है? सरकार कौन होती है, एक पॉपुलर खेल पर कंट्रोल करने वाली।'

'क्रिकेट क्या, लोग तो खेलना-कूदना ही भूल गए हैं।'

'इस सिस्टम में किसी पर भरोसा नहीं किया जा सकता।'

'भरोसा करने की ज़रूरत क्या है! मैं किसी पर भरोसा नहीं करता। अपनी ज़िंदगी ख़ुद बनानी पड़ती है। मेहनत करनी पड़ती है, दिमाग़ लगाना पड़ता है। सबकी अपनी-अपनी अलग-अलग ज़िंदगियाँ हैं। जो जैसे जीना चाहता है, जिए—कोई नहीं रोकता! लेकिन केके की तरह बड़ी-बड़ी बातें करने से कुछ नहीं होता। सरकार चट्टान की तरह होती है। इनके

सिर फूट जाएँगे और उन पर खरोंच भी नहीं आएगी। प्रधानमंत्री के सामने ये कीड़े हैं। ये दस-दस, पचास-पचास लोगों के समूह, और ये सोचते हैं कि सरकार को, राज्य को ही समाप्त कर देंगे। मैं कहता हूँ ये झाँट नहीं उखाड़ सकते! गवर्नमेंट सबकी बाप है।' राहुल ने कहा।

राहुल की बात के बाद हम लोग कुछ देर चुप रहे। साकेत ने नया गीत चला दिया, तो चुप्पी भरती हुई लगी। मुझे राहुल और महेश्वर दो ध्रुवांतों की तरह लगते हैं—लेकिन दोनों को केके से चिढ़ है, निश्चित ही, अलग-अलग कारणों से। राहुल भी उत्साह के साथ अपना लक्ष्य साधने में लगा है। वह आईएएस से कम कुछ नहीं चाहता। साकेत और वह साथ में पढ़ाई करते हैं। साकेत ने एक-एक पैग और तैयार किया। हम लोग पीने लगे। मेरी गर्दन डोलने लगी थी। कभी मेरा ध्यान गीत पर जाता था, तो कभी राहुल पर। मैं ग़ौर से उन लोगों की बातें सुन रहा था। साकेत कह रहा था—

'नहीं, नहीं—साहिर और शैलेंद्र में से किसी एक को चुनना हो तो!'

'तो मैं शैलेंद्र को चुनूँगा!' सागर बोला।

'क्यों?' मैंने कहा।

'साहिर के यहाँ फ़ारसीपन ज्यादा है, शैलेंद्र को देखो—कितनी सीधी-सच्ची ज़बान है।

'पर साहिर सीधा राजनैतिक है।'

'वह तो शैलेंद्र भी है।'

'मुझे तो दोनों में कोई फ़र्क़ नहीं दिखता।'

'फ़र्क़ क्यों नहीं है। हिंदी हिंदुओं की भाषा है। शैलेंद्र इसीलिए महान हैं, साहिर आदम और हव्वा की औलाद है, और शैलेंद्र मनुपुत्र! यही फ़र्क़ है।' राहुल ने कहा।

'साहित्य में आपकी जाति और धर्म से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता!' सागर बोला।

'फ़र्क़ तो पड़ता है!' साकेत ने कहा।

'हाँ, पर कहा क्या गया है, वह कहनेवाले से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।'

'नहीं, कहा तो बहुत कुछ जाता है, पर कैसे कहा गया है, इस पर सोचना चाहिए, और यह कहनेवाले पर निर्भर करता है। हर लेखक की अपनी आवाज़ होती है, अपना लहज़ा होता है।'

'लहज़ा क्या और आवाज़ क्या, भाव-विचार-अनुभव-भाषा सब सामूहिक होते हैं। किसी व्यक्ति की कल्पना उसकी निजी नहीं होती।'

'यही सामूहिकता तो सभ्यता है।'

'हमारी सभ्यता की एक ही भाषा है—हिंदी!'

'ये सरकारी कल्पना है।'

'ये सरकारी सभ्यता है।'

'साले सब मादरचोद हैं!' राहुल ने गुस्से में दाँत पीसते हुए कहा।

'हम तो अपने तरीक़े से सोच भी नहीं सकते।' साकेत जैसे दुआ में हाथ उठाते हुए बोला—'निसार मैं तेरी गलियों पे ए वतन...'

'...बकवास! फ़र्ज़ी ख़याल!' राहुल बोला।

'वो भी उर्दू में!' सागर ने मज़े लेते हुए कहा।

'और फ़िर एक पाकिस्तानी का ख़याल!' मैंने भी सुर मिलाया। राहुल हँसने लगा। उसने उठकर खाना गरम किया। हम लोग खाने लगे। मेरे पेट को राहत मिल रही थी। शरीर का पोर-पोर खुश हो रहा था। मैं मन ही मन राहुल को दुआएँ दे रहा था।

मैं खाने के बाद और नहीं पीना चाहता था। मेरे दिमाग़ में नींद की घुमेर थी, लेकिन सागर एक-एक पैग और बना चुका था। साकेत ने एक और हाफ निकालकर टेबल पर रख दिया था। सागर अभी और पीने के मूड में था। मेरा शरीर आराम माँग रहा था। साकेत और सागर बातें कर रहे थे। मेरे कानों में धीरे-धीरे उनकी आवाज़ें आ रही थीं। मैं दीवार से पीठ लगाकर अधजगा था। मेरे कान जैसे नींद चाहते थे।

'मैं सोचता हूँ केके की मंडली ज्वाइन कर लूँ। मैं इस तरह तो ख़तम नहीं होना चाहता। सुबह मैंने अशोक दा को देखा, पर मैं उनसे मिला नहीं। मैं नहीं मिलना चाहता। मुझे उनमें अपना भविष्य दिखाई दे रहा था। मुझे लग रहा था, मैं ही टूटकर बाज़ार में बिखर रहा हूँ, और हर कोई मेरे अंग-अंग का अलग-अलग दाम लगा रहा है। मैं डर गया था। मैं भविष्य की इस त्रासद कल्पना से घबरा गया था। मैं जानता हूँ, अगर इसी तरह चलता रहा, तो मेरी गति वही होगी। मैं वैसा नहीं होना चाहता।' मुझे लगा सागर रो रहा था। 'और कभी कभी मैं सोचता हूँ, मैं वैसा ही हो जाऊँ, अचानक—एक झटके में। मैं जैसे जी रहा हूँ, वैसे नहीं जीना चाहता।'

'तो क्या केके की तरह अपना भविष्य बनाना चाहते हो?' राहुल बोला।

'नहीं! शायद, हाँ! मैं उसके सपने में शामिल होना चाहता हूँ!'

'ये सब रोमांटिक इच्छाएँ हैं!' साकेत बोला।

'पर इच्छा तो करनी होगी!'

'मैं सोचता हूँ, जो त्याग नहीं कर सकता, उसे कुछ प्राप्त भी नहीं हो सकता। जो योजना नहीं बना सकता, वह सफल भी नहीं हो सकता। इत्तफ़ाक़ की बात और है। मुझे केके में अपने उद्देश्य के लिए सबकुछ त्याग देने का साहस दिखता है। मुझे उस पर भरोसा है। पर मुझमें उतना साहस नहीं।'

'वह ज्ञानी भी है।' साकेत बोला।

'क्या ज्ञानी! ज्ञानी-व्यानी कुछ नहीं है वो। वही मार्क्सवाद और क्या! यही अच्छे दिन हैं कि मज़े ले रहे हो, बेटा!'

'तो क्या यही रामराज्य है!'

'नहीं, कुछ तो फ़र्क़ है!'

'स्नेहा क्या इससे अब भी संबंध में है।'

'शायद नहीं, हम लोग इस बारे में बातें नहीं करते, ना ये मुझसे पुछता है, ना मैं इससे।'

'तुम लोग साले समझते नहीं, सब योनियाँ एक-सी होती हैं। अंदर कोई फ़र्क़ नहीं है।'

'दिन-भर क्या साथ ही थे?'

'हाँ!' मुझे लगा सागर फ़िर रोने लगा है। क्या वह मेरा साथ पसंद नहीं करता! क्या वह मेरी हालत पर रो रहा है, या खुद पर! या कोई और बात है! मैं आँखें नहीं खोलना चाहता था, मैं उसी अवस्था में रहना चाहता था। ध्वनियाँ खो रही थीं। गाने की आवाज़ से मैं फ़िर जागा। मैं एक झपकी ले चुका था। उठा, तो देखा राहुल सो चुका है। सागर और साकेत चुप बैठे लैपटॉप की ओर देख रहे हैं। मेरे कानों में एक मधुर आवाज़ गूँज रही थी—

'...होने को तो क्या हुआ नहीं है...'

मैंने मोबाइल निकाला—चार! मैं उठकर खड़ा हुआ, तो वे दोनों देखने लगे।

'क्या हुआ!' सागर बोला।

'सो जाओ यहीं!' साकेत ने कहा।

'चलता हूँ!' मैंने कहा।

'पैग तो ख़तम कर लो!' सागर कहने लगा।

मैंने ग्लास की ओर देखा, और एक घूँट में बाक़ी रम ख़तम कर निकल गया। सागर ने एक आवाज़ और दी थी, पर मैं अपनी धुन में था। सीढ़ियाँ चढ़ते वक़्त भी वह मधुर आवाज़ कानों में थी। मैं दरवाज़े पर पहुँचा, तो महसूस हुआ, जैसा भी है, मेरे पास अभी एक कमरा तो है, मेरा सुकूनगाह। नींद का जादू मुझे खींच रहा था।

...केवल विराम!

...कमरे में घुसते ही अजीब-सी बदबू ने मुझे घेर लिया। मैं खुद-ब-खुद चूहेदानी की ओर चल दिया। मैंने देखा, ब्रेड सूख गया था, कोई चूहा नहीं था। मुझे भूख लगी थी, पर मेरा शरीर कुछ और चाहता था। मैंने बल्ब बंद किया और बिस्तर में घुस गया। थोड़ी ही देर में, मैं धुजने लगा। फ़र्श की ठंडक मुझे किसी करवट सोने नहीं दे रही थी। मैं अधजगा था। मैं अधसोया था। मैंने मोबाइल ऑन किया। आवाज़ें आने लगीं। पता नहीं कैसे, मैं एक गहरे अंधकार की ओर बढ़ने लगा। दूर से आती हुई आवाज़ें थीं—

'मंदिर, मस्जिद ये मैख़ाने...'

नींद का जादू गहरा रहा था।

'कोई ये माने, कोई वो माने...'

...ना जाने कब, मुझे फ़िर भूख का अहसास होने लगा। ठंड से या भूख से मैं फ़िर जागा था। मैंने कम्बल हटाया और बल्ब चालू किया। मैं रसोई की ओर चल दिया। मैंने चार ब्रेड निकाले और उन पर जैम लगाकर खाने लगा। मैंने अपने कपड़े सूँघे, उनसे बदबू आ रही थी। मैंने सोचा नहा लूँ। मुझे और भूख लग रही थी। मैंने एक स्टोव पर नहाने का पानी गरम करने के लिए रख दिया और दूसरे पर मैगी उबलने का। मैं चूहेदानी की ब्रेड बदलने लगा। अभी तक चूहे की आवाज़ नहीं आई थी। मुझे शक़ था कि वह मर चुका है। ऐसी बदबू मेरे शरीर से नहीं आ सकती। मैंने पूरा कमरा तलाशा, पर वह नहीं था।

...नहाने के बाद मुझे ताज़गी महसूस हो रही थी। मैं क़व्वाली सुनते हुए मैगी खाने लगा। पेट भर गया, तो मुझे बहुत अच्छा लगा। मैं अपने कमरे को देखने लगा। मुझे सबकुछ तितर-बितर दिखाई दिया। मैंने एक सिगरेट जलाई और बालकनी में निकल आया। मेरे कमरे की बालकनी के ठीक नीचे राहुल के कमरे की बालकनी थी, ठीक मेरी बालकनी की ही शक्ल में। मैंने नीचे देखा—तीन-चार सजी-धजी औरतें गली से चुपचाप गुज़र रही थीं। उन्हें देखकर मेरे मन में विचित्र वासना पैदा हुई—मैंने खँखारकर थूका। उन्होंने रुककर ऊपर की ओर देखा, पर उन्हें कुछ दिखाई नहीं दिया। मैं देख पा रहा था, उनमें से एक रुमाल से अपनी गर्दन साफ़ कर रही थी। दूसरी औरत चिल्लाने लगी—'यू मदरफ़कर, भेनचौद...'। उसकी गालियों का स्वर तेज़ होता जा रहा था। मुझे एक क्रूर सुख की अनुभूति हुई। मैंने आहिस्ता से दरवाज़ा लगा लिया। मुझे ना जाने क्यों खुशी हो रही थी। मैं सोच रहा था, मैं इनसे तो बेहतर ही हूँ। और मैं पत्रकार हूँ, मैं अपना शरीर नहीं बेचता, और मैंने अभी तक अपने सर्टिफ़िकेट्स पर स्याही नहीं फ़ेरी है।

...वे औरतें अपना गुस्सा निकालकर चली गईं थीं। किसीने दरवाज़ा नहीं खोला था। शायद सागर और साकेत भी सो गए हैं। मैं भी फ़िर कम्बल में घुस गया। शरीर की अकड़न कुछ कम हो गई थी। लेकिन, दिमाग़ सुन्न हो रहा था। आँखों के सामने धुन्ध फैलने लगी

थी। थोड़ी ही देर में चूहे के आने की आहट सुनाई दी। मैं ना जाने क्यों मन ही मन घबराने लगा, मैं आँखें नहीं खोलना चाहता था। मुझे लगा वह वॉश-बेसिन में खाना ढूँढ रहा है। थोड़ी ही देर में उसकी आवाज़ें बंद हो गईं। पर अन्य आवाज़ें, चेहरे, मुक़ाम दिखाई देने लगे। धुंध थी, या धूप समझ नहीं आता था।

...कोई मेरा कम्बल खींच रहा है। मैं कम्बल में सिमट रहा हूँ। अप्पा मुझे जगा रही है। एक बूढ़ी औरत के चेहरे की सलवटें। पानी की बुदबुदाहटें। मैगी उबल रही है। रुचिका के मम्मी-डैडी गंभीर मुद्रा बनाए बैठे हुए हैं। एक दुकान पर नीली, सुनहरी, लाल, जामुनी पन्नियों में खिलौने रखे हुए हैं। अंडरब्रिज के नीचे कुछ बच्चे कचरे के थैलों पर बैठे व्हाइटनर सूँघ रहे हैं। मेरे हाथों में गुलमोहर के फूल हैं। बूढ़ी औरत मर रही है, मर चुकी है। हेलिकॉप्टर उड़ रहे हैं। लोग पत्थर फेंक रहे हैं। अप्पा मुझे गोद में उठाए किसी से भाग रही है। एक नदी के घाट पर हज़ारों दिये जल रहे हैं। बंदूकें चलने की आवाज़ें आने लगती हैं। एक लड़की छत पर बाल सुखा रही है, उसे गोली लगती है। अप्पा अनार के दाने निकालकर मुझे दे रही है। एक विदेशी लड़की बस में मेरे पास आकर बैठती है। उसका रंग गाढ़ा काला है, उसके बाल घुँघराले हैं। वह हृष्ट-पुष्ट है। मैं उसे देखकर चकित हूँ। उसके हाथ पर मोगरे के फूल बंधे हैं। वह हिंदी में कहती है—'चूहा!'

...मैं एक दूकान के सामने खड़ा हूँ। दूकान पर भीड़ है। मैं दूकानवाले से अपने रुपए माँगने में हिचक रहा हूँ। मैं उससे बाकी रुपए लेना भुल गया था। मैं तेज़-तेज़ चलता दूकान तक पहुँचा हूँ। मेरी साँस फ़ुल रही है। मेरे दिल पर ज़ोर महसूस हो रहा है। मेरे मुँह से आवाज़ नहीं निकल रही है। कहीं वह मना ना कर दे। कहीं वह डाँटकर भगा ना दे। मुझे थप्पड़ ना मार दे। मैं उसका चेहरा देख-देख डर रहा हूँ।

...मैं एक नाव में बैठा कहीं दूर जा रहा हूँ। स्नेहा मेरे साथ है। नाव में ढ़ेर सारे चूहे हैं। वे जल्दी-जल्दी नदी में कूदने लगते हैं। पानी की बुदबुदाहटें। नाव डूब रही है। बुढ़िया का शरीर सड़ रहा है। उस पर चूहे घूम रहे हैं। वे उसका शरीर कुतर रहे हैं। एक उसके मुँह में घुस जाता है। एक की पूँछ उसके कान से निकली पड़ी है। वह बुढ़िया नहीं स्नेहा है। मैं काँप जाता हूँ। मैं उसके शरीर पर से चूहे हटाने लगता हूँ। वह खड़ी होकर कंघी करने लगती है। मैं उसे रोकना चाहता हूँ, लेकिन मेरा शरीर मेरा साथ नहीं दे रहा। मेरे हाथ-पैर ठंडे पड़ रहे हैं। मैं अप्पा की गोद में छुप जाता हूँ। मैं आँखें नहीं खोलना चाहता। मुझे अँधेरा चाहिए। मेरा बदन टूट रहा है। मुझे लगता है, चूहा कम्बल में अपने नाख़ून घुसा रहा है। मुझे किसी बर्तन के गिरने की आवाज़ आती है।

...मैं देखता हूँ, रसोई का बल्ब चालू है। चूहेदानी में ब्रेड और जैम वैसे ही चिपके हैं। कोई दरवाज़ा खटखटा रहा है। मैं दरवाज़ा खोलता हूँ। तीन नंगी औरतें खड़ी हैं, अलग-अलग देशों की, वे मुझे अपनी-अपनी भाषाओं में गालियाँ देने लगती हैं। मैं कुछ देर उन्हें देखता हूँ, फ़िर एक की जाँघों पर काट लेता हूँ। वे तीनों भाग जाती हैं।

...अप्पा हैंडपंप चला रही है—मैं साइकिलों पर बैठे लड़कों को देख रहा हूँ। वे अप्पा को घूर रहे हैं और बीच-बीच में हँस रहे हैं। मेरी बगल में सागर का बनाया चित्र है। मुझे लगता है, वे लड़के इस चित्र को छीन लेंगे। मैं उसे और ज़ोर से अपनी बगल में दबाता जाता हूँ। इतनी ज़ोर से कि उस पर लगा काँच टूट जाता है। चमड़ी का कटना महसूस होता है। रंगीन ख़ून निकलने लगता है। अप्पा घड़ा सिर पर लेती है, और मुझे बगल में। घड़े में पानी के छप-छप करने की आवाज़ें आ रही हैं।

...मैं रसोई का बल्ब बंद कर देता हूँ। अँधेरा होते ही वही अजीब बदबू मुझ पर छाने लगती है। मुझे शंका होती है कि कुछ सड़ रहा है। मेरी पलकें बोझिल हो रही हैं। लगता है मेरी गर्दन पर कोई चिपचिपा पदार्थ लगा है। कुछ लड़कियों के चेहरे। हँसी की आवाज़ें। मैं उन्हें देखने लगता हूँ।

...मैं एक अस्पताल में कतार में खड़ा हूँ। अमित कह रहा है—

'तुम नहीं समझ सकते!'

'क्यों, क्यों नहीं समझ सकता?'

'ये थ्योरी की बातें हैं!'

'तो क्या हुआ?

'तुम पढ़ो!' मैंने देखा, अमित मेरे पापा के रूप में ढलता जाता है। अस्पताल की गंध मेरे दिमाग़ में चढ़ने लगती है। सागर की आवाज़ आती है—'ग़म ना कर ज़िंदगी पड़ी है अभी!' मेरे आँसू निकलने लगते हैं। मैं मैदान में बैठा अकेला रो रहा हूँ। कुछ बच्चे खेलना छोड़ मुझे देखने लगते हैं। मुझे उनसे डर लगने लगता हैं। ये बच्चे किसीको बता ना दें, मैं एक पॉर्न देख रहा हूँ—मुझे उस महिला की योनि नहीं दिखाई दे रही। मैं मोबाइल में उतर जाता हूँ। बच्चे हैरान खड़े रह जाते हैं।

...कोई मेरी पीठ पर पत्थर मारता है। मैं पलटकर देखता हूँ। पीछे कुछ लड़के जल्दी-जल्दी चलते हुए आ रहे हैं। मैं और जल्दी-जल्दी चलने लगता हूँ। मुझे अपना घर दिखने लगता हैं। मैं भागने लगता हूँ। घर में घुसते ही मैं देखता हूँ, एक अर्थी पड़ी है। मम्मी रो रही है। मैं अप्पा को ढूँढने लगता हूँ। अप्पा कहीं नज़र नहीं आ रही। कुछ औरतें तेज़-तेज़ रोने लगती हैं। मैं भी रोना चाहता हूँ, पर मेरी आँखों से आँसू नहीं निकलते। मैं चीख़ना चाहता हूँ, लेकिन चीख़ नहीं निकलती। गले में कुछ फँसा हुआ लगता है। मुझे उबकाई आती है—छोटे-छोटे भूरे बालों का एक गुच्छा मुँह से निकलता है।

...मैं देखता हूँ, कुछ लड़के एक ट्रक जला रहे हैं। एक लाश बहती हुई मेरे पैरों से आ टकराती है। मैं छिटककर दूर खड़ा हो जाता हूँ। मैं देखता हूँ एक स्त्री के कटे स्तन—उनसे खून बह रहा है—समुद्र लाल हो जाता है। लगता है, सूरज मेरे करीब आता जा रहा है। मैं पसीने में भीगा हुआ हूँ।

...अजीब दुर्गंध है। कोई नाला पास में बह रहा है। मैं देखता हूँ, मैं एक गड्ढे में हूँ—एक चूहा मेरी छाती पर चढ़ा हुआ है। वह अपने पंजों से मुझे दबोचने की कोशिश कर रहा है। मैं उसकी हरकतें देख रहा हूँ। धीरे-धीरे उसके नाख़ून मेरी चमड़ी पर चुभने लगते हैं। मैं उसे हटाना चाहता हूँ, पर मैं सुन्न हूँ। मैं अंदर से तिलमिला रहा हूँ, पर शरीर में शक्ति नहीं है। उसका आकार बढ़ने लगता है। मैं खुद को असहाय महसूस करने लगता हूँ। मैं उसकी विशालता से निराश होता जाता हूँ। मैं तिलमिलाना छोड़ उसे देखने लगता हूँ। मेरी ही ऊर्जा से वह बढ़ता जाता है—और धीरे-धीरे मेरा आकार ग्रहण करता जाता है। मैं उसके आकार में ढलता जाता हूँ।

...मुझे कंबल पर कुछ चलता हुआ महसूस होता है। मेरी कलाई पर कोई काटता है। मैं चौंककर जागता हूँ, कोई नहीं है—कोई नहीं है, अँधेरा है। मुझे प्यास लगने लगती है। मैं उठकर पानी पीता हूँ। चूहेदानी के हिलने की आवाज़ आती है। मैं बल्ब जलाता हूँ। चूहेदानी में अपने आपको देखकर मैं चौंक जाता हूँ। मैं खुद को देखता हूँ। मैं ठीक हूँ। मेरा सिर भन्नाता है। चूहेदानी के हिलने की आवाज़ आती है। मैं चूहेदानी को उठाता हूँ। चूहा तेज़ी से मचलने

लगता है। मैं दरवाज़ा खोलकर बालकनी में आता हूँ और चूहेदानी नीचे रख देता हूँ।

...कोहरा घना हो गया था, स्ट्रीट-लाईट का उजाला उसमें बह रहा था। मुझे ठंड लगने लगी थी। मैंने डंडा उठाया और चूहेदानी का मुँह खोला। वह अंदर की ओर घुसकर बैठ गया। हम दोनों एक दूसरे का इंतज़ार करने लगे। जैसे ही उसने गर्दन बाहर निकाली, मैंने उसका सिर कुचल दिया। वह एक चूहा था। मैंने उसकी पूँछ पकड़ी और घुमाकर, उसे उछाल दिया। वह रेल की पटरी के किनारे जाकर गिरा।

...मेरा सिर चकराने लगा। ठंड सीने में उतर गई लगी। मैं फ़िर कंबल में घुस गया। पहले मुझे फ़र्श की सीलन अपने शरीर में उतरती लगी, फ़िर लगने लगा मैं उस सीलन में उतर रहा हूँ। वह एक गहरा ठंडा गर्त है, जिसमें में सिकुड़ा हुआ उतरता जा रहा हूँ। मुझे ना जाने क्यों उबकाई आने लगी। सिर में कोई बदबू घुस गई लगी। ट्रेन के आने-जाने की आवाज़ से सिर फटने लगा। विभिन्न ध्वनियाँ कानों में गूँजने लगी। पंखे और टाइपिंग की आवाज़। पानी की बुदबुदाहटें। बाज़ार की चकाचौंध। केके की आवाज़—'बी पॉज़िटिव!', मेरी आवाज़—'क्या ख़ाक पॉज़िटिव!'। हॉर्न की आवाज़ें। एक भद्दे इशारे करता बच्चा। मुझे रुचिका के कमरे में टँगी सागर की बनाई तस्वीर नज़र आने लगी, एक कोने पर लिखा है—

'फूल खिलते रहेंगे दुनिया में,
रोज़ निकलेगी बात फूलों की।'

...मैं देखता हूँ, मैं किसी तेज़ चलती कार के बोनट पर बँधा हुआ हूँ।

...मैं देखता हूँ, मैं सिर पर शराब का ग्लास रखे किसी बिल्डिंग की छत की रेलिंग पर चल रहा हूँ, एक तरफ़ सब खड़े हैं—सारे जाने-पहचाने चेहरे, दूसरी तरफ़ गिरने का भय खड़ा है—अकेली गहराई। मेरा पैर फिसलता है....मैं जैसे किसी ठंडे अँधेरे में गिरता जा रहा हूँ। मेरा दिल ज़ोर से धड़कता फट जाता है।

...मैं आँखें खोलता हूँ, रोशनी के आवर्त्त कोहरे में घुलते नज़र आते हैं। सिर दुःखने लगता है। मैं सोना चाहता हूँ। मैं आँखें बंद कर लेता हूँ। शरीर का हर जोड़ टूटता लगता है। मैं करवट बदलता हूँ। मैं ठिठुर रहा हूँ, लेकिन मुझमें आँखें खोलने की ताक़त नहीं। कोई मेरे सीने पर अपना ज़ोर लगा रहा है। मेरा दिल दबता जाता है। मुझमें आज़ाद होने की ताक़त नहीं। मेरा दम घुटता है। मेरे मन में मुक्ति की कोई इच्छा नहीं। मैं सिर्फ़ सोना चाहता हूँ—लंबी गहरी नींद—शरीर की टूटन दूर होने तक! दिमाग़ की पीड़ा शांत होने तक!

...मैं इसी ठंडे अंधकार में अवशोषित हो जाना चाहता हूँ। मैं खुद में और सिकुड़ जाता हूँ। कंबल और कसके अपने आस-पास लपेट लेता हूँ। मैं इसी स्थिति में स्थिर हो जाना चाहता हूँ। समाधिस्थ!

...मैं अब कोई गति नहीं चाहता।

...कोई स्मृति नहीं, कोई स्वप्न नहीं, कोई वचन नहीं, कोई वासना नहीं।

...कोई छवि, कोई ध्वनि, कोई गंध, कोई स्वाद, कोई वेदना, कोई कल्पना—कुछ नहीं।

...केवल विराम!

संपर्क : मकान नं.-151, नई आबादी, ग्राम-बरखेड़ी, पोस्ट-जड़वासा, तहसील-पिपलौदा, जिला-रतलाम (म.प्र.)-457339, मो. 8839933430

दास्तान-ए-चिंटू-पिंटू

पंकज मित्र

तो हाजरीन पेश करता हूँ दो दोस्तों की दास्तान। यह दोस्त वैसे दोस्त नहीं थे जिनके बारे में चचा ग़ालिब कहते हैं कि–

यह कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह
कोई चारासाज़ होता कोई ग़मगुसार होता

देखने वाले कहते हैं कि वल्लाह दोस्ती हो तो ऐसी। चारासाज़ भी है और गमगुसार भी है। दीगर दास्तानों के किरदारों की तरह यह न तो बादशाह थे ना, अमीर, न शाहजादे थे ना अमीरजादे लेकिन बाकमाल दोस्ती थी, जिस हद तक गरीबजादों में हो सकती है। कुदरत का कारनामा कहिए या महज संजोग क्योंकि प्रयोग तो हो ही नहीं सकता। एक बड़े मैदान के दो किनारों पर बने मकानों में दो खानदानों के चश्मोचिराग एक ही दिन एक ही वक़्त पर रोशन हुए। यह बात और है कि दोनों खानदानों में कई चश्मोचिराग पहले से भी बाकायदा रोशन थे। इसलिए नए चिरागों की आमद से कोई इस कदर फैज़याब न हुआ कि फज़ां में कोई गुलाबी सी रंगत घुल जाए या मदहोश करने वाली खुशबू से मुअत्तर हो जाए या कायनात रंगीन आतिशबाजी से जगमगा उठे। नीमरोशन कमरों में साठ वॉट का एक बल्ब ही दोनों नूरे चश्मों की बलाएँ लेता रहा, पेशानी पर चमक बिखेरता रहा। दोनों नूरे नजर लख्ते जिगर अपनी-अपनी अम्माओं की गोद में दुबके रहे और दोनों के वाल्दैन अपने अपने जरिया ए मआश की राह पर चल पड़े। तो हाजरीन कमाल की बात यह थी कि दोनों दोस्तों के वाल्दैन भी आपस में दोस्ती का रिश्ता निभाते थे गोया यहाँ दोस्ती खानदानी रवायत बन चुकी थी। एक छोटी सी कालिख और तेल से सनी दुकान में मोटरसाइकिल और कदीमी स्कूटरों की मरम्मत करता और दूसरा ऐन बाजू में एक तेल बेसन से चुपड़ी दुकान में बोसीदा से शकरपारे, भिनभिनाती मक्खियों के साए तले ठंडी जलेबिया बेचता, जैसे गरीबों को रहनुमा सपने बेचते हैं। दोनों के बच्चे अपने अब्बाओं की भरसक मदद करते और भरपूर पिटते थे। शाम होते-होते सारे

गिले-शिकवे दूर हो जाते हैं जब एक के वालिद गोश्त की बोटी निहारी चाप कलेजी चूश्ता लेकर घर आते और दूसरे के बची खुची जलेबियाँ और कभी-कभी सर्द पड़ गए समोसे भी लेकर नमूदार होते और उम्मीद से भरी छोटी-छोटी आँखों की चमक बढ़ जाया करती थी। दोनों नूरे नजर लख्ते जिगर सहूलियत के लिए नाम रख लेते हैं चिंटू और पिंटू, वैसे उनके भारी भरकम नाम भी थे जिनका इस्तेमाल सिर्फ स्कूल में दाखिला लेने के बाद ही हुआ था। दोनों की दोस्ती का आगाज उसी मैदान में हुआ जो खेल का मैदान भी था और जंग का भी, दोस्ती के भी काम आया और दुश्मनी के भी। वक़्त फवक्तन किसिम-किसिम के जलसे वहाँ मुनक्किद होते रहते थे जिसमें वक़्त जरूरत शौक के हिसाब से दोनों तरफ के लोग शामिल होते। दोनों दोस्तों की वह अफसानो सी दोस्ती और तमाम तरह की सलाहियतें उसी मैदान में परवान चढ़ी। मसलन दोनों के बीच पेशाब को दूर तक पहुँचाने का मुकाबला जो बराबर होता था और थोड़े बड़े हो जाने पर स्कूल और मदरसे में सीखे गए 'अ' और 'अलिफ' पेशाब के जरिए लिखने की कोशिश, उनका प्यारा शगल था और आप तो जानते ही हैं कि शगल तो ऐसे ही होते हैं—बेमकसद, बेवजह। एक का मुंडन हुआ दूसरे का अक़ीका और दोनों बड़े खुश-खुश घुटे सिरों को आपस में रगड़ने का मश्क करते थे जैसे उन से चिंगारियाँ निकालने का इरादा रखते हों। एक का सिर बिल्कुल चिकना कर दिया गया था और दूसरे के सिर के बीचोंबीच एक मुन्नी सी चुटिया छोड़ दी गई थी जैसे अमीरों की थाली में छूट जाता है थोड़ा सा खाना। उस मुन्नी चुटिया का नाम भी वक़्त जरूरत बदलता रहता, कभी टीक, कभी टिक्की तो कभी एरियल और चुटिया का मालिक यूँ तो परेशान रहता उसके खींचे जाने से लेकिन झूठ-मूठ कहता कि उसमें था कोई जादू। बिना चुटिया वाला खामखा एहसास-ए-कमतरी में गुरुब हो जाता कि उसके क्यों नहीं है चुटिया और पूछने पर जो ज़न्नाटेदार झापड़ खाया तो थोड़ी देर तक रंग-बिरंगे तारे उसे जादू दिखाते रहे और जादू दिखाने का वादा करके ही उस कल्लन नाई ने वह धोखा अंजाम दिया... वह धोखा कि बस...। सवेरे से नया कुर्ता पाजामा पहनकर वह खुशी से चहक रहा था जबकि उसके बड़े भाई उसे देखकर वैसे ही मुस्कुरा रहे थे जैसे कबूतर को टोकरी में फँसते देख कर मुस्कुराते थे। कल्लन नाई ने पूछा जादू देखोगे? वह देखो सोने की चिड़िया! और खिच्च से कट गया छोटा सा हिस्सा उसके अरमानों का! दर्द की एक लहर सी उठी थी फिर हल्दी का लेप लगाकर चार टॉफियाँ देकर उस दर्द का मदावा किया गया था। यह पूरा वाकया किसी दुश्मन देश के जासूस मतलब उसके बड़े भाइयों में से किसी ने उसके जिगरी दोस्त के सामने बयान कर दिया। बस फिर क्या था! वह देखो सोने की चिड़िया! यही वह ज़हरआलूदा अल्फाज़ हो गए जिससे उसके अंदर गुस्से का ज्वार उठता। अगले तीन दिनों बाद जब उसके दोस्त के साथ पेशाबी मुकाबला हुआ तो उसका पेशाब ज्यादा दूर तक गया और उसने मान लिया कि इस हादसे की वजह से ही उसके पास बहुत ताक़त आ गई है। ज्यादा दूर तक मार कर सकता है वह। अहसासे कमतरी से निकलकर वह खुदयक़ीनी महसूस करने लगा कि जैसे—

दिल में एक लहर सी उठी है अभी
कोई ताजा हवा चली है अभी।

तो हाजरीन! यह बाकमाल दोस्ती बदस्तूर बनी रही बल्कि दोस्ती का यह सिलसिला परवान चढ़ता रहा और जैसे पूत के पाँव पालने में दिख जाते हैं वैसे ही पूत के हाथ भी तो कहीं दिखते होंगे। दोनों एक ही वक़्त पर गुरुजी से और मौलवी साहब से हाथों पर खजूर की संटी खाते और कोशिश करते कि उस्तादों का निशाना चूक जाए पर उस्ताद तो उस्ताद

ही होते हैं। उस्तादों के जुल्म सहते-सहते जब थोड़े बड़े हो गए और उन्हें जुल्मों का अहसास हुआ कि 'कब तक चुप रहें और सहें हम' तो तय हुआ कि दोनों दोस्त एक साथ अपने-अपने उस्तादों को सबक सिखाएँगे। बाकायदा तैयारी की गई। एक ने उसी मैदान किनारे उगी अलकुशी की झाड़ियों से अलकुशी का इंतजाम किया और दूसरे ने एक लाल चींटों वाले ढेले का। एक के उस्ताद धोती पहनते थे जिससे उनकी जाँघें नुमाया होती रहती थी और दूसरे के उस्ताद पाजामा। अगले दिन दोनों के उस्ताद दोनों को ढूँढते और उछलते नजर आए क्योंकि एक ने कुर्सी पर अलकुशी का गद्दा बिछा रखा था और दूसरे ने मौलवी साहब के इस्तिंजा करने वाली जगह पर रखे ढेले को चींटों वाले ढेले से बदल दिया था। दोनों दोस्त अपने अपने उस्तादों से भी पिटे और अपने बापों से भी पर अफसानो वाली दोस्ती न सिर्फ कायम रही बल्कि मजे मजे में आगे बढ़ती रही—एक-एक दर्जे में दो-दो साल गुजारते हुए 'यह दोस्ती हम नहीं तोड़ेगे' की तर्ज पर। लेकिन दोस्तियों को भी तो बुरी नजर लग जाती है। कभी-कभी अच्छे दिनों के इंतजार में बैठे लोगों के और भी बुरे दिन आ जाते हैं तो उनकी दोस्ती में भी एक बुरा दिन आया और ऐसी शक्ल में आया कि पूछिए मत। वाकया हुआ यूँ कि स्कूल के आधे हिस्से में लड़कियों का स्कूल था। बीच में एक दीवार थी जिसे सारे लड़के मोहब्बत की दीवार कहते थे और हर कोई उसे लाँघने की कोशिश करता था। लेकिन स्कूल के मास्टर पत्थर मार-मार कर उन्हें दीवार पर से नीचे गिरा देते थे बिल्कुल उसी तरह जैसे शैतान को पत्थर मारा जाता है। दीवार से लगा एक आम का छतनार दरख्त था। इस पर लड़के चढ़ के आम के टिकोरे तोड़कर लड़कियों की स्कूल की तरफ और पैगामे मोहब्बत भेजा करते थे। यह पैगाम- ए-मोहब्बत किसी-किसी की क़ुबूल भी हो जाती थी तालाब के किनारे उगी झाड़ियों में मिलने के वादे के तौर पर। तो विधि का विधान देखिए कि दोनों दोस्त तालाब किनारे झाड़ियों के पास पहुँचे ही थे अपनी-अपनी माशूकाओं के साथ और इज़हारे मोहब्बत का इरादा कर ही रहे थे कि नज़रें टकरा गई और जो नजरें टकराई और जो नजारा दरपेश हुआ तो जैसे आसमानी बिजली गिर गई हो। दोनों में से किसी को इल्म नहीं था कि जिन माशूकाओं को वे तालाब किनारे की हवा खिलाने लाए हैं वह दरअसल एक दूसरे के घरों की दोशीजाएँ थीं जिनके बारे में गलतफहमी थी कि वह बड़ी ही नेकबख्त, धार्मिक क़िस्म की घरेलू लड़कियाँ थी और भाइयों के सामने सिर और छातियों को दुपट्टे से ढके बिना कभी निकलती नहीं थी और यहाँ तो आज मैं ऊपर आसमाँ नीचे फिर तो हाजरीन! आप तसव्वुर कर ही सकते हैं कि क्या हुआ होगा। दोशीजाएँ क़ैद कर दी गईं 'क़ैद में है बुलबुल सैयाद मुस्कुराए'। दोस्ती में दरार पड़ गई, शीशे में बल पड़ गया, दिलों में ज़र्ब पड़ गया—'दोस्त बन-बन के मिले मुझको मिटाने वाले' अलग-अलग रास्तों से स्कूल आने लगे कि कहीं सामना ना हो जाए, चार बेंच छोड़ कर बैठने लगे कि नजरें टकरा ना जाए वैसे तो एक शायर ने कहा है कि—

दुश्मनी जम कर करो लेकिन ये गुंजाइश रहे
जब कभी हम दोस्त हो जाएँ तो शर्मिंदा न हों

लेकिन दोनों कोई ऐसी गुंजाइश रखना नहीं चाहते थे। एक ही मुआमले में दोस्ती कायम रह गई कि दोनों ने दसवीं तक आते-आते पढ़ाई, स्कूल, उस्तादों सबको अलविदा कह दिया। एक अधूरे मन से हलवाई की दुकान में बैठने लगा। अधूरे मन से इसलिए क्योंकि उसे हमेशा लगता रहता था कि वह यह बोसीदा शकरपारे और बासी जलेबियाँ बेचने के लिए पैदा नहीं हुआ है। किसी बड़े, बहुत बड़े काम के लिए पैदा हुआ है। उसे बिल्कुल इल्म नहीं था कि वह बड़ा काम क्या है या क्या होगा। दूसरा पूरे मन से बाप की मोटरसाइकिल रिपेयर की

दुकान में बैठने लगा और इल्मोहुनर से राब्ता कायम करने लगा। दिनभर बाप की झिड़कियाँ खाना और शाम में बॉडीबिल्डिंग—यही दो काम रह गए थे और इन्हीं दोनों हुनर से नाम पैदा करना यही उसकी जिंदगी का मकसद बन गया। जब दोनों हुनर सध गए मतलब जब एक अच्छे हुनरमंद मैकेनिक के तौर पर पहचाना जाने लगा और कसरती बदन भी झाँकने लगा टीशर्ट से तो बाप की झिड़कियाँ बंद हो गई। 'कुछ तो लोग कहेंगे लोगों का काम है कहना,—कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि शायद किसी दिन दिमाग गरम हो जाने की वजह से बाप को उठाकर पटक दिया था। इस सदमे की वजह से उसकी आवाज हमेशा के लिए बंद हो गई थी, पैर टूट जाने की वजह से घर में क़ैद होकर रह गया था। किसी ने वजह पूछी तो उसने बताया कि यह तो रिवायत है मुगलिया खानदान में। देखते नहीं बाप को मारे या क़ैद किए बिना कोई बादशाह बन पाया है। मोहल्ले के लोगबाग उससे थोड़ा खौफ खाने लगे थे हालाँकि खौफ की कोई वजह उसने कभी दी नहीं थी। बल्कि वक़्त जरूरत मदद ही करता लोगों की। बाप उसका खुश था कि वह काम में भी मन लगाता है और जिम्मेदारियाँ बखूबी सँभाल ली है और तो और दीनी कामों में भी वक़्त देने लगा है। नमाज के लिए बिला नागा मस्जिद जाने लगा और सुन्नत दाढ़ी भी बढ़ा ली है। और तो और अल्लाह बोलते हुए एक खास क़िस्म से गले का इस्तेमाल करने लगा है। हालाँकि इसका इस्तेमाल करते हुए उसके मुँह से थोड़ी सी खखार निकल जाती थी। अपना अक्स देखते हुए अपने पुराने दोस्त और हालिया दुश्मन की बात याद आ जाती है उसे—'अभी शाहरुख खान है और उम्र बढ़ते ही ओसामा बिन लादेन हो जाएगा'। तबीयत हुई कि जाकर कह दे कि तुम ही कौन से वही रह गए हो। शक्ल देखो अपनी! सफेद कुर्ता पाजामा, मुँह में गुटखा और लंबा सा लाल टीका और सींकसलाई शरीर पर यह बड़ी सी मूँछ! उसका क्या करोगे! आँखें भी तो गाँजे की वजह से हमेशा चढ़ी रहती हैं। हमेशा किसी न किसी भीड़ का हिस्सा बने नजर आते हो। अपनी कोई औकात है ना वक़त।

हाजरीन! दोस्ती की डोर इतनी मजबूत थी दोनों के बीच कि ठीक इसी वक़्त पर वह भी ऐसी ही बात से ग़मजदा हो रहा था कि आख़िर उसकी औकात क्या है? सब हलवाई के लौंडे के नाम से ही तो बुलाते हैं उसे। अपना कोई नाम तक पैदा नहीं कर पाया। भीड़ के पीछे-पीछे आख़िर कब तक चलेगा? किसी बड़े, बहुत बड़े काम के लिए पैदा हुआ आख़िर। और तभी वज़ीर साहब के जलसे में पच्चीस लौंडो को ले जाकर सामने की कुर्सियों पर बिठाकर वज़ीर... वज़ीर... वज़ीर करवाते हुए एक मासूम से खयाल की पैदाइश हुई उसके मन में कि बहुत पहना ली माला वज़ीर साहब को। मजा तो जब आए कि वज़ीर साहब उसे माला पहनायें। पर वजीर तो ठहरे वज़ीर! एक मामूली से आदमी की गैरमामूली ख्वाहिश के बारे में भला उन्हें क्या मालूम! वज़ीर जिनकी कड़क थी मूँछ और लोहे की थी पूँछ, जिसे हिलाने डुलाने भर से लोगों के कलेजे में हौल उठती थी। कहीं पूँछ की हरकत भर से कोई इसकी चपेट में आ गया तो जान से गया। लेकिन ख्वाहिश तो ख्वाहिश होती है—हिरण के छौनों की तरह कभी दौड़कर इधर कभी दौड़कर उधर। इस मासूम सी ख्वाहिश को दिल के किसी गोशे में पोशीदा रख छोड़ा था उसने, जो कभी-कभी दिल का ढक्कन हटाकर झाँकता था। हर मुमकिन कोशिश करता था कि किसी तरह वज़ीर साहब के क़रीब पहुँच पाए और कुछ हद तक कामयाब भी होता दिख रहा था।

क्योंकि बड़ी मशक्कत के बाद वज़ीर साहब उसे नाम से बुलाने लगे थे, हलवाई का लौंडा नहीं। इसके दो फायदे हुए सीधे-सीधे—एक तो यह कि किसी जादू से उसके पास पैसे

आने लगे, वज़ीरों के आसपास रहने वालों को आ जाते हैं, किसी चमत्कार से किसी मौजजे की तरह—पैदल से मोटरसाइकिल, बुलेट से धीरे-धीरे स्कॉर्पियो तक जाकर यह सफर मुकम्मल होता है और दूसरा यह कि वह हलवाई के लौंडे की जगह चिंटू भैया कहा जाने लगा।

वज़ीर साहब का काफिला जब भी गुजरता तो उसमें ऐन सातवें नंबर पर चिंटू भैया की काली स्कॉर्पियो चलती थी जिसके आगे की सीट पर मूँछों को अतिरिक्त ताव देकर सफ़ेद धुले कुर्ते पजामे और सफ़ेद स्पोर्ट्स शू में डैने फैलाए चिंटू भैया बैठे रहते। पीछे रहते कुछ लौंडे लपाड़े जो पिंटू गैराज के सामने से गुजरते हुए 'चिंटू भैया जिंदाबाद' के नारे भी लगाते। जिसे गैराज में मोटरसाइकिल की इंजन ट्यूनिंग करते हुए पिंटू अपनी टाइट टीशर्ट से बाहों की मछलियाँ दिखाता हुआ ऐसा मुँह बनाता है जैसे कभी जानता ही नहीं था कि चिंटू कौन है और यह हरकत हर बार चिंटू को नागवार गुजरती थी। लेकिन गैराज के सभी लड़के कसरती बदन के थे और पिंटू भैया भी अब एक इज्जतदार फर्द था जो मीलाद करवाने से लेकर हजरत दाता शाह मजार पर उर्स पर कव्वाली मुकाबला भी करवाता। मैदान में ताजिए आते थे तो जुलूस के साथ-साथ बल्कि पेश-पेश रहता था।

- एकदम जमाती हो गया है पिंटुआ ना चिंटू भैया?

- हाँ और क्या, गद्दार है साला?

- जो अपने जिगरी दोस्त का नहीं हुआ और किसका होगा? चिंटू भैया इतना किए उसके लिए!

चिंटू भैया हैरान थे कि कब उसने पिंटू के लिए कुछ किया था और जमाती जिस मायने में कहा जाता है वैसा कुछ तो था नहीं। लेकिन 'जमाती पिंटू' सुनने में अच्छा लगा। फेसबुक पर इसी नाम से 'उन लोगों' के ख़िलाफ़ लिखेगा, वही सारी बातें जो वज़ीर साहब बराबर बोलते हैं—ज्यादा बच्चे, मुल्क और मजहब में मजहब को तरजीह, गंदा रहना, तशद्दुद फैलाना —हालाँकि उसे मालूम था कि उसका पुराना दोस्त और हालिया दुश्मन उनके बारे में 'नफरती चिंटू' के ख़िलाफ़ पोस्ट लिखता रहता है—हक़ की लड़ाई, मौके नहीं मिलना, एहतजाज वगैरा-वगैरा की बातें करने वाली पोस्टें, जिन्हें पढ़ कर दूसरे खेमे में आग लग जाती थी और फिर बौछार होती नफरती चिंटू के ख़िलाफ़ जहर उगलने की। गनीमत थी कि यह लड़ाई सिर्फ़ एक हवाई दुनिया में ही लड़ी जाती चार इंच के मोबाइल के पर्दे पर और अभी तक हक़ीकत में तब्दील नहीं हुई थी।

तो जनाब हमारे चिंटू बाबू की मतलब सहूलियत के लिए जिन्हें हम नफरती चिंटू बुला सकते हैं, उनकी मासूम ख्वाहिश थी कि वज़ीर साहब उन्हें खुद माला पहनाएँ। इस ख्वाहिश की नर्मोगुदाज़ कलियाँ तब कुचल गईं जब वज़ीर साहब के इशारे पर उनके एक सिपहसालार ने जमाती पिंटू को माला पहना दी। वाकया कुछ यूँ हुआ कि दाता शाह का सालाना उर्स था और मशहूरो मारूफ कव्वाल अख्तर आज़ाद तशरीफ़ फ़रमा थे। उर्स कमेटी ने बुलवाया था। यहाँ तक तो फिर भी ठीक था कि उर्स कमेटी के सदर बन गए थे जमाती पिंटू और वज़ीर साहब को जलसे की सदारत करनी थी। सियासत का क्या है कि उसके पास तोते का चश्म, गिरगिट का रंग और जबान किसी और की होती है। इसके पहले कि कव्वाली शुरू हो वज़ीर साहब की तारीफ में कसीदे काढ़े गए, शायरों ने कुछ शेर भी कहे तुरंत फुरंत, कमेटी के सदर के बतौर जमाती पिंटू ने वज़ीर साहब का खैर मकदम किया। वज़ीर साहब तपाक से गले मिले और अपने सिपहसालार को जो हमेशा वजीर साहब के साथ-साथ रहते थे और चिंटू बाबू का मानना था कि यह कभी ना कभी जरूर धोखा देगा क्योंकि तुर्क तोता खरगोश

कभी न माने पोश। लेकिन सियासत की अपनी मजबूरियाँ होती है और यह जनाब पार्टी की बैठकों में गुलदस्ते की मानिंद पेश किए जाते थे और मिसाल दी जाती थी कि हमारी पार्टी में हर क़ौम, हर धर्म का आदमी है। किसी एक क़ौम की पार्टी नहीं है यह, जबकि जाहिरन थी। खैर इशारा पाते ही जनाब ने लपक कर जमाती पिंटू के गले में बड़ी सी माला डाल दी और मान लिया गया कि यह वज़ीर साहब की तरफ से था। नफरती चिंटू का कलेजा चाक़ हो गया, शाखे गुल पर बिजली गिर पड़ी हो जैसे। अरमानों का नब्बे फीसद हिस्सा जलकर काला पड़ गया। दस फीसद की राहत यह थी कि वज़ीर साहब ने अपने हाथों से माला नहीं डाली थी। खुदा न खास्ता ऐसा कुछ हो जाता तो शायद चिंटू खुदकुशी कर लेते, क्योंकि फिर तो उनके जिंदा रहने का कोई मकसद ही नहीं रहता ना।

और साहिबान जिस दिन वज़ीर साहब ने यह तय किया कि चिंटू को वार्ड कमिश्नर का चुनाव लड़ा कर उसका मुस्तक़बिल बनाते हैं तो चिंटू कालीन बनकर बिछ गया वज़ीर साहब के कदमों में।

- समझे बाबू चिंटू! उन लोगों का वोट है ज्यादा और सबसे बड़ी बात है कि हर घर से वोट पड़ता है। हमलोगों के यहाँ तो जानते ही हो। बस तुमको पिंटू को अपने पुरानी दोस्ती का वास्ता देना पड़ेगा, याद दिलानी होगी उसे दोस्ती की और अदावत को भूलना होगा।

पहले तो चिंटू बाबू थोड़ा नई नवेली दुल्हन की तरह ना नुकुर करते रहे लेकिन फिर एक दिन पूरे फौज-फाटे के साथ पिंटू के गैरेज पर जा पहुँचे। सारे लड़के खड़े हो गए जैसे कोई अजूबा हो गया हो। जबरदस्ती सीने में भींच लिया पिंटू को। भरे गले से बोले–

- पिंटू भाई मेरी इज़्ज़त, मेहनत, शराफत सब तुम्हारे हाथ में है।

पिंटू उजबक की तरह ताकते रहे। फिर थोड़ी देर बाद उसे तमाम सपने दिखाकर घर भेज दिया।

- तुम खुद से चलकर मेरे पास आए हो तो खाली हाथ थोड़े लौटाएँगे। बादशाह लोगों के यहाँ से भी भला कोई खाली हाथ लौटता है।

चिंटू बाबू को यकीन हो गया कि शायद उसके आँसुओं ने मन का मैल धो डाला है। मुतमईन थे कि उधर वाली टोली अगर वोट डालती है उसे एकमुश्त, तो इंतजाम हो गया समझो सात पुश्त। पर दोस्ती और सियासत तो एक साथ नहीं चल सकते ना। वज़ीर साहब तक गच्चा खा गये क्योंकि जब वोट गिने जाने लगे तो चिंटू बाबू गिनती भूल गए। इधर वालों पर तो शकोशुबहा की कोई गुंजाइश नहीं थी। लेकिन

- इन लोगों का यही है चिंटू भैया! सामने से वार नहीं करता, पीछे से करता है।

- अरे भैया! इन लोगों का भरोसा करना मतलब जहरीला नाग पर भरोसा करना।

उधर दोस्तों के साथ जाम ए कामयाबी चल रही थी, इधर चिंटू बाबू फूट-फूटकर मंदिर की देहरी को धो रहे थे। एक पक्की वाली नफरत ने उनके दिल का एक बड़ा हिस्सा घेर लिया था। सपने चकनाचूर हो गए थे और इसके टुकड़े इधर-उधर बिखरे पड़े नजर आते जिसे पिंटू और उसके साथी ठोकरों से मारते रहते थे। मंदिर की सीढ़ियों पर बैठकर कसम ली उसने कि जल्द ही वह जमाती पिंटू की पूरी जमात को नेस्तनाबूद कर देंगे। वक़्त की सितमज़रीफी कहें या खुदा की किसी कारसाज़ी का मंजर कि मैदान के किनारे बनी मंदिर की सीढ़ियों पर एक रोज एक औरत नजर आई। औरत की खूबसूरती पर वक़्त और गुरबत की धूल-मिट्टी पड़ गई थी। लेकिन सोना तो आख़िर सोना होता है। नजर आ ही जाता है। और फिर नजर ऐसी वैसी नहीं। कहते हैं ना कि–

नजर जो उठी तो दुआ बन गई
नजर झुकी तो हया बन गई
नजर नीची की अदा बन गई
नजर फेर ली तो सजा बन गई

देखकर ही लगता था कि भले घर की है और वक़्त ने कोई सितम किया है जिसकी वजह से मजबूर है, मजलूम है—'*हम रहे ना हम तुम रहे न तुम*'।

खरामा-खरामा मंदिर की सीढ़ियाँ बुहार रही थी। उठती उम्र के लड़के देख गए, कड़ियल मर्द देख गये और तो और बुजुर्गवार भी बहाने बना-बना कर हाथ जोड़ने के बहाने कई-कई बार गुजरे। पंडित जी ने कुछ खाने का सामान दे दिया। पर शाम ढलने लगी तो पंडित जी को चिंता हुई - कहाँ रहेगी अकेली औरत, वह भी जवान जहान। तभी चिंटू बाबू मय काफिले के गुज़रे। पंडित जी ने सारा वाकया कह सुनाया। चिंटू बाबू के अंदर का धर्मप्राण इंसान जाग उठा। तय पाया गया कि फिलहाल अभी दुकान में सोने का इंतजाम कर दिया जाय। हालाँकि मुतवातिर यह सवाल बना रहा कि यह है कौन? किस धर्म की है? किस जात की है? इन सवालों के जवाब वही औरत दे सकती थी पर वह...वह तो...हाय रे मालिक की कारसाज़ी! बेजुबान थी! गूंगी थी और कपड़े-लत्ते से भी पहचानना मुश्किल था। हालाँकि बाज़ लोग कपड़ों से पहचान करने के माहिर होने का दावा करते रहते हैं। कोई कहता हिंदुआनी है, साड़ी पहनती है। दूसरा कहता लेकिन साड़ी पहनने का तरीका तो देखो - सिर पर लपेट कर दोनों कानों के पीछे - जरूर मुसलमानिन है। देखने वालों ने तो आँखों की पदमा-मेघना की मछलियों से तुलना कर डाली थीं और यकीन की मुहर लगाते हुए कहा था कि सौ फ़ीसदी बांग्लादेशी! शर्त लगा लो! कुछ हद तक दावा सच भी मान लिया गया जब दूसरी सुबह उसे मस्जिद के सामने झाड़ू लगाते देखा। मौलवी साहब उसे अंदर तो आने दे नहीं सकते तो बाहर-बाहर ही सफाई करवा ली और पाँच का सिक्का हथेली पर धर दिया। बिस्कुट का एक डब्बा लेकर खाती देखी गई थी। जिसे देखकर पिंटू भाईजान का दिल उछल कर आ गया हलक में।

- मजहबी और हयादार औरत लगती है भाई जान! देखा नहीं कैसे आपको देखकर सड़क पर खड़ी हो गई पूरे एहतराम से। मदद करेंगे तो सवाब मिलेगा। रमजान का पाक महीना भी शुरू होने जा रहा है।

- पर शाम होते-होते तो नफरती चिंटू अपनी दुकान में ले जाता है इसे।

- वह तो ठहरने का कोई ठिकाना नहीं है इसीलिए। हम लोग कुछ इंतजाम कर दें। और हमारा तो फर्ज भी है ना। अपने क़ौम की औरत को कैसे ले जा सकता है हमारी आँखों के सामने से।

फिर से वही मैदान काम आया जो खेल का भी मैदान था और जंग का भी। मस्जिद और मंदिर के पास एक कमरा था जिसमें बच्चे छुपम-छुपाई खेलते थे और थोड़े बड़े हो जाने पर अपनी माशूकाओं को थरथराते लबों पर चूमते थे। शाम के बाद उधर काफी अँधेरा हो जाता था और आशिकों के काम आता था। तय पाया गया कि फिलहाल उस मजलूम का वही ठिकाना बना दिया जाए और फिर बाद में देखा जाएगा। कोई न कोई रास्ता जरूर निकलेगा। खुदा बड़ा ही रहीम और करीम है और यह औरत तो बड़ी अजीब सी थी - कभी चिंटू की दी हुई साड़ी पहन लेती तो कभी पिंटू की सलवार कुर्ती। कभी मंदिर में झाड़ू लगाती और हाथ जोड़कर बुदबुदाती देखी जाती थी तो कभी मस्जिद के सामने बुहार कर दोनों हाथों से दुआ माँगती थी। थोड़े दिनों में शक्ल सूरत निखर आई जैसे किसी पुराने कांसे के बर्तन को

इमली रगड़ कर, धो पोंछकर चमका दिया गया हो। इन दोनों दोस्तों की बाकमाल दोस्ती इस मामले में भी कायम रही। दोनों बारी-बारी से उसकी खोज-खबर लेने जाते रहे। इस एहतियात के साथ कि आमना-सामना ना हो जाए। लेकिन आख़िर बकरे की अम्मा विचारी कब तक खैर मनाती। किसी ने धीरे से मुसाहिब के कान में फूँका, मुसाहिब ने सिपहसालार को बताया और सिपहसालार ने वज़ीर को। वज़ीर बहुत संजीदा हो गए। कड़क मूँछ को घुमाने लगे। पूँछ धीरे-धीरे हिलने लगी। यह आने वाली मुसीबत का अंदेशा था। चिंटू बाबू तलब किए गये।

- तब चिंटू बाबू! ऐसे ही हिंदू हृदय युवराज बनिएगा? अबला हिंदू औरतों के साथ इतना अत्याचार हो रहा है। गजवा ए हिंद बना कर ही रहेंगे क्या?

- लेकिन मालिक! यह तय कहाँ हुआ है कि वह औरत हिंदू है?

- अरे चिंटू बाबू! औरत का कोई मजहब, जाति थोड़ी ना होती है।

पानी रे पानी तेरा रंग कैसा
चाहे जिसमें मिला दो लगे उस जैसा

चिंटू बाबू इशारा बखूबी समझ गए। दूसरे दिन से नवरात्रि शुरू हो रही थी। लाल साड़ी, सिंदूर, पूजन सामग्री लेकर खुद गए और सब ने देखा और देख कर चौंक भी गए कि लाल साड़ी पहनकर, भर माँग सिंदूर लगाकर, थाली में पूजन सामग्री धरे धीर कदमों से औरत मंदिर की तरफ चली जा रही थी। जमाती पिंटू की जमात में खलबली मच गई। चिंटू, दिन-रात में कई-कई बार खोज खबर लेते देखे गए थे उस औरत की। तय कर लिया था उसने कि इस बार पिंटू को वह खुद से आगे जाने नहीं देगा। किसी भी क़ीमत पर नहीं। पर क्या अकेले इस काम को अंजाम दे सकता है? अरे अकेला चना भी कहीं भाड़ फोड़ सकता है? लेकिन बहुत सारे चने हो जाएँ तो धरती फाड़कर शिवलिंग निकाला जा सकता है। खुद किया है उसने यह कारनामा। बनारस से खरीदा हुआ शिवलिंग, उसके नीचे पानी में भीगे हुए चने, चने फूलते गए, फूलते गए, शिवजी प्रकट होते गए—'भुंईफोड़ेश्वर महादेव' के नाम से मशहूर हुए, ऐन मस्जिद के पास वाली खाली जगह पर। एक सौ आठ घंटे के अखंड शिव-कीर्तन के बाद बाकायदा स्थापना हुई। धर्मप्राण जनता ने दिल और जेब खोलकर दान दिया था और इस दान का कोई हिसाब किताब न था, ना था कोई निगहबान।

तो साहिबान चिंटू बाबू की निगहबानी में उस औरत के दिन अच्छे कट रहे थे। शाम के बाद चिंटू बाबू की रातें अच्छी कट रही थीं। हालाँकि रात में वहाँ रुकते नहीं थे कभी। सियासत में सौ दुश्मन होते हैं। जहाँ तहाँ तो रात नहीं गुजार सकते हैं ना। खाना बढ़िया पकाती थी वह, खास तौर पर मछली। चिंटू बाबू के दोस्त अहबाब कहते - पक्का बांग्लादेशी है। इतना बढ़िया मछली बंगाली को छोड़कर कौन पका सकता है? कभी गोश्त भी आजमाया जाए। क्यों चिंटू भैया?

चिंटू भड़क गए - क्या? मुसल्लों की तरह गोश्त-गोश्त कर रहा है? अभी नवरात्रि चल रहा है। ध्यान रखना जरा इसका हम दो दिन के लिए वज़ीर साहब के साथ बाहर जा रहे हैं। पार्टी के काम से।

बस कहा गया है ना, आँख ओट तो पहाड़ ओट। रखवाले मुस्तैद न रहें तो खेत कोई भी चर जाएगा—ऐसा चिंटू भैया कहकर गए थे तो रखवाले तो बस रखवाले थे कोई मालिक तो थे नहीं। पहले भी देखा था किसी को देर रात आते और तारों के डूबने से पहले जाते। आगाह भी किया था पर चिंटू भैया ने हँसी में उड़ा दिया—

- लगता है कल ज्यादा ले लिया।

उधर जमात में भी बेचैनी थी

- का पिंटू भैया! कलमा काहे नहीं पढ़वा लेते?

- अरे है तो हमारे ही क़ौम की तो कलमा क्या, अब तो सिर्फ निकाह पढ़वाना है।

- लेकिन नफरती चिंटू का क्या करना है? इतना जहर उगलता है कि फेसबुक एकदम काला पड़ जाता है।

- यही समय का फेर है। दिन समय खराब हो तो हाथी पर बैठे आदमी को भी कुत्ता काट लेता है। नहीं तो पिंटू भाई के सामने है क्या वह नफरती। बगल में दबा लें तो टें नहीं कर पाएगा। लेकिन बात यह है कि वह तो कभी रुकता नहीं है रात को। आख़िर कौन आता जाता है?

दोनों मोहल्लों के इन मामलों के जो दागी आसामी थे, सब पर नजर रखी गई। बाकायदा वक़्त-बेवक़्त कुंडिया खड़काई गई। लेकिन कोई सुराग ही ना मिले। जिस दिन एहतियात बरतते हैं उस दिन न कोई चिड़िया न चिड़िया का पूत। लेकिन आज पिंटू भाई ने भी तय कर लिया था कि आज तो नफरती चिंटू यहाँ है नहीं। आज यह तय हो जाये हो कि वह क्या चाहती है? देर रात कंबल ओढ़कर पसेदीवार छिपे रहे बिल्कुल अकेले। नवमी का चाँद भी दम साधे इंतजार कर रहा था। तभी एक आदमी चादर ओढ़े धीरे-धीरे इधर-उधर देखता हुआ ढहे हुए मकान की तरफ आता दिखा। चेहरा दिख नहीं रहा था पर दुबली पतली काया से अंदाजा लग रहा है कहीं नफरती चिंटू तो नहीं। धीरे से कुंडी खड़काई—

कुंडी ना खड़काओ राजा
सीधा अंदर आओ राजा

दरवाजा बंद हो गया। हल्की खटर-पटर होती रही। गोश्त की खुशबू तैरकर बाहर आती, दम भर को रुकती और फिर अंदर लौट जाती। मद्धम रोशनी में जैसे दो साये गुफ्तगू कर रहे हों। धीरे-धीरे पिंटू दरवाजे के पास पहुँचे। बस कुंडी खड़काने वाले थे कि स्कॉर्पियो की तेज रोशनी की शहतीर उन पर गिर पड़ी। वह किनारे हो गए। हॉर्न की आवाज़ सुनते ही वह साया बाहर निकल कर भागा। तब तक चिंटू भैया के पाँच लड़के स्कॉर्पियो में ऐसे ही मौकों के लिए रखे गए असलहा लेकर निकल आये। वह साया तो पकड़ में नहीं आया लेकिन चिंटू की नाक की जद में गोश्त की खुशबू आ गई—नवरात्रि में गोश्त!

एक लात मारी कढ़ाई में और दूसरी कढ़ाई की मालकिन की पीठ पर जो उकड़ूँ बैठकर फटी आँखों से देख रही थी सब कुछ। माजरा समझने की कोशिश कर रही थी।

- यहीं कहीं होगा! खोजो!

रोशनी की शहतीरें इधर-उधर लपक रही थी। एक की जद में आ गया पिंटू के कंबल का एक हिस्सा। तड़ाक से हॉकी स्टिक लगी। अँधेरे में भी निशाना सटीक बैठा था। खच्चाक् से तलवार लगी। ज़द में कसरती बदन पिंटू का उसने भी दबोच लिया एक को लेकिन तब तक और लड़के आ गए। सब मिलकर जैसे बुज़कशी का खेल खेलने लगे उसी मैदान में जिसमें दोस्ती और दुश्मनी दोनों निभाई जाती थी।

- लगता है भाभी से बड़े का गोश्त बनवाया है भैया! धर्म भ्रष्ट कर दिया बेचारी बेजुबान का!

धाँय से गोली चली और चिंटू बाबू की बाँह को छूती हुई निकल गई, ऐसा पिंटू बाबू ने कहा था क्योंकि अँधेरा था तो किसी को कुछ दिखा नहीं। मान लिया गया कि पिंटू जमाती ने ही गोली चलाई थी। इधर बावर्ची खानों में झाँकने का चलन बढ़ गया था। उधर से अँधेरे

में और भी लोग जमा होते गए। एक बेजुबान हिंदू औरत का धर्म भ्रष्ट करने की कोशिश की गई थी। नवरात्रि में बड़े का गोश्त! इतनी वजह तो बहुत थी। जब तक इधर खबर हुई तब तक तो भीड़ ने गुनाह-ए-अजीम करने वाले को छोटे-छोटे टुकड़ों में तकसीम कर लिया था आपस में। किसी के हिस्से में इतना बड़ा गुनाह आया नहीं—

ना दामन पर कोई छींट न खंज़र पर कोई दाग
तुम कत्ल करो हो कि करामात करो हो

वैसे मुकदमा तो अज्ञात लोगों के ख़िलाफ़ दर्ज हुआ लेकिन चिंटू का नाम आ गया एफ आई आर. में। वज़ीर साहब ने पूँछ हिलाकर इजाजत दी तो चिंटू भैया चले गए जेल। लेकिन जैसा कि होता आया है कि कुछ साबित नहीं हो पाया और फिर यह भी कि दोनों तो बाकमाल दोस्त थे। ऐसा कुछ करने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। जमानत पर छूटकर आते ही वज़ीर साहब ने बाकायदा एक शानदार सम्मान समारोह आयोजित किया जिसमें कहा गया कि हिंदुस्तान के अदल की ताक़त ने दिखा दिया है कि यह कितनी मजबूत है। किसी बेगुनाह को कभी सज़ा नहीं मिलती। सच्चा न्याय मिलने की खुशी में चिंटू भैया का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। वज़ीर साहब ने माला पहनाई और भाषण में कहा कि पिछले सत्तर सालों में बहुत अन्याय हुआ है, पर अब नहीं। अब सब हिसाब बराबर करने का वक़्त आ गया। सत्तर सालों वाला जुमला बड़ा मकबूल हुआ था इन दिनों। इसमें सहूलियत थी और बच निकलने की सुरंग भी। सत्तर साल के बड़े से टीले के पीछे दस पंद्रह सालों की औकात ही क्या थी। छुप जाते थे। चिंटू तो बस इसी बात से खुश थे कि उनके दिल में एक जो मासूम सी ख़्वाहिश पैदा हुई थी कि वज़ीर साहब उसे खुद अपने हाथों से माला पहनाएँ, यह ख़्वाहिश पूरी हो चुकी थी। लोग आज भी कहते हैं कि यह ख़्वाहिश आख़िर उसके दोस्त की वजह से ही पूरी हो पायी थी। ऐसी बाकमाल दोस्ती! सिर्फ तीन बातों का खुलासा नहीं हो पाया था - एक तो यह कि आख़िर वह कौन था जो रात-बिरात उस औरत के घर में आता जाता था। कयास लगाया जाता है कि वह जरूर शौहर था उसका। इस वाकए के बाद वह औरत भी रातों-रात गायब हो गई—कब, कैसे किसी को मालूम नहीं। वैसे भी सियासत को ख़ून की चाट लगी होती है ऐसे प्यादों की। इनकी भला औकात ही क्या है? दूसरी बात यह कि आख़िर गोली चलाई किसने जो चिंटू बाबू की बाँह को छूते हुए निकल गई क्योंकि बाद में पिंटू बाबू के एक साथी ने देखा कि पिंटू बाबू का कट्टा तो गैराज के एक टेबल की दराज में ही पड़ा हुआ था। तीसरी और आख़िरी बात कि सचमुच गोश्त ही कड़ाही में पक रहा था तो क्या वह सचमुच बड़े का था। ऐसी बाकमाल दोस्ती की दास्तान कहते-सुनते हुए जो सर्फ हासिल हुआ या गुनाह आयद हुआ उसे तबर्रक के तौर पर मतलब कथा के बाद प्रसाद के रूप में, उसे आप लोगों में तक्सीम करता हूँ। खुदा, भगवान, गॉड जो भी अगर है तो आपके अच्छे दिन लाने की दुआ भी करता हूँ और आख़िर में दोस्ती के नाम पे यह शेर अर्ज करता हूँ—

मेरे हमसफर मेरे हमनवा मुझे दोस्त बनकर दगा ना दे
मैं हूँ दर्द-ए-इश्क से जाँबलब मुझे जिंदगी की दुआ ना दे।

संपर्क : आकाशवाणी, 6, रातू रोड, राँची-834001 (झारखंड), मो. : 09470956032

मायामृग

राकेश बिहारी

यह एक काल्पनिक कहानी है। किसी वास्तविक व्यक्ति के जीवन से इसका कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध नहीं है। किसी जीवित या मृत व्यक्ति के जीवन की घटनाओं से इस कहानी के किसी भी साम्य को महज संयोग समझा जाए।

आकंठ सोमरस में डूबे अरुणध्वज के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगी हैं। मधूलिका के कहे पर वह बिल्कुल भरोसा नहीं करना चाहता कि अंबपाली वैशाली की राजनर्तकी चुन ली गई है और अब वह लौटकर आनंदग्राम नहीं जाएगी। पर सम्पूर्ण वातावरण में गूँज रहे उसके नाम के जयघोष मधूलिका के संदेश पर समर्थन की चमकीली पन्नी लपेट रहे हैं। परिवेश में सुवास की तरह फैलती फाल्गुन महोत्सव की मंगल ध्वनियाँ उसकी नाभि में किसी चक्रवात की तरह चक्कर काट रही हैं।

सुगंधित पुष्पों की वर्षा के बीच वर्तमान राजनर्तकी पुष्पगंधा अंबपाली की उँगलियाँ थामे रत्नजड़ित रथ की तरफ हौले-हौले बढ़ रही है। अनगिनत सूर्यों की आभा से दीप्त वैशाली के राजभवन की तरफ कदम-दर-कदम बढ़ती अंबपाली को कातर पलकों से निहारते अरुणध्वज की यह दशा मधूलिका से देखी नहीं जा रही। एक भीषण मरोड़ उसका कलेजा चीरे जा रहा है। पल भर को वह खुश हुई थी कि अब अंबपाली पास नहीं होगी तो अरुणध्वज का ध्यान सिर्फ और सिर्फ उसकी ही तरफ रहेगा। लेकिन अगले ही पल कुछ शब्दों की स्मृतियाँ उसके कानों में पिघले शीशे की तरह उतरने लगीं—"आज से तुम वैशाली की राजनर्तकी हो अम्बे! अब तुम्हारे चरणों पर हजार-हजार राजकुमारों के मुकुट लोटेंगे...।" कुछ मिनट पूर्व परिवेश में गूँजे पुष्पगंधा के शब्दों की प्रतिध्वनि से मधूलिका के भीतर की वह कसक सहसा तीव्र और असह्य हो उठी है, जिसे उसने कब से मन की सात परतों के नीचे दबा रखा था। उसके लिखे हुए गीतों के बोलों के बिना जिस अंबपाली के पाँव एक भी कदम नहीं थिरक पाते थे,

आज वही अंबपाली पलक झपकते वैशाली की राजनर्तकी चुन ली गई और वह बज्जि संघ की एक आम कन्या होकर रह गई। अपने लिखे का मोल उसे हमेशा से मालूम था पर उसने कभी उसका गुमान नहीं किया। पर आज जब अंबपाली वैशाली की सुंदरतम रंगशाला की स्वामिनी चुन ली गई तो अचानक से वह खुद को रिक्तहस्त महसूस कर रही है...।

मधूलिका की तकलीफ ने रूपमंजरी को अचानक ही सोते से जगा दिया। निमिष भर को उसे यह भी नहीं समझ आया कि वह सपना देख रही थी। उसे लगा जैसे एम.ए. की कक्षा में वह सबसे अगली बेंच पर बैठी है और मदनमोहन सर श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी के नाटक अंबपाली की व्याख्या कर रहे हैं। पर अगले ही क्षण जब उसकी नज़र बगल में निश्चिंत सोये अरुण महतो की तरफ गई, अभी-अभी देखे गए सपने की स्मृति-छाया ने उसे नए सिरे से बेचैन कर दिया। पंखा का रेग्युलेटर पाँच के आखिरी पड़ाव पर अकड़ा खड़ा था और वह पसीने से तर-ब-तर थी। छत के बीचो-बीच लटकी कड़ी के सहारे तेज घूमते पंखे को वह एकटक घूरे जा रही थी कि अगले ही पल जैसे वह मधूलिका में बदल गई और अरुण महतो उसके लिए अरुणध्वज हो गया। जाने उस वक्त उसके भीतर कौन सी ऊर्जा कहाँ से संचरित हुई थी कि वह उस नाचते पंखे से भी तेज गति से उठी और नींद में डूबे अरुण महतो को फुटबाल की तरह अपने दाहिने पैर से उछाल दिया... वह पागलों की तरह चीख रही थी—'साले, हिजड़े! शर्म नहीं आती तुम्हें? तेरी ज़िंदगी मैं ढो रही हूँ और तू सपने अंबपाली के देखता है! अभी, इसी वक्त चला जा अपनी अंबपाली के पास। यहाँ क्या रखा है?' अरुण महतो को सँभलने का वक्त भी नहीं मिला। साक्षात चंडी हुई जाती रूपमंजरी के सामने वह घिघिया भी नहीं सका। यह उसके लिए अप्रत्याशित था। जाति और समाज को मुँह चिढ़ाते हुए की गई 'लिव इन' की क्रांति का यह हश्र उसने सपने में भी नहीं सोचा था। अंबपाली की सफलता ने मधूलिका को किसी नाग की तरह डँस लिया था और वह रूपमंजरी की काया में अपनी चाहतों का मोक्ष खोज रही थी।

रूपमंजरी ने जिस दिन निर्मल गोयनका फ़ेलोशिप के लिए आवेदन किया उसके पाँजरों को जैसे पंख लग गए थे... वैसे तो उसके पास व्यावहारिक काम का बहुत लंबा अनुभव नहीं था, पर उसकी लगन और केसरयुक्त दूधिया रंगत के मिलेजुले प्रभाव ने बी.जे. के दौरान ही उसे एक बड़े मीडिया समूह से जुड़ने का अवसर दे दिया था। उसके चेहरे के नमक और परिश्रम की चमक की खूबसूरत जुगलबंदी का ही यह नतीजा था कि फ्रीलांसिंग के दिनों में भी कभी उसे फैशन और सिलाई बुनाई वाले पन्नों के लिए कागद कारे नहीं करने पड़े। स्त्री मुद्दों पर लगभग एकतरफा आग उगलती उसकी लेखनी को लोग भले बहुत गंभीरता से नहीं लेते हों, पर उसके मुँहफटपन के कारण उसकी सार्वजनिक छवि एक दबंग स्त्री की जरूर बन गई थी। उस रात फुटबॉल की तरह उछाल दिया गया अरुण महतो भले ही अगली ही सुबह अपने गाँव लौट गया था, लेकिन उसकी सोहबत में लगा कविताई का रोग पहले प्रेम की स्मृतियों की तरह रूपमंजरी के वजूद का स्थायी हिस्सा हो चुका था। उसका शहर जहाँ से उसने बी.ए.-एम.ए. की पढ़ाई की थी, उसकी दूसरी कमजोरी थी, जिसके आगे वह हमेशा ही भावुक हो जाती थी। अपने शहर का कोई भी नवागंतुक जो करियर के लिए संघर्ष कर रहा हो कब उसका भाई-बहन हो जाता उसे भी नहीं पता चलता। दैनिक नवज्योति का स्थानीय संपादक संजीव कश्यप दफ्तर में बहुत अकड़कर पेश आता था। जिस कारण वह उससे चिढ़ी हुई रहती थी। लेकिन जब उसे पता चला कि उसकी ननिहाल उसके गृहनगर रेणुकूट से कुछ ही किलोमीटर दूर स्थित अचलेश्वर महादेव मंदिर के पास है, उसने अचानक खुद को उसके बहुत निकट

महसूस करना शुरू कर दिया था। अमूमन अपने शहर के लोगों के साथ भैया-दीदी का रिश्ता जोड़ बैठनेवाली रूपमंजरी ने जानबूझकर संजीव कश्यप के मामले में खुद को इन रिश्तों की परिभाषा से दूर रखा था। उस दिन टेस्टीमोनियल लिखवाने जब वह उसके मयूर विहार स्थित आवास पर गई, उसे पहली बार पता चला कि संजीव सिंगल है। यह जानकारी कुबेर के खजाने की तरह उसके हाथ लगी थी जिसे उसने किसी महाकंजूस की तरह सम्हाल कर रख लिया। दरअसल संजीव कश्यप ने ही उसे निर्मल गोयनका फ़ेलोशिप के बारे में पहली बार बताया था। बताया क्या था, इस बात के लिए आश्वस्त भी किया था कि वह सिर्फ आवेदन कर दे बाकी का सबकुछ वह देख लेगा। रूपमंजरी कोई दूधपीती बच्ची नहीं थी कि 'सिर्फ आवेदन कर देने' और 'सबकुछ देख लेने' के मध्य स्थित अंतरालों के भावार्थ नहीं समझती हो। उसकी मुस्कुराहट ने संजीव कश्यप को बिना कुछ कहे ही यह समझा दिया था कि उसने उसके कहे और अनकहे दोनों ही शब्दों के सही-सही अर्थ समझ लिए हैं।

मय टेस्टीमोनियल फ़ेलोशिप का आवेदन जमा करने के बाद घर लौटते हुए जब उसकी निगाहें आसमान की तरफ गईं, पूर्ण वृत्ताकार खिल रहे चाँद को देख उसे याद आया आज शरद पूर्णिमा है। शरदपूनो की चाँदनी में भीजे खीर का वह अद्वितीय आस्वाद, जो उसकी स्मृतियों का अविकल हिस्सा है, जुबान के रास्ते उसके मन और आँखों तक को शीतल कर गया। किस उत्साह से माँ आज के दिन चिरौंजी, किशमिश और छोटी इलायची डालकर रबड़ी-सी लदबद खीर बनाती थीं। पर जबसे अरुण महतो के साथ वह दिल्ली आई माँ-बाबूजी ने उसे हमेशा-हमेशा के लिए भुला दिया। दुपट्टे के कोर से अपनी आँखें पोंछते हुए उसने पास के मदर डेयरी बूथ से एक लीटर फुलक्रीम दूध लिया और तेज कदमों से अपनी सोसायटी के गेट की तरफ बढ़ गई।

डिनर के बाद खीर बनाकर छत पर आते-आते लगभग बारह बज गए थे। छन्नी से ढंके खीर के बर्तन को रूपमंजरी ने बड़ी सावधानी से सिंटैक्स की पानी टंकी के सर पर किसी मुकुट की तरह रख दिया और खुद वहीं एक कुर्सी पर बैठ चाँद की धवल गोलाइयों में खो गई। चाँद के रथ का पहिया मदिर-मंथर गति से घूम रहा था और रूपमंजरी की निगाहें लगातार चाँद से बतिया रही थीं। जाने उस रात की बरसती चाँदनी में क्या था कि उसे मदनमोहन सर की याद हो आई। कितने सुदर्शन थे वे... और उनकी आवाज़ जैसे इस शरदपूनो की बरसती चाँदनी हो... क्लास की सभी लड़कियाँ उनके चाँद-से मुखड़े और चाँदनी-सी आवाज़ की दीवानी थीं लेकिन उनका दुर्वासा वाला क्रोध सबको अनुशासन में रखता था। उनके क्रोध के जाने कितने कड़वे किस्से उसके जेहन में तिर आए थे। पर अभी वह उन कसैले किस्सों को बिलकुल भी याद नहीं करना चाहती। आसमान से झरती चाँदनी और स्मृतियों में बसी उनकी आवाज़ में अपना अगजग भूल वह बाहर-भीतर समान रूप से भींज रही है... वैशाली के शरद उपवन में स्थित तालाब में चाँद का मनोहारी बिम्ब निहारती अंबपाली के शब्द मदनमोहन सर की आवाज़ में शहद की तरह बूंद-बूंद टपक रहे हैं-

चयनिके! आदमी चाँदनी क्यों पसंद करता है, तू जानती है?

शायद इसलिए कि चाँदनी बड़ी शीतल होती है भद्रे!

दुर पगली, कहीं आदमी शीतलता पसंद करता है? आदमी चाँदनी इसलिए पसंद करता है कि इसमें एक कुहेलिका है, प्रहेलिका है। सत्य के सीधे-सादे वास्तविक रूप से आदमी घबराता है... वह निखालिस न सत्य पसंद करता है न असत्य। वह दोनों का सम्मिश्रण खोजता है। आदमी अंधकार नहीं पसंद करता, क्योंकि वह उससे डरता है। यों ही सूरज की रोशनी भी

उसे पसंद नहीं, क्योंकि वह सब चीजों को उसके सामने नंगा-सा करके रख देती है। चाँदनी वह इसलिये पसंद करता है कि उसमें न तो अंधकारवाला डर है। न रोशनीवाला नंगापन! आदमी स्वभावतः रहस्यवादी होता है, चयनिके!

चाँदनी के आखिरी पहर में पास के मस्जिद से आती अजान की आवाज़ से जब रूपमंजरी की तंद्रा टूटी उसने थोड़ी दूर सरक गए चाँद से यह वादा लिया कि वह फ़ेलोशिप के तहत लिखे जानेवाले उसके शोध का रहस्य किसी को नहीं जानने देगा, संजीव कश्यप को तो बिलकुल ही नहीं। चाँदनी में भींजी खीर का बर्तन लिये सीढ़ियों से उतरती रूपमंजरी को अपनी सहेली क्रान्ति के शब्द याद हो आए थे—'मेरे घर को अपना घर समझना, रूप!'

फिल्म एंड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट पुणे जाने से पहले आई. पी. एक्सटेंशन स्थित अपने वन बीएचके फ्लैट की चाभी जब क्रान्ति ने उसे सौंपी थी तब उसे कहाँ पता था कि वह उससे निर्मल गोयनका फ़ेलोशिप के लिये लिखे जाने वाले शोध की कुंजी थाम रही है। हेमंत उन दिनों बीबीसी में काम करता था। प्रेस क्लब की पार्टियों में वह उससे कई बार मिल चुकी थी। सोमवार को उसका वीकली ऑफ होता था। संजीव कश्यप ने जिस दिन रूपमंजरी को फ़ेलोशिप अवार्ड होने की सूचना दी, उसके ठीक बाद ऐसे ही सोलह सोमवारों को उसने हेमंत के साथ मिलकर क्रान्ति के फ्लैट में अपने फ़ेलोशिप के शोध की रहस्यगाथा लिखी।

निर्मल गोयनका ट्रस्ट को भेजने के पूर्व रूपमंजरी ने शोधपत्र का अंतिम प्रारूप संजीव कश्यप को मेल किया था। शोधपत्र का एक-एक शब्द शोधकर्ता के श्रम और मेधा का जीवंत गवाह था। उसे एक बार विश्वास ही नहीं हुआ कि रूपमंजरी इतना तार्किक, गंभीर और शोधपरक काम भी कर सकती है। संजीव कश्यप की पत्रकारिता की दुनिया में तूती बोलती थी। सत्ता और विपक्ष हर खेमे के नेताओं के साथ उसका रोज का उठना बैठना था। रूपमंजरी ने जब से उसके अनकहे को भी बूझना शुरू कर दिया है, उसने जैसे उसकी सारी चिंताएँ खुद ओढ़ ली है।

अगले दिन जब रूपमंजरी उसके दफ्तर आई संजीव ने उसे एक लिफाफा थमाया था—"शानदार रिसर्च वर्क के लिए तुम्हें ढेर सारी बधाइयाँ!" स्वभाव से अतिउत्साही रूपमंजरी को धन्यवाद कहना भी याद नहीं रहा। बिना किसी विलंब के उसने लिफाफा खोला और उसकी आँखें खुशी और आश्चर्य से फटी की फटी रह गईं। उसे विदेश मंत्रालय की राजभाषा समिति का सदस्य मनोनीत किया गया था। संजीव कश्यप के बधाई देने के इस अलहदे ढंग पर वह रीझ गई थी। दिसंबर की मुलायम धूप की खुशबू से भीगा वह दिन कुछेक घंटों में ही उनके जीवन का सबसे बड़ा दिन बन गया था। उसी शाम रूपमंजरी पांडव नगर के अपने वन बीएचके फ्लैट को अलविदा कह मयूर विहार स्थित संजीव कश्यप के एचआईजी फ्लैट में आ गई थी।

देर रात कमरे की लाइट ऑफ कर रज़ाई खींचते हुए रूप को वह दोपहर याद हो आई जब वह बढ़ी हुई धड़कन और भय से सींझी साँसे लिए अरुण महतो के साथ स्टेट ट्रांसपोर्ट की बस में रेणुकूट से बनारस जाकर दिल्ली की ट्रेन में बैठी थी। जगमग बेडरूम की लाइट क्या ऑफ हुई उन दोनों के बीच खिली रोशनी ने भी अपनी पलकें मूँद ली। उनके बीच उग आए इस सर्द अँधेरे को संजीव कश्यप ने शिद्दत से महसूस किया, पर उस वक्त उसने रूप को छेड़ना उचित नहीं समझा। रात के तीसरे पहर रूप की सिसकियों से जब उसकी नींद खुली, बिना कोई अपराध किए ही वह खुद को अपराधी महसूस कर रहा था।

"तुम्हें यह बताना मैं जरूरी समझती हूँ कि मेरी एक सात साल की बेटी भी है, जो मेरी बहन के साथ गया में रहती है।"

रूपमंजरी को सम्हालते हुए संजीव ने उस क्षण पहली बार यह महसूस किया कि वह उसे प्यार करने लगा है। उसकी आवाज़ में दीये की प्रज्ज्वलित लौ का कंपन था—"यह कोई रोने की बात है क्या? हम उसे अगले ही वीक यहाँ ले आएँगे।"

संजीव कश्यप के शब्दों में घुली अप्रत्याशित शांति को रूपमंजरी ने उन दोनों की संयुक्त साँसों की रोशनी में टटोलने की कोशिश की थी—"मुझे तुम्हारी इस बात पर खुश होना चाहिए, लेकिन मैं जानती हूँ कि तुम भावातिरेक या कि प्रेम की उत्तेजना में बोल रहे हो।" वह कहना चाहती थी कि दूसरे के बच्चे को अपनाना इतना आसान नहीं होता, पर चुप रह गई।

"यदि तुम्हें भरोसा नहीं, तो चलने के पहले मैं फैमिली प्लानिंग का ऑपरेशन करवा लूँ?" संजीव कश्यप ने जैसे रूपमंजरी के अनकहे को भी समझते हुए उसकी थमी हुई रुलाई में चुटकी भर हँसी घोलने की कोशिश की थी।

इन भावुक क्षणों में भी रूप भीतर से चैतन्य थी—"उसे यहाँ लाकर मैं तुम्हारी जिम्मेवारियाँ नहीं बढ़ाना चाहती। हाँ, तुम चाहो तो हम उसे शिमला या देहरादून के किसी बोर्डिंग स्कूल में डाल सकते हैं। दिल्ली से आना-जाना भी आसान रहेगा।"

कुछ क्षण पहले भावुक हो आए संजीव ने जैसे मुक्ति की साँस लेते हुए रूपमंजरी को अपने आलिंगन में ले लिया। रूप संजीव की साँसों के इस आरोह-अवरोह को तनिक भी नहीं समझ पाई और खुद को उसकी भुजाओं में सिमट जाने दिया। भोर का आखिरी तारा जब आसमान के नीले सरोवर में डुबकी लगाकर धरती के दूसरे छोर पर केसर घोल रहा था, अरुण महतो के साहचर्य की निशानी दिव्या की छवि आँखों में लिए रूपमंजरी की पलकें निश्चिंतता और नींद के बोझ से भारी हो रही थीं।

दिव्या के लिए निश्चिंतता तलाशती रूप को उस सुबह फिर से अरुणध्वज का सपना आया। अंबपाली के अंतहीन इंतज़ार में पल-पल घुलते अरुणध्वज का सर अपनी गोद में लिए मधूलिका किसी तरह आँचल की किनारी से अपने आँसू पोंछ रही है। अम्बे-अम्बे की रट लगाता अरुणध्वज बार-बार मूर्च्छित-सा हो जा रहा है। पास ही पड़े काँसे के लोटे में कपास डुबो कर मधूलिका उसके तप्त शुष्क होंठों के बीच बार-बार पानी की कुछ बूंदें निचोड़ देती है। पिछले दस दिनों में तीन बार उसने अपनी अलग-अलग सखियों को अंबपाली तक इस उम्मीद में भेजा है कि वैद्य और औषधि का इंतजाम हो सके। पर राजप्रासाद में आजकल 'वैशाली नृत्य महोत्सव' की तैयारी चल रही है। यह महोत्सव अंबपाली के निर्देशन में ही सम्पन्न होना है। सो इन दिनों उसे साँस लेने की भी फुर्सत नहीं। इसी कारण कल्याणी, कंचना और कलावंती तीनों में से कोई उस तक नहीं पहुँच सकीं।

दो घड़ी दिन चढ़ने के बाद जब रूपमंजरी जागी, उसका सिर दर्द से भारी था। शायद यह सपने का ही असर था कि उसकी चेतना में रुलाई और कराह की मिलीजुली ध्वनियाँ मधुमक्खियों की तरह लगातार भन्न-भन्न कर रही थीं। संजीव साइड टेबल पर एक चिट छोड़कर दफ्तर जा चुका था। किचन से भर मग स्ट्रॉंग ब्लैक टी लेकर जब वह सोफ़े पर बैठी उसे अपने मोबाइल की याद आई जिसे उसने कल शाम यहाँ आने के बाद ही स्विच ऑफ कर दिया था। संजीव उसके इस समर्पण पर मुग्ध था और वह मन ही मन इस बात के लिए सुकून महसूस कर रही थी कि संजीव के सामने किसी और का फोन नहीं आएगा। मोबाइल ऑन करते ही व्हाट्सऐप पर एक के बाद एक उसकी बहन शुभ्रा के तैंतीस मैसेज डिलीवर हुये। कई सारे मिस्ड कॉल अलर्ट भी... दिव्या को कई दिनों से तेज बुखार है, सिर दर्द, उलटी भी... डॉक्टर को दिखाया पर दवा कोई असर नहीं कर रही... रूपमंजरी बेतरह परेशान हो

गई। बिहार में चमकी बुखार फैला हुआ है... चमकी बुखार का ध्यान आते ही जैसे वह भय के किसी समन्दर में डूब गई। लगा उसका पूरा शरीर घूमने लगा है और वह चक्कर खाकर गिर जाएगी। सारी दुनिया में दबंग और मरदानी जैसे विशेषणों से नवाजी जानेवाले रूप ने किसी तरह खुद को सम्हालते हुये, रोते-रोते संजीव का फोन मिलाया।

"शुभ्रा को कहो, दिव्या को लेकर एयरपोर्ट आने की तैयारी करे और तुम मुझे उसका मोबाइल नंबर दो। मैं अभी उनकी टिकटें काटता हूँ।" संजीव के सधे हुए शब्दों ने उसे आश्वस्त करने की हरसंभव कोशिश की थी, पर माँ का हृदय शब्दों से कहाँ आश्वस्त होता है? उसका भी नहीं हुआ।

संजीव दिव्या को एयरपोर्ट से सीधे गुड़गाँव के मेदान्ता हॉस्पिटल ले गया। वह ड्राइवर के साथ वाली सीट पर बैठा था। रूपमंजरी शुभ्रा और दिव्या के साथ पीछे वाली सीट पर थी। दिव्या का शरीर जैसे सूख कर कांटा हो गया था.... चेहरे से बाहर निकल आने को आतुर उसकी आँखों में भयावह पीलापन फैला था। रूप पूरे रास्ते दिव्या को अपनी गोद में लेने की कोशिश करती रही पर वह शुभ्रा के कलेजे से ऐसे चिपटी हुई थी जैसे शरीर से प्राण। शुभ्रा की चुप्पी में वात्सल्य की बेबसी थी और रूप की रिसती आँखों में एक अनाम अपराधबोध... एडमिशन की औपचारिकता तीव्र से भी तीव्रतर गति से पूरी होने के बाद जबतक डॉक्टर ने दिव्या को वेंटिलेटर पर डाला, उसके जीवन की चिड़िया मेदान्ता हॉस्पिटल के आईसीयू का पिंजड़ा खोल किसी अनाम उड़ान पर निकल गई...।

शुभ्रा और रूपमंजरी एक साझे हाहाकार में डूब गए थे... संजीव ने अपने जीवन में ऐसी चीत्कार की कभी कल्पना भी नहीं की थी... शुभ्रा रूप को झकझोरते हुए लगातार चीख रही थी... अथाह पीड़ा में डूबती रूपमंजरी को लगा उस क्षण वह अंबपाली हो गई है और मधूलिका उसे धिक्कार रही है... "जो ज़िंदगी नहीं ढोता उसे लाश ढोनी पड़ती है... मैंने इसकी ज़िंदगी ढोई अब तुम इसकी लाश ढोओगी...।" रूपमंजरी को यदि संजीव ने न सम्हाला होता तो शायद वह हॉस्पिटल की बालकनी से कूद कर जान देती। उस वक्त जब संजीव ने उसे खींच कर अपने कलेजे से भींचा उसकी अविरल बहती आँखों में अरुण महतो की छवियाँ कौंधी थीं। उसको गए सात साल से ऊपर हो गए। उसे तो पता भी नहीं होगा कि उसके जाने के बाद इस दुनिया में उसकी एक बेटी भी आई थी जो आज...।

दिव्या का इस तरह चला जाना रूपमंजरी को बेतरह तोड़ गया। पत्रकारिता, फ़ेलोशिप और राजभाषा समिति में नामित किए जाने की सुखों की सभी धाराएँ जैसे झटके में सूखकर रेत का ढूह हो गई थीं। संजीव हर तरह से उसे सम्हालने की कोशिश कर रहा था, पर वह तो जैसे किसी अंधे कुँए में गिरकर अपना रास्ता खो चुकी थी। गहन उदासी के बीच रुदन का एक हिमखंड सरस्वती की गुप्त धारा की तरह आठों पहर उसके सीने में रिसता रहता। पर, संजीव किसी जीवनरक्षक उपकरण की तरह हर पल उसके साथ था। रूप ने घर से बाहर निकलना भी लगभग छोड़ दिया था। कविता और गीत-संगीत में संजीव की गहरी दिलचस्पी थी। उसकी पर्सनल लाइब्रेरी में न सिर्फ हिंदी बल्कि दुनिया की तमाम भाषाओं के कवियों के कविता-संग्रह मौजूद थे। रूप अब उन्हीं के आसरे थी। जगजीत और चित्रा की गाई ग़ज़लें उसे हमेशा से प्रिय रही हैं, पर उन दिनों चित्रा सिंह की आवाज़ में घुला दर्द उसके जख्मों पर किसी मरहम का अहसास कराता था। अपने बेटे की मृत्यु के बाद चित्रा ने भले गाना छोड़ दिया हो, पर उसके दुःखों का अपनापन मन ही मन उसे उसकी सबसे अंतरंग सहेली बना चुका था। कमरे की लाइट ऑफ कर उसकी आवाज़ में ग़ज़लें सुनते हुए कई बार सारी-सारी

रात वह और चित्रा सिंह आपस में अपना दुःख बाँटते रहते थे।

निराला की 'सरोज स्मृति' से गुजरना हमेशा से उसे बहुत तकलीफदेह लगता रहा है। पर आजकल पुनः-पुनः उसे पढ़ते हुए वही तकलीफ उसके लिए बहुत अपनी-सी हो गई है। रामजानकी महाविद्यालय में बीते एम.ए. की कक्षा के दिन उसे बेतरह याद आते। छायावाद उसका विशेष पत्र था। मदनमोहन सर की तरह सतीश सुमन सर न तो सुदर्शन थे न ही उतने उम्दा वक्ता ही, पर उनके लिखवाये हुए नोट्स का कोई सानी नहीं था। उनके नोट्स के लोभ में ही कई छात्रों ने विशेष पत्र के रूप में छायावाद का विकल्प चुना था। पर उसने सचमुच बहुत मन से छायावाद लिया था। इसलिए उनका क्लास न लेना अक्सर ही उसे खीझ से भर देता था। सरोज स्मृति पर लिखवाये उनके नोट्स आज भी उसे शब्दशः याद थे, जिसके जाने कितने नए अर्थ इन दिनों उस पर जाहिर होने लगे थे। 'धन्ये मैं पिता निरर्थक था' की आवृत्ति में अब हर वक्त उसे पिता की जगह माता की अनुगूँजें सुनाई पड़ती थीं। अरुण महतो के साहचर्य में अंकुरित कविताई का बीज, जो तेज़ पत्रकारिता की ऊसर जमीन में कहीं गुम हो चुका था इस बीच उसके आँसुओं की नम जमीन पाकर फिर से पल्लवित-पुष्पित होने लगा। अथाह तकलीफ और सघन उदासी के उन्हीं खारे दिनों में उसे दर्द के दवा हो जाने का सही-सही अर्थ मालूम हुआ।

संजीव ने जिस दिन यह महसूस किया कि रूपमंजरी की डायरी के अश्रुसिंचित पन्नों पर एक कवयित्री का जन्म हो चुका है, उसने राहत की साँस ली। दैनिक नवज्योति समूह की साहित्यिक पत्रिका 'कादंबरी' के संपादक आलोक मनु उसके गहरे मित्र थे। उसने रूप को बिना बताए उसकी कुछ कविताएँ खुद अपने हाथों से उन तक पहुँचा दी।

उस दिन डिनर के बाद हमेशा की तरह रूप संजीव की स्टडी में थी। उसने गौर किया, उसकी कविता वाली डायरी के ठीक बगल में 'कादंबरी' का नया अंक रखा हुआ था। आवरण पर दो नन्ही गिलहरियाँ अपनी चंचल आँखों के साथ जैसे उसे ही बुला रही थीं। उनके इस मोहक आमंत्रण को रूप ने पूरी इज्जत बख्शी और 'कादंबरी' को इस मुलायमियत के साथ हाथों में लिया जैसे वह पत्रिका नहीं उन नन्ही गिलहरियों को ही उठा रही हो। कुछ देर उन गिलहरियों की चमकती आँखों को प्यार से निहारने के बाद उसने हौले से उनकी पीठ पर हाथ फिराया और धीरे से पत्रिका के पन्ने पलटने लगी। अंदर के पन्ने पर अपनी तस्वीर देख पहले तो उसे भरोसा ही नहीं हुआ कि वह जो देख रही है, हकीकत है। पर अगले ही पल उसे पूरी कहानी समझ में आ गई। पिछले सप्ताह संजीव ने उसकी कविताओं की डायरी क्यों माँगी थी, इसका रहस्य 'कादंबरी' के 'कोंपल' स्तम्भ वाले पन्ने पर मुस्कुरा रहा था। पिछले पाँच-सात वर्षों में उसके सैकड़ों लेख, फीचर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। हर बार अखबार में अपना नाम छपा देखकर वह किसी कमउम्र बच्ची की तरह ऐसे खुश होती है जैसे पहली बार कहीं उसका नाम छपा हो। लेकिन कविता प्रकाशित होने का यह सुख उन सबसे बहुत-बहुत मीठा और अलहदा था।

'कादंबरी' की प्रति हाथ में लिए वह बेडरूम की तरफ दौड़ी और सीधे जाकर संजीव के गले से लग गई। एक दूसरे के आलिंगन में बँधे शरद की ओस की तरह दोनों निःशब्द बरस रहे थे... पल-पल संचित दुःख उस खास क्षण में उन दोनों के भीतर मोम की तरह कतरा-कतरा पिघल रहा था... सरस्वती की गुप्त धारा की तरह जो हिमखंड रूप के सीने में कब से रिस रहा था, संजीव की उष्ण साँसों का स्पर्श पाते ही हरहराकर किसी वेगवती नदी की तरह बह निकला... कोई छः महीने पूर्व उनके बीच जो रात बिना कुछ कहे अचानक से थम गई थी,

आज उसके शिथिल पड़े कदमों में एक नई जुंबिश हुई थी। रूप ने बेडरूम की लाइट ऑफ कर दी पर संजीव और उसके दरम्यान एक अनकहे उजाले की गर्माहट लगातार खिलखिलाती रही। चौदहवीं का चाँद खिड़की पर ऐसे खड़ा था मानो एक कदम बढ़ाते ही कमरे में दाखिल हो जाएगा। रूपमंजरी और संजीव सारी रात एक-दूसरे के हिस्से के चाँद को अपनी भुजाओं में सम्हालते रहे। रात की आखिरी पहर जब चाँद थककर उन दोनों के बीच नींद से बोझिल अपनी सघन पलकों को सम्हालने की लगभग नाकाम-सी कोशिश कर रहा था, संजीव ने हौले से रूप के कानों में कहा—'तुम सिर्फ और सिर्फ कविताएँ लिखा करो, दुनिया की बाकी चिंताओं के लिए मैं हूँ न!' रूप ने महसूस किया संजीव एक नई आश्वस्ति की तरह उसके पोर-पोर में घुला जा रहा है।

'कादंबरी' में प्रकाशित कविताओं पर रूपमंजरी को कई पत्र, ईमेल और मैसेज मिले। इन प्रतिक्रियाओं से उत्साहित होकर उसने उन कविताओं की पीडीएफ फाईल अपने दर्जनों मित्रों-परिचितों को मेल, व्हाट्सऐप और मेसेंजर पर फॉरवर्ड किया। ऐसा करते हुए वह लोगों से अपनी कविताओं पर प्रतिक्रिया और आशीर्वाद देने का आग्रह भी करती थी। कुछ तो उसकी दबंग छवि का आतंक तो कुछ उसके दुःखों से परिचित मित्रमंडली का सहज स्नेह, लोगों ने खुले मन से उसके इस नए रचनात्मक कदम का खैरमकदम किया। अखबार में छपे लेखों पर उसे इस मात्रा में कभी प्रतिक्रियाएँ नहीं मिली थीं। उत्साह से भरी रूपमंजरी ने इस तरह प्राप्त सभी छोटी-बड़ी टिप्पणियों को अपने फेसबुक टाइम लाइन पर साझा किया। कमेन्ट में बधाई और शुभकामनाओं की झड़ी लगती रही। जिन लोगों ने कविताएँ नहीं पढ़ी थी, वे उनका लिंक साझा करने की गुजारिश कर रहे थे। तीसरे या चौथे दिन उसके दोस्त और पेंटर शत्रुघ्न त्रिपाठी ने अपने ब्लॉग 'चित्रांकन' पर उन कविताओं को प्रकाशित कर दिया। 'भये प्रकट कृपाला दीन दयाला' स्टाईल में फेसबुक पर रूपमंजरी एक अपूर्व कवयित्री की तरह अवतरित हो ही रही थी की कल्पित पाठक नाम के एक अज्ञात और संगदिल फेसबुक अकाउंटधारी ने उन कविताओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा—'जामुन के पेड़ का तना बहुत कमजोर होता है, इसलिए उस पर झूले डालने का मतलब अपनी हड्डियाँ तुड़वाने की तैयारी करने जैसा है।' कल्पित पाठक ने अपनी टिप्पणी के दूसरे हिस्से में झूले के लिए उपयुक्त पेड़ों की चर्चा करते हुए 'यह कदंब का पेड़ अगर माँ होता जमुना तीरे, मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे-धीरे' और 'नीमिया के डाढ़ मैया झूले ली झुलनवा की झूमी-झूमी न' जैसी लोकप्रिय कविताओं और गीतों के उदाहरण भी कोट किए थे। कल्पित पाठक का कमेन्ट आने की देर थी कि रूपमंजरी की हमशहर बहनों और सहेलियों ने उसके अकाउंट को फेक साबित करने के लिए एड़ी चोटी एक कर दी। जिनलोगों ने कल्पित पाठक का कमेन्ट लाइक किया था उन्हें चुन-चुन कर अनफ्रेंड भी किया। आभा भार्गव और परमाणुकली सर्राफ इस गैंग की स्वघोषित लीडर थीं। सैकड़ों अनुकूल प्रतिक्रियाओं के बीच एक नामालूम-से पाठक की छोटी-सी प्रतिक्रिया, जिसमें कविता की एक तथ्यात्मक भूल की तरफ इशारा किया गया था, को रूपमंजरी ने अपने ख़िलाफ़ एक पुरुष आलोचक की बड़ी साहित्यिक साजिश की तरह रेखांकित करते हुए फेसबुक पर एक लंबा-चौड़ा पोस्ट लिख डाला। इस तरह पाँच कविताओं और एक फायर ब्रांड फेसबुक पोस्ट के साथ रूपमंजरी ने पत्रकारिता की दुनिया को पीछे छोड़ साहित्य की दुनिया में विधिवत् कदम रखने की घोषणा कर दी। संजीव और रूप के जिन करीबी मित्रों को उसके जीवन में घटित हादसे की जानकारी थी, वे रूपमंजरी के इस आक्रामक तेवर को देख स्तब्ध थे।

त्रैमासिक 'पद्मगंधा' का संपादक महेश युवा कविता अंक की तैयारी के सिलसिले में

विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित युवा कवियों की कविताओं को बहुत बारीकी से देख-परख रहा था। 'कादंबरी' में प्रकाशित रूपमंजरी की कविताओं को पढ़ते हुए उसके भीतर एक मीठी-सी गुदगुदी हुई। बहुत कोशिश करने के बाद भी उसे पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित किसी युवा कवयित्री की कोई वैसी कविता का ध्यान नहीं आया जिसमें इस साहस और खुलेपन के साथ यौन बिंबों की रचना हुई हो। रूपमंजरी की श्वेत श्याम तस्वीर से उसकी उम्र का अंदाज लगाते हुए महेश ने वहीं से उसका फोन नंबर लिया और बहुत उत्साह के साथ उसे फोन लगाया। औपचारिक अभिवादन और बधाई के बाद वह बहुत देर तक तक रूपमंजरी से उसकी काव्यात्मक संभावनाओं और स्त्री यौनिकता के अनूठे बिम्ब विधान के पीछे छुपे लैंगिक राजनीति के बारीक सवालों पर बात करता रहा। जिस उत्साह के साथ वह लगभग एकतरफा बोले जा रहा था और रूपमंजरी बस हाँ-हूँ करते हुए सुनती जा रही थी, उसे देखते हुए बातचीत से ज्यादा उसे एकालाप ही कहना उचित होगा। कोई आधे घंटे लंबी एकल मीमांसा के बाद लगभग हाँफते हुए महेश ने कहा था—"'पद्मगंधा' को आपकी कविताओं का हमेशा इंतज़ार रहेगा। आज से 'पद्मगंधा' के हर अंक के चार पृष्ठों को आप अपने लिए सुरक्षित समझिए। किसी अंक में जब आप कोई रचना नहीं भेज पाएँगी तभी उन पन्नों पर कुछ और प्रकाशित होगा।"

पत्रकारिता की दुनिया में काम करते हुए रूपमंजरी ने जाने ऐसे कितने लिजलिजे संपादकों को देखा था। पर पहली ही बार कविता प्रकाशित होने के बाद खुद एक संपादक का इस तरह फोन करना उसे थोड़ा अजीब लगा। उसकी कविताओं में प्रयुक्त यौन बिंबों और रूपकों पर बात करते हुए उसकी हाँफती आवाज़ के बारे में सोचकर वह अकेले ही में देर तक हँसती रही। वह उत्साहित भी थी कि मुख्यधारा की एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका के संपादक ने उसकी कविताओं को इतनी गंभीरता से रेखांकित किया है। 'पद्मगंधा' के संपादक के साथ बातचीत का यह सिलसिला चल निकला था। महेश हर बार किसी बहेलिये की तरह एक नये जाल के साथ उसके समक्ष उपस्थित होता और रूपमंजरी एक अनुभवी चिड़िया की तरह दाना चुगने के बाद जाल और बहेलिया दोनों को मुँह बिराते हुए फुर्र से उड़ जाती।

महेश भी कम अनुभवी और घाघ नहीं था, उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि रूपमंजरी साहित्य की दुनिया में आई बिलकुल नई कवयित्रियों की तरह नहीं है। उसके दबंग व्यक्तित्व के बारे में सोचते हुए वह इस बात से भी डरता था कि बेहद कमजोर और भावुक क्षणों में भेजे गए उसके व्हाट्सएप्प मैसेजों का स्क्रीनशॉट कहीं वह फेसबुक पर न लगा दे। रूपमंजरी उसके इस भय को न सिर्फ समझती थी बल्कि मज़ाक-मज़ाक में कई बार कुछ ऐसा भी जानबूझ कर कह देती कि महेश का डर कुछ और गाढ़ा हो जाता था। इन बातों का असर कभी-कभी उस पर इतना ज्यादा पड़ता कि वह कई-कई दिनों तक उससे कोई संपर्क नहीं करता। साहित्यिक दुनिया में एक संपादक के साथ का महत्त्व रूपमंजरी को बखूबी पता था। इसलिए वह महेश के विमुख होने का भी कोई रिस्क नहीं लेना चाहती थी। कई बार खुद बढ़कर उसे फोन करती। अपने फोन से उत्साहित महेश को वह यह लालच भी बीच-बीच में देना नहीं भूलती थी कि वह संजीव कश्यप के सहयोग से 'पद्मगंधा' के लिए विज्ञापन का इंतजाम करवा सकती है। इस बीच 'पद्मगंधा' के युवा कविता अंक की तैयारी ज़ोरों पर थी। इस विशेषांक को लेकर रूपमंजरी भी काफी उत्साहित थी।

'पद्मगंधा' के लिए रूपमंजरी खास तौर पर अपनी उन कविताओं को चुनना चाहती थी जो उसने दिव्या के लिए लिखी थी। उन कविताओं से गुजरना उसके लिए एक बार फिर अपनी उन तकलीफ़ों को जीने जैसा था। मन प्राण पर लगा यह आघात उसके लिए इतना निजी

था कि उसे वह किसी और से साझा भी नहीं कर सकती थी। संजीव के दफ्तर चले जाने के बाद वह अकेले में उन कविताओं को किसी पुराने अल्बम की तरह बार-बार पलटती और देर तक सुबकती रहती। उसे इस बात का अहसास था और खूब था कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के चक्कर में ही उसने अपनी बेटी को खोया है। दिव्या को सोचते हुए अक्सर उसे अरुण महतो की याद आती और उसका दुःख दूना हो जाता। वह खुद को उन दोनों का अपराधी समझती थी। यदि दिव्या इस दुनिया में होती तो शायद कभी अपनी अना से समझौता कर उसकी खुशी के लिए ही सही अरुण महतो से संपर्क करने की कोशिश करती। लेकिन अब, जब दिव्या भी नहीं है वह किस मुँह से उस तक जाती! उसका दुःख उसे भीतर से खोखला किए जा रहा था। पर जाने उस त्रासदी का यह कैसा साइड इफेक्ट था कि अपनी तकलीफ और असफलता को छुपाने के लिए वह किसी हिंसक बाघिन-सी आक्रामक हुई जा रही थी। ऐसी ही किसी उदास, मनहूस और क्रूर दोपहर को उसने खुद से यह वादा किया कि जिस सफलता के लिए उसने इतनी बड़ी कुर्बानी दी है, उसे हर कीमत पर हासिल करेगी।

दिव्या के नाम लिखी दस कविताओं का चयन कर रूप 'पद्मगंधा' को मेल करने ही वाली थी कि उसे कल्पित पाठक की याद हो आई। आभा भार्गव और परमाणुकली सर्राफ ने चाहे उसे उस दिन जितना भी ट्रोल किया हो, जामुन के पेड़ पर झूला लगाने वाली उसकी टिप्पणी का दंश वह आज तक नहीं भूल सकी थी। उसने तय किया कि पत्रिका को भेजने के पहले उसे अपनी कविताएँ किसी समझदार कवि या आलोचक से दिखाकर आश्वस्त हो लेना चाहिए। दैनिक नवज्योति में उप-संपादक, अनुराग प्रियदर्शी जो संजीव का मातहत और अखबार के साप्ताहिक साहित्यिक परिशिष्ट का प्रभारी था, की प्रतिभा से वह परिचित थी। अनुराग प्रियदर्शी ने रूपमंजरी के कहने पर न सिर्फ उसकी कविताएँ पढ़ी, बल्कि उनकी खूबियों-खामियों पर एक टिप्पणी भी लिखकर उसे दी। अपनी टिप्पणी में अनुराग ने जिस मात्रा में उन कविताओं की कमियाँ बताई थी, उसे देख एक बार को रूपमंजरी का आत्मविश्वास हिल गया। वह अपने सामर्थ्य को अच्छी तरह जानती थी। कविता की जिन बारीकियों की तरफ अनुराग ने इशारा किया था अभी वहाँ तक पहुँच सकना उसके लिए संभव नहीं था। लिहाजा उनके सम्पादन-संशोधन की जिम्मेवारी भी उसने अनुराग को ही सौंप दी। बदले में उसने उसे साढ़े तीन हजार रुपये दिये थे। अनुराग रुपये लेने से हिचक रहा था। जब रूपमंजरी ने उसे आश्वस्त किया कि यह शुद्ध रूप से उन दोनों के बीच की बात है और संजीव को इसका कभी पता नहीं चलेगा, तब बहुत ना-नुकूर के बाद उसने सकुचाते हुए रुपये थामे थे। थामे क्या थे, रूप ने जबरन उसकी जेब में ठूँस दिया था।

राज्य वित्तीय सेवा में अधिकारी रह चुका महेश खुद भी कवि था। जब तक सेवा में रहा पत्रिका के संपादकों और प्रकाशकों ने बहुत उत्साह से उसकी औसत कविताएँ भी छापी। लेकिन अवकाश ग्रहण करने के बाद सबने उससे किनारा कर लिया था। आज की पीढ़ी को तो यह भी नहीं मालूम कि महेश कभी कवि भी हुआ करता था। मलाईदार विभाग की सेवा में रहकर सेंती गई धनराशि से 'पद्मगंधा' निकालकर वह अपनी उसी असफलता की भरपाई कर रहा है। रूपमंजरी ने उसे आश्वासन दिया था कि संजीव कश्यप की सहायता से वह 'पद्मगंधा' को दिल्ली सरकार का नियमित विज्ञापन दिलवाएगी। रूपमंजरी का यह आश्वासन महेश की आँखों में सैकड़ों जुगनुओं की तरह भुक-भुक जलता, जिसकी रौशनी में वह 'पद्मगंधा' के मासिक हो जाने के सपने देखा करता था।

रूपमंजरी की कविताएँ 'पद्मगंधा' के युवा कविता अंक का विशेष आकर्षण थीं। महेश

ने न सिर्फ उन्हें विशेष साज सज्जा के साथ प्रकाशित किया बल्कि आगामी चार-पाँच अंकों तक उन पर विस्तार से परिचर्चा भी आयोजित कराई। 'पद्मगंधा' के नियमित समीक्षक-आलोचक और स्तंभकार सहित रूपमंजरी के मित्रों और कृपापात्रों ने इस आयोजन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। अनुराग प्रियदर्शी ने जहाँ रूपमंजरी की कविताओं को तराशने का काम किया था वहीं महेश की प्रायोजित परिचर्चा ने उसे साहित्य के पाठकों, संपादकों और आलोचकों की मुख्यधारा से जोड़ने की हर संभव कोशिश की। रूपमंजरी उन दोनों के महत्त्व को अच्छी तरह समझती थी। पर उसे इस बात का भी अहसास था कि उन्हीं दोनों तक खुद को सीमित कर लेना एक आत्मघाती कदम होगा। कुछ वर्ष पूर्व कविता की दुनिया में धूमकेतु की तरह प्रकट हुई नीलांजना की कहानी जाने कितने लोगों से वह सुन चुकी थी। मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न नीलांजना ने अपनी शुरुआती कविताओं से ही पूरे साहित्य जगत का ध्यान खींचा था। लेकिन प्रसिद्ध कविता मासिक 'तत्सम' तक खुद को सीमित कर लेने के कारण कब और कैसे एक अंतहीन गुमनामी में खो गई उसे भी पता नहीं चला।

रूपमंजरी के लिए नीलांजना की कहानी किसी कार्यशाला से कम नहीं थी। यही कारण है कि यह जानते हुए भी कि महेश को यह बात बुरी लगती है, वह दिल्ली और बाहर की अन्य पत्रिकाओं से भी जुड़ी रही। वरिष्ठ आलोचकों, संपादकों और प्रकाशकों के घर उनके जन्मदिन पर केक, पुष्पगुच्छ और महँगे उपहारों के साथ पहुँचना उसके पीआर स्किल का एक जरूरी हिस्सा था। सोनभद्र जिले के शक्तिनगर प्रखण्ड का सुरेश शर्मा, जो रूप को दीदी कहा करता था और दैनिक स्वराज का फीचर संपादक था, के विशेष अनुरोध पर उसने उनके साहित्यिक परिशिष्ट के लिए युवा लेखकों पर एक साप्ताहिक स्तम्भ भी शुरू कर दिया था। इस स्तम्भ के लिए नई प्रतिभाओं का चयन वह बहुत सोच समझ कर किया करती थी। इसके लिए किसी नए लेखक-लेखिका का सोशल मीडिया में एक्टिव होना उसके प्रतिभाशाली होने की सबसे बड़ी कसौटी थी। इस तरह पटना से पुणे और जम्मू से केरल तक फैले उसके प्रशंसकों की एक फौज सोशल मीडिया में मौजूद हो गई थी, जो न सिर्फ उसकी हर नई प्रकाशित रचना पर लहालोट होते हुए वाह-वाह करती बल्कि जरूरत पड़ने पर उसके पक्ष में तलवारबाजी करने स्वतः ही मैदान-ए-जंग में उतर जाती।

रूपमंजरी का जीवन किसी नदी की तरह अबाध बह रहा था, जिसके एक किनारे पर मधूलिका थी तो दूसरे किनारे पर दिव्या। अंबपाली की सफलता से आहत मधूलिका का चेहरा उसके भीतर महत्त्वाकांक्षा की आग पैदा करता था तो चेहरे से बाहर आने को आतुर दिव्या की गहरी पीली आँखों की करुण स्मृति उस आग को हवा देती।

'कादंबरी' के कोंपल स्तम्भ में प्रकाशित होने के कोई दो वर्षों के भीतर ही रूपमंजरी के पास संग्रह के लायक कविताएँ हो गई थीं। आस्ट्रेलिया में रहनेवाली भारतीय मूल की एक असफल कवयित्री, अमृता ढंढारिया, जिसका पति बहुत बड़ा उद्योगपति था, की पूँजी के भरोसे हाल ही में कवि-कथाकार से प्रकाशक बना निरंजन बिशोई रूपमंजरी का अच्छा दोस्त था। खुद को केंद्र में बनाए रखने के लिये रूपमंजरी जो कुछ भी कर रही थी, बिशोई उसकी हर बारीकी का पहले से ही उस्ताद था। प्रसिद्धि और सफलता के जो टोटके वह कहानी और उपन्यास की दुनिया में आजमा चुका था, रूपमंजरी हर वही कवायद कविता की दुनिया में कर रही थी। इसलिए रूपमंजरी की हर हरकत और अदा में उसे अपना ही अक्स दिखाई पड़ता। बल्कि सोशल नेटवर्किंग के मोर्चे पर तो वह मन-ही-मन खुद को रूपमंजरी का एकलव्य मानता था। वह जानता था कि रूपमंजरी का पहला कविता-संग्रह लगभग तैयार है और वह

हर हाल में उसे छापना चाहता था। इस बावत कई बार उसने रूपमंजरी से बात भी की थी। पर रूपमंजरी को शक्तिनगर वाले भैया सुरेश शर्मा का यह सुझाव ज्यादा उपयुक्त लगा कि पहला संग्रह किसी बड़े प्रकाशन समूह से आए तो ज्यादा अच्छा रहेगा। रूपमंजरी ने बिना किसी लागलपेट के अपना यह निर्णय बिशोई को बता दिया। किताब प्रकाशन तो एक बहाना था, बिशोई की नज़र दरअसल संजीव कश्यप की पहुँच और रूपमंजरी की नेटवर्किंग पर थी। रूपमंजरी का निर्णय सुन वह क्षण भर को निराश हुआ, पर अगले ही पल खुद को संयत करते हुए एक कुशल व्यवसायी की तरह उसने नई चाल चली—"आपकी किताब है, जहाँ से चाहें छपवाएँ। लेकिन, यदि आप यह अवसर मुझे देतीं तो मैं आपके पहले संग्रह के प्रकाशन को एक ऐतिहासिक घटना में बदल सकता था।"

"वह कैसे?"

"मैं इस संग्रह के साथ आपकी कविताओं पर एक आलोचनात्मक पुस्तक भी प्रकाशित करना चाहता था। इस तरह यह दो किताबों का एक सेट होता, जो पाठकों को हम सिर्फ एक किताब की कीमत में ही उपलब्ध करवाते।"

बिशोई के कहे ने रूपमंजरी को सोचने पर विवश कर दिया था। उसे याद आया कि पिछले दिनों उसने यह भी चर्चा की थी कि अमृता ढंढारिया हिंदी कविता और आलोचना के क्षेत्र में दो-दो लाख रुपये का अंतर्राष्ट्रीय सम्मान शुरू करना चाहती हैं और उनकी इच्छा है कि सम्मान समारोह आस्ट्रेलिया में ही आयोजित किया जाये। रूपमंजरी के जेहन में पुस्तक और पुरस्कार दोनों को एक साथ जोड़ने वाली एक रेशमी डोर ने आकार ग्रहण किया और उसकी आँखों में सैकड़ों दीपक एक साथ जल उठे। इन दीपकों की काँपती, लरजती रोशनी में नहाई रूपमंजरी ने बड़े प्रकाशक से पुस्तक छपवाने का अपना निर्णय बदल दिया। अनुबंध पर दस्तखत करने के अगले ही दिन संग्रह की पाण्डुलिपि अनुराग प्रियदर्शी को नोक-पलक दुरुस्त करने के लिए भेज दी गई। बिशोई ने रूपमंजरी की सहायता से उसके मित्रों, प्रशंसकों और उपकृतों की एक सूची तैयार कर ली थी, जो प्रस्तावित आलोचना पुस्तक के संभावित लेखक हो सकते थे। 'पद्मगंधा' में आयोजित परिचर्चा में प्रकाशित लेखों को भी इस किताब में साभार छापा जाना तय हुआ। रूपमंजरी ने कभी सपने में भी यह नहीं सोचा था कि दैनिक स्वराज में लिखे गए स्तम्भ का हासिल इतना खूबसूरत भी हो सकता है। उसने मन ही मन इस स्तम्भ के लिए शक्तिनगर वाले भैया का शुक्रिया अदा किया और बिशोई से नज़र बचाते हुए हौले से सेंटर टेबल में लगी सागवान की लकड़ी को छू लिया। हमेशा की तरह टचवुड का यह टोटका करते हुए उसने सायास अपनी पलकें बंद की थी। वह चाहती थी कि प्रख्यात आलोचक रोहित अग्रवाल का लेख भी उस किताब में शामिल हो जाए। पर उन तक उसकी कोई पहुँच नहीं थी। अमृता ढंढारिया का प्रस्तावित अंतर्राष्ट्रीय सम्मान बिशोई के लिए अलादीन के चिराग से कम नहीं था। उसने उसी के भरोसे रोहित अग्रवाल से लिखवाने की ज़िम्मेदारी खुद ही कबूल कर ली।

बिशोई चाहता था कि संग्रह में शामिल अधिकांश कविताओं के अनुरूप किताब का शीर्षक भी बोल्ड हो ताकि लोग नाम सुनकर ही किताब खरीदने को लालायित हो जाएँ। रूपमंजरी को भी इसमें एतराज नहीं था, पर जब वह शीर्षक तय करने बैठी उसका ध्यान एक बार पुनः दिव्या के नाम लिखी उन कविताओं पर अटक गया, जो 'पद्मगंधा' में प्रकाशित हुई थीं। रूपमंजरी के लिए ये सिर्फ कविताएँ नहीं थीं। उसके वजूद का वह हिस्सा जो अब भौतिक रूप से उसका नहीं रहा, उन कविताओं में साँसें लेता था। जब कभी वह उनके सामने होती,

दिव्या उसकी उँगली थामे उसकी बगल में आ बैठती। उसके जाने के बाद कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह रूपमंजरी की स्मृतियों में अकेली आई हो। अरुण महतो हमेशा उसके साथ कदमताल करता आ पहुँचता है, मानो उससे अपनी बेटी की खैरियत पूछ रहा हो। उस वक्त उसकी नाभि में एक अजीब-सा हौल उठता है और लगता है जैसे कलेजा मुँह के रास्ते बाहर आ गिरेगा। उन कविताओं से गुजरते हुए रूप हर बार दिव्या के लिए एक मासूम प्रार्थना से भर उठती है। आज उसकी प्रार्थना में पहली बार अरुण महतो भी शामिल था। दिव्या और अरुण महतो के लिए प्रार्थना में डूबी रूपमंजरी ने उस खूबसूरत लम्हे में अपनी किताब का शीर्षक तय किया—'प्रार्थना में शब्द'। यह उसके जीवन के पवित्रतम क्षणों में से एक था। ठीक उसी वक्त उसके अंदर एक और इच्छा जागी कि अपनी यह पहली कृति वह दिव्या और अरुण महतो के नाम समर्पित कर दे। पर दूसरे ही पल सामाजिक संकोच की उँगली थामे उसकी अना सामने आ बैठी और उसने आँसू भरी आँखों से टाइप की हुई फाइनल पाण्डुलिपि के दूसरे पृष्ठ पर कलम से लिखा- "दिव्या के लिए, जिसकी स्मृतियाँ मेरे लिए हवा और पानी की तरह जरूरी हैं..."

तीन महीने के सघन श्रम के बाद एक शाम जब बिशोई रूपमंजरी की फेवरिट चॉकलेट अंजीर बर्फी के साथ किताबों की पहली प्रति लिए उसके घर पहुँचा वह अपनी बालकनी में अकेली बैठी ढलते हुए सूरज को देख रही थी। संजीव तीन महीने की एक खास ट्रेनिंग के लिए कैलिफोर्निया गया हुआ था। किताब की साज-सज्जा और प्रस्तुति को देख रूप के पाँव जैसे अनायास ही थिरक पड़े। अपने कदमों पर 360 डिग्री की परिधि बनाकर घूमती हुई रूप ने अगले ही पल बिशोई को खींच कर अपने सीने से लगा लिया। पता नहीं, बिशोई ने कभी कल्पना में भी रूपमंजरी के आलिंगन का ख्वाब देखा था या नहीं, पर जिस तरह यह सब घटित हुआ, वह उसके लिए बहुत ही अनायास और दमघोंटू था। रूपमंजरी के आलिंगन से आज़ाद होने के बाद कुछ पल पहले घटित हुए उस खूबसूरत अकस्मात् को मन-ही-मन दुहराते हुए बिशोई एक अनाम पुलक से भर गया। उस वक्त उसे अनुराग प्रियदर्शी की उन मसालेदार बातों की याद भी हो आई थी, जो अक्सर वह उससे रूपमंजरी के बारे में कहा करता था। अनुराग की बातों को चाहे वह जितना रस लेकर सुनता रहा हो, पर रूपमंजरी की दबंग छवि का अहसास उसे उन कहानियों पर कभी विश्वास करने की इजाजत नहीं देता था। पर इस वक्त रूपमंजरी के चेहरे पर तैरती खुशी और कोमलता को देख वह उन सभी कहानियों को सच मान लेना चाहता था। उसके भीतर मचे इसे उथल-पुथल से बेखबर रूपमंजरी कविता संग्रह के आवरण पर अंकित शीर्षक को बहुत ही मुलायमियत से सहला रही थी। आलोचना वाली किताब में उसने सबसे पहले रोहित अग्रवाल का लेख पलट कर देखा। पहले ही पैराग्राफ में कामायनी से अपनी कविताओं की तुलना देखकर उसकी आँखों का कलश छलक पड़ा। बिशोई की कलात्मक प्रतिभा का उसे पहले से कोई अंदाज़ा नहीं था। पर एसएमएस और व्हाट्सऐप पर प्राप्त छोटी-छोटी टिप्पणियों से सुसज्जित बुकमार्क की अभिनव परिकल्पना को देख वह उसके प्रति एक अतिरिक्त प्रशंसा भाव से भर उठी।

बिशोई अगले ही सप्ताह विश्व कविता दिवस के अवसर पर इन किताबों का लोकार्पण करवाना चाहता था। मन तो रूपमंजरी का भी था, पर संजीव की अनुपस्थिति के कारण वह थोड़ी असमंजस में थी। उसने व्हाट्सऐप कॉल करके संजीव से किताब आने की खुशी साझा की। वह लोकार्पण के बारे में भी उससे बात करना चाहती थी, पर बोल नहीं पा रही थी। बिशोई उसकी दुविधा समझ रहा था। उसने खुद बढ़कर संजीव कश्यप से बात की—"सर,

अगले शनिवार को मैं रूपमंजरी जी की पुस्तक का विमोचन करवाना चाहता हूँ। विश्व कविता दिवस होने के कारण उस दिन मीडिया के लिए भी एक बड़ा इवेंट हो जाएगा। पर ये मना कर रही हैं। आप ही समझाइए न इन्हें।'' रूप ने संजीव से उसके वापस आने की बात कही, पर उसने खुद बढ़कर बिशोई का समर्थन करते हुए कहा—"लोकार्पण के लिए यह एक बड़ा अवसर है। हम तो लौटकर भी सेलिब्रेट कर लेंगे।" रूपमंजरी को और क्या चाहिए था, वह बिशोई की प्रतिभा पर नए सिरे से फिदा हो गई।

रूपमंजरी चाहती थी कि विमोचन इंडिया इन्टरनेशनल सेंटर में हो, पर बिशोई ने तर्क दिया कि मंडी हाउस के पास होने के कारण त्रिवेणी में ज्यादा लोग पहुँचेंगे। बिशोई से सहमत रूप ने मन-ही-मन त्रिवेणी सभागार में पहुँचने की कल्पना की। उसे लगा जैसे वह अंबपाली की तरह वैशाली की राजनर्तकी चुन ली गई है और बिशोई पुष्पगंधा की तरह उसकी मुद्रिका विभूषित उँगलियाँ थामे उसे विशाल झूमरों और दीपमालिकाओं से सुसज्जित रंगशाला की तरफ लिए जा रहा है।

विमोचन के बाद कुछ विशेष मित्रों के लिए रूपमंजरी ने 'द पार्क' में डिनर रखा था। देर रात घर लौटने के बाद सोने की तैयारी में जब वह बिस्तर पर गई, दोनों किताबों के विमोचन की प्रतियाँ उसके साथ थीं। पोर-पोर उछाह से भरी रूपमंजरी कभी उनके आवरण को सहलाती, कभी उनके पन्ने पलटती, कभी किसी खास पन्ने को प्यार से चूमती, कलेजे से भींचती तो कभी किताब की किनारी को अपनी बंद पलकों से हौले से छू लेती... रसरंजन का खुमार अब भी उसके रोम-रोम पर तारी था। उमंग और उछाह में डूबी रूप न चैन से सो पा रही थी, न सुकून से जाग ही रही थी। नींद और जागरण के बीच का यह मदिर रहस्य किसी मीठे सपने की तरह उसके अंग-अंग में घुल रहा था। धरती और आकाश के बीच लगे किसी पुष्प-हिंडोले मे झूलती-सी रूपमंजरी के अंतःपुर में तभी एक बिजली-सी चमकी... सफ़ेद-स्याह बादलों की मेड़ पर बैठी मधूलिका के बाल में चाँदी की लकीरें दिख रही है... उसकी आँखों की वह चंचल चमक जिससे अंबपाली को भी कभी रश्क होता था, एक शांत मृदुल ज्योत्सना में नहा उठी है... तभी अपने चेहरे पर बिखरी दर्प भरी मुस्कुराहट को असावधानी से समेटती रूपमंजरी मधूलिका के सम्मुख जा खड़ी हुई—

"कैसी हो मधूलिका? पहचाना मुझे?"

"तुम्हें कैसे नहीं पहचानूँगी रूप?"

आलिंगन को बढ़े मधूलिका की बाँहों से बेखबर रूपमंजरी की नज़र उसके इर्द-गिर्द फैली डायरियों पर है। आज की शाम विमोचित हुई दोनों किताबें मधूलिका की तरफ बढ़ाती हुई रूपमंजरी के शब्दों में एक क्रूर नाटकीयता है—"इन डायरियों के बीच तुम्हें देख मैं तुम्हारे लिए गहरी दया से भर गई हूँ, मधूलिका!''

इसी बीच बढ़ी हुई दाढ़ी और बिखरे हुए केश में अरुणध्वज पीछे से निकल कर सामने आता है और मेज पर रखी सुराही से गिलास में पानी लेकर लौट जाता है। शिथिल कदमों से लौटते अरुणध्वज का पीछा करती हुई रूपमंजरी की निगाहें जैसे खुद से बतिया रही हैं— "तो यह अब तक अरुणध्वज और इन पीली पड़ी डायरियों के बीच उलझी पड़ी है! जाने अंबपाली की घुंघरुओं की गूँज कैसे सह पाती होगी यह!" तुरत-फुरत हासिल हुई सफलता की चकचक रोशनी में ऊभचुभ करती रूपमंजरी के मन को जैसे मधूलिका धीरज से बहुत गहरे पढ़ रही है... रूपमंजरी का एकालाप जारी है...

"आज भी वह दृश्य मेरी आँखों में उसी तरह ठहरा हुआ है—उस शाम फाल्गुन महोत्सव

में राजनर्तकी चुन ली जाने के बाद अंबपाली पुष्पगंधा के साथ वैशाली की रंगशाला में चली गई थी और तुम अरुणध्वज के साथ रिक्तहस्त आनंदग्राम लौट रही थी, उस वक्त मैंने खुद को तुम्हारी जगह रखकर देखा था। उस वक्त पाने भीतर मैंने जो महसूस किया था, उसे ठीक-ठीक शब्दों में नहीं प्रकट कर सकती हूँ। पर उसके तुरंत बाद ही मैं सफलता की संधान-यात्रा पर निकल गई थी, जिसका नतीजा आज तुम्हारे हाथों में हैं... पर तुम्हें वहीं रुकी हुई देख मुझे तुमसे गहरी सहानुभूति हो रही है।"

"तुम्हारे मन का उमंग मैं समझ सकती हूँ रूप! तुम्हें देखकर इस वक्त जाने कितने लोगों की छवियाँ मेरी आँखों में कौंध रही हैं, जो तुम्हारी ही तरह 'सफल' हैं। लिंग और वय की सीमाओं से परे इन अनगिनत लोगों के चेहरे आपस में गड्डमड्ड हो रहे हैं...पर ये इतने आत्मलीन हैं कि एक दूसरे का चेहरा भी नहीं देख पा रहे और सब किसी मृगमरीचिका के पीछे दौड़े जा रहे हैं। तुम तो मेरे बचपन की सहेली हो। मैं तुम्हारे लिए खुश होना चाहती हूँ, पर माफ करना रूप, चाहकर भी खुश नहीं हो पाती। तुम शायद इसे मेरी ईर्ष्या समझो, पर यह सच है कि अंबपाली की सफलता खुद उसकी देहरी तक चल कर आई थी... उसने किसी की चिरौरी नहीं की, न लोभ के वश किसी को उपकृत ही किया... न किसी को डराया न किसी को लुभाया.... न खुद को उछाला न किसी को गिराया... खुद को अंबपाली समझने से पहले काश एक बार तुम यह भी देख पाती!"

बोलने को उद्यत रूपमंजरी को इशारे से चुप कराती हुई मधूलिका ने अपनी बात आगे बढ़ाई थी—"जहाँ तक मेरी बात है, मैं कभी अंबपाली नहीं होना चाहती थी। पर तुमने मुझमें वही देखा जो तुम्हारी आँखों में बसा हुआ था। हाँ, मैं अरुणध्वज से प्यार जरूर करती हूँ। लेकिन यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि वह हर पल अंबपाली की राह देखता है। उसे इस बात की भी खबर नहीं कि अंबपाली को उसके प्रेम का अनुमान तक नहीं। मैं अंबपाली के लिए उसके इस भोले और मासूम प्यार को समझती हूँ इसलिए कभी उससे अपने मन की बात कहने का हिम्मत नहीं कर सकी। पर रूप, अरुण महतो तो सच में तुमसे प्यार करता था न! तुम्हारे पीछे अपना घरबार सब छोड़ आया था... लेकिन तुमने अपने हिस्से की कमजोरी भी उसके ही मत्थे मढ़ दी और उसे दूध की मक्खी की तरह अपने जीवन से निकाल फेंका... हो सके तो अब भी इस छलावे से बाहर आ जाओ रूप...।"

मधूलिका के शांत और सधे हुए शब्द रूपमंजरी के गाल पर झन्नाटेदार चांटे की तरह पड़ रहे थे... जाने यह सिलसिला कब तक चलता कि इसी बीच फोन की घंटी से रूपमंजरी की नींद खुली... संजीव हर रोज इसी समय फोन करता है। दिल्ली और कैलिफोर्निया के समय में लगभग बारह घंटे का फर्क है। उधर वह ट्रेनिंग सेंटर से लौटकर हॉस्टल पहुँचता है और इधर रूप पूरी रात की नींद के बाद ब्लैक टी की तलब लिए जाग रही होती है।

नेटवर्क प्रॉब्लेम के कारण फोन कट गया। रूपमंजरी जाग चुकी थी। रात का खुमार उतर चुका था। पर लाख बरजने के बावजूद सपने में कहे मधूलिका के शब्द अब भी उसके कानों में किसी घन की तरह पड़ रहे थे... उसे लगा उसका सिर फट जाएगा या वह पागल हो जाएगी। वह उठकर बाथरूम गई और खुद को थोड़ी देर के लिए तेज शावर के नीचे छोड़ दिया। पर मधूलिका की आवाज़ का शोर शावर की आवाज़ से कई गुणा ज्यादा था। बाथरूम से निकलकर उसने उस्ताद जाकिर हुसैन के कंसर्ट की एक सीडी प्ले कर दी और खुद को उलझाए रखने के लिए फेसबुक की भीत खँगालने लगी। कल होटल से ही उसने विमोचन समारोह की कुछ तस्वीरें पोस्ट की थी। उसने देखा 872 लाइक और 474 कमेंट्स उसके धन्यवाद

के इंतज़ार में थे। शत्रुघ्न त्रिपाठी, आभा भार्गव, परमाणुकली सर्राफ और निरंजन बिशोई ने उसे बधाई देते हुए अलग से पोस्ट लगा रखा था। वह एक-एक को धन्यवाद कहना चाहती थी, पर यह संभव नहीं था। उसने सोचा दोपहर बाद या देर शाम वह सामूहिक धन्यवाद का एक अलग से पोस्ट लगाएगी। इसी बहाने कल की कुछ और तस्वीरें भी पोस्ट हो जाएँगी।

तस्वीरें चुनने के लिए वह मोबाइल की गैलरी में जाना ही चाहती थी कि उसकी नज़र प्रख्यात आलोचक रोहित अग्रवाल की एक पोस्ट पर गई। उन्होंने अपनी नई किताब का आवरण और अनुक्रम अपनी टाइम लाइन पर साझा किया था। यह किताब पिछले दो वर्षों के दौरान उनके द्वारा लिखे गए आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। उत्साह और उम्मीद से उसने अनुक्रम देखना शुरू किया। उसकी निगाहें उसकी कविताओं पर लिखे उस खास लेख का शीर्षक तलाश रही थीं, जिसे निरंजन बिशोई के खास आग्रह पर उन्होंने लिखा था। ऊपर से नीचे तक अनुक्रम के तीनों पन्ने वह कई बार देख गई। पर वह लेख वहाँ नदारद था। उसकी कविताओं को कामायनी के समानान्तर खड़ी कर के देखने वाली रोहित अग्रवाल की समीक्षा निरंजन बिशोई द्वारा प्रकाशित आलोचना पुस्तक में बेआवाज कैद होकर जैसे उसका मुँह चिढ़ा रही थी।

मधूलिका के शब्द और ज़ोर-ज़ोर से रूपमंजरी के कानों में गूँजने लगे... सबकुछ हासिल कर लेने के बाद भी वह खुद को नए सिरे से रिक्तहस्त महसूस कर रही थी... उसके भीतर से तेज रुलाई उमड़ी जिसे रोकने का उसने कोई प्रयास नहीं किया... अपनी रुलाई में शामिल अपराधबोध को वह जैसे दिव्या की आत्मा तक पहुँचा देना चाहती थी...।

रूपमंजरी की विकल चीख के बीच उस्ताद जाक़िर हुसैन के तबले की थाप जाने कहाँ गुम हो गई थी...।

(श्रीरामबृक्ष बेनीपुरी का आभार, जिनके नाटक 'अंबपाली' के कुछ संवाद जस के तस लिए गए हैं।)

संपर्क : D-4/6, केबीयूएनएल कॉलोनी, काँटी बिजली उत्पादन निगम लिमिटेड, पोस्ट-काँटी थर्मल, जिला-मुजफ्फरपुर-843130 (बिहार), मो. : 9425823033

छानबूर

सूरज बडत्या

सर्दियों की करारी ठण्ड में बेजू ने तड़के उठकर अँगीठी जलाने के लिए करसी, तेल की ढिबरी, कोयले के छोटे टुकड़ों और राख से बने गोले निकाल लिए। हंडिया में भीगी मिट्टी के गारे से अँगीठी को पोता। फिर करीने से करसी को अँगीठी के भीतरी सतह पे रखकर उसपे मिट्टी का तेल उड़ेला। लकड़ियों के छोटे टुकडे करसी के साथ टिका उसे जला दिया। करसी और लकड़ी के टुकड़ों ने अधजली आग से धुएँ को हवा में घोल दिया। हवा में घुला धुआँ इधर-उधर फुर्री दौड़ लगाने लगा। अभी भी भोर का आधा अँधेरा आधे उजियारे संग ऊँघ रहा था। जैसे दोनों बिछुड़ने से पहले गहन मिलन में पीऊ-पीऊ कर रहे हों। चिड़िया चिरपियाने लगी थी। पिछली गली का रामवीर अपनी दो जुडवा भैंसों को नहलाते हुए हनुमान-चालीसा भज रहा था।

सर्दियों के दिनों में यह बेजू के रोज़ का काम बन गया। पता नहीं कैसे लेकिन उसे जल्दी उठने की आदत पड़ गयी थी। सवेरे उठता फिर घर के बाहर गली में अँगीठी जलाता। अंगीठी का धुआँ हवा संग लिपटकर घरों में घुस जाता। जो गली में मच्छरदानी ताने सो रहे होते वो और जो घर के अंदर दुबके होते धुएँ की कड़वाहट नथुने में घुसते ही बुड्बुडाते और बेजु को ढेर सी गाली देते हुए जग जाते।

दिलचस्प किस्म की दिनचर्या होती थी मोहल्ले की। गली में सबसे पहले नीम वाली अम्मा उठ जाती। रोटी और तीखे मसालों से बनी भाजी की सुंधिली खुशबू उसके घर के मुंडेर पे बैठी आते-जाते को टुन्घा रही होती। घर के भीतर से भुन-भुन करती नीम वाली अम्मा रिक्शेवाले को किसी किसी बात का उल्हाना देती। उसके बाद बेजू की हमउम्र सुशीला उठी होती जो बेजू की ही तरह अँगीठी जलाने का उपक्रम करती। सुशीला की अँगीठी बेजू की अंगीठी से ज्यादा अच्छे से जल जाती। उसके जलावन गोले अच्छे बने होते। बेजू ने कई बार उससे कहा भी था—"मुझे भी ये सिखा दे न अच्छे गोले कैसे बनाते हैं?..." वो घूर के उसे देखती और

पता नहीं बिहारी भाषा में क्या-क्या भुनभुनाती देर तक। उसने बेजू को कोयले की राख के अच्छे गोले बनाने नहीं सिखाए। एक बार तो चिढ़कर बेजू रात को उसके घर से गोले का आधा भरा बोरा ही उठा लाया था। इसपर पिताजी ने खूब मारा था। मार खाते हुए उसने देखा था कि सुशीला दूर कातर निगाह से उसे देखते हुए रो रही थी जैसे किसी मेमने को कसाई बलि दे रहा हो।

मोहल्ले में पच्चीस गज के मकान थे सभी के जिसमें दो कमरे बने थे। एक सोने का कमरा और दूसरा खाने-नहाने के काम में लिया जाता। कोई किसी अपनी के संग न रात को एकांतवासी हो पाता था न ही दिन में। जब भी मौका मिलता 'जरूरी इंसानी काम' निबटा लेता। इस निबटावे में न कोई लगाव होता न जुड़ाव। कभी कोई परिवार वाला उन ज़रूरी इंसानी काम का चोरी छुपे गवाह ज़रूर बन जाता। उम्र बढ़ते बच्चों के लिए ये ज़रूरी इंसानी काम जिज्ञासा-कौतूहल भरे होते। जिसे वे देखते और फिर बच्चा-बच्ची मंडली में हुसक-हुसक बतियाते। बच्चे-बच्चियाँ बेवख़्त वो सब जान जाते जो उन्हें वख़्त पे जानने चाहिए थे। वे जल्दी बड़े हो जाते। कैसा त्रासद विडंबना से भरा था मौहल्ले का जीवन। दो इंसानी देह एकांतवास के लिए हमेशा तरसती हुई रुहानी आहें-कराहें भरकर भक्ति-शक्ति में लीन हो जाती।

मंगतू लाला राशन वाला बनिया भी मोहल्ले की गली के नुक्कड़ पर रहता था। उसकी राशन की सरकारी दूकान थी। जहाँ राशन कम गालियाँ ज्यादा सुनाई देती। राशन न होने का गंदेला जंग लगा बोर्ड उसकी छत की मुंडेर पर उस कलमुँही हंडिया के बगल में लटका हुआ था जिसपे लिखे हर्फ़ मन को हुसका देते—'बुरी नज़र वाले तू कलमुँहा।'

खुली चौड़ी खाकी चड्डी और काली टोपी पहने कुछ लोग जो किसी का नाम पुकारते हुए नाम के पीछे 'जी' 'जी' लगाते थे मंगतू लाला के घर रोज़ इकट्ठे होते। उनमें कइयों के हाथ पाँच फुटा लट्ठ भी होता था जो कुत्ता भगाने के काम में तो नहीं लिया जाता था। वे खुद को पक्के वाला देशभक्त मानते थे। सभी 'जी-जी' वाले देश के भक्त मंगतू लाला के घर के सामने गली में चारपाई पर पसरे हुए चाय पीते और 'हिन्दू वीर उठे ललकार लड़ाई जब होने लगी ....' जैसे गाने गाते। बेजू को नाम के पीछे 'जी' लगाकर बोलना अच्छा लगता था। पर जैसी-जैसी वे बातें करते उससे बेजू डर जाता और उनसे दूरी बनाए रहता।

गली के मध्य में पुरबिया क्षेत्र की एक लम्बुतरी सुन्दर सी महिला अकेली रहती थी। साँवला रंग, तीखे से नैन और गहरे मादकाना नक्श थे। जिसे अड़ोसी-पडोसी भक्तन बुलाते। सब उससे डरते भी थे। बताते हैं कि उसका पति बहुत कद्दावर किस्म का भक्त था जो निस्संतान औरतों का इलाज करता। कुछ दवाई-फवाई देता था। आस-पास के कई मोहल्ले की औरतें उससे इलाज़ कराने आती थी। मोहल्ले में बने मंदिर के पण्डे की जोरू पंडिताइन भी उससे बच्चा होने की दवा-दारु लेती रहती। हालाँकि पण्डे जी खुद बहुत सिद्ध हस्तकला महारथी थे उनका ज्योतिष में घणा नाम था। पर पंडिताइन पर उनकी इस पुरा-हस्तकला पूर्वजवंशी जादू न चल पाया। खूब पूजा-फूजा करने के बाद भी पंडिताइन को जच्चा न बनना था और न ही बनी। एक दिन कद्दावर भक्त भोर के समय, जब पण्डे जी मंदिर की आरती में बीजी थे पंडिताइन को लेके फुर्र उड़ गया। पण्डे जी ने खूब पत्तर बाँचे, पित्तर हड़काए, हवन-फवन कराये। पर जाने वाले हमजोली लौट के फिर कहाँ आते हैं।

इधर भक्त के पंडिताइन संग फुर्र होते ही भक्तन ने धर्म-पत्नी का चोला उतार फेंका। भक्त के संग रहते हुए कुछ-कुछ भक्ताई के गुण-धर्म तो सीख ही लिए थे। उसने भी भक्ताई शुरू कर दी। वह निस्संतान पुरुषों की धार्मिक रीति-नीति से दवा-दारु करने लगी। इससे उसके

एकांत कोने भी हरियाते रहे और घर खर्चा भी गतिमान रहा। मोहल्ले की औरतें जब भरी दुपहरी में खाली-धड़ी होके नीम के नीचे बैठी होती तो न्यारी-प्यारी बतकही भक्तन के बारें में हुचक हुचक बतियाती–

''रात को भक्तन ने कालू को तोता बना लिया था...सुबह ही छोड़ा ..पता नहीं क्या-कुछ किया होगा।'' ''बेचारे की शक्ल देखो कितना थका-हारा सा दीखता है। जैसे कहीं से लुट-पिट आया हो..।''

जवान हुए लौंडे और जवानी गुजार चुके ठोंड़े शाम होते ही तोता बनने को भक्तन के घर के बाहर मँडराते पाए जाते थे। कुछेक निस्संतान होने का बहाना करके भक्तन के पास जाने का स्वाँग करते। इससे उनके घरवालों खासकर औरतों को लोंडो-बूढों पर विशेष निगरानी रखनी पड़ती। शाम को लोग अपने घरों से झाँकते थे ये देखने को कि आज कौन तोता बनेगा। यह सब अजीब कौतूहल भरा होता। पर वो बस्ती आत्मीयता से भरी थी। पर कुछ जाति और धर्म का चिचौरी अहम भीतरी तहों में जमा हुआ ज़रूर था। जो समय संग बाहर निकल ही आता। हालाँकि माली हालत उन सबों की एक सी थी पर जाति एक कहाँ रहने देती है इंसान को। मंगतू लाला बनिया था पक्का। जात से भी और ईमान से भी। मंदिर का पुजारी पंडा जी था तो बेपढ़ पर नाक उसकी शुद्धता का ख़ास ख्याल रखती। पेट से गले तक टँगा जनेऊ सफ़ेद से काला हो गया था पर कई सालों से बदला न गया। नीम वाली अम्मा यदुवंशी से नीचे कभी न उतरती। राठौर थे तो तेली समाज के पर सुशीला के घर का पानी पीने से पहले ही उनकी प्यास मर जाती। हनुमान चालीसा भजने वाला दो जोड़ी भैंसिया रामवीर पढ़के भी जाट ही बना रहा। बेजू के परिवार वालों को कोई बंजारा कहता, कोई गुवारिया। जाति की लंगोट सबने कसके बाँध रखी थी जिसे वे नहाते-धोते भी खुलने न देते।

गली में एक 'होला' नाम का लड़का भी था। ऐसा कहा जाता कि होली के दिन पैदा होने से उसका नाम होला रख दिया था माँ-बाप ने। यह एक दिलचस्प किस्म का अद्भुत नाम था जो सभी को लुभाता। मोहल्ले के बच्चे होला को छेड़ते हुए कहते–'होला रे होला आम खाओ गोला...। गंडूरा पाठा...। तोता रामबोला।' 'होला रे होला' कभी- कभी कोई शैतान बच्चा उसे छेड़ते हुए कहता–

''होला तू होली के दिन पैदा हुआ तो तेरा नाम 'होला' हो गया...अगर तुम 'लोहड़ी' के दिन पैदा होते तो?? कोई मसखरी ले के चिल्ला पड़ता...लो...हड़ा''। इसपे उन बच्चों के ठुमक-ठहाके आसमान तक उड़ते जाते...।

बचपन में जैसा भी जो कुछ था वो अब नहीं है, न प्यार बचा है, ना चाहत, न उम्मीदें, न साँसे, न धड़कने न और न ही स्वाद। दुनिया के कुछ सिरफिरे तो जाते-जाते यहाँ तक कह गए हैं कि–

''विचार भी तो नहीं बचा अब।''

यह बात उस ज़माने की है जब छुटपन अपनी शरारतों से जवाँ हो चुका था। और जो जवानी की उम्र में नहाए थे वो जवान हो चली साँसों को मोरपंखी उड़ान देने की जुगत भिड़ा रहे थे। उसी छुटपने में वो तीनों बहन-भाई इतवार को छानबूर वाले का इंतज़ार करते बिलानागा। कोई तयशुदा वक्त नहीं था छानबूर वाले के आने का। पर उनका इंतज़ार तयशुदा था, हर इतवार को। सारे काम धाम वे अलसुबह ही निबटा लिया करते थे। वे यह अच्छे से जानते थे कि छानबूर वाले की सयानी सी आवाज़ गली के किसी भी छोर से गूँज सकती है। अगर वो आकर निकल गया तो फिर अगले सप्ताह तक इंतज़ार करना पड़ता। हालाँकि

बेजू के घर आये बिना छानबूर वाले का चले जाना मुश्किल था। क्योंकि उसकी बीबी इतवारी बेजू की अम्मा संग कुछ लुकी-छिपी बतियाती थी। पर उन तीनों भाई बहनों को इससे कोई मतलब न था। उन्हें तो मतलब था छानबूर वाले से। इसीलिए तीनों भाई-बहनों के कान गली की हर आहट और आवाज़ को महसूस करते हुए मचल उठते। उनके कान जैसे मन की धड़कन में बदल जाया करते थे और मन की धड़कनें जैसे कान बन जातीं। तीनों बच्चों की धड़कनें समय के साथ बढ़ते हुए अब कुछ सयानी हो चली थी। इनकी सयानी धड़कन अब हर उस आहट और आवाज़ को पहचानती थी जो इतवार को गूँजती–

"रद्दी वाला, कबाड़ी वाला, नमखीं ले लो नमखीं.....। पापे ले लो पा पे।"

और इसी सब के बीच में कहीं से गली के एक छोर से बारीक लहराती हुई तरन्नुमी आवाज़ आती

"छानबूर वालो...। छानबूर दो भाई छानबूर।"

"छानबूर दो भाई पैसे लो, पैसे लो भाई छानबूर दो....। छानबूर वाला...।"

"छानबूर दो भाई पैसे लो, पैसे लो भाई छानबूर दो छान....बूर...।"

यह आवाज़ क्या थी जैसे उनके छुटपन की जिंदा जिंदगी थी। इन आवाजों में बच्चों का बचपन बसा था। सामान बेचने वाले चार पहियों की रेहड़ी पे सामान लादकर आधी सुबह में ही चले आते थे। कबाड़ी वाला रोज़ आता। शराब की खाली बोतल लेने।। छाछ बेचने वाला साइकिल पर आता दो बड़े से ड्रम लटकाए हुए। गन्ने की गंडेरी वाला रेहड़ी पर आता। एक कुल्फी वाला आता था भरी दुपहरी में जिसकी रेहड़ी पर लिखा नाम दिलचस्प था–"कच्छा छाप कल्लू की कुल्फी, एक बार खाओ तोता बन जाओ।"

मोहल्ले में तोता बनना बड़े ही भाग्य का काम माना जाता था। जो तोता बना वो भाग्यवान कहलाता। पर भक्तन के एकाकी जीवन और उसके पति भक्त की जगहँसाई-बेवफाई पे कोई बात न करता, न उसपे तरस खाता। मर्द जात के लिए औरत का यही मोल था। और सभी जात-धर्म के मर्दों की समझ यहाँ एक सी थी। सभी मरद भक्तन के घर-भीतर तोता बनने की ख्वाहिश पाले रहते।

मोहल्ले में सामान बेचने आनेवालों में कुछेक का फिक्स टाइम था और कुछेक का बेफिक्स। छानबूर वाला इतवार के दिन हमेशा बेफिक्सी टाइम पर आता था अपनी ब्याहता संग। ढीला सा मटमैला कुर्ता और सफ़ेद पायजामें पहने। जैसे दूर से ही कोई मटमैला फ़रिश्ता चला आ रहा हो। दुबला-पतला तांबई रंग लिए लम्बोतरा शरीर। जिसे टाँगों पे उठाये हुए वह शान से चला-चल करता हुआ आता। उसकी साइकिल का स्टैंड जमीन से रगड़ खाते हुए खर्र-खरर-खर्र सी डरावनी आवाज करता रहता। साईकिल के पीछे उसकी कमर-झुकी बीबी चल रही होती थी, लटकती हुई निढाल। हालाँकि उसके नैन-नक्श लुभावने थे। अगर वह झुकी न होती तो वह माशाअल्लाह से कम खूबसूरत न होती। उस झुकी कमर वाली औरत का नाम बच्चों को मालूम नहीं था पर इतवार को आने से उसका नाम बच्चों ने इतवारी रख दिया था और छानबूर वाले का उसके पति धर्म के कारण इतवारा। मोहल्ले में सभी के ऐरे-गेरे, टेढ़े-सेढ़े नाम रखे हुए थे और वही नाम लोगों की सही पहचान भी कराते थे।

वैसे कई सारे किस्से इतवारी और इतवारा के नाम दर्ज हो चुके थे। जिनमें से एक जो सबसे ज्यादा मशहूर था वो ये कि किसी दिन छानबूर वाला 'लड़का' होने की दवाई लेने और लोगों की नज़रों में छानबूर के बहाने भक्तन के घर में भीतर तक चला गया। कहते हैं कि भक्तन ने उसे दन्न से दबोचा और तोता बना के पिंजरे में कैद कर लिया। दिन भर

और भरी रात छानबूर वाला भक्तन के पिंज़रे में कैद रहा। भक्तन के घर से किस्म-किस्म की छानबूर वाले की आवाज़ आती रही। जब वह अगले दिन आधे भोर भक्तन के घर से निकल रहा था तो नीम वाली अम्मा ने देख लिया। बस फिर क्या था उसके तोता बनने का किस्सा गली गली मचलता- चलता हुआ इतवारी के कानों से भी जा टकराया। इतवारी भरे गुस्से में, 'या मार- या मार' दौड़ी। वह भक्तन को पकड़ने के लिए उसकी देहरी चढ़ने ही वाली थी कि औरतों के झुण्ड ने उसे बाँह से पकड़ लिया और डपट-धीमें से बोली—

''अरी उसके घर में मत घुसियों, जादूगरनी है वो जादूगरनी, माता डोलती है उसके माथे।'' 'हाथ नचाए जय जय राधे। पाँव नचाए कृष्ण आधे।'' ''कहीं ऐसा न हो कि तुझे भी तोती बनाकर पिंज़रे में रात भर के लिए कैद कर ले..।''

ये सुन औरतियाना ठहाका दँगल रूप में ठर्राने लगा। इतवारी मन मसोस के रह गयी थी। हालाँकि ये पक्का था कि भक्तन ने कभी किसी औरत को तोती बनाकर पिंज़रे में कैद नहीं किया था। कहते हैं कि वह औरतों का बड़ा ही लिहाज़ करती। जब बोलती अदब उसके शब्दों को महकाता हुआ निकलता, हाँ पुरुषों से वो बेअदबी दिखाती, कोई प्यार से बोलने की कोशिश करता तो उसे झिड़क देती।

लेकिन इधर तोता बनने के बाद छानबूर वाले इतवारा में एक बड़ा बदलाव आ गया। उसकी चाल-ढाल, पहन-पुहन उड़ान भरती दीखती। अब वह नहाया हुआ होता। कई बार वह अकेले आने लगा बिना इतवारी के। अब वह इतवार को ही नहीं बल्कि किसी भी दिन छानबूर लेने टपक जाता। बेजू हक्का-बक्का रह जाता था। क्योंकि कनस्तर में इतनी जल्दी इतना छानबूर नहीं हो पाता था कि वह बेच सके। बेजू डरा रहता कि इतवारा अगर इतवार को छानबूर लेने नहीं आया तो?

छानबूर वाले इतवारा ने कई महीनों तक कई-कई बार तोता बनने की कोशिश की पर वो फिर कभी कामयाब न हुआ। और जब इतवारी ने उसके साथ चलने की पक्की गाँठ बाँध ली तो छानबूर वाले की हल्की सी ठूँठ उम्मीद फिर कभी हरिया न पायी। इतवारी ने उसके तोतेपन को बाँध लिया था। शक्की की देवी अम्मा बन गयी थी इतवारी।

अपने काम का पक्का धुनी था छानबूर वाला। खूब मेहनती और हाड़तोड़ जुनूनी। पेशेवर पक्की-कसी निगाह लिए। आठ आने किलो के हिसाब से छानबूर लेता था सोने की तरह अच्छे से तौल के। नापतौल का उस्ताद खलीफा। वो छानबूर तौलता और इतवारी तुले छानबूर को बोरे में भरती जाती। करीब दो किलो छानबूर बेजू के घर से हर हफ्ते वह लेता। उसी फेर में बेजू का आधा रविवार चट हो जाता। दो-अठन्नी का लालच ही था जो उसके अधैर्य को धैर्य बँधाता रहता। ये दो अठन्नी से तीनों भाई बहन सप्ताह भर 'कच्छा छाप कुल्फी' मज़े से खाते थे।

उस ज़माने के शुरुआती दिनों में आज जैसे घूमने को न तो माल ही बने थे और न ही समय क़त्ल करने को मोबाइल। तकनीक के इस अजनबी युग में समय बेहद कम है और मौके कहीं अधिक। पर उस गुजरे जमाने में समय बहुत होता था पर मौके बेहद थोड़े से। तब प्यार तो कइयों को बहुतों से हो जाता था पर आज जितना न तो आत्मविश्वास था और न ही अवसर कि अकेले में मिले तो कह दें दन्न से कि—

''तू मोने अच्छी लाग्गे सी''

'आई लव यू' का ज़माना अभी उतना खुल के नहीं आया था। जितना आज खोल के आ गया है।

छानबूर बेजू के लिए बचपन में किसी सोने-चाँदी से कम बहुमूल्य नहीं था। आटे को छलनी से छाना जाता और सीढियों के साथ रखें टीन के कनस्तर में पलट देते। हफ्ते भर में दो किलो ही आटे से निकल पाता था छानबूर। आज तो जैसे छानबूर आटे से गायब ही हो चला है। बड़े शहरों में बड़े गगनचुम्बी माल खुल गए हैं। अब आटा प्लास्टिक की थैलियों में आने लगा है जिनमें छानबूर नहीं होता। अब मुहल्लों-बस्तियों से जैसे गेहूँ पीसने वाली चक्की गायब हो गई है ऐसे ही कनस्तरों से छानबूर भी उड़नछू हो गया। अब फिर बेचारा छानबूर वाला कैसे बचा रहता, तकनीक के इस युग में।

गेहूँ, आटा, कनस्तर, छानबूर, छानबूर वाला और फिर यही छानबूर छोटे पालतू पशुओं के लिए चारा। ये पूरी एक चेन थी, एक प्रक्रिया थी एक रिश्ता था चीज़ों और इंसानों के बीच जो एक को दूसरे से जोड़े रखती थी। इस बदले बाजारू ज़माने ने हमारी एक भरी पूरी प्रक्रिया को ही ख़त्म कर दिया। उसमें एक इंसान का मनुष्य बनने तक का सफ़र था। जैसे ही वह प्रक्रिया नष्ट हुई तो मनुष्य को बाज़ार से बने व्यक्ति ने दबोच लिया।

बेजू की अम्मा अंगूरी उन बच्चों की आदतें और शरारतें खूब समझती थी। वह उन बच्चों की माँ जो थी। अंगूरी आटे को बेहद बारीकी से छलनी से छानती और तीनों बच्चे घेरा बनाये बैठ उन्हें आटा छानते देखते। बारीकी से छाने आटे से जरा भी छानबूर ना निकलता. ..। बच्चे कसमसाते और कड़े गुस्से से अम्मा को देखते। अम्मा बच्चों के कसमसाने पर शरारत से हँसती। अम्मा के वहाँ से हटते ही बेजू ढेर सारा आटा अपनी मुठ्ठियों से भरकर छानबूर वाले कनस्तर में उड़ेल देता। फिर रात की बची रोटियाँ बोये से निकालकर स्कूल वाले झोले में छुपा लेता। चिल्ली-चिल्ली दोपहरी में स्कूल से लौटकर छानबूर वाले कनस्तर में छुपाई हुई रोटियाँ डाल देता। इस पर वह खुश होता कि इतवार तक खूब सारा छानबूर हो जाएगा।

हालाँकि आज बेजू अपनी इस हरकत पर दुःखी हो सकता है। क्योंकि घर में रात की बची रोटियाँ सुबह खाने के काम आती थीं और बेजू खाने वाली रोटियाँ अठन्नी के लालच में बर्बाद कर देता। उसके परिवार की हैसियत ऐसी नहीं थी कि बासी रोटियाँ गाय को दे या छानबूर के कनस्तर में डाले। गाय उस समय भी पवित्र माँ थी और इस पद पे बेखटके आज भी बनी हुई है। पर उसका पति साँड तब भी तिरस्कृत था और आज भी बहिष्कृत। गजब ज़माना है यह इस अजब दुनिया का।

छानबूर वाला गली में सबसे पहले बेजू के घर ही आता। सूखी रोटियाँ उसे यहीं से नसीब होतीं। बस्ती में सभी की हालत एक जैसी ही थी। रात की बची रोटी को सब लोग सुबह खा लेते थे। इसीलिए छानबूर के कनस्तर से इतवारा-इतवारी को रोटियाँ नहीं मिल पाती। इधर अम्मा इतवारी की घनी-गहरी बातों की राजदारा हो चली थी। एक बार इतवारी ने अम्मा को रुआँसा होकर बताया कि–

"ये बासी बची रोटियाँ हमारे खाने के काम आती हैं बीवी। रोटी सुखाकर सहेज लेते हैं। बारिश में छानबूर नहीं मिल पाता। पैसे हमारे पास होते नहीं। तब भूख में बिलबिलाते हैं सब घर में। और इस भड़ुवे मर्द पे भी नजर रखनी पड़ती है। आँख बचा काम-धाम त्याग कुतरी भक्तन के पास तोता बनने निकल जाता है।''

''ऐसे में ये बासी रोटी ही हमारा पनीर है...। इसे पानी में चीनी या नमक-मिर्च संग घोलकर खाते हैं....।" ''पता नहीं हमारी जिन्नगी कब तक ऐसे चलेगी...बीवी?'' कहकर इतवारी सुबकने लगती थी। अम्मा उसे चुप कराती धीरज बँधाती।

बेजू ने एक बार ये सब सुन लिया था। वह कराह उठा और इतवारी का चेहरा देखता

रह गया...। पर बेजू की अम्मा अंगूरी ये सब जानती थी। मोहल्ले के बहुत से घरों में बची हुई रोटियों को सुखा के डब्बे में भर के रख लिया जाता था। ये सुखी रोटियाँ आड़े-जाड़े दिनों में उनके परिवारों की बरकत होती थी। बेजू ने भी सूखी रोटियों का गुड़ से बना हुआ दलिया कई बार सुशीला के घर में खाया था, वह बनता कैसे था यह उसे अब मालूम हुआ। अब बेजू ढेर-सा आटा और बची-बिनबची रोटियाँ छानबूर वाले कनस्तर में डालने लगा था।

छानबूर वाले की पाँच लड़कियाँ थी जिनकी उम्र में कम-कम का अंतर था। इतवारी को लड़का न हुआ। लड़के की चाह में 'दे दना दन-दन' पाँच लड़कियाँ छानबूर वाले ने इतवारी से पैदा करा दी। जब छठे टाइम लड़के की उम्मीद में कोशिश करनी चाही तो इतवारी भरे जाड़े की रात में चांडालिन माई बन बैठी और झाड़ू से उसे कसके धुन दिया था—

''तुझे लौंडा चाहिए, तेरा मन है लोंडे का तो खुद पैदा कर ले...कटती मैं हूँ, दर्द मैं सहूँ और मज़े तू ले, मोड़ी ही पसंद है मोय। सुन ले ...।''

''अब बच्चा न होने का मुझसे...। और तोता भी न बनने दूँगी समझ लिजो कल ही नसबंदी कराऊँगी देख...।''

कहकर जवान अँधेरी रात में दौड़ा दिया था छानबूर वाले को। इसके बाद छानबूर वाले ने भी बेमन संतोष धर लिया था। लड़कियों को भरे-भारी मन से चाहने लगा। उसने परमानेंटली तोता बनने की चाह को भीतर गहरे में दफ़न कर डाला।

वह मौहल्ला-बस्ती क्या थी दर्दों-दुःखों का एक ऐसा दरिया था जहाँ पे सारे दलित-दुःखियारों को पेल-ठेल कर इकठ्ठे बसा दिया था। रिक्शे वाला नीम के पेड़ तले छोटे से घर में बसा था। उसकी पठानकोटी ब्याहता ने निम्मो अम्मा वाली पहचान बना ली। दोनों शाम को एकसाथ दारू पीते थे। फिर वह पठानकोटी पंजाबी मिक्स हिंदी में किस्म किस्म की गालियाँ सुनाती...। रिक्शे वाला गर्दन झुकाए पठानकोटी गालियाँ सुनता और चाय वाले कप से शराब गले में गटकता जाता।

"सुन बे भड़ुवे रिक्शा वाले मैं त्वाडे नाल आयी, सोचा था, साड्डे सपण तुस्सी पूरी...। तुस्सी ते रिक्शा चलान्दे हो...।" फिर उसके माथे पे बँधे कपडे को खींच लेती और उसे जोर से धक्का दे गिराकर उसपे चढ़ बैठती। गली के लोग अपने घर के जँगले से झाँक झाँक कर ये सब देखते।

बेजू उस बखत छठी क्लास में था और सुशीला पाँचवी के बाद पढ़ना छोड़ कर अँगीठी के लिए अच्छे से गोले बनाना सीख चुकी थी। वह सिलाई करती, बुनाई करती। कभी कभार बेजू के साथ बतिया-सतिया लेती थी। उसे ठीक से पढ़ना नहीं आता था। जब भी उसके घर गाँव से चिठ्ठी आती तो उसकी माँ जिसे वो भाभी कहती थी बेजू को चिठ्ठी पढ़ने बुलवा लेती। उसकी एवज में उसे मुरमुरे और गुड़लड्डू खाने को मिल जाते। इसीलिए बेजू सुशीला के घर चिठ्ठी आने के लिए भगवान से खूब दुआएँ माँगा करता।

एक बार सुशीला इतवार के दिन हैंडपंप से पानी लेने गई थी। बारिश के दिन थे नल का हत्था टाईट हो गया था। बेजू मोहल्ले के पार्क से खेलकर आया था। उसने सुशीला को हैंडपंप से जूझते पसीने से लथपथ पाया। सुशीला ने भी उसे देखा। बेजू के भीतर का छोटा मरद जोशीला हो उठा। उस छोटे मरद ने बड़ी वाली मर्दानगी लहजे में पूछा—

''नल नहीं चल रहा क्या??''...''नहीं''

सुशीला ने भोली-रुआँसी होके कहा। बेजू ने नल का हत्था थाम लिया। उसने नल चलाना शुरू किया ही था कि उसका पाँव फिसल गया। सुशीला पता नहीं कैसे उसके ऊपर आ गिरी

और दोनों ज़मीन पे धडाम...। बेजू नीचे और सुशीला ऊपर..। कुछ देर तक ज़मीन पे ही पड़े रहे। उन्हें समझ ही नहीं आया कि ये क्या हुआ। फिर दोनों हड़बड़ाकर ज़मीन से उठ खड़े हुए। दोनों की धड़कने शोर करने लगीं। उधर रामबीर अपनी दो जोड़ी भैंस को सानी देते हुए मुस्कुरा रहा था। बेजू ने देखा कि छानबूर वाला भी इतवारी संग अपनी साईकिल रोके खड़ा है और दोनों उन्हें घूर रहे थे। सुशीला ने अपना पानी का खाली बर्तन उठाया और घर की तरफ भाग गयी। बेजू भी मुँह लटकाए घर की तरफ चला गया। वो जानता था आगे क्या होगा? वह तो तोता बनने से पहले ही हलाल होने वाला था आज।

ठीक वही हुआ जो उसने सोचा था। शक्की की अम्मा इतवारी छानबूर वाले को संग लिए सीधे उसके घर आयी और अम्मा अँगूरी का हाथ पकड़कर छत पर ले गयी। बेजू तेज़ तेज़ धड़क रहा था, शान्ति से। ऐसी खामोशी में धड़कन धौंकनी सी चलती है। अम्मा छत से ही चीखी-बेजू। वह घबरा गया और धौंक सी धड़कन लिए छत पर गया। इतवारी कोने में बने कच्चे टॉयलेट में जा चुकी थी और अम्मा बेजू को धुन रही थी—

''खूब जवानी चढ़ी से तोन्ने जो अभेज, कुछ तो शरम राख मारे बाप्पे रा चौद्दा...। तारे बाप्पे ने पतो चालिये फेर 'फिर ता-था-थैय्या...। कुछ देर बाद इतवारी टॉयलेट से निकल आयी और अम्मा का हाथ पकड़ के बोली—'छोड़ दो बीवी जी...। अभी बच्चा है, बड़ा होके समझ जाएगा...।' बेजू इतवारी को खाती निगाह से घूरे जा रहा था।

बेजू और सुशीला अब चुपके-छुपे बतियाते। वो चोरी से उसे देखती तो बेजू बेकाम ही उसके घर रोजाना चक्कर लगा आता। सावन छूते समय में गली की औरतें सेवैंया बनाने के लिए सुबह से ही पार्क में इकट्ठी होतीं। घरों से गुँथा हुआ आटा कपड़े या किसी बर्तन में लेकर आती। भरी- चिल्ली धूप में छानबूर वाला और इतवारी भी कभी-कभार औरतों संग मिलकर सैंवैया बनाते। यहीं पे मौका पा वह अम्मा से लुकी-छिपी बतिया भी लेती।

एक दिन खूब चिल्ली-चिल्ली धूप थी। पक्षी-पशु और इंसान घर भीतर या पेड़ की छाँव में दुबके हुए थे। मौका पाकर सुशीला ने बेजू को छत पे चलने का इशारा किया। छत पे वह सेवैंया बनाने और खाने की बतियाने लगी। आकाश में उड़ते चील की ऊँचाई-उड़ान पे उसने ढेर सारी बातें बनाई। अपने गाँव की भैंस की और खेतों की बातें की। उसने खुश होके बताया कि रामबीर की भैंस को बछिया हुई है और अब बछिया के बाद भैंस खूब सारा दूध देने लगेगी। भैंस की बातें सुनते हुए बेजू को रामबीर का बेढंगे से हनुमान चालीसा का भजना याद हो आया। बेजू ने देखा की सुशीला उसे गौर से देख रही है। फिर सुशीला ने ज़मीन को देखते हुए धीमें से कहा—''मम्मी पापा खेलोगे?...। बेजू ने सुशीला के चेहरे पे बैठी मासूमियत को निहारते हुए कहा—'हाँ'।

सुशीला छत के कोने में प्राकृत होकर ज़मीन पर बिछ गयी और बेजू को प्राकृत कर ऊपर गिरा लिया। उन्हें पता नहीं था कि क्या होना है...। पर साँसे धौकनी सी चल रही थीं ...दोनों आदि-प्राकृत हालात में थिर होकर कँपकँपा रहे थे। तभी जोर से आँधी आयी दोनों सहम गए। दोनों के कपड़े उड़कर छत के दूसरे कोने में गोले बनकर सरक गए थे। पर ये आँधी क्या था, तूफ़ान आने की दस्तक थी।

छानबूर वाले की बीबी इतवारी छत पे आ गई बाथरूम करने ...। उसने दोनों को आदि-प्राकृत हालत में देखा। गुस्से से उसकी त्यौरियाँ चढ़ी और सात पुश्तों का गुस्सा उसके माथे पे चढ़ बैठा। उसे इतवारा का तोता बनना याद हो आया। इतवारी ने सुशीला को चुटिया से पकड़ के खींचा और खूब सारे थप्पड़-लात से उसकी प्राकृत देह को लाल कर दिया। बेजू

कुछ सेकेण्ड डर से जम गया और ये सब देखता रहा। फिर न जाने कहाँ से उसमें ताकत घुसी। उसने कोने में रखी पतली बल्ली को उठाया और दन्न से इतवारी के हाथ में दे मारा। इतवारी दर्द से चीखी....। इतवारी के हाथ से सुशीला छूट गयी। बेजू ने जल्दी से शरीर पे कपड़े जमाये और सुशीला को भी कपड़े दिए। दोनों इतवारी को कराहती छोड़कर नीचे की ओर भागे। बेजू ने तो डर से मोहल्ले के शमशानघाट की पनाह ली क्योंकि वहाँ जल्दी से कोई जाता नहीं था। पर बेचारी सुशीला कहाँ जाती। लड़की का घर के अलावा ठौर कहाँ?

इतवारी थोड़ी समझदार थी। उसने इसकी चर्चा बस बेजू और सुशीला के घर में ही की। सुशीला को तो उसी दिन गाँव रवाना कर दिया। बाद में पता चला कि उसकी शादी कर दी बे-दहेज़ किसी विधुर-बांगडू से। उधर बेजू को खूब मार पड़ी। उस मार के जखम उसके सीने पे आज भी कराह जाते हैं जब भी सावन आता है और घर में सेवैंया बनती हैं।

छानबूर वाले की दुनिया की भीतरी तहों के बीच झाँकती बेबसी, समंदर की गहराई सी भूख उसके अंग-संग चिपकी थी। कहीं झाड़ियाँ थी तो कहीं झंखाड़। कहीं खोह थी तो कहीं पठार। ऊँच नीच का पापड़ा खेलते दुःख और सुख, कहीं धूप छाँव... उसकी पाँच बच्चियों की तंगहाल वीरान खोह सी जिन्दगी। इतवारी का मुरझाया बैलोस-बैचेन मुख। जैसे-जैसे कनस्तर से छानबूर कम होता गया उनके परिवार की भूख विराट होती गयी और पेट जर्जर।

समय बदलने लगा और काम धंधे भी। पुराना डूबने की कगार पे था और नया कमाने की ऊँचान पर। पर धर्म अब भी सबसे ऊँचे सिंहासन पे टिका था। उसके नुकसान होने की कोई आशंका अभी न थी। विज्ञापन ने दिमाग को बदला बाज़ार ने इंसान को। पत्नी का प्यार अब प्रेशर कुकर में बंद हो गया। नया प्यार चॉकलेट के पैकेट से पैदा होने लगा, आटा अब चक्की पे नहीं पिसता था बल्कि मालिक की तोंद के आशीर्वाद से पैकेट बंद होकर आता था। नया ज़माना आ गया था पर छानबूर वाला जंग खाती साईकिल पे ही अपनी जिंदगी रगड़ रहा था। घर्रर घर्रर्...घर्रर घर्र...।

इधर छानबूर वाले और इतवारी को लेकर बेजू के मन में अब कोई दया नहीं रह गयी थी। छानबूर वाला इतवार को आता इतवारी संग। उसके घर से छानबूर लेता पर अब बेजू नहीं बल्कि उसकी बड़ी बहन छानबूर देती। इतवारी भी अब कभी-कभार ही अम्मा संग लुकाछिपी बतिया पाती। समय ने रिश्तों में रिसाव बना दिया था। इतवारा-इतवारी छानबूर के लिए खूब मेहनत करते पर जीवन कठिन से बदहाल होता गया। उसकी पाँचों बच्चियाँ भी समय के साथ बढ़कर अध-जवान होती गयीं। लड़कियों को कैसे पाले और ब्याह करे अब इतवारी की लुका-छिपी बातों का विषय होता। इतवारा को समय की मार ने बुढापे की तरफ धकेलना शुरू कर दिया था। मोहल्ला भी बदल रहा था।

इतवारी ने एक दिन अम्मा को बताया कि—''वे छानबूर का काम छोड़ने वाले हैं। कबाड़ का धंधा करेंगे, कबाड़ में खूब कमाई हो जावे है।'' उसने आगे कहा - ''हमने सोचा था कि घर में दूकान निकाल लेंगे, परचून की दूकान करेंगे, पर हमारे मोहल्ले में भोत लोगों ने घर-घर दूकान बना ली।'' सुना है बीवी जी बड़े सेठन ने भी मॉल-मॉल में भोत बड़ी-बड़ी परचून की दूकान खोल ली है, ऐसन में अब परचुन की दूकान कमाई न देने की बीवी।''

''लड़कियाँ बढती जा रहीं हैं। कबाड़ लोगन के घर से खूब निकलते देखती हूँ...।'' ''कोई अब छानबूर नहीं देता बस कबाड़ ही देना चाहता है, छानबूर की जगह।''

फिर जैसे उसे कुछ याद आया हो उसने चहकते हुए कहा - ''पता नहीं बीवी जी घरों में इतना कबाड़ कहाँ से आ जाता है ..? पर सब घरों में मिलता खूब है, हमारी बरकत अब

इस कबाड़ में ही होनी लिखी है।'' ...''कबाड़ बेचेंगे और तरक्की करेंगे।'' ''कबाड़ ही ब्याह करावेगा हमारी लड़कियन को अब बीवी...।''

फिर इतवारी ने अम्मा को भरे उत्साह और जोश में ऐसी बात कह दी की सुनकर अम्मा गुस्से में उबलने लगी थी–

''मैं तो कहूँ हूँ बीवी जी आप भी अपने इस छोरे को क्यूँ पढ़ाती हो इतना।'' 'बेकार में टैम खराब करेगो और पैसो भी।' 'मैं एक सलाह दूँ बीवी इसे कबाड़ी ही बना दो...पता है कितनी कमाई है इसमें...हज़ार...लाख...करोड़ .....। फिर पैसे की मरोड़...।' कहकर इतवारी चुप हो गयी। अम्मा उसे खा-निगाह से घूर रही थीं। उधर ये सब सुनकर कमरे में बैठे बेजू के सामने सुशीला का चेहरा घूम आया। उसे ऐसा लगा जैसे वो जोर से चिल्ला रहा हो...।

''ए कबाड़ी वाला...।''

संपर्क : सी-97, द्वारका मोड़, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059, मो. : 9891438166

सहारे का सूर्यास्त

विन्ध्येश्वरी

'—अले....अले....बाबू मेला...मुन्ना मेला...गुल्लु.....उसे हँसाता है। ध्यान से मेरी बात भी सुन रहा है...। छब समझता है। छौना मेला...किसनु कन्हैया है। मेरे दिल का टुकड़ा है। अब छोलकर मुझे नहीं जाएगा न? चू ऽ ऽ चू ऽ ऽ ना ऽ ऽ ना ऽ ऽ लोना नहीं...। अच्छा बाबा जाना...जाना...। अच्छा ...तो देह में दलद हो लहा है, मेरे चिंटू को। अभी तेल मालिश करूँगी कि छब दलद दूर हो जाएगा..।'

फिर अपने दोनों पैरों को जमीन पर लंबे पसार कर, दोनों पैरों के बीच पोता को चित लिटा देती है। तेल की मालिश की बात सुनकर, मनीषा झट तेल की मलिया पकड़कर बोली—'ओह! माँ जी कितनी बार आपको बता चुकी हूँ कि सरसों का तेल चिंटू को हम कभी नहीं लगाए हैं। जैतुन का तेल, बेबी जॉनसन ऑयल या ए.डी. ऑयल ही लगाती हूँ। वैसे भी आजकल, भला बच्चों को कोई सरसों का तेल इस्तेमाल करता है क्या?''

'—कुछ भी कहो बहू, हम लोगों के समय में सरसों का तेल ही बच्चों के सेहत के लिए फायदेमंद होता था। सरसों तेल की मालिश जायफर को घूँटी, माथे पर सरसों का तेल और जायफर का माथे पर लेप चढ़ा देते थे। बच्चा दिन-भर चंगा और स्वस्थ रहता था। सर्दी और निमोनिया तो पता नहीं कहाँ गायब हो जाती थी। अपने दोनों बेटों को सरसों तेल की मालिश करके ही बड़ा किया है। इसी धूल-मिट्टी में खेल-कूदकर दोनों जवान हुए हैं। आजकल के बनावटी तेल, दूध और भोजन से बच्चों की सेहत तुम लोग कमजोर कर देती हो।'

'—माँ जी अपनी पुरानी बात छोड़िए। आजकल के इस समय में खास नहीं चुनिएगा तो लोग आपको मूर्ख या कंजूस कहेंगे। इसलिए, यह लीजिए, बेबी जॉन्सन ऑयल की मालिश कीजिए'—मनीषा सास को तेल की शीशी देती हुई बोली।

'—बहू की बातों के आगे सुमित्रा जी एकदम चुप हो गईं। नया युग, नए लोग, नई बातें, यह सोचकर सुमित्रा जी बेबी जॉनसन ऑयल से चुपचाप मालिश करने लगीं। सुमित्रा

जी को लगा जैसे पोता पर उनका कोई अधिकार नहीं। सुमित्रा जी का मन कुंठित हो गया। पोता को तेल मालिश जैसे अपने मन या अधिकार से नहीं बल्कि, बहू की हुक्म से कर रही हैं। फिर भी अपने को सामान्य बनाने तथा पोता को बहलाने, दुलारने के ख्याल से तेल मालिश करते-करते एक पुरानी लोरी गुनगुनाने लगीं–

'–चंदा मामा दूर के ऽ ऽ ऽ ऽ पुआ पकावें गुड़ के ऽ ऽ ऽ ऽ
आप खाँए, थाली में ऽ ऽ मुन्ना को दें प्याली में ऽ ऽ ऽ ऽ
'प्याली गई फूट, मुन्ना गया रूठ ऽ।
चंदा मामा दूर के ऽ ऽ ऽ ऽ'

झूम-झूमकर लोरी गाती रहीं और तेल मालिश करती रहीं। बीच-बीच में पोता के होंठों पर मुस्कराहट देखकर, उनके अंदर की निराशा एकदम दूर हो गई। फिर प्यार से पोता को गोद में बैठाकर पुचकारने लगीं। देर तक पोता को दुलारती रहीं। फिर आँखों में काजल और ललाट पर काजल का टिका लगाई तो पोता पुनः बिलखकर रो पड़ा। इस तरह रोना देखकर, सुमित्रा भी मर्माहत हो गईं। तत्काल सीने से लगाकर, माथा पर थपकियाँ लगाती हुईं पुनः दूसरी लोरी गुनगुनाने लगी'–

ऐ चंदा मामा आरे आव ऽ ऽ पारे आव ऽ ऽ
नदिया किनारे आव ऽ ऽ
सोने की कटोरिया में दूध-भात ले-के आव ऽ ऽ
बबुआ के मुँहवा में घूटुक...ऽ ऽ।'

पोता के होंठों पर पुनः वही मुस्कान लौट आई। फिर बड़े इत्मीनान से पोता के कपड़े बदलने लगीं तो थोड़ी रोनी सूरत बनाकर होंठ बीचकाया। चो...चो...ना बाबू...ना मेरे लाल. ..। ओ ऽ समझी भूख लगी है चिंटू को। अभी दूध पिलाती हूँ, बाबू को...

कंधे पर सुलाकर, सुमित्रा जी पोता को कैलाश बाबू का कमरा में ले गईं। पोता के इंतजार में कैलाश बाबू पहले से ही तैयार बैठे हैं। पोता जब से आया है, कैलाश बाबू की गोद में डालकर बोलीं '–अपना पोता सँभालिए जी, दूध लेकर आती हूँ।'

पोता को गोद में लेते ही कैलाश बाबू बिलकुल व्यस्त हो गए '–अबे ऽ ऽ मेला नन्हा फरिश्ता...मेला राजा बेटा ऽ ऽ ऽ अरे वाह, आँखों में काजल, काजल का टीका, चेहरे पर खुशबूदार पाउडर, मेला पोता तो एकदम छोटा राजकुमार लग रहा है।'

पोता को दोनों हाथों से उछाल-उछालकर खेलाते हुए, कभी चुम्मा लेते कभी पुचकारते। देर तक अपने दोनों बांहों के झुला में झुलाते रहे। फिर अचानक ही कैलाश बाबू जोर से चिल्लाए–'सुमित्रा ऽ ऽ ऽ ऽ

सुमित्रा जी दूध का बोतल लिए, घबराई हुई, कमरे में आकर बोलीं '–अरे क्या हुआ जी! इस तरह चिल्ला क्यों रहे हैं?'

'–अरे! हुआ क्या, सुसू कर दिया।'

'–हाय राम! मैं तो एकदम डर गई थी। बुढ़ापे में भी आपको अक्ल नहीं होगी। भला इसमें इतना चिल्लाने की क्या बात थी।'

सुमित्रा जी पोता को गोद में लेकर, बोतल का दूध पिलाने लगीं। बहू तत्काल हग्गी लेकर आईं और चिंटू के दोनों पैरों को बारी-बारी से पकड़कर, हग्गी पहनाती हुईं, सुमित्रा जी पर बरसने लगीं '–कितनी बार माँ जी को समझाई कि इसे ''पैम्पर्स' का ड्राई-पैंट पहनाइए। यह पेशाब और पखाना को सोख लेता है। यह गीला बदन चिंटू को गाँव में कहीं या किसी

के घर ले जाने पर भी मना करती है।

कहती है '—कहीं मत ले जाइए, गाँव में पता नहीं लोग कैसे-कैसे हाथों से चिंटू को छुएँगे। मुँह में मुँह सटाकर चुम्मा भी लेंगे। इसमें 'डुफेक्सन' होने का डर रहता है।'

'—अरे गुणवंती डुफेक्शन नहीं इन्फेक्शन होने का डर रहता है।'

'—अरे हाँ बाबा वही। मुझे अंग्रेज़ी नहीं आती है। हम लोग तो अपने बच्चों को किसी की गोद में डालकर बाहर घुमाने के लिए, दे देते थे। तब ना कोई रोग लगता था न कोई छुआछूत।'

'—देखो सुमित्रा अपने बच्चों को स्वस्थ-निरोग और खुश रखने के लिए जितनी सावधानियाँ तुम अपने समय में रखती थीं, आज बहू भी वही करती है। बस, आज फर्क इतना है कि बीमारियाँ ज्यादा बढ़ी हैं। दूसरे में सामाजिक और पारिवारिक दूरियाँ भी बढ़ी हैं। इसलिए, सावधानियों के तरीके, खान-पान और समझ भी बदले हैं। यह पल, यह समय सबसे महत्त्वपूर्ण होता है, जब किसी माता-पिता के आँगन में एक छोटा सा फरिश्ता मेहमान बनकर आता है। वह फरिश्ता उनकी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा बन जाता है। उसके लालन-पालन और बेहतर परवरिश में माँ-बाप कोई कसर नहीं छोड़ना चाहते हैं।

वैसे वह समय भी आता है, जब बच्चा अपने दिमाग से अपने विचार से सब कुछ करने लगता है। फिर वह स्कूल, कालेज ओर फिर शादी के बंधन में बँध जाता है। वहीं से उसकी अलग दुनियाँ बननी शुरू होती है। फिर जैसे ही वह नौकरी-पेशा में जाता है, अपने माता-पिता से दूर होता चला जाता है। उसके संस्कार, रहन-सहन बदलने लगते हैं। ठीक वैसे ही जैसे हमारे दोनों बेटे प्रशांत और प्रकाश हमसे दूर हो गए हैं।'

'—बस, बात करते-करते आप सारा दोष अपने बेटों पर गिरा देते हैं। आप दोनों बेटों के बारे में कितना गलत सोचते हैं। प्रकाश और प्रशांत अपनी पत्नी और बच्चों के साथ शहर में रहकर कमाते-खाते हैं। अपने परिवार के साथ खुश हैं। आपको न उन्हें खर्च देना है, न ही आपको उनके आगे खर्च के लिए हाथ फैलाना है। तब इसमें आपको क्या चिंता होती है।

...पैसों से परिवार नहीं बनता है। न ही सुख....बढ़ाया करता है..। परिवार में प्रेम, आत्मीयता ...अन्यथा पारिवारिक जीवन बिल्कुल कष्टपूर्ण हो जाता है। बेटा नौकर कहकर भी घर-परिवार, माँ-बाप को परिस्थितियों से अनजान रहे, करीब रहकर भी पराया जैसा रहे तब वह समय माँ-बाप के लिए कितने कष्टपूर्ण होते हैं। यह तुम अच्छी तरह जानती हो सुमित्रा।'

'—आप ठीक कहते हैं। छोटा बेटा प्रशांत जब शहर से आता है, परिवार के साथ महीनों रहता है। हम दोनों का कितना ध्यान रखता है। बेटा जब माँ-बाप के सुख-दुःख में शामिल रहता है तो कितना अच्छा लगता है। बेटों को सामने देखकर, माँ-बाप की उम्र बढ़ जाती है। लेकिन प्रकाश के बाबू ऐ सारी बातें किसी से कहने की नहीं होती हैं। माँ हूँ न। उन्हें तो बस मन की तिजोरी में बंद कर लेती हूँ।' सुमित्रा जी अंदर ही अंदर अपने आँसू छिपाकर बोलीं।

'—प्रकाश की शादी के सात साल गुजर गए। हम लोगों के हालचाल, दुःख-दर्द जानने कितनी बार गाँव आया है—मात्र दो बार बस। तुम्हारा कमाऊ बेटा गाँव आता भी है तो पहले ससुराल होकर, वह भी यहाँ मेहमान बनकर दो चार दिन के लिए ही आता है। तब भी तुम फूले नहीं समाती हो। बेटा को क्या खिलाऊँ, क्या पिलाऊँ और शहर ले जाने के लिए, क्या बनाऊँ के बीच दो दिन जूझती रहती हो। मेहमान बनकर आए बेटा के लिए, तुम्हारा जितना क्षण सुखद होता है, वह पल उतना ही दुखद उसका लौटना भी होता है। बेटा को ससुराल

में पंद्रह दिनों तक रहना, तुम्हारे लिए कितनी पीड़ादायक होती है सुमित्रा। क्या हम लोग इस जिगर के टुकड़े को पढ़ा-लिखाकर, कमासुत बनाकर इसलिए, बड़ा किया था कि वह हमारी भावनाओं एवं हृदय से दूर चला जाए।'

पोता बीच में ही नींद में चिहुँक कर रोया तो सुमित्रा जी उसके ललाट पर हाथ थपथपाकर पुचकारते हुए सुलाने का प्रयास करने लगीं। नींद में हो पोता के होंठों पर हल्की मुस्कान उभर गई। लेकिन थपकियों से धीरे-धीरे गहरी नींद में पुनः चुपचाप सो गया। फिर सुमित्रा जी सुकून से उसके ललाट पर देर तक हाथ थपथपाती रहीं।

'—तुम्हारा पोता जब से यहाँ आया है, उसके अलावा तुम्हारे पास किसी और के लिए समय ही नहीं है। पोता को नहलाने, तेल मालिश करने काजल-पाउडर लगाने, दूध पिलाने, लोरी गाकर सुलाने में तुम्हारा पूरा दिन बीत जाता है। पोता के आने से तुम्हारा गठिया का दर्द भी छू-मंतर हो गया है। जब पोता यहाँ नहीं था तो दिन-रात घुटने के दर्द से ऊँह...आँह. ..। करके दिन रात गुजारती थीं। बगैर दवा खाए एक कदम भी नहीं चलती थीं। लेकिन अब दौड़-दौड़कर घर का सारा काम भी कर लेती हो। भगवान भला करे हमारे पोता का।' कैलाश बाबू सुमित्रा जी पर व्यंग्य कसते हुए बोले।

मैं तो घर के काम-काज करती हूँ। लेकिन रात-दिन घर में बैठकर आप कौन-सा पहाड़ तोड़ते हैं कि शुगर और ब्लड-प्रेशर की दवा खाना भूल गए हैं। मेरा तो दर्द है सह लेती हूँ। मरूँगी नहीं लेकिन आपकी बीमारी जानलेवा है। कभी भी कुछ हो सकता है। समय पर आपको दवा खा लेनी चाहिए। पाँच बजे सुबह टहलने जाते थे, वह भी अब तो सात बजे सोकर उठते हैं। आपको कुछ हो जाएगा तो मैं क्या करूँगी। कैसे रहूँगी। कभी आप यह सोचते हैं।'

कैलाश बाबू पत्नी के दिल का दर्द खूब समझते हैं। उसके पीछे प्यार और आत्मीयता का जो बंधन है। कैलाश बाबू पत्नी की सहानुभूति के बावजूद भी सफाई में बोले—तुमको दुःखी होने की जरूरत नहीं। सुनो! गैस्ट्रिक, शुगर और बी.पी. आम बीमारियाँ हैं। खासकर बुढ़ापे में ऐसी बीमारियाँ होती ही रहती हैं। तुम्हारा दर्द जब पाता के लाड़-प्यार में छू-मंतर हो सकता है तो पोता की किलकारियों में मेरी बीमारी भी गुम हो गई है। मुझे कुछ नहीं होगा सुमित्रा।'

कैलाश बाबू एवं सुमित्रा जी का एक महीना पोता और बहू के साथ कैसे गुजर गया, पता ही नहीं चला। सचमुच, बच्चों के संग वात्सल्य प्रेम तो उमड़ ही पड़ता है। कैलाश बाबू एवं सुमित्रा जी अपने इसी प्रेम के वश में पोता एवं बहू के साथ महीना गुजार दिए थे। वैसे बहू प्रकाश के साथ जब कभी यहाँ आती थी, चार-पाँच दिनों में ही यहाँ उब जाती थी। वह निराशा के भँवर में अपनी सारी चहलकदमी भूल जाती थी। जैसे उड़ते पंछी को पिंजरे में बंद कर दिया गया हो। वैसे कैलाश बाबू इन परिस्थितियों में सुमित्रा जी को समझाने का हर संभव प्रयास भी करते हैं। देखो सुमित्रा! माता-पिता बेटों को इसलिए पढ़ाते लिखाते हैं कि अच्छा इंसान बने, अच्छी नौकरी करें, अच्छा व्यवसाय करें या कुछ बनकर दिखाए। लेकिन पढ़-लिखकर भी इस गाँव में उनका क्या भविष्य है। जब बेटा शहर में है, नौकरी में है तो उसकी पत्नी साथ रहेगी ही। नौकरी के बाद बेटा-बहू प्रवासी पंछी हो जाते हैं, सुमित्रा।'

'—फिर भला ऐसी पढ़ाई और नौकरी से क्या फायदा की अपने बेटे ही माता-पिता से दूर हो जाए। बेटे तो बुढ़ापे का सहारा होते हैं। आज हाथ पैर चल रहा है तो हम दोनों सुख-चैन से खा-पी रहे हैं। अंत समय में बेटों का सहारा तो लेना ही पड़ेगा न?' सुमित्रा जी एकदम भावुक होकर बोलीं।

'—देखो सुमित्रा! हम दो पके आम हैं। कब टपक जाएँ, यह कोई नहीं जानता है। मैं जब नहीं रहूँगा तो तुम्हारे सहारे का सूर्यास्त हो जाएगा और अगर पहले तुम गुजर गईं तो मेरे सहारे का अंत हो जाएगा। क्योंकि एक साथ हम दोनों इस दुनिया से विदा तो होंगे नहीं। बस, साँस है, तब तक आस है। वैसे चलते-फिरते ही दम निकले तो अच्छा है। किसी के सहारे और सेवा की जरूरत ही न पड़े। बुढ़ापे के सहारा के लिए दोनों बेटों पर आश्रित मत रहो सुमित्रा। यह कलयुग है। कभी-कभी भगवान भी किसी इन्सान को दुःखों के पहाड़ से ऐसे ग्रसित कर देते हैं कि उसे अपने कर्मों का भारी मूल्य यहीं चुकाना पड़ता है।

सुनो! गोविंद सारे गाँव में सुखी सम्पन्न व्यक्ति हैं। दो लड़के हैं। दोनों कपड़े की दूकान करते हैं। गाँव में फसल उगाने वाली जमीन भी है। दो तीन कित्ता पक्के मकान है। सात साल हो गए पत्नी गुजर गईं। दोनों बेटे अलग-अलग रहते हैं। गाँव में गोविंद, साब को रुतबा है। इज्जत है। लेकिन बाप को दो वक्त खिलाने के लिए, दोनों बेटों ने पारी बाँध रखी है। छः महीने बड़ा बेटा और छः महीने छोटा बेटा में वे खाते हैं।

एक दिन गोविंद साब अपना लोटा और आसनी लेकर जब छोटा बेटा के घर ज्योंहि खाने बैठे, त्योंही छोटी बहू बोली '—पापा जी! आज पहली जुलाई है। आपकी आज से बड़े भैया के घर खाने की पारी है।'

गोविंद साब को लगा किसी ने उनके पेट पर लात मार दिया हो। उनका हृदय बैठ गया। लेकिन अपने हृदय की भावनाओं को छिपाकर, निरीह भाव में बोले '—तारीख याद नहीं थी बहू। बोझिल मन से लोटा और आसनी लेकर, बड़े बेटा के घर की तरफ बढ़ गए थे।

'इसी गाँव की दूसरी कहानी सुनो—लक्ष्मी बाबू की जिंदगी भी कुछ ऐसी ही है। वे अपने जीवन के उस पड़ाव पर खड़े हैं, जहाँ सब कुछ होते हुए भी, अपना कुछ नहीं होने का एहसास कर रहे हैं। दो बेटे हैं। भगवान का दिया सबकुछ है—धन, जन, पंद्रह बीघे जमीन बाग-बगीचे। बड़ा बेटा किराना होलसेल की दूकान चलाता है। छोटा-बेटा रेडीमेट की दूकान करता है। लक्ष्मी साब की पत्नी भी हैं। लेकिन बेटों में बँटवारे के बाद बड़े बेटा में पिता खाते हैं और छोटा बेटा में माँ खाती हैं। पति-पत्नी का यह विभाजन कितनी मारक होगी तुम यह अच्छी तरह समझती हो सुमित्रा।'

सचमुच, आज तेजी से बदलते सामाजिक, आर्थिक परिवेश में रिश्तों एवं बुजुर्गों की स्थिति बद से बदतर हो गई है। आदमी अपने जीवन के अंतिम चरण में इतना असहाय और बेसहारा हो जाता है कि मानवीय संवेदनाएँ, रिश्ते यहाँ तक कि अपने खून के रिश्ते भी जहर लगने लगते हैं। वह पारिवारिक मोहमाया और सामाजिक बंधनों से मुक्त होना चाहता है। वह न चाहते हुए भी यह कहने पर विवश हो जाता है '—हे भगवान, अब मुझे इस दुनियाँ से उठा लो।'

दस बजे का समय और रविवार का दिन है। सुमित्रा जी सुबह पूजा-पाठ से पहले पोता को नहलाकर, तेल, पाउडर और आँखो में काजल लगाकर, कपड़े बदलकर, पोता को दूध पिलाने के लिए बहू के पास छोड़ गईं। फिर पोता एवं कैलाश बाबू के कपड़े साफ करने के बाद स्नान से निवृत्त हो गईं।

जब कपड़े छत पर धूप में सुखाने ले गईं, तभी पड़ोस की नागेंद्र बहू एवं अपनी बहू की बातें करते सुनी तो बस, छत की सीढ़ियों पर ही ठिठक गईं। अपनी बहू की जो बातें सुनीं तो सुमित्रा जी सकते में आ गईं। करंट लगें वाक्यों से सुमित्रा जी एकदम आहत हो गईं। आज पहली बार सास-ससुर होने की परिभाषा समझ गई हैं। छत पर कपड़े पसार कर

सुमित्रा जी भारी मन से कैलाश बाबू के कमरे में आकर चुपचाप बैठ गईं। सूनी आँखों से अतीत और भविष्य में वर्तमान देख रही हैं। कानों में बार-बार बहू कि दिल जलाने वाली बातें शोर मचा रही हैं। महीने भर की खुशियाँ एक पल में उड़ गई हैं।

तभी पीठ पर हल्की चपत पर सुमित्रा जी पीछे मुड़कर देखती हैं। कैलाश बाबू थोड़ा मुस्करा कर बोले '—क्यों क्या बात हुई? घुटने का दर्द शुरू हो गया क्या?'

'—आपको तो बस, मेरे घुटने के दर्द की चिंता बनी रहती है। यह दर्द घुटनों के दर्द से भी बड़ा है। यह सुनेंगे तो आपका भी बी.पी. और शुगर हाई हो जाएगा। उस पड़ाव पर जहाँ पहुँचते ही शरीर को ढो कर चलना पड़ता है। अपने इस उम्र में कलंकित होने की पीड़ा सुनकर, सकते में आ जाएँगे।'—बात कहते-कहते सुमित्रा जी के आँसू बहने लगे।

'—क्यों किसी ने कुछ कहा क्या?'

'—कोई दूसरा क्या कहेगा। दर्द तो अपनों से ही होता है न। कितनी बातें बताएँ। समझ नहीं आ रहा है कि यदि अपने ही हमें पराया समझें तो कोई कुछ कहकर भी क्या कर लेगा।'

'—पहेलियाँ मत बुझाओ। कुछ बात तो है। साफ-साफ बताओ क्या बात है?''

बात कहने से पहले सुमित्रा जी सुबक-सुबक कर रोने लगीं और अपने आँचल से आँसू पोंछ-पोंछ कर कहने लगीं '—आज जब मैं छत पर कपड़ा पसारने गई तो नागेंद्र बहू से अपनी बहू छत पर कह रही थी '—जानती हैं दीदी, मैं यहाँ आना नहीं चाहती हूँ। मेरे पापा लड़का से पहले ही तय कर लिए थे कि मेरी बेटी गाँव में नहीं रहेगी। लड़का सरकारी नौकरी में था। इसीलिए मेरी शादी यहाँ हुई थीं अगर शहर की नौकरी नहीं होती तो मेरे पापा यहाँ शादी ही नहीं करते। मेरी शादी बूढ़ा-बूढ़ी की सेवा करने के लिए यहाँ नहीं हुई है। ये तो चिंटू के पापा कहते हैं कि कम से कम साल में एक बार गाँव जाना चाहिए वरना गाँव-जवार के लोग कहेंगे कि हिस्सा लेने के समय आया है। बँटवारा कर देते तो हम लोग निश्चिंत हो जाते। बार-बार गाँव आने की जरूरत ही नहीं पड़ती। वैसे भी अपना सारा-रुपया पैसा छोटे बेटे पर ही खर्च करते हैं। छोटा बेटा भी तो नौकरी ही करता है। फिर यह दोहरी नीति क्यों? बँटवारा होने के बाद रहेंगे दोनों अपने दुलारा बेटा में। मैं तो अपने पास फटकने भी नहीं दूँगी।'

सुमित्रा जी की बातें सुनकर, कैलाश बाबू को काठ मार गया। बेटा और बहू के दिलो-दिमाग में इतना बड़ा शैतान छुपा है। यह सोच भी नहीं सकते थे। धन-जमीन, रुपया-पैसा सब उनका ही है। लेकिन इतना कुछ करने के बाद भी माता-पिता कुछ नहीं हैं। एक बोझ के सिवा। कैलाश बाबू अपने बीते दिनों की याद करते हैं तो यह वर्तमान उनके अतीत पर एक धब्बा डाल देता है। यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि यह युग एक मशीनी युग बनकर रह गया है। जहाँ सिर्फ अंगुलियाँ ही रह गई हैं। दिल और दिमाग खत्म हो गए हैं। आदमी के भीतर से लोक-लाज, संस्कार, मानवता, आत्मीयता यहाँ तक कि बेटे-बेटियाँ, बहू-बेटा सब एक वस्तु बन गए हैं। कैलाश बाबू भी एक वस्तु की भाँति इस वीराने में सिर्फ जी रहे हैं। जहाँ सिर्फ सोच सकते हैं। कुछ कर नहीं सकते। आज उन्हें यह सुकून मिलता है कि पोस्टमास्टर की नौकरी थी। आज पेंशन मिल रहा है। किस्मत से आज पत्नी का भी साथ है। इसलिए, जीने, दुःख-दर्द बाँटने का भी सहारा है। अन्यथा जीवन की इस अंतिम चरण में लक्ष्मी बाबू या गोविंद साब की तरह बेटे-बहुओं की गुलामी में सहारे का अंत होना ही था। यह सब सोचकर, कैलाशबाबू के हाथ-पैरों में जैसे जान ही नहीं है। सुमित्रा जी को इस दर्द में क्या सफाई या सांत्वना देते। कैलाश बाबू को समझ में कुछ नहीं आ रहा है। बस, सिर्फ चुप रह गए।

लेकिन उस दिन के बाद से बहू और सास में कुछ दूरियाँ बढ़ जाने का एहसास होने

लगा है। कल और आज में वक्त कितना बदला है, मानो कल की खुशियाँ आज विषैले माहौल में बदल गई हैं। वैसे सुमित्रा जी यह अच्छी तरह समझती हैं कि रिश्ता और प्यार निःस्वार्थ है, तो कोई वजह नहीं कि कोई रिश्ता या प्यार इतना बिगड़ जाए। रिश्तों का नफरत में बदलने की सबसे बड़ी वजह है, उम्मीद का टूटना या विश्वास का दरकना। हालाँकि सुमित्रा जी अपने दर्द को छुपाकर, सब कुछ यथावत् कर रही हैं। अपने गम और दर्द को भुलाने के लिए, पोता के लाड़-प्यार में अधिक समय बिताने लगी हैं। रिश्तों के रेगिस्तान में सिमटती जिंदगी कितनी तटस्थ हो जाती है, यह दूरियाँ, अकेलापन, सुमित्रा जी की आत्मा को बेध देती हैं।

शायद बहू का गुजरा हुआ वक्त अब किसी दुःख या तकलीफ को पास तक नहीं फटकने देना चाहता है। सास के अचानक बदले व्यवहार से बहू भी आश्चर्यचकित है। इसलिए अपनी बेचैनी और विपरीत सोच को हकीकत मानकर बहू इस मनहूस घड़ी से निकलने की तरकीब सोचने लगी। क्योंकि बहू के लिए यहाँ टिकना अपमान से कम नहीं लग रहा है। बस, अचानक एक दिन कैलाश बाबू के कमरे में जाकर, स्पष्ट बोली '—पापा जी चिंटू को वही निमोनिया वाली बीमारी असर कर गई है। वैसे देखने में ठीक है लेकिन छाती में कफ जमा हो गया है। साँस लेने में इसे तकलीफ होने लगी है। इसे कई बार ऐसा हो चुका है।'

बहू की बातें सुनकर कैलाश बाबू कुछ पल सोचने लगे। फिर फौरन चिंता भाव में बोले '—अभी तो ठीक था। खेल भी रहा था। चलो तो देखते हैं...।'

सुमित्रा जी भी घबरा गईं। कैलाश बाबू के पीछे-पीछे वे भी बहू के कमरे की तरफ चल पड़ीं। कैलाश बाबू कमरे में पहुँचकर, पोता को देखते हैं। पोता एकटक सबको देख रहा है। चुपचाप पड़ा-पड़ा हाथ पैर चला रहा है। फिर पोता के हाथ-पैर टटोलते हुए, कैलाश बाबू बोले '—यह तो बिलकुल नॉर्मल है। ठीक-ठाक तो है।'

'नहीं पापा जी, यही तो इसकी बीमारी है। पहले मैं भी यही समझती थी। इसी नासमझी के चलते, पहली बार 'सिरियस' हालत में डाक्टर के पास ले गई थी। डॉक्टर ने ही यह बताया, निमोनिया है। बच्चा इसमें गुमसुम रहेगा। पता भी नहीं चलेगा। इसमें सूई और सिरप काम नहीं करता है। इसमें इलेक्ट्रीक से भाप देनी पड़ती है। तभी यह ठीक होता है पापा जी।'

'—अरे तो चलो पहले यहीं दिखा लेते हैं। यहाँ भी एक अच्छे डाक्टर हैं। सब ठीक हो जाएगा।'

'—नहीं पापा जी रिश्क लेना ठीक नहीं है। बगैर भाप (निबुलाइजर) के यह ठीक नहीं होगा और गाँव में इसकी व्यवस्था है नहीं। मेरे मायके में एक डाक्टर हैं, इसकी बीमारी को वही समझते हैं। पापा जी, आप फौरन एक गाड़ी ठीक कर दीजिए, इसे लेकर मैं चली जाऊँगी। वैसे भी दो-चार दिन में ही मायके तो जाना ही था।'

कैलास बाबू ने एक लम्बी साँस लेते हुए, कहा— '—अच्छा मैं अभी गाड़ी ठीक करके आता हूँ। तैयार रहना।'

कैलाश बाबू और सुमित्रा जी को चिंटू के लिए काफी चिंता हो गई है। कैलाश बाबू भी अपने ऊपर रिश्क लेना नहीं चाहते हैं। बस, गाँव में निकल पड़े, गाड़ी ठीक करने के लिए। इधर बहू की तैयारी में सुमित्रा जी भी हाथ बँटाने लगीं। बहू अपने कपड़े चिंटू के कपड़े एक बड़े से बैग में रखने लगीं। सुमित्रा जी, तेल, पाउडर, सेरेलैक का डब्बा, दूध की बोतल और छोटे-छोटे कुछ सामान एक झोला में सहेजकर रखने लगीं। चिंटू के कुछ सामानों को बहू से याद भी करा रही हैं। इसलिए कि चिंटू की जरूरत की चीजें छूटें नहीं। बहू को सजने-सँवरने में, कपड़े बदलने में तनिक भी देर नहीं हुई।

आधे घंटे बाद ही कैलाश बाबू गाड़ी (बोलेरो) लेकर आ गए। पोता को प्यार से सुमित्रा जी अपनी छाती से लगाकर, पुचकारते हुए कंधे पर उठा लीं। कैलाश बाबू भी बैग और झोला उठाकर गाड़ी की तरफ चल पड़े। सुमित्रा जी के पीछे बहू घूँघट निकाले गाड़ी की तरफ चल पड़ीं।

बहू के गाड़ी में बैठते ही, सुमित्रा जी ने पोता को एकबार भावुक होकर सीने से लगाया। फिर चुम्मा लेकर, पोता को बहू की गोद में डाल दीं। ड्राइवर गाड़ी के पीछे सामान रखकर, गाड़ी में बैठ गया। सुमित्रा जी की आँखें नम को गईं। पता नहीं यह बहते आँसू दुःख के हैं; चिंटू के प्यार के हैं या बहू की नफरत के। वैसे गाड़ी स्टार्ट होने से पहले सुमित्रा जी अपने आँसू पोंछती हुई बोलीं '—बहू! चिंटू को ठीक से इलाज कराना और पहुँचते ही फोन करना।'

कैलाश बाबू, सुमित्रा जी उदास मन से गाड़ी की तरफ तब-तक देखते रहे, जब तक बोलेरो आँखों से ओझल न हो गयी।

भोर का अँधेरा। घर में सन्नाटा पसरा है। चिंटू की किलकारियों, बहू की खटर-पटर सब कुछ जैसे गीत हैं। घर बिल्कुल वीरान, सुनसान, घर की सारी खुशियाँ, सुमित्रा जी की चहलकदमियाँ सब कुछ विदा हो गई हैं। सुमित्रा जी अपनी खाट पर बैठी—बैठीं भोर के अंधकार को निहारती रहीं। इस अंधकार में चिंटू का चेहरा, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, घुँघराले काले बाल सब कुछ जैसे महसूस कर रही हैं। भोर के इस अंधेरे में देर तक खाट पर बैठे-बैठे घुटने और कमर दर्द का एहसास हुआ तो बड़े कष्ट से दोनों पैरों को सीधा करते हुए, बगल की अलमीरा से 'पेन किलर ऑयल' लेकर धीरे-धीरे मालिश करने लगीं। फिर एक बार घर के चारों तरफ नजर दौड़ाई लेकिन कैलाशबाबू की कोई आहट नहीं मिली। शायद कैलाश बाबू भी अपनी रुटीन के मुताबिक 'मॉर्निंग वॉक' के लिए नदी की तरफ निकल गए हैं।

संपर्क : ग्रा.पो. सकला बाजार, जि. रोहतास, बिहार–802205, मो. 9199363848

दोनों के पक्ष

श्रीजात और **विनायक** से **पौलोमी सेन गुप्त** की बातचीत
(अनु. : रामशंकर द्विवेदी)

श्रीजातो बंद्योपाध्याय और विनायक बंद्योपाध्याय दोनों बांग्ला के समकालीन कवि-कथाकार हैं। दोनों ने नब्बे के बाद से लिखना शुरू किया। दोनों की कविताओं का स्वर भिन्न है। प्रतिभावान, व्यवस्थाबद्ध आदि विशेषणों के रूप में एक व्यक्ति दूसरे की दृष्टि और विचार परिचित हैं। फिर भी सबसे बढ़कर श्रीजात और विनायक मित्र हैं। खुलेमन से अड्डे की सूत्रधार हैं पौलीमी सेन गुप्त। पौलोमी सेन गुप्त की 2018 में असमय मृत्यु हो गयी।

'देश' पत्रिका द्वारा आयोजित इस 'दो कवियों की बातचीत' में अनायास ही अनेक विषयों की विदग्ध विवेचना होने लगती है। कुछ भी छूटता नहीं है। व्यक्तिगत जीवन भी बातचीत के केन्द्र में है। कविता, उसके साथ-साथ गद्य, संगीत, राजनैतिक मतामत, प्रेम सब कुछ। मतैक्य और मतभिन्नता के बीच दोनों कवि एक दूसरे को खोज लेते हैं।

पौलोमी : अपना पहला प्रश्न मैं तुम दोनों से कर रही हूँ। तुम दोनों ने एक ही समय में कविता लिखना आरम्भ किया है। इस तरह बीस वर्ष से अधिक बरस बीत गये हैं। अपने-अपने पथ पर दोनों लोग आगे बढ़ते गये हैं। किन्तु, बांग्ला कविता जगत् में एक धारणा बन गयी है, विनायक और श्रीजात सिर्फ समकालीन ही नहीं, बन्धुत्व की जगह से भी ऊपर उठकर आ गये हैं। मत की भिन्नता तुम दोनों में निश्चय ही हुई है। जहाँ तक मुझे पता है एक दूसरे को दुःख पहुँचाने वाली बातचीत जैसी घटना दोनों मित्रों में कभी घटित नहीं हुई है। इस स्थिति में खड़े होकर मैं सबसे पहले श्रीजात से पूछ रही हूँ, अगर तीन शब्दों में विनायक की विशेषताओं का वर्णन करना हो तो वे कौन से तीन शब्द होंगे?

श्रीजात : (सोचकर) आवेगप्रवण, प्रतिभाशाली, बहुत कुछ मन में आ रहा है।

पौलोमी : अच्छा हो तीन से अधिक शब्दों को लिया जाए तब।

श्रीजात : आवेगप्रवण, प्रतिभाशाली, बन्धुप्रिय कवियों में एक व्यस्त और सदा का लेट लतीफ़ा।

पौलोमी : अच्छा। चिरकालीन लेट लतीफ—ऐसा विनायक ही क्यों? मोटे रूप में सभी को लेट लतीफ कहा जा सकता है, विनायक देरी से पहुँचेगा, कहाँ जाना है, कहाँ जाता है, उस जगह को ठीक-ठीक पहचान नहीं पाएगा, टैक्सी वाला पूरा कलकत्ता घुमाता हुआ गन्तव्य स्थल पर ले जाएगा, तुम्हारे लिए यही तो स्वाभाविक है, अथवा तूने इसी तरह से अपने को तैयार कर रखा है?

विनायक : मैं जब आयोवा में था, तब भी इसको लेकर बात उठती रही है। उन लोगों ने मुझे कितना सुन्दर नाम दे रखा था, 'जस्ट टू मिनिट्स' (अर्थात् ठीक दो मिनिट में आ रहा हूँ)। कारण, मैं सदा यही कहा करता था, कमिंग इन जस्ट टू मिनिट्स। दो मिनिट तो शायद चार या पाँच मिनिट भी हो सकते थे। असल में, श्रीजात की तरह इतना प्रोफेशनल डिसीप्लिन मेरे जीवन में नहीं है। किन्तु, कहीं भी अगर जाना हो तो मैं निकलता हूँ ठीक समय पर ही। पर होता क्या है, रास्ते में इतने पहचाने लोगों के साथ भेंट हो जाती है कि हरेक से यदि दो मिनिट बात की जाए तो देरी हो जाती है। मैं स्वेच्छा से देरी करता हूँ। ऐसा नहीं है।

पौलोमी : श्रीजात के बारे में तुमने एक शब्द का प्रयोग किया है और वह है अनुशासन...

श्रीजात : यह शब्द सुनकर दूर्वा को बहुत खुशी होगी। आपसे लिखकर उस पर हस्ताक्षर करने को भी कह सकती है, घर में इसे टाँगकर रखेगी।

पौलोमी : अच्छा, श्रीजात को तुम किन-किन शब्दों से अभिहित करोगे विनायक।

विनायक : व्यवस्थापरायण, प्रतिभाशाली, अपने लक्ष्य में दृढ, विटी एवं डिप्लोमेटिक।

पौलोमी : विनायक, क्या श्रीजात से ईर्ष्या करता है?

विनायक : नहीं। उससे क्यों ईर्ष्या करूँगा? लोकप्रियता के कारण? सेलेब्रिटी स्टेटस नामक व्यापार को जिस तरह श्रीजात हैडिल कर सकता है, उतना मैं नहीं कर सकता। मैं अन्तराल में ही अधिक चैन का अनुभव करता हूँ। किन्तु, मुझे कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि श्रीजात के दिमाग में एक फ्रिज लगा हुआ है। एक वर्ल्ड कप मैच में प्रतिपक्ष के जिद्दी खिलाड़ियों को सिर से धक्का दे दिया और रेड कार्ड देखकर मैदान से बाहर निकल गया श्रीजात मुझसे कहने लगा, यह काम मैंने तुम्हारे जैसा किया। खेल के मैदान में उतरने पर कोई-न-कोई तो निकल ही जाएगा मैं उत्तेजित होकर रिएक्ट कर बैठता हूँ। यह मैं नहीं सीख सका। उदाहरण के लिए लीजिये, हम लोग वर्धमान जाते हैं, उसने सिर्फ एक कप चाय पी, आटोग्राफ लेने वालों की भीड़ थी, उसकी ओर बीस लोगों की भीड़ थी और इस तरफ भी मान लीजिए बारह लोग थे। किन्तु, मैंने कहा मछली की रसेदार तरकारी बहुत अच्छी बनी है। एक मछली और दीजिए। इसके माने यह हुए कि मैंने अपने को उस मछली के झोल से वंचित नहीं किया। मैंने देखा तीसरी मछली जब मैं खा रहा था, मेरी आटोग्राफ लेने वालों की लाइन बारह से केवल पाँच लोगों की रह गयी। फिल्म लाइन में मैं श्रीजात से पहले से ही काम कर रहा हूँ। मैंने देखा है कि अगर 'स्टार' के रूप में रहना है तो पूरे जीवन अपने को वंचित करते हुए जीवित रखना होगा और वह मैं नहीं कर सकूँगा।

पौलोमी : श्रीजात क्या अपने को वंचित करता हुआ जीवित रह रहा है?

श्रीजात : नहीं। रवीन्द्रनाथ की भाषा में यदि कहा जाए, 'अल्प लइया थाकि, ताई मोर जाहा, जाय ताहा जाय'—अर्थात् बहुत थोड़ा लेकर ही रह रहा हूँ फिर मेरा जो कुछ जाना हो जाए। चूँकि अपनी सीमा में, मैं बहुत थोड़े से उपकरणों के साथ जीवित रहने का अभ्यस्त हूँ, उनमें से मैं किसी को भी छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु, विनायक ने हैंडलिंग करने की जो

बात कही है, मेरे लिए तो वही अच्छी है। हम लोगों ने जब लिखना आरम्भ किया था, तब शायद किसी ने भी यही नहीं सोचा था कि हमारी कविता किसी पत्रिका में छापी जाएगी अथवा एक प्रकाशन से हमारी कोई पुस्तक निकलेगी। ऐसी स्थिति में अगर कोई लिखने-विखने के पन्द्रह-बीस वर्ष बाद हस्ताक्षर लेने आता है, अथवा एक तस्वीर खींचने आता है, वह फिर चाहे एक व्यक्ति हो या दस व्यक्ति हों, तो वह हँसते हुए हाथ मिलाये और तस्वीर खींचे, इन कामों में वह एक अच्छा लगने वाला काम ही तो करता है। जीवन ने संभवतः मुझे यही उपहार दिया है। यह प्राप्ति एक दिन है, दूसरे दिन नहीं भी हो सकती है। असली काम है लिखते जाना। मैं भी अपने को उससे वंचित नहीं करता हूँ। अपने साथ जो समय बिताना चाहता हूँ, उसे ठीक उसी दृष्टि से बिताता हूँ, अपने आप से जितना लेना चाहता हूँ, उसे खूब निचोड़कर लेना चाहता हूँ, मैं यही करता हूँ। उसकी, जिस तरह से मछली के टुकड़े के प्रति दुर्बलता है, उसी तरह मेरी भी चीजों के प्रति दुर्बलता है, उन्हें मैं छोड़ देता हूँ, ऐसा नहीं है। किन्तु मैं यह भी कहता हूँ कि मैं इस मामले को हैंडिल करने के हिसाब से अब भी नहीं देखता हूँ, कारण एक लेखक की लोकप्रियता आख़िर में होगी भी कितनी। एक स्पोर्टमैन अथवा फिल्मस्टार के साथ तुलना कभी नहीं की जा सकती है। एक लेखक के दो से सात लोग यदि पाठक हो जाएँ तो वह सोचता हैं मैं लोकप्रिय हो गया। हम लोग इसी तरह सोचने के अभ्यस्त हो गये हैं। उस स्थिति में सात से लेकर दस लोग यदि सेल्फी लेने आते हैं, अथवा हस्ताक्षर लेने आते हैं, उसे मैं आज भी अपना सौभाग्य ही मानता हूँ कि मेरी रचना के भाग्य में यह जुट सका है। जिस तरह से मैं अपने मित्रों, आत्मीय जनों के साथ घुलता-मिलता हूँ, पाठकों के साथ भी मेरा एक योगायोग तैयार हो गया है। यह मुझे अच्छा लगता है। किन्तु मैं अपने लिए जो कुछ निर्धारित करता हूँ, उसमें से कुछ छोड़ता नहीं हूँ।

पौलोमी : इस सूत्र से विनायक के सामने एक अन्य प्रश्न प्रस्तुत कर रही हूँ। प्रश्न यह है बांग्ला कविता कौन लोग पढ़ते हैं? जो लिख रहे हैं, वही पढ़ते हैं, ऐसा तो हम सुनते आ रहे हैं। एक सर्कल (घेरा) है, जो लोग लिखते हैं अथवा पत्रिका निकालते हैं, एक दूसरे की रचनाएँ हम लोग पढ़ते रहते हैं। इस घेरे के बाहर कौन लोग पाठक हैं? तुम दोनों ही नब्बे के दशक के कवि हो। नब्बे के दशक के स्तम्भ के रूप में हम जितने कवि लोगों को लेते हैं, उनमें तुम दोनों लोगों का नाम हम निश्चय ही ले सकते हैं। श्रीजात सोचता है विनायक है और विनायक सोचता है श्रीजात है...

श्रीजात : एक बंगाली, युग्म के बिना सोच ही नहीं पाता है। अच्छा, मैं कुछ कहना चाहता हूँ, विनायक उसे किस रूप में लेगा, पता नहीं। मुझे लगता है, तुम लोगों को स्तम्भ न कहकर इसे 'Combo' नृत्य संगीत का आर्टकेस्टा कहना चाहिए। नब्बे ही तो कोम्बो का युग है, तो हम लोग भी तो शायद वैसे ही हैं, जिन्हें एक साथ कई जगह देखा जाता है, पढ़ा जाता है और सुना जाता है।

पौलोमी : बहुत अच्छा। मैं जो कह रही थी, कविता लिखने की वजह से ही तुम लोगों की पहचान है। यह पहचान किसकी अथवा किन लोगों के सामने हैं? श्रीजात ने जिस तरह से पार्किंग लॉट के युवक की बात लिखी थी।

श्रीजात : हाँ, अवश्य। पुस्तक मेले में पार्किंग लॉट में जो युवक काम कर रहा था, वह पुस्तक मेले के बारहों दिन पार्किंग व्यवस्था सँभालता रहा है, किन्तु एक भी दिन वह मेले में न जा सका। वह मेरी रचनाओं को फेसबुक पर ही पढ़ता रहा है। दो दिन नियम तोड़कर एवं मेरी इच्छा के विरुद्ध पार्किंग फीस उसने नहीं लेनी चाही। दूसरे दिन जब उसने फीस

नहीं ली, मैंने उससे पूछा, वह ऐसा क्यों कर रहा है? उसने जवाब दिया दिया था, 'दादा, जिस दिन आप अंतिम बार मेले में जाएँगे, उस दिन मेले से अपनी एक पुस्तक मेरा नाम लिखकर देते जाएँगे। वही होगी आपकी पार्किंग फीस। मैंने भी वही किया। उसी को मैं अपनी प्राप्ति मानता हूँ। यह पावना ही मेरे लिए बहुत बड़ी घटना है।

विनायक : मुझे भी इसी तरह की अभिज्ञता हुई थी। शान्तिनिकेतन में एक लड़का हस्ताक्षर लेने आया था। उसके साथ बातचीत के प्रसंग में यह जानकारी मिली कि उसके बाबा खेत-मजदूर का काम करते हैं। मैंने उससे पूछा था, तुम लोगों की पारिवारिक स्थिति कैसी है? उस लड़के ने कहा था, एक दिन मैं एक सौ रुपया मिल जाता है। मैंने अवाक् होकर सोचता रहा, जिस परिवार की मासिक आमदनी तीन हजार रुपया है, उसी घर के एक लड़के ने अस्सी रुपया देकर मेरी एक पुस्तक क्यों खरीदी? उसे क्या मिलेगा? उसने कहा था, मुझे आपकी कविता पढ़कर जीवित रहने की शक्ति मिलती है। तब मुझे लगा था इससे बड़ा पुरस्कार और कुछ हो ही नहीं सकता है और मुझे इसके और योग्य होना होगा। ऐसे अनेक लोगों से मेरा परिचय हुआ है, जो अपना लिखना-विखना अंग्रेज़ी में करते हैं, काई-कोई हिंदी में भी कर रहे हैं। मुझे लगता है, एक नयी जगह से बांग्ला कविता के पाठक उठकर आ रहे हैं, जो लोग शायद ऑटो चालक, कृषक, श्रमिक...हम लोग क्या उनके लिए लिख पा रहे हैं? यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। अथवा जो लोग बांग्ला कविता छोड़कर चले जाना चाहते हैं, हम लोग धीरे-धीरे उन्हीं को खींचकर लाना चाहते हैं?

श्रीजात : विनायक ठीक ही कह रहा है। मुझे भी लग रहा है, पाठकों की एक नयी श्रेणी तैयार हो रही है। शायद चिरकाल से ही यह होता आ रहा है। इस समय हम इसे स्वीकार करें या न करें, बाद में यह प्रमाणित होगा, इस संख्यात्मक परिवर्तन में सोशल मीडिया की एक विराट भूमिका है। मैं स्वयं सोशल मीडिया पर खूब एक्टिव होने के कारण इसका तुरन्त आभास पा रहा हूँ। एक रचना की प्रतिक्रिया किस कोने, किस दृष्टिकोण से आएगी और कौन आगे आकर क्या कर बैठेगा, यह इतना अप्रत्याशित होता है कि हर रचना के क्षेत्र में वह प्रतिक्रिया बदल जाती है। चूँकि सोशल मीडिया पर एक रचना पढ़ने के लिए हमें रुपया खर्च नहीं करने पड़ते हैं, पुस्तक की दुकान पर हमें नहीं जाना पड़ता है, एक विशाल पाठक वर्ग तैयार हो रहा है, ऐसा मुझे लग रहा है। हो सकता है किसी को पुस्तक पढ़ने का समय न मिलता हो किन्तु, ऑफिस जाते समय रास्ते में गाड़ी में बैठे-बैठे वह देख लेता है कि क्या विनायक ने आज अपनी किसी रचना को अपडेट दिया है? अमुक ने क्या कोई कविता लिखी? यह अनेक लोगों के पास पहुँचने का एक उपाय हो गया है। और पुस्तकों से विमुखता अगर है भी तो सुनने में अत्यन्त कष्टकर होने पर भी कहूँगा, पुस्तक मेले में जाकर उसका आभास मुझे नहीं मिलता है। क्योंकि वहाँ पर इतने-इतने व्यक्तियों को पुस्तक खरीदते देखता हूँ। सोशल मीडिया पर हम जो लिखते हैं, वह भी तो पुस्तक के रूप में आता है, किन्तु, वही पुस्तक जब वे लोग खरीद कर मुझे दिखाते हैं, तब मेरी समझ में आता है कि पुस्तकों के पाठकों के मन में एक अलग ही ममत्व दार विद्यमान है। कई बार पढ़ी हुई रचना को भी वे जिल्ददार पुस्तक के रूप में खरीदकर रखना चाहते हैं।

विनायक : एक आब्जर्वेशन की बात थोड़ी यहाँ कहता हूँ। हमलोग कई बार यह कहते हैं कि बंगालियों ने पुस्तक खरीदना या पढ़ना कम कर दिया है। यह बात पूरी तरह मिथ्या भी नहीं है। फिर इसी तरह से हम देखते है कि बंगालियों की खाने-पीने की आदतें भी बदल गयी है। भात, शुक्तो (कच्चे केले, पपीता से बनी सब्जी विशेष) दाल, पावदा मछली, इस भोजन

के बदले बिरियानी और मटन चाप यह चल पड़ा—इन दोनों के मूल में स्पेस की भी कमी है। हमलोग रहते हैं छोटे-छोटे फ्लैटों में, अधिक पुस्तकें वहाँ नहीं रख सकते हैं, जहाँ निमंत्रण होता है, उन घरों में भी भोजन का ऐसा आयोजन होता है, जिसे खड़े-खड़े खाना पड़ता है। ये सोशल चेंज भी हमारे जीवन को कई तरह से प्रभावित करते हैं। किन्तु, तीस वर्ष पहले मैंने देखा है, मेरे मामा—वे सिवड़ी के वीडियो थे—और उनके मित्रों के सांध्य बैठकों का बहाना होता था 'देश' पत्रिका की कोई कहानी अथवा कोई प्रबन्ध। आज सीधे-सीधे जो साहित्य से जुड़ा हुआ नहीं है, ऐसे किसी भी व्यक्ति के बैठके में साहित्य कितनी भूमिका निभाता है, किन्तु इस विषय को सोचकर देखा जा सकता है। साहित्य बैठकों की सीमा से दूर हट गया। है, तात्कालिक जिन मुद्दों को अपडेट किया जा रहा है, वही आज चर्चा के विषय हो चुके हैं।

श्रीजात ने सोशल मीडिया की बात की, उसे मैं जानना चाहता हूँ। एक रचना सोशल मीडिया पर लिखी गयी, उसके उत्तर में अजस्र कमेंट आने लगे, कई विरोधी मंतव्य भी आते रहते हैं। सभ्यता की सीमा के बाहर भी कई मंतव्य आते रहते हैं। वे मन में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, फिर इन सब प्रतिक्रियाओं को भूलकर पुनः रचनाकर्म में लौट आना, यह कैसे सम्भव होता है?

श्रीजात : मुझे लगता है यह एक प्रकार की आन्तरिक प्रक्रिया होती है। असल में सब कुछ एक प्रकार की योजना होती है। पार्श्ववर्ती परिवेश के साथ अनुकूलन स्थापित करने के लिए हर प्राणी और पेड़-पौधों को एक सोद्देश्य योजना के माध्यम से होकर चलना पड़ता है। एक मनुष्य के रूप में आगे बढ़ते-बढ़ते मुझे भी लगता है हरेक की एक सोद्देश्य योजना की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। आज से तीन वर्ष पहले मेरी रचना के नीचे आए दस विरोधी मंतव्य मुझे जिस तरह से प्रभावित कर सकते थे, शायद उस तरह से आज प्रभावित नहीं भी कर सकते हैं, हाँ, यह सुनकर ऐसा लग सकता है, विरोधी मंतव्य होने की वजह से ही मैं उन्हें उस दृष्टि से नहीं ले रहा हूँ और कोई यदि प्रशंसासूचक कुछ लिखता है, तो उसे मैं अपने सिर-माथे पर रखूँगा। चीज ऐसी भी नहीं है। सारे मंतव्यों का मुझे लगता है, एक सीमा तक महत्त्व है, किन्तु हमें अपने दिमाग में यह बात रखना है कि हम रचना लिख रहे है अपने लिए और रचना के लिए। हाँ, अनेक लोगों के पास उसे पहुँचाने के लिए पोस्ट जरूर करता हूँ, किन्तु उसे लेकर मैं कितने दिन मग्न रह सकता हूँ? अथवा कितने क्षण उसके पीछे पड़ा रह सकता हूँ, यह देखने के लिए कि किसने क्या कहा है। वास्तविक रचनात्मक प्रशंसा अथवा निन्दा तो मैं स्वीकार कर सकता हूँ, किन्तु जिस जगह की बात विनायक ने कही, अकारण कुत्सा पर उतर पड़ना अथवा कदर्थ आक्रमण करना, यह सब तो हमारे साथ प्रायः ही होता रहता है, बस इन चीजों का एक तरह से हमें अभ्यास ही हो गया है। मैंने तो धीरे-धीरे अपने को समझा लिया, मेरे आस-पास एक तरह की खाई है, उस खाई को पार कर कोई चीज मेरे दिमाग में घुस ही नहीं सकती है।

विनायक : दुःखेज्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहाः' तो फिर यह शिक्षा हमें फेसबुक ने भी दी है (हँसते हुए)।

श्रीजात : मुझसे कई लोग कहते हैं, आपसे इतने लोग इतनी बातें कह जाते हैं, आप किस तरह से दूसरे दिन फिर से एक अन्य पोस्ट दे पाते हैं अथवा नार्मल बने रहते हैं? यह डिफेन्स मेकेनिज्म अपने आप तैयार हो जाती है। सब कुछ से अपनी रचना और अपने को बचाए रखना। कारण, रचना के लिए ही हम हैं, हमारे लिए रचना नहीं है।

पौलोमी : यहीं से एक प्रश्न और उठ रहा है, जैसा कि श्रीजात का कहना है, हमलोग

अपने लिए लिखते हैं। लगता है सभी को इसी वजह से लिखना होता है। यहाँ पर दोनों लोगों से मेरे दो प्रश्न हैं। एक प्रश्न, यह जो तुम लोग इतने वर्षों से लिखते आ रहे हो, इनमें से कौन-सी रचनाएँ ऐसी है जिन्होंने तुम्हें स्वयं उठकर खड़े होने में सहायता की हो? पीछे मुड़कर देखने पर किस मोड़ पर, किस दुर्दिन में किन रचनाओं पर निर्भर होकर तुम लोग उठकर खड़े हो पाए हो, जिस तरह से जयगोस्वामी ने कहा था, अपमानित होने से रचना उठकर आ जाती है। मैं उसी तरह की रचना की बात कर रही हूँ। किसी एक कविता अथवा किसी एक पुस्तक ने हमें ताकत दी हो, यही मैं जानना चाहती हूँ। और दूसरे नम्बर का प्रश्न भी यहीं किए दे रही हूँ, 'देश' पत्रिका के साथ तुम लोगों का योगायोग, पहली रचना प्राकशित होने का अनुभव कैसा था?

विनायक : मैं अपने लिये लिखता हूँ, ऐसा मुझे नहीं लगता है। आमि हृदयेर कथा बलिते व्याकुल, शुधाइल ना केह'। मैं तो हृदय की बात कहने को व्याकुल हूँ, पर किसी ने पूछा ही नहीं। ऐसा भी लगता है। फिर भी हाँ, एक आवेग का विस्फोट होता है। जो कभी प्रेम से, कभी विरक्ति से, कभी आनन्द से, कभी उत्तेजना से अथवा कभी परिवेश के भय से घटित होता है। किन्तु मैं समझ सकता हूँ, यह जो विस्फोट घटित होता है, उसे मैं कह न सकूँगा। वह सम्भवतः मेरे अस्तित्व के पक्ष में ही निरापद नहीं है।

पौलोमी : यह तो भय की बात होने लगी है किन्तु मनुष्य आनन्द से भी कविता लिखता है।

विनायक : हाँ, जरूर। मैं यह कह रहा हूँ कि मैं जैसा सोचता हूँ वैसा सीधे-सीधे शब्दों में लिखन हीं पाता हूँ। किन्तु, भीतर एक तरह की घुमड़न होते-होते कविता के रूप में जन्म ले लेती है। यह गद्य भी हो सकती है मैंने तो कभी रजिस्टर में कलम से कविता लिखी नहीं है। दिमाग में चक्कर काटते-काटते रचना हो गयी है।

पौलोमी : यह जो दिमाग में लिखना होता है, वह फाइनली कॉपी कलम लेकर लिखना कब होता है?

विनायक : श्रीजात जिस तरह से रोज लिखता है, मैं उस तरह से नहीं लिखता हूँ।

श्रीजात : कई बार तो रोज ही कविता आती रहती है। एक बड़ी सुन्दर बात सुनीलदा ने मुझसे कही थी, उसे मैं मानता हूँ। उन्होंने कहा था, रचना चाहे आए या न आए लेकिन अन्ततः प्रतिदिन कोरे कागज के सामने कुछ क्षण जरूर बैठो।

पौलोमी : यह तो मेरे सामने भी सुनीलदा ने कही थी, कोरा पन्ना सामने रखकर साधना करनी पड़ती है।

श्रीजात : और वही होता है तुम्हारे मनः संयोग के समय, तुम अगर उस दिन एक शब्द भी न लिख पाओ, तो अपने को असफल नहीं मानोगे, कारण दिन के अन्त में तुम्हें पता लगेगा कि तुने आखिर प्रयास तो किया था। मेरे कोरे पन्ने का अर्थ है, दीर्घदिन का एक ब्लैंक वर्ड डाक्युमेंट, लम्बे दिन का एक खाली शब्दों का दस्तावेज। आज कई वर्ष हुए मैं जहाँ भी रहूँ, जिस काम में भी लगा हुआ रहूँ, दिन में अन्ततः कुछ समय में अपना लेपटॉप लेकर एक वर्ड फाइल खोलकर बैठ जाता हूँ।

विनायक : मैं उस तरह से रजिस्टर कलम ले कर लिखता ही नहीं। धीरे-धीरे दिमाग में लिखना होता है।

पौलोमी : किन्तु उन्हें तो जमा करना पड़ता है।

विनायक : हाँ, मैं संभवतः वर्ष में तीन दिन कविता लिखता हूँ। एक दिन अड़तीस, एक दिन बाईस, एक दिन सोलह। मेरे दिमाग में तीस-चालीस कविताएँ इकट्ठी हो जाती हैं।

उनमें से कई तो भूल भी जाता हूँ, जो याद रहती हैं, एक दिन बैठकर लिख डालता हूँ। जय दा ने मुझसे कहा था, इस तरह से जब दिमाग में कविता आ रही हो, समाज और परिवार से चार दिन के लिए पलायन कर जाओगे। यहाँ पर एक बात याद आ रही है, मैं अपने बाबा के खूब नजदीक था। बाबा की आकस्मिक मृत्यु के बाद मैं चार-पाँच मास कुछ लिख ही नहीं सका। उस समय 'देश' पत्रिका की ओर से मुझसे एक लम्बी कविता माँगी गयी। मैंने हर्ष दा से कहा इस समय मैं लिखने की स्थिति में नहीं हूँ। मैं नहीं लिख सकूँगा। उन्होंने कहा और सात दिन देख लो। अगर लिख सको तो बता देना। उसी दिन सहसा लौटते समय मैंने आँखें बंद कर लीं, फिर पता नहीं क्यों देखा—कन्याकुमारी की उसी चट्टान पर स्वामी जी के दोनों पैर हिल रहे हैं। इसी छवि से मेरे मन में कई शब्द आने लगे—नहीं, मुझे (समुद्र पार जाने का) अब भी आदेश नहीं मिला है। ये कई शब्द आए रात नौ बजे और पूरी कविता शेष हुई दूसरे दिन भोर में पाँच बजे। यही 'बाबा मेरा हाथ थामो' कविता ने मुझे पुनः लेखन में लौट आने में, उठकर खड़े होने में खूब सहायता की थी।

पौलोमी : विनायक तुम्हारी पहली कविता 'देश' पत्रिका में कब प्रकाशित हुई थी?

विनायक : मेरी पहली कविता 'देश' में प्रकाशित हुई थी 1993 ईस्वी में।

पौलोमी : क्या शीर्षक था?

विनायक : 'प्रतिवेशी' (पड़ोसी)। यहाँ यह बता दूँ कि मेरे बाबा कम्युनिस्ट पार्टी के एक सक्रिय सदस्य थे और बंगाल के ख्यातनाम संस्कृतज्ञों में भी थे। यद्यपि वैसी उन्हें कोई स्वीकृति नहीं मिली थी। किन्तु, बचपन से ही मुझे बांग्ला पुस्तकें पढ़ने की आदत डाल दी थी मेरी माँ ने। और अपनी छोटी दीदी नन्दिनी के उत्साहित करने पर ही 'देश' पत्रिका में अपनी पहली कविता भेजना हुआ था। कविता छप जाने के एक सप्ताह बाद मैं राशन की लाइन में खड़ा हुआ था, मेरी पहचान के एक अध्यानक रिक्शा रोककर मुझसे यह कह गये, 'देश' में कविता छप गयी है, राशन के चावल क्यों ले रहे हो, बासमती चावल खाओ ना।

श्रीजात : 'देश' पत्रिका के साथ लिखने-विखने के सूत्र से योगायोग बाईस वर्षों से है। मेरी पहली रचना छपी थी, 1996 के दिसम्बर महीने में। नाम था, 'तुम्हें रखा है'—तोमाके रेखेछि'।

विनायक : एक सेकेण्ड...

पौलोमी : उसे कहने दो।

विनायक : जस्ट मेरी स्मरणशक्ति की एक परीक्षा है। इस कविता की अन्तिम लाइन थी, 'हारब ना बले जितेर तलाय तोमाके रेखेछि'—अर्थात् हारूँगा नहीं इसलिए जीत के तले तुम्हें रखे हूँ'।

श्रीजात : एकदम ठीक। हमारे घर में जहाँ हम खाना खाते थे, उस जगह पर लकड़ी के पटे के ऊपर गहरे भस्मी जैसे रंग का एक टेलीफोन रखा रहता था। मैं सदा से ही नींद से देर में उठने वाला व्यक्ति हूँ। एक दिन बाबा ने बड़े सवेरे मुझे बुलाकर कहा, उठो, तुम्हारा फोन आया है। कविता लिखने की झोंक अथवा उत्साह मुझे बाबा से ही मिला है। बाबा तपन बंद्योपाध्याय पत्रकार थे एवं उनके लिखने का एक रजिस्टर था, उसमें वे कविताएँ लिखा करते थे। यद्यपि उन रचनाओं को उन्होंने कहीं छपने को नहीं दिया था। मुझे लिखने के मामले में खूब उत्साहित करते थे। मैंने उनसे पूछा, किसने फोन किया है?' बाबा ने बताया जय गोस्वामी ने फोन किया है, वे तुम से बात करना चाहते हैं। मैं तो सोचने लगा, सब कुछ स्वप्न में घटित हो रहा है। कारण, जय गोस्वामी उस समय, उस समय क्यों, आज भी मेरे स्वप्नों के राजकुमार हैं, मुझे विश्वास ही नहीं हुआ। सोचने लगा किसी ने मजाक किया है। किन्तु, फोन उठाने

पर समझ में आया कि जय दा ने ही फोन किया है। मुझसे बोले आपने छपने के लिए चार कविताएँ दी थीं? उस समय मेरे गले से आवाज ही नहीं निकल रही है। उन्होंने आगे कहा—एक रचना चुन ली गयी है। दिसम्बर : मास के एक अंक में प्रकाशित होगी। आप अगर और भी रचनाएँ भेजेंगे तो कैसा रहेगा? जय दा ने फोन रखने के समय यही 'केमोन' कैसा रहेगा या कैसे हैं, यह शब्द इसी तरह से कहा था। वही मेरी पहली कविता थी। इसके बाद वाले वर्ष में मुझे चौकाने वाली जो उपलब्धि हुई उसे मैं आज भी नहीं भूला हूँ। मैंने तो ऐसे ही कविता जमा कर दी थी। वर्ष सत्तानवे के पच्चीसवें वैशाख के उपलक्ष्य में कविता का एक विशेष अंक निकल रहा है। अखबार में इस तरह का एक विज्ञापन देखा था। उस अंक में देखा एक ही पन्ने पर सुनील गंगोपाध्याय और मेरी कविता छापी गयी है। मैं विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ। पहली बार आनन्द बाजार पत्रिका दफ्तर फोन कर कहा कि मैं जय गोस्वामी से बात करना चाहता हूँ। उन्होंने पूछा अंक देखा है या नहीं। मैंने कहा वह तो देख लिया है किन्तु, आपने सुनील गंगोपाध्याय के पास मेरी कविता छापी है। उन्होंने उत्तर दिया, 'देश' पत्रिका की तो यही परम्परा है हम लोग तो प्रतिष्ठित कवियों के साथ नये लोगों को भी स्थान देना चाहते हैं। आपको अच्छा तो लगा? यह घटना मैं किसी दिन नहीं भूलूँगा। उसके बाद तो इतने दिन बीत चुके हैं। किसी भी दिन सोचा भी नहीं था कि 'देश' पत्रिका में मेरी रचनाएँ छापी जाएँगी। ढेरों कविताओं से डायरी भरकर उसे छाती से लगाकर लेटा रहता था और सोचा करता था इन सबको कोई निश्चित रूप से पढ़ेगा नहीं। किन्तु, 'देश' के साथ मेरा बचपन से ही सख्य था और चिकराल से ही लोभ था। उस समय नब्बे के दशक का उत्थान हो रहा था। जयदा-सुबोधदा-रणजितदा, मल्लिकादी, जयदेवदा के बाद पिनाकोदा, शिवाशिसदा, रूपकदा, पौलोमीदी, यशोधरादी, चिरंजीवदा, सेवन्तीदी, प्रसन्नदा, साम्यदा, सुदीपदा, रोशनारादी, विभासदा लिख रहे थे, मेरे सतीर्थ बन्धु अंशुमान लिख रहे थे और आज भी बहुत से लिखते जा रहे हैं। मुझे खूब सन्देह होता था कि मेरी कविता क्या किसी दिन छापी जाएगी? उसी सन्देह की जगह से इतने वर्ष हुए कविता से सम्बन्ध आज भी टिका हुआ है, पाठक के रूप में, एक लेखक के हिसाब से। यही मेरी उपलब्धि है। फिर भी अपनी रचना के प्रति मेरा सन्देह जाता नहीं है।

विनायक : 'देश' पत्रिका में रचना छपने की वजह से ऐसा हुआ है कि रास्ते पर जा रहा हूँ, एकदम अचीन्हा एक व्यक्ति, उसने आकर कहा, गत संख्या की देश में आपकी रचना पढ़ी है। एक कारतूस अगर हाथ से फेंका जाए तो वह कितनी दूर जाएगा। किन्तु, उसी को अगर रिवोल्वर से छोड़ा जाए तो वह बहुत दूर जाएगा।

पौलोमी : अच्छा, दोनों लोगों की सबसे पहले भेंट कहा हुई थी?

श्रीजात : जय दा के घर में। एक दूसरे की पहचानते नहीं थे। जय दा ने ही हमारा परिचय करा दिया था।

विनायक : जय दा के घर मैं जीवन में सिर्फ तीन बार गया हूँ। उन्हीं में एक दिन श्रीजात के साथ परिचय हुआ था।

पौलोमी : तुम क्या सुबोधदा के घर अधिक जाते हो?

विनायक : मैं तो सुबोधदा, मल्लिका दी के साथ बराबर ही रहता था। ऑनर्स में पढ़ते समय सुबोधदा से कुछ दिन ट्यूशन भी पढ़ा था, बिना कोई फीस देकर। मेरी एक पुस्तक निकली थी, मैं उसे जयदा को देने गया था।

पौलोमी : इसी प्रश्न का उत्तर अब श्रीजात से सुनना चाहती हूँ। अपनी कौन सी रचना

ताकत देने के स्थान की अधिकारिणी है।

श्रीजात : कविता का जो मजा है, उसमें जो अनिश्चयता, आशंका है...इस वजह से कविता दिमाग में कब आएगी, इसे कोई बता नहीं सकता है। अगले दिन ही आ सकती है और किसी भी दिन नहीं भी आ सकती है। हर रात इसी आशंका को लेकर हमें सोने जाना पड़ता है। एक समय ऐसा था जब व्यक्तिगत अपमान अथव प्रेम, इन सबसे रचनाएँ अधिक आती थी। किंतु, इस समय व्यक्तिगत अपमान और किसी उत्स के रूप में काम नहीं करता है, कारण, मुझे विश्वास है, मेरा असम्मान एकमात्र एक व्यक्ति ही कर सकता है और वह मैं स्वयं हूँ। इसके अलावा दूसरे किसी भी व्यक्ति में मेरा असम्मान करने की कोई क्षमता नहीं है। अनेक सम्मान, पुरस्कार पाकर घर वापस आकर अपने को निरर्थक महसूस करता हूँ, फिर काफी असम्मान पाकर घर लौटते समय एक दिन दो लाइन लिखने के बाद लगता है कि यही दो लाइनें लिखनी चाही थीं अनेक दिन तब अपने को सम्मानित महसूस करता हूँ। किन्तु मेरे चारों ओर की जो स्थिति है, वही मुझे सदा पीड़ित करती रहती है। अब तो चारों ओर की खबरें इतनी तेजी से हमारे पास आ जाती हैं। बहुत दूर किसी देश में बम गिरे तो उसे जानने में तीन सेकेंड लगते हैं। कई बार तो मैं हताशा से ग्रस्त हो जाता हूँ। आज पहली बार यहाँ कह रहा हूँ, चारों ओर होने वाली हिंसा की वजह से मुझे एक बार इतना डिप्रेशन हुआ था कि मुझे डॉक्टर की सहायता तक लेनी पड़ी थी। डॉक्टर ने भी कहा था, तुम्हें देने के लिए मेरे पास कोई औषधि नहीं है, एक मात्र औषधि है यदि आप कुछ लिख सकें। उसी में आपको सब उगल देना होगा, जो कुछ आपको खराब लगता है। सेडेटिव के द्वारा मैं आपको नींद दे सकता हूँ, उससे अधिक मैं आपको कुछ नहीं दे पाऊँगा। मैं दो अथवा तीन रचनाओं की बात कर सकता हूँ, वे रचना के हिसाब से कितनी ठीक उतरी हैं, मैं यह नहीं जानता, किन्तु, लिख सकने पर मुझे खूब बल मिला था। एक है 'अन्धकार लेखा गुच्छ', जब एक के बाद एक ब्लॉग लिखने वालों का खून हो रहा था, उस समय प्रतिदिन ही दिमाग में रचना आ रही थी। वे कारण रचना तो कुछ उपचार कर नहीं सकती है, किन्तु लिख पाने पर मुझे कहीं कुछ पकड़ने की जगह मिल गयी थी। और एक बार फिर शारीरिक दृष्टि से खूब अस्वस्थ हो जाता हूँ। हालाँकि अस्वस्थता की बात जाहिर करना जरा भी अच्छा नहीं है—सुनीलदा बार-बार कह गये हैं दस-बारह दिन मुझे घर में बन्द रहना पड़ा था। उस समय मेरे समक्ष कुछ ऐसी रचनाएँ आ रही थी, कविता अथवा और कुछ यह मैं नहीं जानता, किंतु इसके पहले ऐसी रचनाएँ मेरे दिमाग में कभी नहीं आयी हैं। मुझे असंपादित रचनाओं पर बड़ा विश्वास है। ठीक जिस रूप में रचना आ रही है, उसी रूप में लिखते जाना और कई बार उसी को छापने के लिए भेज दिया। उन सब रचनाओं को लेकर एक पुस्तक भी तैयार हो गयी थी, 'मुश्ताक हुसैन के दरबारी'। उस पुस्तक ने मुझे बहुत ताकत दी थी। एक तरह का क्षोभ मैं कहीं भी व्यक्त कर देना चाहता था। खूब क्षोभ से भरी रचना थी। हाँ, यह जरूर है कि संगीत में दरबारी एक राग भी है। और अन्तिम जो रचना बड़ी यंत्रणा से आयी है जो रचना आज भी मुझमें विद्यमान है, मुझे छोड़कर कहीं नहीं गयी है, वह है ''ताराभरा आकाशेर नीचे'—तारो भरे आकाश के नीचे, यह गद्य है। अगर मैं वह रचना न लिख पाता तो मुझे बड़ा कष्ट होता। लिख कर शायद और भी कष्ट पाया है।

विनायक : यहाँ पर मैं भी 'सोहागिनीर संगे एक बछर' उपन्यास की चर्चा करूँगा। वह मेरे लिए केथार्सिस (रेचन) की तरह हुआ था।

पौलोमी : सम्पादक के रूप में एक प्रश्न मेरे दिमाग में आ रहा है। यह जो सम्पादक

का दबाव नामक चीज है, यह अच्छी है या बुरी? वही जो हर्षदा ने कहा था और सात दिन देख लीजिए...

विनायक : अच्छी, बहुत अच्छी चीज। अगर यह न होता तो मैं तो लिखने-विखने के जगत में होता ही नहीं।

पौलोमी : किन्तु, यह क्या कभी रचना को क्षति भी पहुँचाती है?

विनायक : इस समय यदि मैं यह कहूँ कि सूर्य का प्रकाशन क्या कभी त्वचा को क्षति पहुँचाता है? हाँ, कभी-कभी क्षति पहुँचाता है। किन्तु, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तेल-वेल मलकर सूर्य के प्रकाश में पड़े रहने पर बच्चे लोग और पुष्ट ही होते हैं।

पौलोमी : श्रीजात को कैसा लगता है?

श्रीजात : कबीर सुमन के गाने में सुना था, साहित्य मरता है पूजा-अंकों के दबाव में। पूजा-अंक तो बांग्ला साहित्य के अनन्य उदाहरण हैं यह वस्तु तो अन्य भाषाओं के साहित्य में है ही नहीं। उसका एक दबाव तो इस तरह से है, इतने शब्दों में, इतनी तारीख के बीच लिखना होगा। फिर यह भी तो ठीक है कि बांग्ला में पूजा संख्याओं से क्या-क्या साहित्य ऊपर उठकर आया है, उसे देखकर तो अवाक् होना पड़ेगा। पूजा संख्याएँ अगर न होती तो क्या इस तरह से सब रचनाएँ लिखना हो पाता? और 'देश' पत्रिका यदि न होती तो क्या 'प्रथम आलो' अथवा 'पार्थिव' लिखना हो पाता? अगर सम्पादक का दबाव न मिलता तो वे लिख जाते या नहीं यह मैं नहीं जानता। एक दबाव अगर हो तो अच्छा है, फिर सिर पर यदि डेडलाइन आ पड़े तो भय होता रहता है कि परीक्षा की तरह कल सवेरे पन्ना जमा करने होंगे। सभी उत्तर लिख तो सका? इस तरह का एक भय काम करता रहता है। तो भी मैं व्यक्तिगत रूप से कह सकता हूँ, अन्ततः गद्य लिखने के विषय में मेरे जैसे आलसी व्यक्ति के लिए घड़ी हाथ में लिए हो ऐसे एक व्यक्ति की जरूरत है। अपने को मोटीवेट करते हुए चालीस हजार शब्दों का एक उपन्यास लिख डालना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए शायद सम्भव नहीं था।

पौलोमी : दोनों लोगों ने ही उपन्यास लिखे हैं। गद्य के बारे में तुम्हारे व्यक्तिगत मतामत क्या हैं?

श्रीजात : मेरा तो कहना है कि गद्य लिखना मैंने अभी-अभी शुरू किया है, दो बरस हुए पूजा संख्या के लिए मात्र दो उपन्यास लिखे हैं। फिर भी 'ताराभरा आकाशेर नीचे' भीतरी प्रेरणा से लिखा था। और कई लोगों ने उपन्यास को मर्म को छू लेने वाला बताया है। इसने मुझे खूब बल दिया हैं। कहीं एक भरोसा मिल गया है। और गद्य लिखने में जाकर एक अन्य प्रकार के नशे की खोज मिली है जो कविता के नशे से एकदम अलग है। गाना गाना, सितार बजाना—इन सबके तो अलग-अलग नशे होते हैं। मेरे जैसे आलसी व्यक्ति ने भी, जो परिश्रम किया है, उसके नेपथ्य में विद्यमान है—गद्य में अनखोजे दिगन्त देखने का नशा। किन्तु, यह भी कहूँगा कि आई एम स्टिल एक्सप्लोरिंग—मैं आज भी खोज ही रहा हूँ। एम्पायर के सामने स्टम्प ठीक कर रहा हूँ, अब भी इनिंग शुरू नहीं हुई है।

विनायक : समकालीन कवियों में मैंने ही शायद सबसे अधिक गद्य लिखा है, लगभग बीस उपन्यास और सत्तर-अस्सी कहानियाँ। कभी दूसरे के अनुरोध पर और कभी स्वयं की ताकीद पर। मनुष्य के साथ ईश्वर अथवा प्रकृति के योगायोग के क्षेत्र में कविता जिस तरह से अप्रतिद्वन्द्वी है, मनुष्य के साथ मनुष्य का योगायोग गद्य के अलावा नहीं चल सकता है। मैं जब कुएँ के जल में बाल्टी उतार देता हूँ, वह है मेरी कविता और बाल्टी भरकर जब पानी ऊपर खींच लेता हूँ नहाने के लिए तो वह है मेरे गल्प, उपन्यास।

पौलोमी : श्रीजात तो गीत भी लिखता है। लोंगों का कहना है, अच्छे कवि लोग गाने नहीं लिखते हैं हाँ, यह जरूर है, रवीन्द्रनाथ को उससे बाहर रख रही हूँ। किन्तु श्रीजात क्यों गाना लिखता है?

श्रीजात : उत्तर तो तुमने खुद ही दे दिया है। हो सकता है, अच्छे कवि लोग गाना न लिखते हों, मेरे लिखने में तो कोई दोष नहीं है। गाने तो मैं लिखने आया हूँ पेट के लिए। जीवन में मेरे तीन सपने थे। एक है पढ़ना-लिखना छोड़ देना, दूसरे नम्बर का सपना था नौकरी न करना, तीसरा सपना था यूरोप घूमना। उपार्जन की वजह से मैं गाना लिखने आया। मेरे घर में गाने बजाने का चलन था। नाना जिस तरह से एक ओर हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत गाया करते थे, फिर स्वयं गीत रचना कर, उनकी तर्ज बनाकर रागों पर आधारित बांग्ला गाने भी महफिलों में गाया करते थे। मामा गाना गाते थे, माँ गाना गाती थी। अर्थात् इससे गाना लिखने और उन्हें धुन देने की प्रवणता हमारे घर में थी। मैंने बचपन से ही देखा है घर में बैठकर गाना कम्पोज किया जा रहा है। वह मुझे बहुत अच्छा लगता था। फलस्वरूप जब से मेरे गाने बाजार में आए हैं, उससे बहुत पहले से ही मैं गाना लिखता रहा हूँ। रागों पर आधारित गाने लिखने की चेष्टा करता हूँ। उनकी तर्ज बनाने का प्रयास करता हूँ। वह सब चीजें कभी सामने नहीं आयी हैं। उसके बाद मेरे दो मित्र मेरे पास आए, मैं उनकी फिल्मों के लिए गाने लिख दूँ इस उद्देश्य को लेकर। उन दोनों की ही पहली फिल्म थी।

पौलोमी : कौन है वे दो मित्र?

श्रीजात : बिरसा 'जीरो थ्री-थ्री' के लिए और सृजित 'आटोग्राफ' के लिए। चूँकि गानों के साथ मेरा काफी दिनों का सम्पर्क है, अपना काम करना मुझे बहुत अच्छा लगा। फिल्म के लिए गाने लिखने की कई शर्तें होती हैं। सिचुएशन दिमाग में रखनी पड़ती है, कई बार तर्ज पहले बन जाती है, परिणाम स्वरूप उस तर्ज के साथ स्केलिंग मिलाकर शब्द लिखने पड़ते है। यह प्रक्रिया बहुत कुछ घास के ऊपर मिट्टी चढ़ाना होता है। और वह जो दूसरी शर्त है, नौकरी बिना किये जीवित रहूँगा, बहुत कठिन है। कारण, हम सभी लोगों का पता है कि बांग्ला में साहित्य लिखकर पेट पालना असम्भव है। बांग्ला में साहित्य की कदर होते हुए भी उसकी आर्थिक दशा ऐसी नहीं है कि हमारे पूरे महीने या वर्ष भर के खाने योग्य अन्न का जुगाड़ की जा सके। एक उपन्यास लिखकर पूरे वर्ष की जीविका का उपार्जन तो मैं कर ही नहीं सकता बांग्ला में। तब मैंने देखा गाना लिखना मेरे मुख्य उपार्जन का माध्यम हो उठा है। फिर काफी दिनों तक मैंने नौकरी भी की है, वहाँ पर काफी असुविधाओं और असम्मान को सहन किया है अपने लेखन को तिलांजलि देकर रात में घर लौटकर तकिया पर सिर पलटता हुआ सोचता कहता हूँ कि आखिर आज पूरे दिन मैंने क्या किया। एक समय लेखन में मुझे कूदना ही पड़ता। हाँ, यह ठीक है कि काम का अभाव मुझे नहीं रहा। हमारे समय से नयी तरह की फिल्मों तथा नये तरह के गाना की शुरुआत हुई। फलस्वरूप मुझे छोटा-मोटा काम मिलता रहा। इसमें अगर किसी को कुछ खराब दिखायी देता है तो यह मुझे दुर्भाग्यजनक लगेगा। किन्तु, गाना मुझे बराबर बहुत कुछ देता आ रहा है। मुझे अन्न भी देता रहा है और विचार भी देता रहा है। सुतराम् गाने के प्रति मैं दो तरह से ऋणी हूँ।

पौलोमी : एक प्रश्न दिमाग में आ रहा है, हम लोग जिस घेरे में घूमते-फिरते है, उसमें बिरसादास गुप्त अथवा सृजित मुखोपाध्याय के साथ योगायोग होने की सम्भावना कम है। वह तुम्हारे क्षेत्र में किस तरह हो सका?

श्रीजात : नहीं, उस समय बिरसा भी किसी सर्कल में नहीं था, सृजित भी किसी सर्कल

में नहीं था। उसी समय ये घेरे ताजे-ताजे तैयार हो रहे थे। आज रूपहले संसार में मित्रों का जो दल हैं, जिसमें ईसू रुद्र, इन्द्रदीप, जय, टोनीदा, कौशिकदा हैं, फिर श्रेया अथवा ओरीजित भी हैं वे सब उस समय संघर्षशील थे। बिरसा, सृजित की फिल्में तो उस समय किसी ने देखी ही नहीं थी। सृजित को मैं पहचानता था, कारण हम दोनों ही कबीर सुमन के सभी अनुष्ठानों में जाया करते थे। सहसा एक दिन उसने कहा मैं एक फिल्म बना रहा हूँ, उसके लिए तुम एक गाना लिख दोगे? बिरसा को तो मैं बहुत दिनों से पहचनाता था, वह भी उन दिनों अन्य तरह का कुछ करना चाह रहा था, जिसमें सब कुछ एकदम नया होगा। जिस वजह से सृजित ने एक धुन बनाने वाले के रूप में अनुपम को लिया था, जिसका उस समय भी फिल्मों में कोई प्रदर्शन या एक्सपोजर नहीं, हुआ था। बिरसा ने तर्ज बनाने वाले के रूप में लिया 'चन्द्र बिन्दु' ग्रुप को। आजकल जिन्हें इण्डस्ट्री के रूप में देखा जाता है। हम लोग उस समय उस दृष्टि से मिलते-जुलते ही नहीं थे। संघर्षशील मित्रों के रूप में ही मिलते थे।

विनायक : तुम्हारा तो तीन पीढ़ियों का एक सांस्कृतिक परिवार है। नाना तारापद चक्रवर्ती, मामा मानस चक्रवर्ती, माँ शीला बंद्योपाध्याय इस तरह के क्षेत्र में तेरी एंट्री होना हमारे जैसे आउटसाइडर रैंक वाले व्यक्तियों की अपेक्षा सहज होती है। मैं तो गाने लिखने कभी गया ही नहीं किन्तु, इस जगत में रहने की एक सुविधा भी है। फिर भी एक बात मैं बार-बार कहता हूँ, श्रीजात के गाना लिखने के फलस्वरूप बांग्ला व्यावसायिक सिनेमा के गीत उच्च स्तरों पर पहुँच गये हैं।

श्रीजात : मैं दो असुविधाओं की बात कहूँगा। शास्त्रीय संगीत के परिमण्डल में एक तरह की कट्टरता भी होती है। मेरी माँ जब खूब सफलता के साथ गा-बजा रहीं थीं, मुम्बई से प्लेबैक (पार्श्व गायन) का ऑफर आया था, मेरे नाना ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया था। क्योंकि शास्त्रीय संगीत की तुलना में फिल्म एक बाजारू चीज है, और बुरा काम है। फलस्वरूप हमारी जो पारिवारिक विरासत है, वह सिनेमा से इतनी दूर है कि 'दे डिडन्ट ऐक्चुअली हेल्प मी'—कि उन्होंने वास्तव में मेरी कोई सहायता नहीं की।

पौलोमी : अच्छा, इस बार सीधे-सीधे एक प्रश्न करना चाहती हूँ, विनायक बंद्योपाध्याय क्या बीजेपी के हैं?

विनायक : प्रणव मुखोपाध्याय क्या आर.एस.एस. के हैं? निम्न मत अगर निम्न दिशा से आएगा तो वह सुना ही नहीं जाएगा, यह क्या कह दिया है? मुश्किल यह है, साहित्यसमाज के एक भाग ने मेरे ऊपर अकारण ही एक ठप्पा लगा दिया है एवं मुझे एक घर में बनाये रखने की एक विराट परियोजना चला गये हैं, और चला रहे हैं। अनेक शहरों से अनुष्ठानों में भाग लिया है, तुमनें जो प्रश्न पूछा है, वही घुमाफिरा कर पूछा जाता है और सबके अन्त में कहा जाता है कि आपके आने की कोई जरूरत नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर मैंने कहीं भी नहीं दिया है, कारण, निजी स्वार्थ के कारण वे मेरे उत्तर पर विश्वास नहीं करेंगे। 'देश' पत्रिका के पाठकों के सामने चरम सत्यता के साथ उत्तर दूँगा।

पौलोमी : पर, उत्तर क्या है? हाँ या ना?

विनायक : इसके लिए मुझे थोड़ा समय देना होगा।

पौलोमी : बहुत अच्छा।

विनायक : आज के युग में कई बातें बिना मिलावट और बिना पानी मिलाए शुद्ध, सत्य, अगर कोई कहता है तो उसपर बीजेपी का ठप्पा लगा दिया जाता है। क्यों? मैंने देखा है, बड़े-बड़े विराट वामपंथी दिग्गज, तथाकथित गेरुआधारी अखबारों के उद्घाटन का एक लाख

रुपया ले लेते हैं उनसे कोई प्रश्न नहीं पूछा जाता है। यह उनकी उस मंच पर महज उपस्थित होने की फीस है। किन्तु, भावावेग की वजह से कोई कवि किसी भद्रमहिला की चेयर से पानी पोंछ दे तो उस पर आक्रमण कर उसे शूली पर चढ़ा दिया जाता है। यद्यपि सरकार की ओर से उसे जिसे लालबत्ती लगा गाड़ी मिलती है अथवा बंगला मिलता है, उनकी बारी आने पर कोई प्रश्न नहीं उठाता है। जब मैं आयोवा में था, जॉन केरी के समक्ष रोहिंग्याओं के पुनर्वास के लिए और उनकी सुरक्षा के लिए जो ड्राफ्ट तैयार हुआ वह इसी विनायक बंद्योपाध्याय ने लिखा था। किन्तु रोहिंग्या आतंकवादियों के द्वारा जब एक सौ से भी अधिक हिन्दुओं की सामूहिक हत्या हुई, जिसकी रपट सभी जगह निकली थी पर बंगाली बुद्धिजीवियों ने मुँह में ताला लगाकर, तकिए के नीचे अपना मुँह छिपा लिया था, तब मैंने उसका भी प्रतिवाद किया है। बस, मैं हो गया बीजेपी का। दादरी में अखलाक मारा गया, जुनैद पीट-पीट कर मार डाला गया, मेरा दिल भर गया। मुझे जहाँ सुयोग मिला, मैंने इसके ख़िलाफ़ लिखा है। सुदीप गुप्ता की मृत्यु पर 'आनन्द बाजार' में मेरा लंबा लेख निकला था। समान रूप से यदि त्रिलोचन महतो को लटका दिया जाए तो मैं कुछ नहीं कहूँगा। मेरा देश वाला घर मल्लारपुर में है, उसके पास इन्द्रजीत दत्त को पीट-पीट कर मार डाला गया, मैंने उसका प्रतिवाद किया है। जिन्होंने जुनैद आदि की मृत्यु का प्रतिवाद किया है एवं इन्द्रजीत अथवा रोहित ताँती की मृत्यु का प्रतिवाद नहीं किया है, उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार से साम्प्रदायिकता को प्रश्रय दिया है। मैंने दोनों का ही प्रतिवाद समान स्तर पर किया है। क्या मैंने अन्याय किया है?

असल में भारत के बुद्धिजीवियों ने साहित्य के क्षेत्र में एक सच्चे धर्मनिरपेक्ष ढाँचे को तैयार करने ही नहीं दिया है। इस तरह का एक तरफा ढ़ाँचा बना रखा है जिसने बूमरेंग की तरह तीस राज्यों में से बीस राज्यों में पासा पलट दिया है। सनातन धर्म एवं संस्कृति का अगर कोई सम्मान करता है, तो उसके लिए कोई पुरस्कार प्राप्त करना कठिन ठहरता है। संजीव चट्टोपाध्याय, मणिशंकर मुखोपाध्याय जैसे साहित्यकारों की क्यों केन्द्रीय स्तर का सरकारी साहित्य का पुरस्कार नहीं मिला? निन्दकों का कहना है, उनको रामकृष्ण, शारदा, विवेकानंद की अकुण्ठ प्रशंसा करते जाना ही इसकाा एकमात्र कारण है। 'केथापातार नौका' तथा 'नीलकंठ पाखिर खोजे' ये दोनों क्लासिक उपन्यास हैं किन्तु, ये दोनों समान रूप से पुरस्कृत नहीं किये गये हैं। यह एक सिस्टम है जिसने घुमावदार पथ से एक विभाजन की सृष्टि कर दी है। मुझे ऐसा लगता है, कहीं भी इस सिस्टम के बारे में न कहना, असल में अपने साथ एक शठता है। श्रीजात मेरा मित्र है, वह उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश को लेकर लिखता है, श्रीजात के दादू तारापद चक्रवर्ती ने अपने एक छात्र को पत्र में लिखा है, मैंने उसी छात्र के मुख से सुना है, बांग्ला देश के कोटालिपाड़ा में स्त्री-पुत्र-कन्या को लेकर रहना सम्भव नहीं है, किसी भी अल्पसंख्यक के लिए रहना सम्भव नहीं है, तुम मेरे लिए एक कमरे की व्यवस्था करो। उसी छात्र के घर में आकर उन्होंने आश्रय लिया। हमलोगों को पता है यह इतिहास बताया नहीं जाता है। 'द अदर साइड ऑफ साइलेंस' में ये कहानियाँ भी हैं अब अगर मैं चुप रहूँ, तो मेरे लिए सुविधाजनक होगा, कारण बोलने पर मेरी रचनाएँ छपेंगी नहीं और मुझे कोई प्राइज भी नहीं मिलेगी। मैं क्या पागल हूँ जो कहूँगा? दो वजह से कहता हूँ। सोच हूँ, जितने दिन जीवित रहूँगा सत्य को दबाकर रखूँगा दूसरी वजह, साहित्यकारों की असाम्प्रदायिकता में मैं विश्वास करता हूँ। मल्लारपुर से दस मिनिट की दूरी पर मेरे गाँव में तीन बीघे का मेरा एक पोखर था। मेरे बाबा रिफ्यूजी थे, विवाह के समय मेरे नाना से उन्होंने एक कानी कौड़ी भी नहीं ली थी। दादू ने मुझे काफी जमीन जायदाद दी थी। उसी पोखर में लोग वजू कर मस्जिद में नमाज पढ़ने जाया

करते थे। मस्जिद के इमाम ने वजू के लिए मुझसे वह पोखर खरीदना चाहा था, किन्तु मनुष्य के इबादत करने के काम में जो पोखर उपयोग में आता था उसके मैं दाम लूँगा? एक रुपया भी नहीं लिया। दानपत्र लिख दिया था। समदर्शिता की यह कहानी बतायी एवं जीवन में इसका अभ्यास किया, इसलिए अनेक प्रान्तों से तीरबिद्ध होता रहा। शान्तिनिकेतन में सुखमय भट्टाचार्य शास्त्री नामक एक व्यक्ति थे। महाभारत और रामायण पर उनका अद्वितीय, असाधारण काम हैं शंखबाबू के एक लेख में पढ़ा था कि एक बार शान्तिनिकेतन में अध्यापकों के लिए रंगीन कुर्तों की व्यवस्था हो रही थी। सुखमय बाबू ने रवीन्द्रनाथ के पास जाकर कहा, गुरुदेव मुझे विदा दीजिए। मैं तो सिले हुए वस्त्र पहनता ही नहीं हूँ। मैं चला जाऊँगा। उनसे रवीन्द्रनाथ ने कहा था, तुम्हें कोई यूनीफार्म नहीं पहननी पड़ेगी। इस बार यहाँ पर जो लोग बात-बात में रवीन्द्रनाथ के कथनों का उदाहरण देते हैं, वे किसी अन्य विचारधारा के व्यक्ति को देखते ही इतने आक्रामक क्यों हो जाते हैं? तसलीमा नसरीन को जब कलकत्ते से भगा दिया गया विनायक बंद्योपाध्याय ने 'देश' पत्रिका में इसके विरोध में लिखा था। शायद कई लोग लिखने के लिए राजी नहीं होते। एवं लिखने के बाद इतनी धमकियाँ और थ्रेट अब तक मिली हैं कि थ्रेट प्रूफ हो गया था। मैंने तो कलबुर्गी और गौरी लंकेश की हत्या का भी तीव्र विरोध किया। अगर कोई हिंसा के विरुद्ध है तो उसे सब प्रकार की हिंसा के विरुद्ध होना पड़ेगा। ना कि उसे एक पक्ष की ही बात कहनी होगी? कालीगंज और सासल्ट लेक में रहने वाले लोग हो-हो कर हँसते हुए लोटपोट हो जाते हैं। वे लोग सिलीगुड़ी से आध घंटे की दूरी वाली जगहों को तो पहचानते नहीं हैं। वहाँ के हिन्दू-मुसलमान बिना किसी भेदभाव के गायों का पालन-पोषण करते हैं। कारण, हमेशा ही गाएँ चोरी चली जाती हैं। आप लोग थोका एलीटिज्म से थोड़ा बाहर आइए। आकर जरा देखना सीखिए। मैं तो सी.पी.एम. एवं तृणमूल की कई सभाओं में भी आमंत्रित होकर गया हूँ। बीजेपी के क्षेत्र में ही क्यों प्रश्न उठाया जाता है? मैं यह भी स्पष्ट बताए दे रहा हूँ, मैं किसी भी राजैनतिक दल का सदस्य नहीं हूँ। किसी भी राजनैतिक दल का मैं अन्ध समर्थक नहीं हूँ। प्रायः सभी राजनैतिक दल ही आजकल वन मैन शो हैं। सिर के ऊपर रहने वाले एकमात्र भगवान को तो मान नहीं पा रहा हूँ, एक मनुष्य को कैसे मानूँगा?

श्रीजात : मैं इसमें कुछ जोड़ना चाहता हूँ। आज वह स्थिति नहीं रही है कि उत्तरप्रदेश की घटना का प्रतिवाद कर मैं घर में मछली का झोल-भात खाकर आराम से बैठा रहूँ। उस घटना के बाद छह मास तक मैं अगर लहिया खाने जाऊँ तो मेरे पीछे एक सुरक्षा गार्ड कमर में पिस्तौल लिए खड़ा रहता था। मेरी पत्नी को दिन-पर-दिन बलात्कार की धमकियाँ मिलती रही हैं, अश्लील चित्र, अश्लील संकेत भद्दे प्रस्ताव मिलते रहे हैं। और इस तरह से इन सब चीजों का हिसाब देना भी एक कवि का काम नहीं है। फिर भी अमरनाथ यात्रियों की इस्लामिक आतंकवादी जब हत्या करते हैं, मैंने उसके विरोध में भी लिखा है। सम्भवतः किसी को याद रहे, इसकी बात नहीं है, ढाका के राजपथ पर ब्लाग लेखक अभिजित का जब खून कर दिया गया तब मैं लेखों की एक शृंखला काफी दिनों तक लिखता रहा हूँ। जब कोई मेरे ऊपर पक्षपात का आरोप लगाता है, तब वह किसी उद्देश्य से प्ररित होकर ही लगाता है। नहीं तो अगर किसी को सामान्यतः मेरे लेखन की खबर होती तो यह अभियोग लगाना सम्भव नहीं होता। क्योंकि मेरा विश्वास है आतंकवाद का एक ही धर्म है और वह है हिंसा।

विनायक : इस पर मैंने भी तो लिखा है। किन्तु तुम्हारी तरह अगर मैं विपत्ति में पड़ता तो मुझे कोई सुरक्षा गॉर्ड नहीं मिलता। मुझे किसी तरह की सुरक्षा भी नहीं मिलती। इसकी

वजह मेरे अनुसार वही पूर्वग्रहग्रस्त सिस्टम है।

श्रीजात : आजकल एक विशेष प्रकार का जनसमुदाय बन गया है, विशेषकर सोशल मीडिया पर। अगर मेरी इच्छा अपने वसन्तकाल को लेकर कुछ लिखने की होती है, तो वह अधिकार मुझे माना है ही नहीं, कारण कोई एक व्यक्ति आकर कमेंट-बॉक्स में लिखेगा, आपने अमुक स्थान की घटना के बारे में तो कुछ लिखा नहीं? वसन्तकाल के बारे में क्यों लिख रहे हैं? फिर उसी घटना के बारे में अगर कुछ लिखा तो और एक व्यक्ति कहेगा, आप अमुक घटना के बारे में चुप क्यों हैं। यह तो मेरा काम नहीं हो सकता है कि मैं सवेरे उठकर यह देखूँ कि आज तरह घटनाएँ घटित हुई हैं और मुझे इनमें से हरेक पर कविता लिखनी होगी। अगर मैंने एक को भी छोड़ दिया तो मुझे कठघरे में खड़ा होना पड़ेगा। कवि तो कॉफी शोप अथवा स्नेक वार नहीं है। मैं तो कविता की दुकान खोलकर बैठा नहीं हूँ। एक दिन वसन्तकाल अथवा बचपन की स्मृतियाँ मुझे खींच ही सकती हैं, फिर उसी दिन एक राजनैतिक हत्या भी हो सकती है। मुझे क्या यह अधिकार नहीं है कि मैं अपनी स्मृतियों को प्राथमिकता के साथ आगे रखूँ? मनुष्य तो मशीन नहीं है। फिर ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्होंने गत वर्षों में किसी भी घटना का कोई प्रतिवाद नहीं किया है, किसी भी घटना पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती है। वे लोग भी कविता, उपन्यास लिखते हैं, उन्हें तो कोई तलब कर नहीं रहा है। तलब तो हमलोगों को ही किया जाता है क्योंकि अधिकांश क्षेत्रों में हम लोग चुप नहीं रह सकते हैं। किन्तु, हमलोग भी तो मनुष्य हैं। कई बार तो हम लोग भीतर-ही-भीतर रोते रहते हैं, जो रचना में कभी प्रकाशित ही नहीं होता है।

पौलोमी : अच्छा, अब अन्य प्रसंग पर आया जाए। कवियों का एक वर्ग एक गुट रहना क्या उचित है?

श्रीजात : इस सम्बन्ध में चरम सत्य कहा है शंख घोष ने, एक दशक में गुट टूट जाता है। फिर गुट नहीं रह जाता है। लिखने-विखने के प्रारम्भ में मुझे बड़ा अचरज हुआ था कि हमलोगों ने मामूली दो-चार लाइनें ही तो लिखी हैं, दो-चार जगह छप भी गयी हैं और दो-चार लोग हमें पहचानने भी लगे हैं। इतना होते हुए भी इतनी ईर्ष्या क्यों, इतनी कातरता क्यों, इतना पीठ में छुरी भोंकना क्यों? यही तो घर पहुँचकर एक कॉपी खोलकर लिखने बैठना होगा। और तो प्रमाणित करने के लिए किसी के पास कुछ नहीं है। तब मैं समझ गया था, जो कुछ है, वह सिर्फ ऊपर-ही-ऊपर हैं। इतने दिनों की अभिज्ञतो से समझ गया हूँ, पत्रिका चलाने के लिए एक गुट की जरूरत होती है, एक तरह की रचनाओं को अगर प्रमोट करना हो तो गुट की जरूरत पड़ती है, किन्तु, कविता का कोई गुट किसी तरह की सहायता कर सकता है, उसमें मैं विश्वास ही नहीं करता हूँ। कविता तो अकेले का शिल्प है।

पौलोमी : आज जो नए लोग कविता लिखने आ रहे हैं उनके लिए कौन-सा परामर्श दिया जा सकता है, आजकल जिसे 'टिप्स' कहते हैं।

विनायक : पामुक की रचना, 'माई नेम इज़ रेड' के प्रारम्भ में ही कुएँ के भीतर से एक मृत मनुष्य अपने जीवन की कथा कहता रहता है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, जीवन में मृत्यु की आग जल उठती है। लगता है जीवन में किसी-किसी क्षण यही व्यापार यदि छू जाए तो अच्छा है। जगह

श्रीजात : मैं तो परामर्श देने लायक जगह पर ही नहीं हूँ। फिर भी अनुभव से कहूँगा, बीच-बीच में ऐसे अनेक लेखकों को देखता हूँ, जिन्हें देखकर ऐसा लगता है वे अपने शिल्प माध्यम से अधिक जरूरी हैं। सिर्फ एक ही चीज़ दिमाग में रखने के लिए कहूँगा कि शिल्प

के सामने हम लोग एक चींटी से भी छोटे हैं। मेरी रचना मुझे अपने पैरों से कुचलकर मार कर फेंक सकती हैं। उसमें इतनी शक्ति होती है। जिससे हम अपनी रचना को अपने से बड़ा न मान बैठे। रचना की बहुत सी सम्भावनाएँ एक समुद्र के समान होती हैं, उसकी एक तरंग की चपेट से हम नीचे जा सकते हैं। हम जिससे यह न सोचने लगें कि हमने ही उस समुद्र का निर्माण किया है।

विनायक : और यह भी याद रखना होगा कि हम लोग शिल्प को धारण करते हैं। आमाय मइले, त्रिभुवनेश्वर / तोमार प्रेम होत जे मिछे' हे त्रिभुवनेश्वर, मुझे अगर न लिया होता तो कदाचित् तुम्हारा प्रेम मिथ्या हो जाता।' मैं भी जिससे उसी स्थान पर पहुँच सकूँ।

पौलोमी : तो फिर यहीं से पूछ सकती हूँ कि मनुष्य के जीवन में और कवि के जीवन में प्रेम का स्थान कितना है? श्रीजात तुम क्या कहोगे?

श्रीजात : यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि प्रेम मनुष्य के जीवन में बदलता-बदलता चलता रहता है। स्कूल जीवन में प्रेम को घेरकर जो उद्दीपन, उत्तेजना एवं विरह था, वह अब स्वाभाविक रूप में नहीं है।

पौलोमी : दूर्वा श्रीजात की कविता के प्रेम में पहले पड़ी थी या श्रीजात के प्रेम में?

श्रीजात : मेरी कविता के ही प्रेम में, कारण मुझसे भेंट के बहुत पहले ही उसने मेरी कविताओं को देखा था। दूर्वा असल में पुस्तक मेला में, मेरी पुस्तक पर मेरे हस्ताक्षर लेने आयी थी। 'उड़न्त सब पोकार' ने उसी वर्ष कृत्तिवास पुरस्कार पाया था। पुस्तक मेला के अन्तिम दिन एसवी आई आडोटोरियम में अनुष्ठान जब समाप्त होने वाला था, तब एक चमकते हुए मेधावी चेहरे वाली लड़की ने आगे आकर कहा, एक हस्ताक्षर कर देंगे? उसके बाद लौटकर कहा—अगर आप अपना फोन नम्बर दें दे तो मैं आपको फीडबैक कर सकती हूँ। उस समय, हाल में ही एक सेल फोन खरीदा था, उस पर एक लड़की फोन नम्बर चाह रही है, उस सुअवसर को तो छोड़ा नहीं जा सकता है। उसके बाद दूर्वा ने मुझे फीड बेक दिया फिर फीडबैक की वह धारा आज भी चल रही है। कविता के माध्यम से ही मेरे जीवन में चूड़ान्त प्रेम आया' है। किन्तु, पौलोमी दी, मैं इस बार विनायक से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। तुम क्या चिरकुमार रहने की योजना लेकर आए हो?

विनायक : विवाह कोई करता नहीं है, होना होता है तो होगा ही। फिर मैंने कोई भीष्म की प्रतिज्ञा तो की नहीं है। तुम्हारे प्रश्न के सूत्र से जेनीफर लॉपेज की एक कच्ची कविता की दो लाइनें याद आ गयीं—आई एम लोनली, आई एम लवली बाद में पता चला था कि लवली प्रिंटिंग मिस्टेक है। शेष, एक ऐसा हृदय खोज रहा हूँ जो हृदय का रोगी न हो।

श्रीजात : मैं इसमें एक बात और जोड़ना चाहता हूँ, प्रेम सिर्फ मनुष्य के साथ ही होगा इसका कोई अर्थ नहीं है। शहरों से भी प्रेम हो सकता है। जिन सब शहरों में मुझे जाने का सुअवसर मिला है, उनके साथ मेरा नियमानुसार सम्बन्ध निर्मित हो गया है। दो-एक शहरों के प्रेम में मैं इतना पड़ गया था कि अपने शहर में आकर मैं उनके लिए रोने लगा हूँ।

पौलोमी : किस शहर के?

श्रीजात : जैसे न्यूयार्क को लीजिए। न्यूयार्क शहर में मैंने पहली बार विन्सेंट की 'द स्टोरी नाइट' केनवास देखी है। उस अनुभूति की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारणों से इस शहर में बार-बार जाने की इच्छा होती है। न्यूयार्क अथवा पेरिस को मैं एक सहचरी की तरह मानता हूँ। फिर भी, अभी हाल में मैं लंदन शहर के प्रेम में पड़ गया हूँ। इसका भी आभास मुझे मिल रहा है।

पौलोमी : विनायक के मन में किसी जगह का प्रेम किस तरह से आता है?

विनायक : एक कुत्ते से भी मनुष्य का प्रेम हो सकता है। फिर मेरा भी एक प्रिय शहर है, वह है सेन्फ्रांसिस्को बचपन की उत्तेजना की उम्र तो एक समय चली ही जाएगी। किन्तु, अब लगता है, खिड़की से देखी गयी दुनिया मानो युद्ध और भूख में विभाजित हो गयी है। इन दोनों की सहअवस्थिति ही मानो दुनिया है। अर्थ की भूख, सत्ता की भूख, प्रतिष्ठा की भूख, प्रेम के लिए भी युद्ध, अर्थ के लिए भी युद्ध। इस लड़ाई के भीतर प्रेम की जगह कहाँ है? प्रेम लगता है वह पागल कोयल है जो बोलती ही जाती है, बोलती ही जाती है, किन्तु उसका चेहरा देखा ही नहीं जा सकता है। शायद न देख पाने में ही मंगल है।

पौलोमी : अब एक ऐसा प्रश्न, जिसका उत्तर सभी पाठक पढ़ना चाहते हैं। आप लोगों के प्रिय लेखक?

विनायक : रवीन्द्रनाथ, शिम्वोर्स्का, विभूतिभूषण, ओरहान पामुक, हेमिंग्वे, आर यहूदी जैसे लेखकों लोगों ने मुझे बुरी तरह से प्रभावित किया हैं फिलिप रुथ, वर्नार्ड मालामूड, आई. वी. सिंगर, सिन्थिया ओजिक—इन लोगों ने जो कहना चाहा, पाठकों की परवाह किए बिना कहा है। उसी चीज़ ने मुझे भीषण रूप से प्रभावित किया था और मैं उस मामले को आत्मसात् इमवाइव करने की चेष्टा करता हूँ।

पौलोमी : श्रीजात के प्रिय लेखक?

श्रीजात : इस क्षण यदि बताने को कहो तो मिर्जा ग़ालिब, विलियम शेक्सपीयर, जीवनानन्द दास, गाविएल गार्सिया मार्केस, सिलविया प्लेथ। फिर अगर प्रभावित करने की बात उठती है, तब मैं कहूँगा अनेक लेखकों की अपेक्षा मुझे अधिक प्रभावित किया है आन्द्रेयी तारकोवस्की ने। मेरे लिखने-विखने अथवा मेरे जीवित बने रहने में उसकी छवि का एक बड़ा प्रभाव रहा है। इस तरह के अनेक कम्पोजर (राग रचना करने वाले) और चित्रकार हैं। मिर्ज़ा ग़ालिब के प्रति मैं जितना ऋणी हूँ, उतना ही ऋणी तारकोवस्की के प्रति भी हूँ।

पौलोमी : ऐसी कोई रचना है, जिसे पढ़कर और एक जन की याद आयी हो, आहा, मैंने ऐसी रचना क्यों नहीं लिखी। इस तरह का एक उदाहरण?

श्रीजात : विनायक की लम्बी कविताएँ पढ़कर तो मुझे सदा ऐसा लगा है। लम्बी कविताएँ उसके पास जितनी सफलतापूर्वक आती हैं, मेरे मन में उस तरह से नहीं आती हैं। उसकी लम्बी कविताओं से मुझे ईर्ष्या होती है। फिर 'तोमाकि भालवेसेछि बले निकिये दिये एसेछि नाकि, निजेके अलवासार अधिकार? इस तरह की एक पंक्ति मैं कभी नहीं लिख पाया हूँ। ऐसा लगा जैसे कोई चीज़ मिस अर्थात् छूट गयी हो। बस छूट गयी हो जैसे। इस तरह एक कवि को अनेक बसें छोड़ देने के बाद उसे शायद एक बस के पैरदान पर जगह मिल गयी हो। उस पैरदान पर चढ़कर भी अगर एक दूसरे के पैरों को कुचलने की हम चेष्टा करते हैं, तो वह बहुत हास्यास्पद है।

पौलोमी : श्रीजात की ऐसी कोई लाइन है विनायक जो तुम्हें याद हो?

विनायक : उदाहरण के लिए लीजिए, यह पंक्ति—बल्ब खेते पारे एक लोक, किन्तु, आलो खेते पारे ना से एक व्यक्ति बल्ब तो खा सकता है किन्तु प्रकाश नहीं खा सकता है यह जो लाइन है श्रीजात की, कितने-कितने दिनों तक मेरे दिमाग में घूमती रही है। अथवा 'असीम कालेर जे हिल्लोले तोमार बाबा दरजा खोले, देखेइ आमार प्राण उड़े जाय रंजिनी...एगुलोउतो मने गैथे मेछे। अर्थात् असीम काल के जिस हिल्लोर से तुम्हारे बाबा ने दरवाजा खोला तो, उसे देखते ही मेरे प्राण उड़ जाते है, हे रंजिनी—ये पंक्तियाँ भी मेरे मन में गुँथी रह गयी हैं।

मुझे एक व्यक्ति ने बड़ा कवि कहा था छन्द में दो ही नम्बर होते है, शून्य और एक सौ। मैंने उससे पूछा था, मुझे कितने नम्बर मिलेंगे? उन्होंने कहा था—शून्य (ब्रैकेट में 98)। मैंने इसके साथ ही कहा था और श्रीजात को कितने नम्बर मिलेंगे? उन्होंने कहा था, शून्य (ब्रेकेट में 99)। यह एक का अंतर तो हम दोनों में रहेगा ही।

पौलोमी : तो फिर एक सौ नम्बर किसे मिलेंगे?

विनायक : एकमात्र रवीन्द्रनाथ को। कारण, और कोई भी साढ़े निन्नानवे से अधिक नहीं पा सकता है।

पौलोमी : श्रीजात का जोर तो उसके छन्दों पर है किन्तु, श्रीजात को छन्दों का इतना भूत क्यों चढ़ा हुआ है?

श्रीजात : वह तो एक समय एक, नशे की तरह था। कई लोगों का मानना है कि 'छन्द' में सिर्फ अन्त्यमिल अर्थात् तुकान्त बनानी पड़ती है और छन्द बन जाता है। कविता असल में दिमाग लगाकर नहीं बनायी जा सकती है। कविता जिस तरह से आती है, उसे उसी रूप में धारण करना पड़ता है। हमलोगों के लिए कविता के सामने आत्मसमर्पण करने के अलावा और कोई चारा नहीं है। अन्त्यमिल का आनन्द इसी जगह है कि वह उसी तरह से प्रतीत हो। असल में मैं बचपन से ही कविता की अपेक्षा गाने-बजाने के साथ अधिक रहा हूँ। घर के वातावरण के कारण ही वैसा हुआ है। इसलिए छन्द मुझे बहुत सहज और घनिष्ठ लगा है, वह कभी मुझे बाहर से आयी हुई चीज़ नहीं लगी है। फेलूदा को जिस तरहर से अस्त्र के बिना नहीं देखा जा सकता है, वैसे ही मेरी कविता में भी कई बार हथियार का काम करते हैं छन्द और तुक।

विनायक : किन्तु कई बार खतरनाक भी तो हो सकती है निरी तुकबंदी।

श्रीजात : तो फिर यहाँ मैं अपने क्षोभ की एक बात कहता हूँ। मेरी इसी तरह की छन्द बद्ध रचनाएँ काफी मात्रा में प्राकशा में आयी हैं, इसलिए अनेक उम्रदराज कवि और पाठक ऐसा सोचते हैं कि इसके अलावा मैंने अन्य तरह की कविता कुछ लिखी ही नहीं है। ऐसा तो नहीं है, मैंने अन्य तरह की रचनाएँ एक सा महत्त्व देकर लिखी हैं। 'मुश्ताक हुसेनेर दरबारी', 'आमि आर विलियम', अथवा 'कर्कटकान्तिर देश' की कविताओं की बात कोई शायद याद नहीं रखता है।

पौलोमी : अन्तिम प्रश्न। इस समय जो स्थिति है, उसमें खड़े होकर जीवन से तुम लोगों में से किसकी क्या माँग है?

विनायक : दुःख-कष्ट-आनन्द किसी में भी कविता मुझे कभी न छोड़े, जिससे मैं भी कविता को कभी न छोड़ूँ।

श्रीजात : मेरी ओर से देने वाला उत्तर मानो सुनीलदा ही अपनी कविता में लिख गए हैं—''जीवन से मेरी यही एकमात्र माँग है, 'अभी मुझे वही रचना लिखनी है, जो अब तक लिखी नहीं गयी है।''

('देश', 17 जून 2017 के अंक से साभार)

संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बगीचा, उरई-285001, मो. : 9839617349

नील दर्पण : किसान संघर्ष की जुझारू गाथा

श्रीनारायण पाण्डेय

आज के शासन तंत्र में लाखों की संख्या में मरने, या आत्महत्या करने वाले किसानों को देखकर आज से 160 वर्ष पूर्व के उन किसानों की याद आती है, जिन्होंने निलहों के विरुद्ध विद्रोह करके जमीन पर मालिकाना हक पुनर्बहाल किया था। तब वे न संगठित थे और न थी उनके पास आज जैसी कोई क्रान्तिकारी विचारधारा। उन्होंने आत्महत्या का रास्ता नहीं चुना, चुना संघर्ष का रास्ता। और एक ऐसी मिसाल छोड़ गये, जो बताती है कि मुक्ति का विकल्प आत्महत्या नहीं, संघर्ष है। आबादी में जिसकी संख्या सबसे बड़ी हो, वह आत्महत्या करे?

भारतीय इतिहास में किसान संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन संघर्षों ने इतिहास को नया मोड़ दिया है। स्वतंत्रता संग्राम में किसान आन्दोलनों की भूमिका हम सबको मालूम है। मगर आज के किसानों की उपेक्षा क्यों?

उड़िया लेखक फकीर मोहन सेनापति से लेकर हिंदी में प्रेमचन्द, निराला, रेणु, नागार्जुन एवं आज संजीव के उपन्यास फाँस तक में किसानों की व्यथा-कथा चित्रित है। मगर आज भी किसानों का विकास के नाम पर सर्वनाश ही नजर आ रहा है। उनकी आमदनी दुगुनी-तिगुनी भले न हो 'आत्महत्या' की दर जरूर दुगनी-तिगुनी होती जा रही है।

'नील दर्पण' दीनबन्धु मित्र का लिखा बांग्ला नाटक है। इसका प्रकाशन 1860 में हुआ था। हिंदी में नेमिचन्द्र जैन द्वारा अनूदित और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित इसका अनुवाद सुलभ है। ध्यान देने की बात यह है कि इसका प्रकाशन 1857 की क्रान्ति के ठीक 3 वर्ष बाद हुआ था। क्रान्ति की आग बुझी नहीं रही होगी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कत्लेआम का दृश्य सरकार और जनता दोनों के सामने रहा होगा। जिस प्रकार 1857 का विद्रोह उपनिवेशवादी शक्तियों के विरुद्ध था, उसी प्रकार किसानों का विद्रोह न केवल नीलहों के विरुद्ध था, बल्कि उस सरकारी नौकरशाही के विरुद्ध भी था जो नीलहों का समर्थन कर रहे थे। फिर भी यह नाटक लिखा गया था।

दीनबन्धु मित्र ने बड़े साहस के साथ इसका प्रकाशन किया। कहते हैं माइकेल मधुसुदन दत्त ने इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में 'Planting atror' नाम से किया था किन्तु इसमें उनका नाम नहीं था। प्रकाशक की जगह पादरी जेम्स लाँग का नाम छपा था। इन्होंने ही इसे छपवा कर देश-विदेश में कुछ लोगों के पास भिजवाया था। 'लैंड होल्डर्स एसोसियेशन' की ओर से पादरी लाँग पर अपलेख प्रसारण के आरोप में मुकदमा चलाया गया। उन्हें 9 वर्ष की सजा और 1000 रुपया का दण्ड दिया गया था। नाटक की विषयवस्तु तो नीलहों द्वारा किसानों पर किये जाने वाले भयावह अत्याचार और उस अत्याचार से जहाँ किसान दम तोड़ रहे हैं वही किसान, अत्याचारी नीलहे की नाक काट कर इसलिए सँजोकर रखता है कि उसे अपने मालिक को दिखायेगा।

ब्रिटिश सरकार ने 1833 में भारत की जमीन पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की इज़ारेदारी खत्म कर दी। पहले जमीन खरीदने का अधिकार केवल कम्पनी के हाथ था। अंग्रेज़ो ने बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ खरीद कर नील की खेती करवाना शुरू किया। नील की खेती किसान स्वेच्छा से नहीं करते थे। नील के मालिक जोर जबरदस्ती उनसे नील की खेती करवाते थे। फल यह हुआ कि किसान दिनोंदिन कंगाल होते चले गये। इन्कार करने पर उनकी सम्पत्ति और उनकी इज्जत के साथ जिस प्रकार नीलहों ने अकथनीय अत्याचार किया उसके विरुद्ध होने वाला आन्दोलन ही वह किसान आन्दोलन है जिसे 'नील-विद्रोह' कहा गया। यों तो इसका अधिक प्रभाव बंगाल में था, किन्तु अन्य प्रान्त भी इससे अछूते नहीं थे। जहाँ-जहाँ नील की कोठियाँ थीं, वहाँ-वहाँ आन्दोलन हुआ। आज भी जगह-जगह नीलहों की कोठियों के खंडहर और उनके अत्याचार की कहानी देखी सुनी जा सकती है। इसकी समाप्ति तब हुई जब 1860 के 'इन्डिगो कमीशन' द्वारा जमीन पर किसानों का स्वत्वाधिकार स्वीकार कर लिया गया। नीलदर्पण इसी स्वत्वाधिकार के लिए किया जाने वाला किसान संघर्ष है। इस क्रान्तिकारी संघर्ष के विरोध में नीलहे गोरे, अंग्रेज़ी के कुछ पत्र, उनके मालिक, सम्पादक और कुछ सरकारी अधिकारी थे। इन्होंने ही मिलजुल कर विरोध किया था। नेमिचन्द्र जैन द्वारा अनूदित नीलदर्पण में जेम्स लाँग पर चलाये गये मुकदमें का ब्यौरा है जो इस सच्चाई को उजागर करता है कि शोषक और शासक का गठबन्धन किस तरह किसानों के ख़िलाफ़ खड़ा था। फिर भी किसानों ने अपना क्रान्तिकारी तेवर बनाये रखा और जीत हासिल की।

नील दर्पण इसी विद्रोह का साहित्यक रूपान्तर है। इस नाटक के सम्बन्ध में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने दीनबन्धु मित्र की जीवनी व ग्रन्थावली की समीक्षा करते हुए लिखा था कि ''जब उनका तबादला उड़ीसा से नदिया हुआ उस समय नील संबंधी उपद्रव आरम्भ हुआ था। दीनबन्धु ने विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण कर नीलहों के दुष्कृत्य को देखा था। नील दर्पण गुमनाम छपा था। बंकिम ने लिखा है कि ''अगर लोग जान जायेंगे कि वही इसके लेखक हैं, तो उनके अनिष्ट होने की सम्भावना है। जिन अंग्रेजों के अधीन वे काम करते थे, वे सभी नीलहों के मित्र थे। विशेषतः डाक विभाग में काम करने के कारण नीलहों तथा अन्यान्य अंग्रेजों के सम्पर्क में आना पड़ता था। शत्रुता करने पर अनिष्ट कर सकें या न कर सकें सब उन्हें उदिग्न कर सकते हैं। यह सब जानते हुए भी नील दर्पण के प्रचार से वे विमुख नहीं हुए। नील दर्पण में लेखक का नाम नहीं था, लेकिन उसको छिपाने की उन्होंने कोई कोशिश नहीं की। नीलदर्पण के प्रकाशन के बाद सबने मान लिया कि दीनबन्धु ही उसके लेखक हैं।'' बंकिमचन्द्र इस नाटक की तुलना हैरियटबीचर स्टो की 'अकंल टॉम'ज केबिन' से करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार अमरीका के नीग्रों के दास प्रथा से मुक्त किया है, उसी प्रकार का काम नील

दर्पण में भी नील दासों को दासता से मुक्त करने का काम किया है। दरअसल नीलहों के अत्याचार ने न केवल सामान्य जन को प्रभावित किया था, बल्कि बुद्धिजीवियों और लेखकों को भी बेचैन किया था। सरकारी कर्मचारी होते हुए भी दीनबन्धु नीलहों और शासन के विरुद्ध जनता के साथ खड़े थे और एक जुझारू संघर्ष को नाटक के द्वारा बड़े समाज में पहुँचा रहे थे।

बंकिमचन्द्र के अलावा एक और विद्वान के विचार-उद्धृत कर रहा हूँ। डॉ. सुकुमार सेन ने नीलदर्पण की विशेषता बताते हुए लिख है कि ''दीनबन्धु के नाटक में पहली बार देश के शासक और शासित के घनिष्ठ सम्बन्ध, देश के आर्थिक शोषण का कुत्सित रूप सभ्य-नामी मनुष्यों का बर्बर स्वरूप उद्घाटित हुआ।''

इस प्रकार नील दर्पण नीलहों द्वारा किसानों पर होने वाले बर्बर आचारण का साहित्यिक दस्तावेज है। वह वक्त था कि साहित्यकार जनता के साथ खड़े थे, उनकी किताबें जब्त होती थीं, उन पर मुकद्दमा चलता था, सजा होती थी, जुर्माना भरना पड़ता था। आज के साहित्यकारों की तरह वे पुरस्कार के लिये लालायित नहीं थे। नौकरी बचाने नहीं खोने को तैयार रहते थे।

कहा जाता है कि कलकत्ता में जब यह नाटक खेला जा रहा था उस समय दर्शक गैलरी में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर मौजूद थे। नाटक के तृतीय अंक में नीलकर रोज़ द्वारा क्षेममणि की अस्मत लूटने वाले दृश्य को देखकर वे इतना उत्तेजित हो उठे थे कि उन्होंने अपनी चप्पल नीलहे रोज पर फेंक दिया था। नीलहे की भूमिका पादरी जेम्स लाँग कर रहे थे। लाँग ने चप्पल उठाकर माथे से लगा लिया। कहा कि यह हमारे अभिनय की सफलता का सबसे बड़ा पुरस्कार है। यह वही जेम्स लाँग हैं जिन्होंने माइकेल के नीलदर्पण के अनुवाद को छपवाकर देश-विदेश में बँटवाया था, और जिसके लिये 1000 जुर्माना भरा था और एक साल की सजा काटी थी।

याद रहे कि उस समय किसानों के साथ पादरियों की हमदर्दी थी। वे आज के भारतीय धर्म गुरुओं की तरह दुष्कर्म के लिए नहीं सुकर्म के लिए जेल जाते थे। पता नहीं क्यों आज धर्म गुरुओं, शिक्षा गुरुओं और राजगुरुओं को लकवा मार गया है कि वे किसानों के मुद्दे पर एकदम उदासीन हैं।

राजनीतिक जगत और प्रशासन में इस विद्रोह की जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई थी। उनके मंतव्यों से विद्रोह की एक झाँकी मिलती है। उन्होंने भी मंजूर किया था कि नीलहे दोषी हैं, किसानों का क्षोभ जायज है।

लार्ड कैनिंग, जो भारत के गवर्नर जनरल थे, उन्होंने कहा था कि नील के किसानों के वर्तमान विद्रोह के बारे में मुझे प्रायः एक सप्ताह तक इतनी चिन्ता रही जितनी की दिल्ली की घटना (यानी 1857 की महाविद्रोह के सामय भी नहीं हुई थी। मैं हर समय सोचता रहता कि अगर किसी अबोध नीलहे ने भय या क्रोध से गोली चला दी तो उसी वक्त पश्चिम बंगाल की सब कोठियों (नील कोठियों) में आग लग जाएगी। कैनिंग ने 1857 के विद्रोह को देखा था। बकलैंड ने 'बंगाल अन्डर लेफ्टिनेन्ट गवर्नन' पुस्तक में नीलहों की करतूतों का वर्णन किया है। उनके अनुसार अंग्रेज अधिकारियों और पादरियों ने यह स्वीकार किया था कि नीलहों ने अमानुषिक अत्याचार किया था।

लात्यूर साहब जो 1848 में फरोदपुर के मजिस्ट्रेट थे, 'नील कमीशन' के सामने गवाही देते समय कहा था कि ''नील की एक भी ऐसा डिबिया इग्लैंड नहीं पहुँचती जो इंसान के खून से रंगी न हो।'' यह बात कहने के लिए ईसाई धर्म प्रचारकों की निंदा की गयी है, लेकिन

मैं भी यही बात कहता हूँ कि यह बात बिल्कुल सच है। मैंने कुछ किसानों को देखा है जिनकी सभी देह बल्लमों से नाथ दी गयी थी। कुछ किसानों की लाशें मेरे सामने लायी गयीं जिनकी हत्या नीलहे साहब फोर्ड ने गोली मारकर की थी। मैं और कई किसानों की बात जातना हूँ, जिन्हें बल्लम से बुरी तरह जख्मी कर, हरण कर ले जाया गया था।'' इस तरह के बयान और कई जिला मजिस्ट्रेटों ने दिया था चौबीस परगना के जिला मजिस्ट्रेट एशलेही ने गवाही में कहा था कि ''नील की खेती किसानों से जबरदस्ती कराई जाती है। सरकारी कर्मचारी अक्सर नीलहे साहबों का पक्ष लेकर न्याय को तिलांजलि देते हैं।'' ईडेन बंगाल के गवर्नर भी थे।

नीलहों के इस अत्याचार की चर्चा ब्रिटिश पार्लेयामेन्ट में भी हुई थी। लेआर्ड साहब ने पार्लियामेन्ट में कहा था 'नीलहे असहाय किसानों की जमीन दखल कर रहे हैं, उनके घर-द्वार ध्वस्त कर रहे हैं, दरख्त काटकर और पौधे उखाड़कर फेंक रहे हैं। जो बाधा देने की चेष्टा करते हैं, उनकी हत्या की जा रही है अथवा उनका हरण कर उन्हें खुद (नीलहों द्वारा तैयार किये गये जेलखानों में बन्द किया जा रहा है। सारे देश में अराजकता का बाजार गर्म हैं—इसकी तुलना किसी सभ्य देश में नहीं मिलती।''

ब्रिटिश पार्लियामेंट में सांसदों की मनसा किसानों का दुःख-दर्द दूर करना था। अत्याचारियों का अन्त करना था। आज भी हमारे संसद में किसानों के दर्द पर घड़ों आँसू बहाये जाते हैं उनके कर्ज माफ कर मरहमपट्टी की जाती है, मगर उन कारणों को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है, जिससे किसान आत्महत्या करता है। ढिंढोरा खूब पीटा जाता है, मगर किसानों को मौत के फंदे से बचाने के लिए नहीं, बोट बैंक को मजबूत करने के लिये।

इस अत्याचार के विरोध में हमने देखा कि साहित्यकार, सांसद, धर्म गुरु, पादरी, और कुछ सरकारी अधिकारी मिलकर सामने आए, जिनमें सब कहने का साहस था और आज?

रही बात मीडिया की वह आज जैसी घरानों की मीडिया नहीं थी। वह सनसनीखेज खबरों की जगह, लोकहितार्थ हकीकत को उजागर कर रही थी। पत्र तो कई थे, जो किसानों की समर्थन कर रहे थे। मैं यहाँ हिंदू पैट्रियाट' के सम्पादक हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय को उद्धृत कर रहा हूँ :

''बंगाल अपने किसानों पर अवश्य ही गर्व कर सकता है। नील आन्दोलन के आरम्भ होने के बाद से बंगाल की रैयत ने जिस शक्ति का इतना स्पष्ट परिचय दिया है, वह अन्य किसी भी देश के किसानों में देखी नहीं गयी। गरीब, राजनीतिक ज्ञान और क्षमता विहीन एवं नेतृत्वविहीन होने पर भी ये सारे किसान इस तरह की क्रान्ति करने में समर्थ हुए हैं जो गुरुत्व और महत्त्व में किसी भी देश के सामाजिक इतिहास की क्रान्ति की तुलना में किसी भी तरह कम नहीं। उन्हें एक ऐसी शक्ति के विरुद्ध संग्राम करना पड़ा है जिसके हाथ में दुर्द्धष क्षमता के सब उपकरण थे। सरकार इनके ख़िलाफ़ थी, समाचार पत्र भी इनके ख़िलाफ़ थे, कानून अदालत सभी इनके ख़िलाफ़ थे। इन शक्तियों के ख़िलाफ़ उन्होंने जो सफलता प्राप्त की उसका फल समाज के सभी वर्ग और सभी वंशधर भोग करेंगे...इसी बीच रैयत को सातने वाले समझ गये हैं कि उनके स्वेच्छाचारी राज का अन्त होने जा रहा है।''

इसी पत्र में शिशिर कुमार घोष ने एक पत्र में लिखा हैं कि किस प्रकार किसान विरोध में तैयारी कर रहे हैं :

''हज़ार-हज़ार किसानों ने नील कोठी का आक्रमण रोकने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर रखी है। बलपूर्वक फसल ले जाने के लिये नीलहे रिवाल्वर, गोली-बारुद और लठैत इकट्ठा कर रहे हैं।

गाँव के किसान भी लाठी और बल्लम इकट्ठा कर रहे हैं।''

यहाँ विद्रोही किसानों का न कोई संगठन था, न आज जैसा नेतृत्व, न विचारधारा फिर भी उन्होंने आत्महत्या न कर या केवल आवेदन प्रतिवेदन न कर नीलहों के ईंट का जवाब पत्थर से दिया था। असंगठित और निहत्थी किसान जनता भी, लाठी, थाली, ढेले से सशस्त्र शत्रु की मुकाबला कर सकती है, यह सबक हमें इन विद्रोहियों से लेना चाहिए।

1860 में 'इण्डियन फील्ड' नामक मासिक पत्रिका में कृष्णानगर (नदिया) के एक पादरी का पत्र छपा है :

''किसानों ने छः विभिन्न कम्पनियों में अपने को विभक्त कर दिया है। एक कम्पनी गठित हुई थी सिर्फ तीर धनुष लेकर। प्राचीन काल के द्रविडों की तरह सिर्फ गोंफनी में ढेले लेकर (ढेल बाँस) दूसरी कम्पनी बनी थी। ईंट वालों को लेकर एक और कम्पनी बनी थी जो मेरे मकान के आँगन से भी ईंट उखाड़ ले गये थे। और एक कम्पनी थी बेल वालों की। उनका काम था सख्त कच्चे बेल फेंक कर निलहे साहबों के सर पर मारना। थाली-वालों को लेकर एक और कम्पनी बनायी गयी थी। वे भात खाने की पीतल की थाली चक्र की तरह शत्रु पर फेंककर मारते थे। उससे शत्रु-निधन अच्छी तरह होता था। और एक कम्पनी रोड़ा वालों को लेकर बनायी गयी थी। वे पके मिट्टी के बर्तन के टुकड़े पूरा बर्तन लेकर शत्रु का स्वागत करते थे। खासकर बँगाली स्त्रियाँ इन अस्त्रों का व्यवहार अच्छी तरह जानती थीं। एक कम्पनी लाठी चलाने वालों की थी। उसका नाम 'युधिष्ठिर कंपनी' है अर्थात् 'बल्लभधारी वाहिनी' एक बल्लमधारी एक सौ लठैतों को पराजित कर सकता है। इनकी संख्या कम होते हुए भी वे अत्यन्त दुर्द्धष हैं। नीलहों के लठैत इनसे इतना डरते हैं कि उनकी हिम्मत आक्रमण करने की नहीं होती।''

किसान सूचना के लिए नगाड़ा और डुगडुगी का इस्तेमाल करते थे। यह था उनका युद्ध कौशल। नीलदर्पण नीलहों के इसी तरह के अत्याचार के विरुद्ध किये जाने वाले किसानों संघर्ष की अदम्य शक्ति का दस्तावेज है। नीलदर्पण इसलिए लिखा गया था कि नीलहे, अपना अत्याचारी चेहरा देखकर अत्याचार बन्द कर किसानों को भूमि पर स्वत्वाधिकार प्रयोग का हक दें। आज उसी नीलदर्पण की कथा को मैंने इसलिए दुहराया है कि आज हम सभी भारतवासी राजनीतिज्ञ, सांसद, बुद्धिजीवी, मीडियाकर्मी, साहित्यिक अपना-अपना चेहरा देखें और अपनी भूमिका निभाएँ, जिससे किसान आत्महत्या या मौन का रास्ता न चुनकर जीने का रास्ता चुनें।

किसानों को भी सबक लेना है कि उस काल के किसानों की तरह सीमित संसाधनों के साथ अपने अधिकार की लड़ाई लडें। वादे और वादों की सौगात की भूल भुलैया में न पड़ें। वोट देना भी उनका अधिकार है तो जिन्दा रहना भी उनका अधिकार है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि शासक और शासन दोनों एक हैं संज्ञा भिन्न है।

अत्युक्ति न मानी जाये तो कहना चाहूँगा कि नील के किसानों का संघर्ष माओ त्से तुंग के लाँग मार्च से ज्यादा महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि लाँग मार्च को माओ जैसा नेता मिला था, और नीलहों के पास ऐसा कोई नेता नहीं था।

रहा नील दर्पण का मशहूर चरित्र तोराप। उसकी पूजा तो बिरसा मुंडा की तरह सबसे ऊँची प्रतिमा बनाकर की जानी चाहिए। वही बड़े साहब की नाक काटकर भाग आया था। तोराप मुसलमान था। नील व्रिदोह हिन्दू और मुसलमान दोनों का सम्मिलित विद्रोह है। किसान, किसान होता है, न हिन्दू न मुसलमान। किसान और मजदूर का शोषण एक सा बिना भेदभाव

के होता है। नीलदर्पण साम्प्रदायिक सद्भाव की भी सीख देता है।

नीलदर्पण पर विचार करने का अर्थ ही है, आज के दर्पण में अपने को देखना और किसान को मौत के फंदे से उतारना। सत्ता, शक्ति नहीं तो प्रलोभन, किसी एक से क्रान्तिकारी चेतना को भोथरा करती है। नीलदर्पण में सत्ता को हार माननी पड़ी। आज के किसान को नील दर्पण की क्रान्तिकारी चेतना को बनाये रखने के लिए चुनावी वादों से सावधान होना होगा। और साहित्यकार अगर सचमुच अपने को प्रेमचन्द की विरासत का हकदार कहते हैं तो उन्हें पुरस्कारों की मोहमाया छोड़ किसानों की पाँत में खड़ा होना होगा। सच को छिपाया नहीं जा सकता। लोग कहते हैं, आइना (दर्पण) झूठ नहीं बोलता, वर्ना समय का दर्पण हमें बेनकाब करेगा। सेवा सदन के बूते को नीलदर्पण के तोराप में ढालना होगा।

संपर्क : 412/37 बक्सीखुर्द, दारागंज, इलाहाबाद-4211006, मो. : 08004040567

माँ, माटी और मानुष का कवि : सुभाष मुखोपाध्याय

रणजीत साहा

कविता का संसार, संस्कार या अनुभव से ही नहीं, कवि के समग्र जीवनदान से समृद्ध और यशस्वी होता है। कविता उस अमृतबेल के समान है जो कवि के हृदय कोष में संचित समग्र रक्त को पीकर जीवित रहती है। बाङ्ला के कवि सुभाष मुखोपाध्याय (1919-2003) पर यह बात अक्षरशः लागू होती है।

सुभाष मुखोपाध्याय का जन्म 12 फरवरी, 1919 को बंगाल के नदिया नामक स्थान पर हुआ। यह कृष्णनगर ज़िले का वह कस्बा है, जहाँ विश्वप्रसिद्ध मूर्तिकार माटी की मूरत में प्राण फूँक देते हैं। जीवन की माटी को और माटी के जीवन को—एक शिल्पी की तरह एक नये रूप से गढ़ने वाले और विविध रंगो से रचनेवाले चितेरे कवि सुभाष ने इस माटी को ही माँ समझा और उसी से स्वयं को रचा और अपने कवि रूप को गढ़ा।

सुभाष दा का आरंभिक जीवन परिवार के साथ इधर-उधर भटकता रहा। वे अविभक्त बंगाल में कई-कई स्थानों पर रहे और राजशाही (अब बाङ्लादेश) में भी इनका काफी समय बीता। सन् 1941 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक हो जाने के बाद, जैसा कि तय ही था – वे कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के कार्यकर्ता और फिर एंटी-फासीस्ट राइटर्स एंड आर्टिस्ट एसोसिएशन के सक्रिय सदस्य हो गये। इसके पूर्व उन्होंने लेबर पार्टी में सक्रिय भागीदारी के साथ डाक वर्कर्स यूनियन के लिए काम किया था। कारायातना भी भी भुगती। वे आल इंडिया प्रोग्रेसिव राइटर्स यूनियन तथा विश्वभारती की कार्य समिति से भी सम्बद्ध रहे लेकिन कभी कहीं नौकरी नहीं की। इस बीच 'पदातिक' (1940) का प्रकाशन उनके काव्य-जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना थी। इस रचना ने बाङ्ला काव्य साहित्य में एक तरह से तहलका मचा दिया। कवि ने अपने तरुण भावबोध के साथ ग़ैर-रोमानी अनुरोध को नये स्वर, तेवर और न्यास के साथ जिस तरह प्रस्तुत किया था—वह पाठकों के लिए सचमुच 'नया' और 'आत्मीय' था। वे कवि को अपना भावी प्रवक्ता मानने लगे। युवा प्रतिभाओं को सामने लानेवाले सहृदय

कवि-समीक्षक बुद्धदेव वसु ने कवि जीवनानन्द दास और सुभाष मुखोपाध्याय की न केवल आरंभिक कृतियों को प्रकाशित करने में सहायता की बल्कि उनकी कविताओं पर समीक्षात्मक लेख भी लिखा। इससे काव्य-समीक्षकों और पाठकों का ध्यान सुभाष की कविताओं की ओर गया और उन्होंने पाया कि प्रेम और प्रकृति में डूबे दूसरे कवियों के मुक़ाबले 'पदातिक' की कविताएँ कैसे और किन अर्थों में अलग भावभूमि पर लिखी गई हैं। तेईस कविताओं के इस संकलन की पहली ही कविता में बीस साल के तरुण सुभाष ने अपनी प्रेयसी को इन पंक्तियों में कुछ इस तरह सम्बोधित किया था :

हा, प्रिये, अभी फूलों के साथ खेलने की घड़ी नहीं
जबकि, हम सब खड़े हैं अपनी तबाही के बिलकुल सामने,
हमारी आँखों में किसी सपने का नीला नशा नहीं
हम सेंकते हैं ख्याल अपनी चिलचिलाती धूप में।
चिमनी के मुँह से सुनो साइरन का शंख
हबीबी ओर निहाई गाते हैं गान
तिल-तिल बढ़ती मृत्यु में भी हैं अनगिन प्राण
जो जीवन को करना चाहे प्रेम। (पदातिक से)

पदातिक में सुभाष मुखोपाध्याय की कवि-सत्ता दलीय राजनीति की कार्यसूची में ही अंशतः प्रेरित रही, यह स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उनकी कविता के आशय को राजनीतिक वक्तव्य के पर्याय के रूप में भी देखने की कोशिश की गई। आलोचकों ने यह भी आरोप लगाया कि प्रगतिशील और समाजवादी खेमे के कवि – जो आदर्शवाद के नाम पर यथास्थिति के विरोधी हैं, लगभग उन्हीं अभिप्रायों (यथा : वर्ग संघर्ष और शोषण के ख़िलाफ़ तीव्रमुखर विद्रोह, ज़मींदारी और सरमायादारी का विरोध, गाँधीवादी विचारधारा के प्रति उदासीनता आदि) को ही बार-बार दोहरा रहे थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन आरोपों में कुछ-न-कुछ सचाई अवश्य है पर सुभाष ने इसके ख़िलाफ कोई सफाई नहीं दी। लेकिन उनकी कविताएँ एक निश्चित राजनीतिक पृष्ठभूमि और मुहावरे में लिखी जाकर भी व्यापक मानवीय चेतना को किस तरह झकझोरती हैं—यही देखना यहाँ अधिक महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी था। तब किसी जुलूस या श्रमिक आंदोलन को सम्बोधित कविता अपनी काव्य-वस्तु में प्रत्यक्षतः साधारण प्रतीत होती हुई भी अपने प्रभाव एवं उद्देश्य में असाधारण या विशिष्ट हो जाती थी। मार्क्सवादी विचारधारा के पक्षधर और पार्टी विशेष के प्रवक्ता होने और स्थान-स्थान पर लेनिन और ख्रुश्चेव का साभिप्राय नामोल्लेख करने के बावजूद मनुष्य की यातना और नियति के बीच एक मज़बूत सेतु के रूप में हम उनकी कविताओं को देख सकते हैं।

आज जब हम उन कविताओं को समकालीन परिदृश्य में देखते हैं तो वे और भी महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक प्रतीत होती हैं। वस्तुतः सुभाष की कविता की कसौटी आरंभ से ही मानवीय और मनुष्य केन्द्रित रही – वह साहित्यिक या काव्य शास्त्रीय नहीं। वे कविताएँ समय और समाज सापेक्ष हैं, इसलिए उनकी कविताएँ समसामयिकता और तात्कालिकता के साथ सामाजिक सोद्देश्य भी लिए हुई हैं। उन्होंने सामाजिकता के साथ कविता को 'निरपेक्ष' नहीं होने दिया। ऐसा कहते या करते हुए वे काव्य मंच पर किसी कवि की तरह कोई राजनीतिक फतवा या नारा नहीं, बल्कि आमजन की हैसियत से आम जुबान में ही अपनी बात कहते रहे। आम आदमी के भावावेश, उसकी मनोदशा, उसके आक्रोश, उसकी आशा-आकांक्षा का जितना सही,

सटीक और प्रामाणिक चित्रण उनकी कविता में हुआ है—वह अन्यत्र बहुत कम दिखता है।

पदातिक की कविता के स्वागत इसकी चर्चा को लेकर कवि सुभाष सचमुच हैरान थे। इस संकलन की लोकप्रियता से उन्हें अपने ईर्ष्या होने लगी। आम पाठकों से अपने मित्रों-जैसा संवाद और सीमित साधनों के बावजूद कुछ कर गुज़रने का संकल्प ही इन कविताओं में मुखरित हुआ था। पाठकों को उनकी कविता के साथ गुज़रना एक बड़ी नदी में छोटी-सी नाव पर यात्रा करने के समान ही दिलचस्प और ज़ोखिम भरा लगता क्योंकि उनकी कविताएँ तयशुदा राहों या घाटी से नहीं गुज़रतीं। वे बेचैन करती हैं, झिंझोड़ती हैं, आहत करती हैं और अन्ततः आश्वस्त करती हैं।

अग्निकोण (1948) के प्रकाशन से साहित्य जगत में उनकी चर्चा को गंभीरता से लिया जाने लगा। इसके बाद जब *चिरकुट* (1950) प्रकाशित हुआ तो सुभाष दा कारादंड भुगत रहे थे। 1951 में उनका विवाह श्रीमती गीता बंद्योपाध्याय से हुआ, जो स्वयं एक लेखिका और संस्कृतकर्मी थीं। इसी वर्ष से उन्होंने बांग्ला की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका *परिचय* और फिर *संदेश* का संपादन भी किया। कोलकाता से दूर चौबीस परगना में जूट श्रमिकों के साथ ढाई साल काम करने के दौरान श्रमिक जीवन की अनिश्चितता और निरर्थकता को व्यंजित करनेवाली उनकी एक पुस्तक *भूतेर बेगार* प्रकाशित हुई – जो श्रम, पूँजी और वेतन की विषमता को भारतीय संदर्भ में बड़ी प्रामाणिकता से अंकित करती है। यह कृति श्रमिक आंदोलन के देसी संस्करण को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। अपने समय और समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता – चाहे वह पार्टी हो या समय और समाज के प्रति – सुभाष अपने जमीनी पाठकों और सर्वहारा के सुख-दुःख से निरंतर जुड़े रहे। इसका प्रामाणिक विवरण उनकी यात्रा पुस्तक 'आमार बांग्ला' से मिलता है, जो 1951 में प्रकाशित हुई थी। कुछ दिनों के लिए सिगनेट प्रेस से जुड़ने के दौरान सत्यजित रॉय ने 'संदेश' पत्रिका का दोबारा प्रकाशन 1956 में उन्हीं की प्रेरणा से किया। राय की कुछ फिल्मों के लिए भी सुभाष सहयोगी के रूप में भी जुड़े रहे। साथ ही, 'लोटस' पत्रिका के संपादक मंडल में रहे और एफ्रो एशियन राइटर्स कॉन्फ्रेंस के तत्वावधान में आयोजित देश-विदेश के विभिन्न अधिवेशनों में भाग लिया।

सुभाष मुखोपाध्याय के अग्निकोण (1948) काव्य संकलन में इसी शीर्षक से लिखी गई कविता में तत्कालीन भारत की ही नहीं—एशिया महाद्वीप की— विशेषकर दक्षिणपूर्व एशिया की हताशापूर्ण मनोदशा का अंकन देखा जा सकता है। यह संकलन सिंगापुर के उन तीन शहीदों की स्मृति को समर्पित था, जिन्होंने ब्रिटिश राज्य के ख़िलाफ़ फाँसी के फंदे पर राष्ट्रगान गाते-गाते जान दे दी थी। तब यह सारा क्षेत्र ख़ूनी साम्राज्यवाद या इसके दलालों के चंगुल में फँसा था। यहाँ के तमाम शोषितों, किसानों और कामगारों की बेहतरी और न्याय तथा सम्मान के लिए उनकी लेखनी बेचैन को उठी थी। यह कविता इस महाद्वीप के भूखे और प्यासे लोगों के लिए पार्टी के प्रस्ताव या प्रायोजन के अंतर्गत नहीं लिखी गई। यह एशिया के दमित गौरव को फिर से पाने, सत्य के प्रति उनकी निष्ठा को दोहराने तथा इसी बहाने मानव मात्र की प्रतिष्ठा को अर्जित करने के लिए लिखी गई थी :

पेराक और पेनांग में, जस्ते की खान में
रबर के जंगलात में, मसालों की खाड़ी में
इरावती के दोनों ओर सोना उपजाती घाटी में
नीलकांत मणि से झिलमिलाते देश जंबूद्वीप में
श्याम में, कम्बोज में ओर अनामी पहाड़ों में

नदी के ज्वार जल में–
नींद से जाग उठे अग्निकोण के लिए
रक्त-कीच में दुश्मनों को गाड़कर
अँधेरे के सीने पर घुटने गड़ाकर,
दोनों हाथों से फाड़ डालेंगे अब दुःशासन का वक्ष। (अग्निकोण से)

सुभाष बाबू की कविताओं में 'महाभारत' की अंतर्कथाओं के बहुत से संकेत मिलते हैं। न चाहते हुए भी 'महाभारत' का युद्ध जैसे पूरी मानवता पर थोपा गया –वैसे ही युद्ध, हत्या, हिंसा, षड्यंत्र और विनाश को थोपने वाली ताक़तें कभी कम सक्रिय नहीं रहतीं। लगभग महाभारतकालीन स्थिति का सामना और अपने देशकाल एवं श्रोताओं, पाठकों से संवाद करते हुए सुभाष की उक्त कविता भी एक रणनीति तैयार करती है–जिसमें जन-जन का मनोबल ही कवि की सबसे बड़ी ताक़त है। यह ज़मीन युद्धोचित अधिकार या आतंक से या कि उन्माद या आनन्द से प्रेरित नहीं–बल्कि करोड़ों लोगों के असंतोष और विद्रोह को एक सकारात्मक पथ और प्रस्थान दिखाने के लिए तैयार की गई थी। यह कविता कवि को ही नहीं, उसके संकल्प में सम्मिलित व्यक्ति को आश्वस्त करती है :

ख़ून की क़ीमत चुकाकर ख़ून का कर्ज़ मिटाने का दिन,
हाँ भाई, आ गया है वह दिन–
विदेशी राज के प्राण-कीट को
अपने नाख़ूनों से मसलकर मार डालने का दिन
हल की नोक से खर-पतवार उखाड़ फेंकने का
आ रहा है दिन
हँसिए की धार पर नई फसल काट लाने का। (अग्निकोण से)

उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में जब नक्सलवाडी आंदोलन ने अपना ख़ूनी रंग दिखाना शुरू कर दिया और बंगाल एवं तराई क्षेत्र के हज़ारों युवक इस दिशाहीन आंदोलन में मरने-खपने लगे तो स्वाभाविक ही था कि सुभाष दा पीढ़ियों और पार्टियों के टकराव और भटकाव को कोई दिशा देते। इस दौरान लिखी गई उनकी कविताओं का संकलन छेले गेछे बने (1972) प्रकाशित हुआ–जिसमें एक अग्रज कवि के नाते उन्होंने अपने पथहारा भाइयों से समाज की मुख्य धारा में लौट आने के आग्रह के साथ ख़ूनी-क्रांति की व्यर्थता के प्रति उन्हें सतर्क भी किया था।

लेकिन बात जब कविता या साहित्य की होती है तो सुभाष दा सिर्फ़ कवि होते हैं–एक साधारण गृहस्थ कवि। उनकी हिस्सेदारी कविता लिखने और जीने की इस शर्त के साथ जुड़ी रही कि कविता जीवन का अनुषंग नहीं, बल्कि जीवन भी कविता का अनिवार्य अंग बने। इसीलिए कवि सुभाष अपने स्वर में ही नहीं, स्वरूप और स्वभाव में भी कविता के मूर्तिमान पर्याय थे। उन्होंने कविता को कभी जटिल या आसमानी नहीं बताया और न बनाया। यही कारण है कि वे पुस्तकालय या विश्वविद्यालय के नहीं, हमारे मनप्रांगण और जीवन के कवि बने रहे। उनकी विशिष्ट काव्य कृतियों में पदातिक (1940), अग्निकोण (1948), चिरकुट(1950), फुलफुटुक (1961), जत दुरेई जाय (1962), काल मधुमास (1969), छेले गेछे बने (1972), एकटु पा चालिए, भाई (1979), जल सइते (1981), जा रे कागजेर नौकौ (1989) आदि प्रमुख हैं।

1983 में प्रकाशित जत दुरेई जाय काव्य संकलन के लिए उन्हें वर्ष 1964 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। बांग्ला की श्रेष्ठ कृति के नाते पुरस्कृत इस संकलन में उनकी

1959 से 1960 तक लिखित 28 छोटी-बड़ी कविताएँ संकलित हैं। कवि ने अपनी शीर्षक कविता में यही स्वीकार किया है कि मैं चाहे जितनी दूर भी क्यों न चला जाऊँ—मेरे साथ लहरों की माला गुँथी एक नदी का नाम हमेशा चलता रहता है। यहाँ किसी नदी का नामोल्लेख नहीं है। अपने मानवीय अनुरोध और प्रौढ़ भावबोध के लिए इस संकलन की कुछ कविताएँ बांग्ला साहित्य में एक नये प्रस्ताव और संकल्प को रेखांकित करने वाली थीं। 'कौन जाग रहा है' शीर्षक कविता में कवि ने अपनी पीढ़ी का नेतृत्व इन शब्दों में किया था :

अभी इसी क्षण ख़ून की एक-एक बूँद में सुन पड़ेगी,
महाकाल की घन गरज : कौन जाग रहा है?
बड़े जतन से जुगाई इस देह की धूल झाड़ते-झाड़ते
ऊँचे स्वर में, गर्व से कहेंगे : 'हम'। (जत दुरेई जाय से)

सुभाष दा ने बांग्ला के अन्य प्रतिष्ठित कवियों या समकालीन कवियों की देखादेखी कभी किसी युक्ति या पद्धति का अनुसरण नहीं किया। वे छोटे-छोटे छंदों की अनुप्रास योजना के साथ विनियोजित हैं ताकि पाठक उन्हें अपनी परिचित छंद परंपरा के साथ स्वीकार कर सकें। विचारों की तीव्रता के साथ लय की सुकरता और छंद की अन्विति उनकी रचनाओं को अतिरिक्त लय प्रदान करती है। दूसरे, उनकी कविताओं में अनावश्यक शब्द-आडम्बर या अमूर्त बिंब विधान, विरूपन या विखंडन नहीं है और ना ही चमत्कारपूर्ण कोई दृश-विधान। उनका पाठक, चाहे वह शहरी बुद्धिजीवी हो या गाँव का किसान—उनकी कविता के बहुत निकट होता है। उनका किसान बड़े सहज ढंग से कविता में उपस्थित होता है और पूछता है :

जब सुलग रहा है पेट
और झुलस रहे हैं खेत
तो कौन चुकाएगा लगान?
अगर हमें नहीं बचाया गया हुजूर
फिर तो आग ही जलेगी। (चिरकुट से)

आम लोगों के सुख-दुःख और सोच एवं सरोकार के नाते खेत-खलिहान के किसान मज़दूरों से लेकर मिलों और खदानों के कामगारों तक तथा विभिन्न श्रमिक संगठनों, ट्रेड यूनियनों और राह रोको आंदोलनों में उनकी कविताओं का सस्वर और सामूहिक पाठ सचमुच चौंका देने वाला रहा। उनकी 'हड़ताल' शीर्षक कविता हड़तालियों का इन पंक्तियों में आह्वान करती है :

हड़ताल! हड़ताल!! जहाँ भी रहें
शामिल होंगे सभी मैदान में आज।
... ... साथ जुड़ेंगे लाखों हाथ,
आज हम सब देखेंगे पशुराज।
... ...करो दुकानें, दरवाज़े बंद,
ट्राम बसों के चक्के कुंद।
... ... फोड़ दो बिजली की आँखें
कर दो चौरंगी को अंध। (चिरकूट से)

पदातिक (1940) से लेकर *जा रे कागजेर नौको* (1989) और इनके बीच और इनके बाद अन्य कई काव्य कृतियों में सुभाष दा ने पद्य के छंद लावण्य और सौंदर्य के साथ-साथ गद्य की ऋजुता और रोचकता को बनाए रखा। उनकी कविताओं का मूल स्वर था—मानवीयता।

वह चाहते थे, उनके साथ सभी एक स्वर में बोल उठें :

हम सभी मनुष्य हैं भाई,
भाई-भाई के बीच बंद करो लड़ाई
आदमी, आदमी को तो न मारे
न घर में और न बाहर।

ऐतिहासिक कारणों से कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन से मर्माहत् सुभाष दा ने कुछ साथियों के साथ सक्रिय राजनीति और पार्टी से अपने को अलग कर लिया— लेकिन उनकी कविताओं के बुनियादी सरोकार आम जन से ही जुड़े ही रहे। किसी केन्द्रीय नेतृत्व और दिशा के अभाव में जब सुभाष विचलित अवश्य हुए थे लेकिन उनका मानना था कि पार्टी साधन है, साध्य नहीं। दरअसल किसी भी कवि का जीवन दर्शन बृहत्तर मानवीय अवधारणा से ही पुष्ट होता है। चूँकि कवि सुभाष की कविताओं का केंद्र आरंभ से ही 'मनुष्य' रहा इसलिए अपने कविकर्म की सार्थकता के प्रति वे पूरी तरह आश्वस्त और चौकस रहे :

मेरे सामने इधर-उधर लुढ़के हुए हैं
अपने ही सगे-संबंधियों के सिर
और इनके पीछे पड़े हैं।
हमारे आततायी भाई।
मेरा रथ यहीं रोक दो सारथी,
मेरे विषाद को थोड़ा विराम दो!
अब आकाश नहीं, पेड़ नहीं
मैं अब कुछ भी नहीं चाहता देखना
चिड़िया की आँख के सिवा। (एई भाई से)

अपनी आधी सदी से भी अधिक लंबी कविता-यात्रा के दौरान कवि सुभाष अपने समकालीनों में ही नहीं, परवर्ती युवा पीढ़ियों में, 'सुभाष दा' ही बने रहे। उनका काव्य संसार सृजन और संघर्ष को समर्पित एक संस्था का नाम पर्याय था। उनकी कविताओं के तमाम संकलन उनके आत्मसंघर्ष को ही शब्दांकित करते रहे, जो लहू, माटी, कीच, चंदन, राख, गोबर और खाद से बने और सने हैं और किसान तथा कामगार के पसीने से तर-बतर हैं। कविता उनका प्रण रहा और कविता ही उनका प्राण। कविता ही उनका मन और मंच, कविता ही यंत्र और कविता ही मंत्र। देखते-देखते यह कविता कभी औज़ार तो कभी हथियार बन जाती तो कभी मौत का बाना पहनकर अमानवीय कृत्यों और दुरभिसंधियों के ख़िलाफ़ सक्रिय और सकारात्मक हस्तक्षेप भी करती है। इसलिए उनकी कविताओं की अनिवार्यता और प्रासंगिता सदैव बनी रहेगी। उन्हीं के शब्दों में :

एक कविता लिखी जाएगी, इसीलिए
पता नहीं, कौन हैं जो दीवारों पर
किसी अनागत दिन के फतवे चिपका जाते हैं?
मृत्यु के आतंक को
फाँसी के फंदे से लटकाकर
जुलूस आगे बढ़ जाता है;
गान उसके गूँजते आसमान और हवा में
उसके गर्जन में, उसके नखदर्पण पर

अंकित होती है एक नई धरती–
इसके अकूत सुख और असीम प्यार के लिए ही,
लिखी जाती है एक कविता। (अग्निकोण से)

जीवन का सत्य कवि की साक्षी से ही सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करता है। यह सत्य शब्दों में मुखरित होता है और सामाजिक के भावों में अंकित होता है। कवि सुभाष के लिए किताबी पाठकों की अपेक्षा संख्यातीत सुधी सामाजिकों का विशेष महत्त्व रहा। यही कारण है कि परिस्थितियों और परिवेश का दबाव उनका कविमन न केवल महसूस करता रहा बल्कि सबसे आगे बढ़कर सामाजिक सरोकार के लिए अपनी भूमिका को चरितार्थ करता रहा। उनकी कविता समर्पित नहीं होती, सहयोग करती है, संवाद कायम करती है और आवश्यक हुआ तो अपने को संशोधित भी करती है।

अपनी आत्मीय एवं दो टूक शैली में जब कवि सुभाष अपनी बात को रखते थे तो वह सबका सच हो जाता था। इसलिए कवि अपने कविमन के आईने में आम जन को उनके इर्द-गिर्द सजे बातों के बाज़ार से सबको सतर्क करता रहा। उसने ऐसी तमाम नकारात्मक बातों से बोझिल एक नपुंसक समाज के सोच पर कुछ इस तरह वार किया था :

इसलिए बातों की रंगीनी में रँगे
सूरज का संसार भी
धीरे-धीरे हो उठता है धूमिल
सूख जाते हैं जलाशय
और छीजते चलते जाते हैं दरख़्त
और कटते चलते जाते हैं जंगल।
बातों की नुमाइश में ही।
मानव जाति की सारी समझ
होती चली जा रही है संवेदनहीन
बातों से बनाई जाती है सिर्फ़ बात
गढ़ी जाती हैं बातें और नहीं कुछ।

उनकी एक चर्चित कविता में 'महाभारत' के ज़माने से लेकर आज तक मनुष्य की नियति निर्धारित करने वाला और भाग्यफल बाँचने वाला एक पाखंडी तोता पिंजरे से बाहर निकलता है और सारा समाज पेशेवर भविष्यवक्ता के हाथ अपने निकम्मेपन को गिरवी रख देता है। ऐसे काहिल पड़े और आँखों के सामने लूटे और नंगा किए जा रहे लुंज समाज को कवि सुभाष ने बदलना चाहा था। वह इस धरा को, अपनी माँ और माटी कहकर संबोधित करता हुआ, ज़हरीली हवा और कँटीली झाड़ियों के ख़िलाफ़ सीना ताने खड़ा था, ताकि सबसे पहली उसकी अपनी भूमिका सार्थक हो। वह अपनी माँ का ऋण चुका सके। उसे विश्वास था कि उसके साथ और भी लोग शामिल होते जाएँगे क्योंकि वे समझ गए हैं कि उन्हें सदियों से लूटा खसोटा जा रहा है। उन्हें पोथी-पत्रे, भाग्य, पूजा-पाठ और झूठी मान-मर्यादा के नाम पर बलि का बकरा बनाया जा रहा है। कवि की पंक्तियाँ ऐसे कातर और भयातुर समाज को झिंझोड़ती ही नहीं, उसे ख़बरदार भी करती हैं :

ऐसे किसी पूजा-पाठ पर मुझे नहीं है यक़ीन
मैं बढ़ता जा रहा हूँ
ऐसी तमाम हवाओं के ख़िलाफ़

ज़मीन पर एक-एक क़दम सावधानी के साथ–
इसलिए कि मेरी आदम गंध किसी भी तरह
मक्कार बाघ के नथुनों तक न पहुँचे। (धर्मेर कल से)

अपने समस्त कवि-कर्म और साहित्य-साधना के अनवरत संघर्ष-भरे पचास वर्षों की अनदेखी करता हुआ, अपनी विदा वेला के वर्षों पूर्व (1984 में ही) इस सर्वहारा कवि ने हमारे सामने अपनी जो छवि रखी थी–वह अलग होती हुई, कई अर्थों में आज भी विशिष्ट और उल्लेख्य जान पड़ती है–

मैं नहीं चाहता–
कोई मुझे कवि कहकर पुकारे,
जीवन के अंतिम क्षणों तक
कंधे से कंधा जोड़कर,
मैं चलता रहूँ...इतना ही।
और फिर अपनी क़लम
ट्रैक्टर के पास रखकर कह सकूँ :
बस भाई, अब मुझे विदा करो
और मुझे दे दो
बस, थोड़ी-सी आग।

सुभाष दा केवल बांग्ला या भारतीय कविता के ही सशक्त हस्ताक्षर नहीं, विश्व कविता के एक उज्ज्वल प्रतिमान बने रहे। हालाँकि हर कवि का अपना समय एक दर्पण होता है–लेकिन शताब्दियों बाद भी जिसमें सुभाष दा की छवि कभी धुँधली नहीं दिखाई देगी। भारतीय भाषाओं की कई कृतियों का बांग्ला में अनुवाद कर चुके सुभाष दा ने नाज़िम हिकमत, चे ग्वेयरा, रोज़ेनबर्ग, जार्ज सैफ़ेरिज़, पाब्लो नेरुदा और हाफ़िज़ की रचनाओं को भी बांग्ला में अनूदित किया था।

वर्ष 2003 की 8 जुलाई को, उनके निधन के समाचार से न केवल बांग्ला या भारतीय भाषाओं की कविता बल्कि विश्वकविता का प्रमुख एवं प्रतिनिधि स्वर मौन हो गया।

संपर्क : एम. जी. 1/26, विकासपुरी, नई दिल्ली 110018, मो. : 09811262257

पाँच कविताएँ

हरिओम राजोरिया

विश्वकर्मा जयंती

पैकेट की सारी अगरबत्तियों को एक साथ जलाकर उसने वातावरण में खुशबूदार
धुआँ फैला दिया
फिर एक-एक मिठाई का टुकड़ा खिलाया सबको
महाराज विश्वकर्मा का जयकारा हुआ
और सारे लड़कों को काम पर निकाल दिया

कम्पनी को मिला है सड़क बनाने का ठेका
नए-नए लड़कों को भी मिला है नया काम
सुदूर दक्षिण से आया है इंजीनियरों का दल
दल में असम, बंगाल, उड़ीसा
जैसे प्रदेशों के भी कुछ लड़के शामिल हैं
ये हिंदी भले ही ठीक से न बोल पाएँ
पर हिंदीभाषी मालिकों के गुस्से और गालियों से
इनका नज़दीकी परिचय है

ये जो उड़िया लड़का है सुशान्त
सड़क बनाते-बनाते
सड़क जैसे ही रंग का हो गया
विश्वकर्मा जयंती मनाने और प्रसाद प्राप्ति के बाद

सीधा काम पर आकर खड़ा तो हो गया
पर कुछ-कुछ गुस्से में जान पड़ता है
हालाँकि इस मूल्यहीन गुस्से और खीझ की
क़दर करने वाला कोई नहीं इस बियाबान में
घृणा अनेक स्तरों पर छन-छन कर
सुशान्त के चेहरे पर दिखाई पड़ रही है

इन लड़कों को नौकरी जैसा कुछ मिला है
होने को ये इंजीनियर कहलाते हैं
पुराने हो नहीं पाते कि पुराने होने से पहले
इन पुरानों से और ज्यादा सस्ते लड़के
कम्पनी में काम पर लग जाते हैं
इनके पिता अपने जानने वालों को
इनके सैलरी पैकेज के बारे में बताते होंगे
इनमें से ज्यादातर ने बैंक से क़र्ज़ लेकर
निजी इंजीनियरिंग कॉलेजों से
महँगी डिग्रियाँ हासिल की हैं

एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी में
छलाँग लगाते हुए
इनके भीतर कहीं न कहीं कुछ टूट जाता है
काम ठोककर और पैसा रोककर
देने वाली इन कम्पनियों के पास
नौकरी छोड़ते वक्त दो से तीन महीनों
की सैलेरी का पैसा अटका ही रह जाता है
दिल बड़ा रखने के अलावा
कोई विकल्प नहीं होता लड़कों के पास

पहले जब 'इंजीनियर' शब्द कानों में पड़ता
तो इनकी स्मृति में पुराने नोटों पर छपा
भाखड़ा नांगल बाँध का फ़ोटो कौंध जाता
यहाँ आकर ये अपने आप को ही भूल गए
भूल गए अपनी उम्र
भूल गए जीवन का आवेग
इनका कोई चेहरा नहीं पर एक पदनाम ज़रूर है
नियत समय पर नियत स्थान पर पहुँचकर
नियत काम पूरा कर लेने के बाद ही
ये लौट पाते हैं अपनी सोने वाली जगह पर

कहने को आप चाहो तो
कह सकते हो इन्हें भारत का भविष्य
पर फिलहाल इनके सामने है
आवारा पूँजी से निर्मित
लाभ केंद्रित एक कम्पनी का भविष्य
सैलरी, पी.एफ., पैकेज इन शब्दों के साथ
ये जुते हैं सड़क निर्माण के रास्ते पर
एक आदमी हज़ार किमी. दूर बैठा
करता रहता है इनका संचालन
इन्हें कम्पनी के व्हाट्सएप समूह में
प्रश्न चिह्न पर प्रश्न चिह्न मिलते हैं

आज सात सौ मीटर कंक्रीट होना था
कितना हुआ?
तीन बज रहे हैं और सिर्फ चार सौ?
कल्ला से कहो फ़ोटो भेजे!
रेड्डी को प्लांट पर भेज!
क्वालिटी हम पर छोड़
नायडू को फोन लगा
और मिक्स में थोड़ा पानी बढ़वा!
आगे सफाई पर कौन है?
हरामखोर! तुम्हारे बाप का पैसा है?
ज्वाइंट में इतना लोहा मत डाल!
सफेद हाथी पाल रखे हैं हमने
खाते हैं और लीद करते हैं
पर काम नहीं करते।

कटते-काटते इसी तरह गुजरते चले जाते हैं
युवजनों की जवानी के
कठिन से कठिनतर होते जाते दिन
पेड़ों-पहाड़ों से होता बारिश का पानी
नीचे उतरकर नालों में मिल जाता है
इसी तरह फिर लौट आता है
वही विश्वकर्मा जयन्ती का दिन
ठेकेदार का कोई अर्धशिक्षित प्रतिनिधि
अगरबत्ती जलाकर, टुनटुनी हिलाता है
मिठाई का एक-एक टुकड़ा
सभी लड़कों को खिलाया जाता है
और इंजीनियरों का दल

फिर किसी नए काम पर निकल जाता है।

हड़ताल

मान नहीं पाएँगे आप इसे हड़ताल
ये मतदान से पहले
होने वाले दिखावटी मतदान सरीखी है
हू ब हू है तो सही पर है नहीं हड़ताल
न पूर्व सूचना, न माँगपत्र, न ज्ञापन
न भविष्य की कोई चिन्ता
न आर्थिक असुरक्षा का कोई जतन
बस बन कर रह गया है एक प्रहसन
प्रतिवाद का, प्रतिरोध का, अपने होने का

लड़के आपस में फुसफुसाते हैं—'हड़ताल'
दसों दिशाओं में फैल जाता है एक शब्द
हड़ताल, हड़ताल, हड़ताल
बन्द हो जाता है सड़क का काम
रुक जाता है हर चलता हुआ पहिया
नियत सोने के स्थान पर चले जाते हैं लड़के
काम का, खाने का, कम्पनी की मोबाइल सिम का
बहिष्कार, बहिष्कार, बहिष्कार

मालिकों के मालिक, भाईबंद, कारिंदे बड़बड़ाते हैं
अंग्रेज़ी में इन सूटधारी लोगों को
कहा जाता है कम्पनी मैनेजमेंट
मैनेजमेंट पहले गालियों की बौछार करता है
फिर काम की गति मुनाफे का हिसाब करता है
किसका कितना चढ़ा है पगार का पैसा
हरामखोरों में दो-चार महीने का सब्र नहीं
देशहित में देश के विकास में
काम करने वाली कम्पनी के साथ
कम्पनी का कौर तोड़ने वाले
कम्पनी का खाकर
कम्पनी की थाली में छेद करने वाले
इतना नहीं सोच पाते
कि कहाँ भागा जा रहा है पैसा
इतनी बड़ी कम्पनी में इतने ओछे लोग?

कुछ लोगों का तिया-पाँचा होता है
हिसाब होता है विदाई होती है
काम और डीजल चोर
ड्राइवर और ऑपरेटरों की छँटाई होती है
कुछ का होता है विस्तर गोल
मीटिंग पर मीटिंग
दाँत पीस-पीस कर गरियाना होता है
अंततः फिर एक आदमी
कम्पनी हित में गिड़गिड़ाता है
टीम भावना का झाड़ता है भाषण
कंपनी की जर्जर हालत
और देशहित को सबसे ऊपर बताता है
बंद होती कम्पनियों के किस्से सुनाता है
जिसका खाओ उसकी बजाओ
का पूरा सिद्धांत समझाता है

फिर कम्पनी का गाना बजट है
नियम भले ही न हो
पर मनुष्यता भी तो कोई चीज होती है
आफत-बीमार में छुट्टी देती है कम्पनी
खाने-रहने का इंतजाम करती है कम्पनी
कठोर होते जाते नियमों के बावजूद
उतना कठोर नहीं हो पाती कम्पनी
करोड़ों का भुगतान सरकार पर चढ़ा हो
पर चोट पर चोट खाने के बाद भी
कभी आवाज नहीं करती कम्पनी

सब सुलट जाने के बाद
कम्पनी खुद भी नहीं कहती इसे हड़ताल
थोड़ा-बहुत सब चलता है ऊँच-नीच
नरम-गरम होता ही रहता है
इसी तरह चलता है यह संसार
लालच से पैदा हुई
सहनशीलता का परिचय देती है कम्पनी।

दो बहिनें

दो इमलियाँ थीं रेलवे स्टेशन के बाहर
दो सगी बहिनें हों जैसे

एक जैसी बनक और विस्तार
एक जैसे ही दो झाड़
आधुनिकीकरण के चलते
एक दिन काट दिया गया दोनों को

सबसे पहले कटीं
लम्बी-लम्बी भुजाएँ
जो टेशन की तरफ इस तरह फैली थीं
जैसे आगन्तुकों को अपनापे से
बुला रही हों अपने पास
भारी रस्सों की मदद से
जमीन पर उतारा गया उन्हें धीरे-धीरे

नव निर्माण चल रहा था
पुराना मिट रहा था
निर्मित हो रहा था नया
दोनों बहिनों की कटाई के साथ ही
प्रारम्भ हुआ स्टेशन का सौंदर्यीकरण
इस काम से बहुत लोग खुश थे
ज्यादातर गल्ला व्यापारियों का मत था कि
कुछ पाने के लिए कुछ तो खोना ही पड़ता है

पर चिचिया रहे थे सैंकड़ों तोते
उनके लिए एक उम्रदराज वृक्ष भर
नहीं थीं ये इमलियाँ
ये रहवास थीं इन तोतों की
पर कोई बोलता तो बोलता कैसे?
तोते नागरिक भी तो नहीं थे
न वोट देते थे, न टैक्स भरते थे

न नाट्य, न कविता, न गान
न किसी कथा में हो सकता था
इन गांगारामों के दुःखों का बखान

कैसे कहूँ मूक पाखियों की व्यथा
कर नहीं सकता
इस आधुनिकीकरण और सौंदर्यीकरण की
ठीक-ठीक व्याख्या।

सरकार

सरकारी उपक्रम हो गए बेकार
इन्हें बेचे नहीं तो क्या करे सरकार
क्या-क्या याद रखे
कहाँ-कहाँ जाए
फिर भी पता कर रही है सरकार
सरकार को पता चला है कि
सरकार को कुछ पता नहीं है

सरकार का काम सरकार चलाना है
सरकार चल रही है
चलती ही चली जा रही है
अपनी चाल से चल रही है
करोड़पतियों के साथ चल रही है

कितने लोग पीछे छूट गए
कितने गिरते-पड़ते-हाँफते
सरकार के पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं
सरकार मुड़कर नहीं देखती
सरकार सरकार होती है
सरकार सरकार की तरह से काम करती है

चलती ही चली जा रही है सरकार
पता नहीं कहाँ जा रही है सरकार?

चुनौती

कुछ का कुछ हो रहा है इन दिनों
बाहर सड़क पर निकलने का सोचता हूँ
पर मजबूर करके ठेल दिया जाता हूँ
हुड़दंगियों के धार्मिक जुलूस में
सपने में ग्यारह महीने की एक लड़की की

आग से झुलसी लाश देखता हूँ
और नींद से जाग जाता हूँ
फिर रात भर आँख नहीं लगती
कभी दाँत मिसमिसाता आंशिक तोतला
गुस्सेल दढ़ियल एक मंत्री
सपने में आकर धमकाता है–
मेरे उल्लेखित कथन से कैसे हटाए तुमने
दो अल्प विराम
मैं तुम्हें छोड़ूँगा नहीं!

किबाड़ की झिरी से
एक परचा सरका जाता है कोई
कि गाय को राष्ट्रीय पशु घोषित करो!
सोच में पड़ जाता हूँ
कि क्यों वह आदमी भीड़ के हाथों
मारा गया चलती सड़क पर
संरक्षित पशु का माँस रखने के संदेह में
उसका उत्तर मुझे भीड़ से ही मिलता है
कि अब आपका मरना या जिंदा रहना
धर्मांध, टुच्चे, झूठे और कुपढ़
कुछ इच्छाचारियों की इच्छा पर निर्भर है

कुछ का कुछ हो रहा है इन दिनों
मैं घंटों कुर्सी पर बैठा रहता हूँ अकेला
बैठे-बैठे ही आँख लग जाती है
हुँकारती हिंसक भीड़ की आवाजें सुनता हूँ
सुनता क्या हूँ कि
वे फिर किसी को मारने जा रहे हैं
हथियार लहराते उन्मादी जयकारा करते
'गोली मारो सालों को...'
का नारा देते हुए गुज़र रहे हैं गली से

पता नहीं क्या हो रहा है इन दिनों
मोहन का कुछ नहीं बिगाड़ पाएँगे वे
क्योंकि वह
लंबा तिलक लगाकर कार्यालय जाता है
मुझे डर है कि वे मुझसे
मेरी नागरिकता का हिसाब माँगेंगे

जात देखकर थोड़ा नरम पड़ सकते हैं
पर बाल बच्चेदार होने का डर ज़रूर दिखाएँगे
वही डरावना क़िस्सा फिर सुनाएँगे कि कैसे
एक कवि की दाएँ हाथ की पाँचों उँगलियों पर
उन्होंने सरेआम चाकू फेर दिया था
वे फिर पूछेंगे—
'तुलसीदास के सामने तुम्हारी औकात क्या है'?
कविता की पाँच सौ साल पुरानी
काव्य-यात्रा को समझे बगैर
वे देंगे मेरे कवि होने को चुनौती।

संपर्क : लम्बरदार गली, अशोक नगर, गुना-473331 (म.प्र.), मो. : 9425134462

चार कविताएँ

मनोज कुमार झा

निकट के शत्रु

मारने में वह भी साथ था
जिसके साथ मैंने तैरना सीखा
सीखा था लहरों से जूझना
हमने साथ-साथ मछरियाँ पकड़ी थी
इतना कठकरेज तो नहीं था वह
बैल की एक सींग के ख़िलाफ़ क्यों हो जाती है दूसरी सींग!
जिसके साथ मिलकर खरीदे थे कपड़े
उसने भी चलाए घूँसे।
अब मरते वक्त सबसे बड़ा दुःख यही
कि किसी ने भी साथ नहीं दिया
उसने भी नहीं जिसकी माँ को मैं मौसी कहता था।

कोई भीड़

मैंने क्या इसीलिए जन्म लिया था
माँ ने इतने दुःख सहे थे
पिता परदेस रहे थे।
क्या इसलिए

पृथ्वी ने साथ दिया
जल ने प्यास बुझाई
अन्न ने भूख मिटाई थी
कि एक दिन कोई भीड़ मुझे मार दे
बिना किसी कसूर के
बस 'होने' के लिए
सूरज की रौशनी से भरे दिन में
चांदनी से लहलहाती रात में!

क्या इसीलिए
कि कोई भीड़ मुझे मार दे
बस होने के लिए!

किधर

अब यहाँ से कहाँ जाऊँ?
जंगल की ओर, जिस तरफ कई रास्ते हैं
या घर की तरफ जिधर एक पगडंडी है
घर जहाँ कि हवाएँ दीवार में कैद हैं
लज्जित दीवार में एक खिड़की खुली है
हवाओं को प्रिय नहीं यह कृपण आमंत्रण।
जंगल जहाँ कि चारों तरफ की हवाएँ हैं
जहाँ कि चारों तरफ की आग।
किधर जाउँ
क्या घर की तरफ जहाँ बहुत कम हवा, बहुत कम आग, एक पालतू बिल्ली
या जंगल जहाँ बहुत बहुत हवा, बहुत रौशनी, कई जानवर?

बाघ के मुँह में

सुनते हैं पेड़ो की छाल पहनी हमने
जानवरों की खाल
यह जो एक साड़ी है इसे पहनने में हजारों साल लगे।
किस हुलस से मैंने खरीदे कपड़े
कितनी मेहनत से किया पैसों का जुगाड़!
सखियों को दिखाया
ऊपरवाले को प्रणाम किया।
यही तो गलती थी मेरी

कि मैं औरत थी
मैं थी कमजोर
उन्होंने जब निर्वस्त्र करके घुमाया
तो लगा
हजारों साल पहले घुमाई जा रही हूँ
किसी बाघ के मुँह में।

संपर्क : द्वारा श्री सुरेश मिश्र, दीवानी तकिया, कटहल बाड़ी, दरभंगा, बिहार-846004

सात कविताएँ

पराग पावन

महिषासुर का संधि-पत्र

यह लड़ाई तुम्हारी नहीं है दुर्गा!
मेरी पसलियों में धँसा हुआ
तुम्हारे हाथ पर चढ़ा हुआ
यह त्रिशूल किसका है
मेरे रक्त में तैरती तुम्हारी तलवार का
असली पता क्या है
असली वजह क्या है
जो मेरा अंत ही तुम्हारी मंज़िल है

मैंने नहीं छीनी तुम्हारी ज़मीन
मैंने नहीं गाया तुम्हारे ख़िलाफ़ कोई गीत
मैंने नहीं रची तुम्हारे विरुद्ध कोई साज़िश

तुम्हारा रूप मेरे लिए जीवन का पर्याय था
तुमसे परिचय मेरे नये जन्म की आहट थी

मैंने चाहा था कि
जब साँझ के सागर में डूबते सूरज को
सर झुकाकर विदा करे कास का फूल

हम उसके पास बैठे रहें हाथ पर हाथ धरे हुए
मैंने चाहा था कि
बीच जंगल में भींगती हुई हम दोनों की हँसी
एक झटके में ध्वस्त कर दे
गीले पेड़ों की तन्हाई को

तुम्हारे साथ जीना चाहा था दुर्गा!
एक औरत के मान के सम्मुख नतमस्तक होकर
एक औरत को कुछ क्षणों के लिए नहीं चाहा
मैंने चाहा था पूरा-का-पूरा जीवन
पूरे जीवन का पूरा-का-पूरा साथ

मेरा जन्म एक उपहास था
मुझे अपमान ने पाला था और व्यंग्य ने दुलारा था
मेरी मोटी और श्यामवर्णी माँ को किसने भैंस कहा
क्या तुम जानती हो

क्या तुम्हें पता है मेरी हत्या के बाद
तुम्हारी बची उम्र का क्या होगा
तुम समझती हो कि
सरेआम तुम्हें नहीं बैठाया जाएगा
एक पुरुष की नंगी जाँघ पर
तुम समझती हो कि तुम्हारी संभावना सहित
तुम्हें नहीं जला दिया जाएगा
फागुन-चैत के महीने में
तुम्हारी पवित्रता का परीक्षण होगा
तुम्हें जलावतन किया जाएगा
और इज़्ज़त के नाम पर
दफना दिया जाएगा धरती में

भारतवर्ष में बहुत कम हैं विश्वविद्यालय
विश्वविद्यालयों में बहुत कम हैं स्त्रियाँ
उनमें भी कम ही सुन सकी होंगी
ज्याँ फ्रांकोइस ल्योतार का नाम
फिर भी यह समझना बहुत कठिन नहीं है दुर्गा
कि सारे सत्य तथाकथित होते हैं
सारी कहानियाँ एक हथियार हैं
जिससे विरोधी विचारों की गर्दन उतारी जाती है

मेरी हत्या के ऊपर तुम्हारी हत्या है
और तुम्हारी हत्या के ऊपर
बैठा है कोई महर्षि
जिसकी जटाओं में ज्ञान की एक गंगा है
जो तिनके को डुबा सकती
पत्थर को तैरा सकती है

दुर्गा!
यह युद्ध पल भर के लिए रोक दो
ताक़त के उस तंत्र की गहरी पड़ताल करो
जिसने हत्या को जश्न में बदल दिया
इस युद्ध को पल भर के लिए रोक दो दुर्गा!
और अपनी पुरखिनों को याद करते हुए
सीने पर हाथ रखकर
अपनी अजन्मी बेटी की क़सम खाकर बोलो
कि पिछले महीने राजगीर की पहाड़ी पर
बलत्कृत हुई थी जो लड़की
उससे तुम्हारा कोई नाता नहीं था!

एक सैनिक दोस्त के लिए विदागीत

असल दुश्मन सरहद के पार नहीं संसद में होते हैं
सर्वाधिक ख़तरनाक गोली बंदूक से नहीं
दिमाग से दागी जाती है
तुम्हें तोप के मुँह पर दुश्मन नहीं तुम्हारे अफ़सर के आदेश बाँधेंगे
पर लौटकर आना साथी!

उम्र और नौकरी का गुलाम बनने के बाद भी
ठाकुरों के अहाते से करौंदा चुराना बाक़ी रहता है
तालाब में चुआ टिकोरा खोजना बाक़ी रहता है
भरी दोपहर में बाक़ी रहता है नहर छोपकर मछली मारना
लौटकर आना साथी

हमारे तुम्हारे बाद भी गाये जाएँगे फगुआ और बिरहा
जाँतों के उखड़ने के बाद भी याद रह जाएँगे जँतसार
किसी का खानदानी बरम चढ़ाया जायेगा किसी पर
और औरतें समवेत गा उठेंगी पचरा
लाचारी तो हमारी बस्ती का कुलगीत है

उम्र और नौकरी का गुलाम बनने के बाद भी
नटुआ, लवनी और धोबियवा गाना बाक़ी रहता है
बाक़ी रह जाता है नाल, खंझड़ी और करताल बजाना
लौटकर आना साथी

वे, संसद वाले चाहते हैं कि तुम ना जानो कि
राष्ट्रवाद के बारे में टैगोर ने क्या कहा था
क्या कहा था ओरहान पामुक ने और वर्जीनिया वुल्फ़ ने
उस तुर्की पत्रकार रंक डिंक की हत्या देशप्रेमियों ने क्यों की थी
संसद वाले चाहते हैं कि तुम ना जानो

मैं जानता हूँ चित्रकार बनने की तुम्हारी ख़्वाहिश
उसी श्यामपट्ट की कालिख में डूबकर आत्महत्या कर चुकी है
जिस पर अध्यापक आने से पहले तुम बना देते थे पुरुष-यौनांग
फुटबॉल-खिलाड़ी बनने की तुम्हारी तमन्ना
उसी परती खेत में दफ़्न हो चुकी है
जिसे जमीन माफ़िया पिछले पाँच बरस से जोत रहा है

...ख्वाहिशों की भी अपनी गतियाँ होती हैं
कुछ ख्वाहिशों के क़दमों में कोलंबस की क़िस्मत छुपी थी
वे भटककर भी सोने के घाट पहुँची थीं
कुछ ख्वाहिशों के क़दमों में
एकलव्य के धनुष की दर्दनाक तन्हाई थी
जिसे शक्ति रहते हुए भी बंजर ही मरना पड़ा था

इस बरस भी करेमुआ और कोकाबेला के फूल खिलेंगे
इस बरस भी सरसों का साग और नया भात महकेगा
इस बरस भी मई-जून की लू में छप्पर उठाये जायेंगे
लौटकर आना साथी

इस बरस भी बच्चे खेलेंगे चिरैया-पंडोल
इस बरस भी भींगते हुए रोपे जाएँगे धान
इस बरस भी ब्याहे जाएँगे हमसे जेठ भाई
और ब्याहताओं से मुँहदेखाई की रस्म पूरा करने
लौटकर आना साथी

मेरी सहपाठिन, वह राजपूत लड़की
नहीं जानती मनुष्य के बनने के विज्ञान को
नहीं जानना चाहती

सामाजिक प्रशिक्षण से जाति और वर्ग और जेंडर के सम्बन्धों को
वह नहीं सुनना चाहती उन बयानों को
जिनमें चेतना की आज़ादी को झूठ साबित किया जा चुका था

उस लड़की को देश से बहुत प्यार है
देश की सेना से बहुत प्यार है
तिरंगे से बहुत प्यार है
उस लड़की ने देश को उन आँकड़ों से जाना
जिसे पूँजी और पार्टी का वेतन पाते पत्रकार पेश करते हैं
उस लड़की ने देश को पन्द्रह अगस्त के अर्थशून्य उत्सव में
बजते हुए उन देशभक्ति गीतों से जाना
जो देशप्रेम का पैमाना बना दिये गये
उस लड़की ने देश को समझा है प्राचीनता की गरिमा की छाया में
जो बाघों की स्याही से लिखी गयी
बाघों की शौर्य-कहानी से अधिक कुछ भी नहीं है
मेरी वह सहपाठिन,
उसे मैंने देश के बाजुओं, जाँघों और तलुओं में सिसकती
एकलव्य के धनुष की तन्हाई को दिखाना चाहा था
पर उसे देश से बहुत प्यार है
और मैं अपने परिवेश में देशद्रोही माना जाता हूँ

एक ही मिट्टी के पाले हुए
एक ही दुर्गन्ध के दुलारे हुए
एक ही गाली झेलते बड़े हुए हम
आज तुम सैनिक हो
और मैं देश के लिए शर्म का विषय
कल हमारी लाशें साथ ही आयेंगी इस बस्ती में
तुम्हें तुम्हारे अफ़सर का आदेश मारेगा
और मुझे देश के सच्चे सपूत मारेंगे

इस संयोग पर अम्बेडकर मार्क्स से क्या कहेंगे
मैं नहीं जानता
मैं नहीं जानता देश की लाश होती है या नहीं
पर यह इल्तज़ा करता हूँ कि लाशों का कोई देश नहीं होना चाहिए
इस बस्ती में रहे, इस देश में रहे
धरती के किसी भी हिस्से में पड़ी हुई मेरी लाश भी
तुम्हारी आहट पाकर झूमकर उठेगी
और एक गीत गुनगुनाएगी
जिसमें करेमुआ और कोकाबेला के फूल खिल रहे होंगे

जिसमें सरसों का साग और नया भात महक रहा होगा
जिसमें सावन में भींगते हुए धान रोपे जा रहे होंगे
लौटकर आना साथी
लौटकर आना!

उस लड़की का कोई प्रेमी नहीं था

उस लड़की का कोई प्रेमी नहीं था
यह कथा वाल्मीकि के जंगलों में
लिसोर के पेड़ों से
अब भी सुनी जा सकती है

वह लड़की बरसात को छूकर
गीला कर देना चाहती थी
चाँद को ताककर
ज़रा और चटक कर देना चाहती थी
पर उन्नीस बरसातों में पैर की उँगलियों को
सड़ने से बचा लेने का उपाय ही उसकी कमायी थी
और पूनमी चाँद से उसका हासिल बस इतना
कि अँजोरिया रात की लवनी*
दिन की लवनी से बहुत आरामदायक होती है

उस लड़की का कोई प्रेमी नहीं था
वह अरहर के लाल फूलों को हौले-से सहलाती
कई दफ़ा मछलियों को पकड़कर छोड़ देती
एक महीन मुस्कान घर लिए आती
जामुन के बूढ़े पेड़ों पर चढ़कर बैठी रहती
उतरती तो अपने जामुनी होठों पर उदास हो जाती
तिजहरियाँ फ़ुर्सत में पटिदारिन भाभियों से कनबतिया कर
ठठाकर हँस दिया करती थी वह लड़की
पर तबतक उस लड़की का कोई प्रेमी नहीं था

वह भटकने लगी थी भीतर-ही-भीतर
यद्यपि भटकना रास्तों का दिया हुआ
एक ख़तरनाक वरदान है
पर भटककर वाल्मीकि के जंगलों तक जा पहुँची
लड़की को इसका इल्म नहीं था

* गेहूँ की फ़सल काटने की मजूरी

श्वेतवर्णी, बलिष्ठगाती, नयनाभिरामी एक धनुर्धारी में
झलकता-सा दिखा प्रेमी
लड़की ने सौंप दिया अपनी बरसातों को
जिन्हें छूकर गीला कर देना चाहती थी
उस पूनमी चाँद को
जिसे ताककर और चटक करना चाहती थी
अरहर के फूलों को
मछलियों को
जामुन के पेड़ों को
बेरोज़गार की अर्जी की तरह रख दिया
धनुर्धारी के सामने

पर लिसोर के पेड़ों की माने तो
धनुर्धारी ने चीथ दिया बरसातों को
लड़की के सीने से
मछलियों और जामुन के पेड़ों को
निगल गया धनुर्धारी का क्रोध
धनुर्धारी की आँखों की आग में भस्म हो गया
एक लड़की का साबुत मान

उसी बरस
विवाह में कूदकर मर गयी वह लड़की
कई बरसों से विवाह में तैरती है लड़की की लाश
वक़्त के गिद्ध का ग्रास बनने तक
वह गंधाती रहेगी विवाह में

इस कथा-पाठ के अंत-अंत तक
उस लड़की का कोई प्रेमी नहीं था।

तारों भरे आँचल को परसों तक नहीं जलाना चाहिए

हताशाओं और नाउम्मीदी का महासागर हमेशा डरावना होता है
फिर भी हौसले का लंगर सफ़र पर निकल ही जाता है
पराजय की शाम तानाशाहों की हँसी जितनी घृणित और क़ातिल होती है
पर जज्बातों के पंछी अपना मंगलगीत कभी नहीं भूलते

यह भी समझ ही लेना चाहिए कि
जबतक हमारा घर शून्य नहीं है

या जबतक हम निर्वात् के नागरिक नहीं हैं
तबतक 'व्यक्तिगत' हिंदी शब्दकोश का अतिरिक्त शब्द है

कहा नहीं जा सकता कि प्रेमिका की बेवफ़ाई का दुःख
प्रधानमन्त्री के नैतिक पतन का दुःख
और पटिदार से पुश्तैनी पेड़ के विवाद का दुःख
तत्वतः किस तरह अलग है

दुःख की यही आदत है
वह आने के मामूली अवसर को भी गँवाना नहीं जानता
दुःख के आने के हज़ार तर्क हैं
और जीवन उन तर्कों में सर्वश्रेष्ठ है

पर जैसा कि मैंने ऊपर कहा
मुश्किलों के भेड़ियों की गुर्राहट
इंसान के पसीने तक पहुँचने से पहले ही
थककर सो जाती है
जिस दर पर दुनिया वाले रास्तों को दफ़ना देते हैं
वहीं एक रास्ता पैदा होता है और इंसान की अँगुली पकड़कर श्मशान से बाहर ले जाता है

कहने वाले कहते हैं चाँद पर महज मिट्टी है और सभी तारों पर कमोबेश ऐसा ही है
पर कुछ लोग अब भी तारों से एक आँचल बना रहे हैं
वे लोग उस तारों भरे आँचल को परसों तक नहीं जलायेंगे।

निष्पक्षता और तटस्थता जैसी बेकार-सी कोई बात

निष्पक्षता और तटस्थता जैसी बेकार-सी कोई बात
मुझसे मत करिए

मेरा एक पक्ष है
मैं एक शिकारी के साथ हूँ
जिसकी भूख ने अभी-अभी एक बनमुर्गी मार गिराया है
मैं एक शौक के विरुद्ध हूँ
जिसने मोर की आज़ादी जैसी बेपनाह खूबसूरती का
अपहरण कर लिया है

मैं बहुत साफ़-साफ़ खिंची लकीर के इस पार हूँ
जहाँ बहुत वीरान बंजर में
बनपालक का फूल खिला देने का जज़्बा है
जहाँ आग के होंठ पर खड़ी एक पत्थर की अकड़
कह रही है
कि पिघलना बहुत शर्मनाक है
जब चिटककर टूट जाने का विकल्प मौजूद हो

लकीर के इस पार आसमान पर
हवा ने धूप की कलम से लिख रक्खा है—
सावधान! आदमी काम पर है
लकीर के उस पार
आपके अन्याय और लूट और ज़हालत
और घृणा और हवस की नदी
हरहराती बहती चली जा रही है

हिंदी के एक कवि ने कहा था
कि नाव का छोटापन कोई मसला नहीं है
असल बात टकराने का है

पक्षधरता के सारे ख़तरों की पुतली के ठीक सामने
मैं उस साफ़-साफ़ खिंची लकीर के इस पार हूँ
और सूचना यह भी है
कि मैं यहाँ
अकेला नहीं हूँ।

हथियार हमेशा विकल्प बनकर नहीं आते

मेरे सीने के अहिंसावादी हिस्से!
हथियार हमेशा विकल्प बनकर नहीं आते
आक्रोशित मुट्ठियों का कसाव
हमेशा हमारा चुनाव नहीं होता

फूलों के हथियार बनने का दर्द
गाँधी के दूसरे गाल से पूछो
या बुद्ध की प्रशांत पलकों से
कि सामने खड़े आदमखोर बाघ से
जोड़ा हुआ कौन-सा समीकरण समीचीन होगा

जिनके जवान माथे की बूढ़ी सिलवटों में
लहर खाते गेहूँ के खेतों का बिम्ब उभरता है
जिनकी अधनंग बच्चियों की हँसी से चटककर
सयान हो जाते हैं मटर के फूल
जिनकी पत्नियों के बदन की खुशबू
महज जुते खेतों को सगी लगती है
संसदीय प्रस्ताव पारित करके
बलत्कृत कर दी गयीं उनकी नाबालिग तमन्नाओं से पूछो
कि बिरसा की पहली तीर की नोक पर
आख़िर क्या लिखा हो सकता है

रोती हुईं आँखों के पिसते हुए दाँतों की दुनिया में
लिखी जाती है जो सबसे पहली कविता
वह हथियारों के पक्ष में होती है
हथियारों को सम्बोधित करके
वह हथियारों से ही लिखी जाती है

मेरे सीने के समझौतावादी हिस्से!
हथियार हमेशा विकल्प बनकर नहीं आएँगे
आक्रोशित मुट्ठियों का कसाव हमेशा हमारा चुनाव नहीं होगा।

यह सिर्फ़ एक सरकार से नाख़ुश होने का मसला नहीं था

नहीं लड़की!
यह सिर्फ़ एक सरकार से नाख़ुश होने का मसला नहीं है
यह एक पार्टी से घृणा का मसला नहीं है
जिस नंगे आदमी को लजाधुर साबित करने में
उघड़ती जा रही है तुम्हारी भाषा
यह उसका भी मसला नहीं है

बहुत डरावनी होती है प्रतिशोध की फ़सल
बहुत हाहाकारी होती है बदले की आग
बहुत निरीह होता है
बलात्कारी के बचाव में खड़े तिरंगे का चेहरा
रोपी गयी घृणाएँ बहुत देर तक फलती हैं
बहुत देर तक गंधाती है
प्यार के विछोह में मरी देश की आत्मा

देशप्रेम वह नहीं होता जो पन्द्रह अगस्त को
हूक की तरह उठता है तुम्हारे सीने में
या अस्त्र-शस्त्रसज्जित सैनिक को देखकर
जो उमड़ता-घुमड़ता है तुम्हारे मन के घाट पर
देशप्रेम होता है
धान की कच्ची फली में पलते दूध से
अपने लहू का स्वाद आना
और दो ईंट के बीच कुचल गयी
अपनी उँगली की पीड़ा को
रोजगार की पाली मुस्कान से निरस्त कर देना

देशप्रेम का पाठ उस प्रोफ़ेसर से मत पूछो
जिसने जीवन भर गढ़ और मठ सिर्फ़ इसलिए तोड़ा
कि उसे सारे गढ़-मठ अपने मुताबिक़ चाहिए
देशप्रेम की कविता उस कवि से मत सुनो
जो काल के कपाल पर लिखता मिटाता है
लेकिन अपनी बरौनी पर बैठे क़ातिल को देख नहीं पाता है

नहीं लड़की!
यह व्यक्तिगत चुनाव और खुदगर्ज़ी का भी मसला नहीं है
तुम्हारी मेरी दौड़ अपनी-अपनी उम्र तक
तुम्हारा-मेरा बैर अपनी-अपनी साँस तक
पर गटर में घुटकर मर गए महन्ना मुसहर
और बैंगन तोड़ते बखत साँप डसने से मरी
रम्पत कोईरी की पत्नी
इस देश की चमचमाती महफ़िल में
दरबान की तरह अनिवार्य और उपेक्षित हैं
उन्हें भारतीय मानचित्र पर मात्र प्रश्नचिह्न की तरह देखना
एक कायराना रुमान है

तुम्हारा-मेरा बैर अपनी-अपनी साँस तक
लेकिन मूढ़ताओं का मज़ाक बनाती चार्वाक् की कविता
आबाद रहेगी इसी देश में
इसी देश में रहेंगे बुद्ध
अपनी हथेली पर अपना सिर लिए हुए
किसी बंदूक किसी तोप से रोकी न जा सकेगी
कबीर के तर्कों की सेना
किसी भी राजसिंहासन से ठोस निकलेंगे

मीरा के इंकार के ऐतिहासिक फैसले
और रैदास के कठवत में भर दिए जाएँगे रंग
जिससे बनाया जाएगा भारत का सबसे मजबूत नक्शा

चलो, मैं देशद्रोही ही सही
तुम्हारे आरोप की पुष्टि
मैं भट्ठे से धुँआसे अपने रंग से कर लूँगा
लेकिन अस्सी हज़ार के सोफ़े पर बैठी तुम्हारी आवाज
जिसमें सवा सौ बीघे खेत का घमण्ड ठनक रहा है
हमारे जन-गण-मन के अधिनायकों की चुगली करती है
और संदर्भ सहित व्याख्या करती है
भारत माता की जय में उठी तुम्हारी मुट्ठी की

देश की हड्डी में मज्जा बनकर घुल गया किसान
कमल के तिरालीस पर्याय पर गर्व कर सकता है
और बारिश के लिए कोई ताज़ा उपमा ढूँढ सकता है
लेकिन उनसे यह उम्मीद मत करना कि
उसमें किसी नायिका के भींगते आँचल के निशान होंगे

अभी मेरे क्षोभ पर तुम दया कर लो
अभी मेरी चिंता को चुटकुला कह लो
अभी मेरे दुःख को राजनीतिक मान लो
लेकिन किसी दिन
इतिहास का उड़ता हुआ कोई घिनौना पन्ना आएगा
और वर्तमान के मुखपृष्ठ पर चिपक जाएगा
जिसपर गलियों में बहते ख़ून को रोकने का
कोई उपाय नहीं लिखा होगा
और उस रोज़
तुम्हारा लज्जित अहंकार कह नहीं पाएगा कि
यह सिर्फ़ एक सरकार से नाखुश होने का मसला नहीं था
यह सिर्फ़ एक पार्टी से घृणा का मसला नहीं था।

संपर्क : शोधार्थी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, क.न. 204, माण्डवी छात्रावास, ज.ने.वि, नई दिल्ली, मो. : 9398142610

जब खेत कृषक के प्रेम में मुसकाता है

मिथिलेश कुमार राय

कक्का धीमे स्वर में होरी गुनगुना रहे थे—हरे-हरे खेतवा में पीली-पीली सरसों...वे खेत की ओर से अभी लौटे ही थे। कहने लगे, कुछ दिन पहले की हल्की सी बारिश खेत का माघ-स्नान था। अब फसल देह सुखा रही हैं! पत्ते साफ हो गए हैं और उस पर अटकी बूँदें सूर्य की किरण से टकरा कर चमक बिखेर रही हैं। फूल और पत्ते धुले-धुले से नजर आ रहे हैं। पंछियों के कलरव से बाँस-बाड़ी के अगल-बगल के खेत गुंजायमान हैं।

कक्का खेत के सौंदर्य में डूबे हुए थे। अंदर की खुशी उनके होंठों पर आकर मुस्कुराहट का सृजन कर रही थीं। वे मुदित भाव से देखे हुए दृश्यों को याद कर रहे थे और ऐसा लग रहा था जैसे कि अभी कोई मधुर तान छेड़ देंगे। तभी उन्हें कुछ याद आया। कहने लगे कि फूल तब खिलते हैं जब खेत कृषक का प्रेम स्वीकार कर लेता है। यह कहते हुए उन्हें लगा कि मैं शायद इस वाक्य को ठीक से समझ नहीं पाऊँगा। मुझे समझाने की गरज से उन्होंने यह कहा कि पृथ्वी पर जो खेत हैं और जितने सारे पेड़-पौधे हैं, वे सब कृषकों के हिस्से की संपत्ति हैं। कक्का ने माली को अपना जात-भाई बताते हुए मुझे यह समझाया कि वे फूलों के पालनहार होते हैं जैसे कृषक अन्न के सृजनहार। उन्होंने आगे कहा, जब खेत-कृषक एक-दूसरे के प्रेम में मगन हो जाते हैं तब फूल खिलते हैं और इस तरह पृथ्वी पर वसंत का अवतरण होता है।

कक्का की यह बात मुझे गजब की लगी। खेत से वसंत का ताल्लुक तो होता ही है। खेत में लगे सरसों में जैसे ही पीले-पीले फूल खिलते हैं, लोग-बाग को वसंत की याद आने लगती है। तभी उनकी नजर आम में आ रहे मंजर पर पड़ती हैं, गेहूँ में आ रहे शीश पर जाती हैं। लोग जिधर देखते हैं उन्हें फूल ही फूल नजर आते हैं। फूल देखकर किल्लोल कर रही चिड़ियों को लोग देखते हैं और उनकी बाँछें खिल उठती हैं। अगर खेत से वसंत का संबंध होना सच है तो खेत से कृषक का संबंध होना भी उतना ही सच है। इस तरह से तो वसंत

का संबंध कृषक से हो ही जाता है। कृषक और वसंत के बीच में खेत एक पुल की भूमिका निभाता है। मैं यह सब सोच ही रहा था कि कक्का कहने लगे-खेत का दिल पूस-माघ में पिघलता है। लेकिन कृषक को उससे प्रेम अगहन में ही हो जाता है, जब वह जुते खेतों में गेहूँ और सरसों के दाने बो रहे होते हैं। उतरती सर्दी में खेत में मक्का, मटर, राजमा, अलसी, चना आदि बोते कृषक अपनी तरफ से खेत के प्रति प्यार का इजहार कर देता है। लेकिन खेत का दिल तत्क्षण नहीं पसीजता। जब पूस उतरता है और वातावरण कुहासे से ढंक जाता है और ठंडी हवा देह में छेद करने की हद तक बहने लगती हैं, खेत कृषक का समर्पण देखकर पसीज जाता है। नन्हें पौधे की जड़ों तक पानी पहुँचाते और दाँत किटकिटा कर प्रेम-गीत गाते कृषक को देखकर खेत के दिल में पलता प्रेम का सोता फूट पड़ता है।

कक्का कह रहे थे कि खेत के प्रेम-स्वीकार का पता सबसे पहले हवा को चलती है और वह मीठी होकर बहने लगती है। फिर यह बात चिड़िया जानती हैं और उनके कलरव से वातावरण गुंजित होने लगता है। फिर जब फसल में फूल लग जाते हैं, खेत के प्रेम स्वीकार के इशारे को कृषक भी समझ जाते हैं और तब वे उमंग में होरी गाने लगते हैं!

हरी साड़ी पर पीली छींटें

कल की बात है। कक्का एकाएक यह कहने लगे कि सरसों में फूल आने लगे हैं। वसंत आ गया है! जब वे यह कह रहे थे, उनके चेहरे खिल रहे थे। वे हौले-हौले मुस्कुराने लगे। मैंने उनकी आँखों में झाँका, वहाँ मुझे एक उम्मीद नजर आ रही थी।

कक्का कह रहे थे कि वसंत सच में राजा होता है। मौसम का राजा। यह आता है तो जन-जन प्रसन्नता और उल्लास से भर जाते हैं। देखो तो, गेहूँ के पौधे जवान नजर आने लगे हैं। उनमें बालियाँ निकल रही हैं। यह देखकर किसका मन आनंदित नहीं होगा। जिस फसल में लोग जाते अगहन से ही लगे हुए हैं। जिस फसल के लिए लोग पूस में पानी से खेल गए। अब माघ में उस फसल में फूल-और दाने निकल रहे हैं। मेहनत और आस से बोए गए बीजों में जब अंकुर फूटता है, लोग तभी मुदित हो जाते हैं। लेकिन जब उनमें फूल लगते हैं तो मन झूम-झूम उठता है। है न!

मैंने कक्का की हाँ में हाँ मिलाई। दो-तीन महीने पहले बोए गए बीज अब तक घनी फसल के रूप में आ गए थे और ऐसा लग रहा था कि फूलों ने और उसकी गंध ने पूरे गाँव को घेर लिया है। सरसों के पीले-पीले फूल इन हरे दृश्यों पर ऐसा लग रहा था जैसे कि धरती ने एक ऐसी साड़ी पहन ली हो जो हरे रंग की है और उसमें पीले रंग की छींटे हैं! यह सब किसी जादू जैसा लग रहा था जो हकीकत में था! हवा के झोंके का मिजाज बदल गया था। बस्ती से दूर बाँसों के झुरमुट में जहाँ चिड़ियों का बसेरा है, कलरव के स्वर ज्यादा गूँजने लगे हैं। लोग किसी भी ओर देखते हैं तो उनकी आँखों को वहाँ कुछ खटकता नहीं है। आँखें दृश्यों को निहार कर तृप्त नजर आतीं हैं।

कक्का को अब तक फूलों से कुछ और याद आ गया था। वे कहने लगे कि वसंत आने पर दृश्यों में फूल लटक जाते हैं। लेकिन यह सब किसी जादू से घटित नहीं होता। फूल के मायने होते हैं। जिन फूलों के मायने सिर्फ फूल ही होते हैं और उनमें किसी भी तरह के फल नहीं लगते, वसंत उनके भरोसे नहीं आता। वे कह रहे थे कि वसंत के आने का मतलब फसल के फूलों से होता है। फूल खिलने का मतलब परिश्रम से बनता है। तीन महीने के लगातार परिश्रम से जब पौधों में फूल लगते हैं तो वह असल में परिश्रम की सार्थकता की

घोषणा जैसा होता है। कक्का कह रहे थे कि वसंत सिर्फ एक मौसम का नाम नहीं है, वसंत एक संदेशवाहक का नाम है जो फूलों के माध्यम से परिश्रम के फल का संकेत देता है।

कक्का कह रहे थे कि वसंत का चेहरा अगर इतना सुंदर है तो यह मटर में आए फूलों का कमाल है। राजमा के पौधे में खिल रहे फूलों का कमाल है। खेसारी के नीले-नीले फूलों का कमाल है। उसके चेहरे में मक्के और गेहूँ के पौधे की हरियाली का असर है। वसंत आते हुए इन सब में फूल भरकर अपने आप को खुशनशीब कर रहा है। वह जाते-जाते इन्हें दाने से भर देगा। लोगों के चेहरे पर यही सोचकर खुशी पसर रही है। चिड़िया इसलिए अधिक कलरव करती फुदक रही हैं क्योंकि वह जहाँ तक उड़ान भरती हैं, उसे दाने ही दाने आने की उम्मीद दिखाई देती है। हवा इसलिए झूम रही हैं क्योंकि वह सभी फूलों का रस लेकर टहल रहीं हैं।

मैं कक्का को अकबक सुन रहा था। एकाएक उन्होंने मेरी तंद्रा तोड़ी। उन्होंने कहा कि बिना फूल-पत्ती और पेड़-पौधे के वसंत के आने की कल्पना करके देखो तो जरा! फिर उन्होंने ही यह कहा कि फसल, पेड़-पौधे और फूल-पत्तियाँ मिलकर ही इस धरती पर वसंत रचते हैं!

शहर जब गाँव आता है

गाँव शहर रोज जाता है। उसकी छोटी-छोटी असंख्य जरूरतें होती हैं। वहाँ वह अपनी जरूरत की चीजें खरीदता है और शाम ढलने तक लौट आता है। कभी कुछ खास जरूरत होती है तो कुछ दिन के लिए वहाँ रह भी लेता है। लेकिन वहाँ रहते हुए वह कुछ असहज महसूस करता है। वहाँ उसे सड़कों पर चलने में बड़ी दिक्कत होती है। जब भी कहीं सड़क को पार करने की नौबत आती है, वह भयभीत हो जाता है और बहुत देर तक लोगों को सड़क पार करते हुए देखता रहता है। फिर ताज्जुब करते-करते अपने अंदर की बहादुरी और चालाकी के भाव को जागृत करते हुए लगभग दौड़ लगा देता है। जब भी वह सफलतापूर्वक सड़क को पार कर लेता है, उसे लगता है कि उसकी जान में जान लौट आई है!

गाँव शहर को हैरत से निहारते हुए अपना समय गुजारता है। वह कहीं भी ठिठक जाता है और ऊँची बिल्डिंग को निहारने लगता है। वह एस्कलेटर पर पाँव रखने से पहले उसे देर तक देखता है और जब वह उसे देख रहा होता है तब उसकी आँखें हैरत से फैली हुई रहती हैं। अगर शहर में उसे कहीं पेड़ दिख जाता है तो वह उसे चलते-चलते भी देखता रहता है। वह उसके पत्तों पर फैली गंदगी को देखता है और दुःखी हो जाता है। वह उस पेड़ पर कोई चिड़िया या किसी चिड़िया के घोंसले को ढूँढता है। लेकिन उसे उस पर यह सब नहीं मिलता है। तब वह यह सोचता है कि शहर में चिड़िया कहाँ रहती होंगी? उसे इस बात की चिंता हो जाती है कि अगर शहर में चिड़िया नहीं रहती है तो रोज सवेरे इसकी नींद किस प्यारी आवाज से खुलती हैं! वह देर रात तक शहर को जगे हुए देखता है और यह सोचने लगता है कि इसको चिड़िया सवेरे गीत गाकर नहीं जगातीं हैं। वहाँ वह पूर्णिमा के पूरे उगे हुए चाँद को देखता है और यह सोचता है कि रात की इतनी भक्क रोशनी में चाँद की कितनी रोशनी है इसके पास!

लेकिन शहर को गाँव की बहुत कम जरूरत होती है। वह उसके बारे में कभी-कभी ही सोचता है। जब उसका मन बहुत उकता जाता है या कोई बहुत जरूरी काम निकल आता है, तभी वह गाँव जाता है। गाँव में वह यह देखकर हैरत करता है कि यह अब भी जंगल

का दृश्य उपस्थित कर रहा है। वह आँगन, दरवाजे, सड़कों के किनारे-किनारे, बीच खेत में, खेत के मेड़ पर, तरह-तरह के पेड़-पौधों को देखता है और चमत्कृत होता रहता है। सवेरे उसके कानों में तरह-तरह की चिड़िया की आवाज जाती है। वह मुस्कुराते हुए जगता है और मगन होकर आती आवाजों को सुनने लगता है। उसके मन में यह विचार आता है कि उन पंछियों को वह देखे। वह बाहर निकलता है और आवाज की तरफ अपनी निगाह करता है। तभी पूरब की ओर से आ रही हवा उसके नथुने से टकराती है और उसका अंतस शीतल हो जाता है। चिड़ियों के मधुर गीत और शुद्ध हवा का स्पर्श, वह विभोर हो जाता है!

उसकी नजर गाछ में पके आम पर जाती है। अमरूद पर जाती है। वह ठिठक जाता है। फल उसके हाथ में आता है और स्वाद जीभ पर चढ़ता है। आह! अद्भुत स्वाद। वह विह्वल हो उठता है। वह मेड़ पर चलते हुए जिधर भी निहारता है, उसे फसल अपनी हरियाली के साथ झूमती हुई नजर आती है। वह नदी के किनारे जाता है और दूब पर बैठकर पानी का बहते जाने के दृश्य को निहारता है!

शाम ढले पीपल और बरगद के वृक्षों के पास वह ढोलक बजते देखता है तो खुद को रोक नहीं पाता है और वहाँ जाकर बैठ जाता है। वह भीड़ को ताली से ताल मिलाते हुए देखता है और खुद भी झूमते हुए ऐसा करने में मगन हो जाता है। वह चाँद की पूरी रोशनी को जमीन पर उतरते देखता है और आनंदित होता रहता है!

गछपक्कू आम का स्वाद

कक्का कह रहे थे कि पके फलों में थोड़ा सा स्वाद उस वृक्ष का रहता है और थोड़ा सा उसी वृक्ष के हरे पत्तों का। धूप जो बड़े प्यार से उसमें मीठापन भरती है, पके फलों में वह तो विद्यमान रहता ही है। साथ ही फलों से रगड़ खाती हवा भी अपना कुछ स्वाद उनमें डाल देती हैं। वे कह रहे थे कि पके फलों में थोड़ा सा स्वाद मिट्टी का भी रहता है और जितना भी ठंडापन रहता है उनमें वो सारा पाताल के पानी का रहता है। इस तरह पके फलों में थोड़ा सा स्वाद जड़ का भी रह जाता है!

बात हरी मिर्ची से शुरू हुई थी और आम तक आ गई थी। कक्का बिना हरी मिर्ची के एक बखत का भी भोजन नहीं कर सकते। थाली में एक तीखी मिर्ची हो तो वे कहते हैं कि खाने में जैसे कोई दिव्य स्वाद आ जाता है! लेकिन वे हाट-बाजार की मिर्ची कभी नहीं खाते। कहते हैं कि देखने में तो बड़ी सुंदर लगती है लेकिन स्वाद के स्तर पर जीरो होती है। उनका मानना है कि जैसे सारी चीजों की अपनी तासीर होती हैं, वैसे ही मिर्ची का भी अपना एक खास स्वाद होता है और वह होता है उसका तीखापन। मिर्ची अपने इसी गुण के लिए जानी जाती है। उनके अनुसार हाट-बाजार की लंबी-लंबी मिर्ची से वे गुण छीन लिए जाते हैं। वे यह सवाल कर रहे थे कि अगर मिर्च खाने से तीखापन का बोध न हो तो हम उसको कैसे परिभाषित करेंगे?

कक्का बारहों मास मिर्ची के दो-चार पौधे लगाए रखते हैं। वे कहते हैं कि चाहूँ तो थोड़ा सा खाद दे दूँ जिससे पौधे रातों-रात बड़े हो जाएँगे। चाहूँ तो कुछ ऐसी दवाइयों का प्रयोग कर दूँ कि अभी जो फल फूल छोड़ के निकला ही है, चार-पाँच दिनों में लंबी-लंबी मिर्ची में बदल जाएँगी। लेकिन नहीं। तब मिर्ची मिर्ची नहीं रह जाएँगी। अपनी तासीर के स्तर पर वह पता नहीं क्या हो जाएगी। जब कक्का यह सब कह रहे थे, मुझे वृन्द का एक दोहा याद आ गया कि, 'कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर। समय पाय तरुवर फरै, केतिक सींचौ

नीर।' लेकिन उसे मैंने उनके सामने जानबूझ कर नहीं दोहराया कि देखिए तो, देखते ही देखते स्थितियाँ कितनी बदल गई हैं!

वे आम के बारे में कहने लगे थे कि फलों को मिट्टी, पानी और धूप सिरजती हैं। समय आता है तो फल स्वतः पक जाते हैं और मीठे हो जाते हैं। लेकिन अब हम बाजार और उसके व्यवसाय की गिरफ्त में इस तरह फँस गए हैं कि उसके पकने और उसके मीठे होने की प्रतीक्षा नहीं कर पाते। हम कच्चे फलों को ही टहनियों से अलग कर देते हैं और उसे पकाने वाले रसायन के संपर्क में रख देते हैं। कच्चे आम जिसे अभी पकने में महीना भर का समय लगता, वह दूसरे ही दिन पक कर पीला हो जाता है। फिर उसे हम बाजार में सजा देते हैं और लोगों को आकर्षित करते हैं। लोग उसे देखते हैं और उनका मन ललचने लगता है। वे उसे खरीदते हैं और खाते हैं। उन्हें कई बार यह लगता भी है कि पके आम का स्वाद ऐसा तो नहीं होता है। लेकिन वे ठीक से यह याद नहीं कर पाते कि पके आम का स्वाद कैसा होता है। वे वृक्ष में पककर जमीन पर गिरे आम के स्वाद को भूल चुके होते हैं। कक्का कह रहे थे कि प्रकृति प्रदत्त ये अनमोल उपहार हमारे जीवन की रक्षा के लिए और हमारी स्वाद-ग्रंथियों की संतुष्टि के लिए हैं। लेकिन उसे जीवन से खिलवाड़ करने वाली चीजों में परिवर्तित कर दिया गया है। वे कह रहे थे कि अब हम भोजन के माध्यम से पहले अपने शरीर मे जहर भरते हैं, फिर जहर निकालने के उपक्रम में लगे रहते हैं।

वे यह भी पूछ रहे थे कि क्या अब यही हमारी जीवनचर्या हो गई है?

नये पत्ते

कक्का कह रहे थे कि चैत-बैशाख का महीना बड़ा खतरनाक होता है। न गर्मी, न सर्दी। देखो तो, हवा किस तरह विचित्र ढंग से चल रही है। इसमें मनुष्य को बड़ा सचेत होकर रहना पड़ता है। स्वास्थ्य को सौ तरह के खतरे रहते हैं। फिर वे यह कहने लगे कि अभी वृक्षों में नये पत्ते आ ही रहे हैं। जब सारे पत्ते आ जाएँगे और सब हरे हो जाएँगे, वे मिलकर मौसम को ठीक कर देंगे!

गजब बात। जब वृक्षों में पत्ते आ जाएँगे, मौसम ठीक हो जाएगा! वे कह रहे थे कि हरे पत्ते मौसम को मनुष्य के लिए अनुकूल बनाने के काम में लगे रहते हैं। इसलिए पृथ्वी पर अधिक से अधिक वृक्ष लगाने की नसीहत दी जाती है। लेकिन नए पत्ते तो तीखी धूप में जाकर हरे होंगे। धूप तो बड़ी खतरनाक होती है। मैंने यह पूछा तो कक्का मुस्कुराने लगे। वैसे ही जैसे किसी अबोध बच्चे के सवाल पर कोई सयाना मुस्कुराता है। कहने लगे, वैशाख-जेठ की धूप के सौंदर्य को तुमने अभी निहारा ही कहाँ है। यह मौसम भी वसंत से कम खुशनुमा नहीं होता है। फिर उन्होंने अपनी अंगुली से एक तरफ इशारा करते हुए कहा कि उस परवल की लता को देखो। अभी उसके नए पत्ते हरियाली बटोर रही हैं। फूल खिलने की प्रक्रिया में आ रहे हैं। लेकिन जैसे ही धूप अपनी पूरी रौ में आ जायेगी, लता सफेद फूलों से लद जाएगी और वे फूल तेजी से एक आकार में तब्दील होता चला जाएगा। अभी लता धूप की प्रतीक्षा में ठहरी हुई है और फलने के लिए आवश्यक तैयारी कर रही हैं।

फिर कक्का ने मेरा ध्यान बायीं ओर आम के वृक्ष के नीचे तेजी से फैल रही खीरे की लता की ओर खींचा। वहाँ अगल-बगल नेनुआ और करेले की लता भी लहलहा रही थी। सबमें एकाध फूल भी नजर आ रहे थे। कहने लगे कि इनको भी धूप का ही इंतज़ार है। जैसे ही धूप खिलनी शुरू होगी, ये लताएँ पहले तो वातावरण को पीले-पीले फूलों और फिर बाद में

हरे और स्वादिष्ट सब्जियों से आच्छादित कर देंगी। वे यह कह रहे थे कि धूप के मौसम को हमें इस नजरिए से भी देखना चाहिए। इस क्रम में उन्होंने भिंडी के छोटे-छोटे पौधों की तरफ भी मेरा ध्यान खींचा और कहा कि बरसात से पहले की तीखी धूप भी एक कमाल का समय होता है। कुछ फूल इसी मौसम में खिलते हैं और फिर फलकर अपना अर्थ प्रकट करते हुए मौसम को भी सार्थकता प्रदान करते हैं।

कक्का सही कह रहे थे। धूप का मौसम इस मामले में महत्त्वपूर्ण तो हो ही जाता है कि इसमें आते-आते सभी वृक्ष और पौधे-लताएँ हरे पत्तों से लद जाते हैं। नए हरे पत्ते मिलकर वृक्षों को इतना दिलकश बना देते हैं कि दृश्य आह्लादकारी बन जाता है। मैं और कुछ सोच पाता इससे पहले ही कक्का के बोल फिर सुनाई पड़ने लगे। वे कह रहे थे कि क्या तुम्हारा ध्यान गर्मी के दिनों में कभी गुलमोहर और अमलतास के वृक्षों की तरफ गया है। अब जब भी कभी तुम्हारी नजरों के सामने ये वृक्ष आये, तुम वहाँ कुछ देर ठहर जाना और वृक्ष की शाखाओं पर खिले फूलों की ओर देखते हुए इस धूप के मौसम के बारे में सोचना।

कक्का का कहना यह था कि धूप का मौसम मनुष्य को वृक्षों के निकट लाता है और उससे उसके संबंधों की घनिष्ठता को सांकेतिक भाषा में दर्शाता भी है!

स्नेह-विनिमय

कक्का उस दिन हरे टमाटर तोड़ रहे थे। कहने लगे कि हरखू के घर भेजना है। परसों उसने टमाटर की ओर देखकर कहा था कि उसे हरे टमाटर की चटनी बहुत पसंद है। सब्जी में दो हरे टमाटर डाल देने से उसका स्वाद कितना अद्भुत हो जाता है न! वह यह भी कह रहा था कि उसने भी समय रहते पाँच पौधे लगाए थे। लेकिन बकरी चर गई। बाद में बारिश आई तो उसमें बचे पौधे गल गए। वह देर तक हरे टमाटर को निहारता रहा था और कह रहा था कि बारिश के मौसम आने से पहले तक यह फलते रहेंगे।

कक्का ने किलो भर के लगभग हरे टमाटर तोड़े और कहने लगे कि हरखू और लछमन दो भाई है। दोनों का चूल्हा अलग है। लेकिन अभी एक ही आँगन में दोनों परिवार का निर्वाह हो रहा है। एक के घर भेजूँ और दूसरे के घर न भेजूँ तो यह अच्छा नहीं लगता। आधा-आधा दोनों के घर भेज देता हूँ। जब भी कोई काम पड़ता है, जिसे हाँक देता हूँ, दौड़े चले आते हैं।

कक्का की बातें सुनकर मुझे कुछ दिन पहले का एक दृश्य याद आ गया। दरवाजे की बैठकी की छप्पर पर एक कद्दू की लता फैल गई थी और अब उसमें फल आने लगे थे। एक दिन दो कद्दू तोड़े गए। एक घर के लिए रख लिया गया और दूसरा कद्दू माई पड़ोस के घर दे आई। उसी दिन शाम को पड़ोस के यहाँ से किलो भर के लगभग सेम लेकर कनिया काकी शाम को पहुँच गईं। कह रही थीं कि कद्दू में गजब का स्वाद था। होगा क्यों नहीं, बिना खाद का जो है। देखना, कुछ दिन में जब लता और पसर जाएँगी, खूब फल लगेंगे।

पता नहीं यह कैसी रीत है और यह यहाँ कब से चलन में है। लेकिन है और इसका निर्वाह लगभग हरेक परिवार करता है। जब भी किसी परिवार के यहाँ कुछ भी नया होता है, थोड़ा-थोड़ा सबके यहाँ भेजा जाता है। खासकर उनके यहाँ, जिनके यहाँ उस वस्तु की उपजने की संभावना कम रहती है। कभी-कभी तो गाय या भैंस के ब्याहने पर कुछ दिनों तक अड़ोस-पड़ोस में दूध भी बाँटे जाते हैं।

इस संदर्भ में कक्का का अलग ही विचार है। यह कोई तार्किक विचार नहीं है। लेकिन

यह सिरे से खारिज करने लायक भी नहीं है। वे कहते हैं कि मिल-बाँटकर खाने से वस्तुओं में बरक्कत होती है। वे यह भी कहते हैं कि देने से न सिर्फ संतुष्टि मिलती है। वरन् पाने वाले को एक अलग प्रकार की खुशी भी मिलती है, जिसे देखकर मन हरा रहता है। वे कहते हैं कि बिना मोल-भाव और नफे-नुकसान की परवाह किये जब इस तरह का लेन-देन किया जाता है तो यह अपनत्व की भावना को प्रगाढ़ करने की एक प्रक्रिया भी हो जाती है। कक्का यह भी कहते हैं कि सब सबकुछ नहीं उपजा सकता। लेकिन इस तरह की रीत से सबको सबकुछ पाने का सुख हासिल होता रहता है!

बात चाहे जो हो। लेकिन मैं जब भी इस तरह के दृश्यों को देखता हूँ, बचपन में किसी टीवी सीरियल का यह शीर्षक गीत गुनगुनाने लगता हूँ—दुनिया बदल गई/ इंसा बदल गए/ बदले नहीं लेकिन/ मिट्टी के रंग/ मिट्टी के रंग...!

छप्पर के ऊपर

कक्का कह रहे थे कि छत का मिजाज अलग होता है। वह बड़ा होता है। ऊँचा होता है। उसकी बनावट भी दूसरे तरह की होती है। वह किसी भी ओर से तनिक भी झुका हुआ नहीं होता है। उस पर हद से हद मनीप्लांट की लताओं को चढ़ाया जा सकता है या कुछ फूल के गमले लगाए जा सकते हैं। नहीं तो अक्सर वह खाली ही रहता है। अपने बड़प्पन को लिए हुए। जबकि छप्पर को देख लो। बेचारा हमेशा व्यस्त रहता है। उस पर लताएँ तैरती रहती हैं। फूल खिले रहते हैं। फलियाँ झाँकती रहती हैं। उनका कहना था कि छप्पर कभी भी खाली नहीं बैठता। चाहे वो फूस का छप्पर हो या टीने का। लताएँ उसकी ओर देखकर गदगद होती रहती हैं कि कल को वो हमको सहारा देगा और हम खूब लहरा सकेंगी। छत को देखकर लताओं के मन में यह विचार नहीं आता। वे दीवार की चिकनाहट की तरफ देखकर मायूस हो जाती होंगी। नन्हीं लता अपनी गर्दन ऊपर कर छत को देखने की असफल कोशिश करती होंगी और हताश हो जाती होंगी। उन्हें देखकर छत के मन में भी नेह नहीं जन्मता होगा। ईंट-पत्थर और सीमेंट का बना हुआ वह निर्लिप्त रह जाता होगा। उस वक्त लताओं को छप्पर की बड़ी याद आती होगी।

कक्का ने यह बात क्यों उठाई थी, यह मैं समझ रहा था। सामने का दृश्य उनके मन में उद्‌गार भर देता है और शब्द स्वतः प्रस्फुटित होने लगते हैं। कक्का की नजरें ठीक सामने थीं। सामने लाल भैया की बैठकी का छप्पर था। फूस का। छप्पर पर सेम की लताएँ फैली हुई थीं। लताओं में सफेद और नीले रंग के असंख्य फूल खिले हुए थे। फलियों का गुच्छा फूलों और पत्तियों के बीच ऐसा लग रहा था जैसे खिलखिला रही हो। दूर से देखने पर छप्पर भी हरे से ढंका हुआ दिख रहा था और उसकी ओर निहारती आँखों को तरावट मिल रही थी।

कक्का अब भी उधर ही देख रहे थे। कहने लगे कि देखो, ठीक बगल में वो छत है। लेकिन आने-जाने वालों के आकर्षण के केंद्र में यही छप्पर रहता है। छप्पर पर फैली हरियाली रहती है। इस हरियाली ने छप्पर का मान बढ़ा दिया है। एक-दूसरे ने एक-दूसरे को सहारा देकर एक-दूसरे को जैसे सार्थक कर दिया हो। फिर वे मुझसे यह पूछने लगे कि तुमने छत तो असंख्य देखे होंगे। क्या कभी किसी छत को इतना व्यस्त देखा है। साथ में यह भी याद करके बताओ कि देखे गए अनगिनत छप्परों में से कितनों को खाली देखे हो?

कक्का के सवाल पर मेरे होंठों पर मुस्कुराहट पसर गई। वे वाजिब कह रहे थे। व्यस्त

छत की तस्वीर मेरी नजरों के सामने एक भी नहीं आई। लताओं को लहराने का स्थान देते छप्पर दर्जनों मेरी आँखों के सामने आकर प्रकट होने लगे। कुछ दिन पहले की बात है। मैं बगल के गाँव की ओर जा रहा था। एक जगह मैं रुककर एक छप्पर को निहारने लगा। वह फूस का छप्पर था। उस पर हरे पत्तों का मेला लगा था। न फूल न फलियाँ। मैंने पास जाकर देखा। वे पोइ के साग थे। डंठल का रंग लाल था और पत्ते हरे कचनार थे। गजब के दृश्य का सृजन हो गया था।

कोहड़े, कद्दू और सेम से आच्छादित असंख्य छप्पर एक के बाद एक स्मरण पटल पर आते गए। अभी हाल में कुम्हड़े से लदे एक छप्पर को यादकर तो मैं मुस्कुराने ही लगा। चूने के रंग के कुम्हड़े और उसके हरे पत्ते ने मिलकर छप्पर पर एक ऐसी चित्रकारी कर दी थी कि नजरें उस ओर बार-बार उठ जाती थीं।

मुझे मौन देखकर कक्का सब समझ गए। मंद-मंद मुस्काते हुए बोले-छप्पर हरियाली को आश्रय देने में व्यस्त रहता है। छत को यह सुख नसीब नहीं होता।

चटनियों की रानी

सुबह का समय था। पूरब में लाल सूर्य उदित हो रहा था। लेकिन कुहासे के कारण उसकी छटा ठीक से बिखर नहीं पा रही थी। दाने की खोज में निकली चिड़िया किल्लोल कर रही थीं। ताजे खिले फूलों पर ओस की बूँदें चमकती हुई दिख रही थीं। सामने के हरसिंगार के पौधे से गिरे हुए फूल नीचे धरती पर जैसे सो रहे थे। जहाँ तक फूल गिरे हुए थे, लग रहा था कि उतनी दूर की धरती को सजाया-सँवारा गया है! कक्का की पलकें गिर नहीं रही थी। वे एकटक दृश्यों को निहारे जा रहे थे। तभी काकी गिलास में चाय रखकर गई तो उनकी तंद्रा टूटी। आह! उन्होंने इस शब्द का उच्चारण किया और गिलास से उठते भाप के सुगंध को महसूसने लगे। मैंने भी चाय की पहली घूँट ली। वाकई। गजब स्वाद था। यह अदरक वाली चाय थी। मैं उनकी तरफ देखकर मंद-मंद मुस्कुराने लगा। वे भी चाय की पहली घूँट भर चुके थे। बोले कि यह सर्दी का सुख है। मौसम अपने साथ कुछ आनंद लेकर आता है। अदरक वाली चाय सर्दी के मौसम का पहला सुख है। भोरे-भोर का। वे कह रहे थे कि इस मौसम में अगर सवेरे अदरक वाली चाय मिल जाए तो दिन बन जाता है! फिर वे यह बताने लगे कि कल हाट में अदरक और धनिया की पत्तियों पर नजर पड़ी तो वे खुद को रोक नहीं पाए।

धनिया की चटनी! इतना सोचते ही मेरे मुँह में पानी आ गया। कैसा भी भोजन हो, अगर साथ में धनिया की चटनी मिल जाए तो उसमें चार चाँद लग जाते हैं। कक्का को भी धनिया से चटनी की याद आ गई थी। कहने लगे कि चटनियों का भी अपना अलग ही महत्त्व है। भोजन का क्या है। दाल-भात और सब्जी-रोटी अपने आप में पूर्ण भोजन है। लेकिन मनुष्यों ने चटनियों के बारे में भी सोचा। चटनियाँ भोजन को शृंगारित करती हैं। स्वाद को तुष्टि के स्तर तक पहुँचाने में मदद करती हैं। फिर वे यह कहने लगे कि अगर फलों में राजा की तरह चटनियों में रानी का भी चुनाव हुआ होता तो निश्चित ही धनिया की चटनी ही विजयी घोषित की गई होती! कक्का ठीक कह रहे थे। ऐसा कौन होगा जिसके मन को धनिया की चटनी नहीं भाती होगी। देखकर सबका जी ललचाता होगा। किसी-किसी को तो बहुत ही पसंद होता है। पिछले साल की बात है। एक स्त्री दूसरी स्त्री के सामने अपने मन का उद्‌गार व्यक्त कर रही थी। वे धनिया की चटनी में डालने के लिए आँवले को धो रही थी और यह कह

रही थी कि अगर सिर्फ धनिया की चटनी मिल जाए तो मैं उसके साथ चार रोटी खा लूँगी। जबकि खाती सिर्फ तीन रोटी ही हूँ। जब मैंने यह बात कक्का को बताई तो वे कहने लगे कि सच कह रही थीं, स्वाद बड़ा मारक होता है। विरले ही बच पाता होगा! फिर वे यह कहने लगे कि सर्दी के आने से फल और सब्जियों से यह दुनिया सज जाती हैं। जैसे उन्हें इस मौसम का बेसब्री से इंतजार हो। साग-सब्जियाँ इस मौसम में मनुष्यों को तृप्ति से भर देते हैं। रोज खाते हैं लेकिन अघाते नहीं। अब आलू-गोभी और बैगन-मूली को ही देख लो। देगची में मिलन होते ही वातावरण में एक दिव्य गमक फैल जाती है और भूख जागृत हो उठती है!

फूलों को खिलना याद रहता है

कक्का कह रहे थे कि मौसम एक मेहमान की तरह आता है। कुछ दिन रहता है। फिर लौट जाता है। इसलिए इसके आने से दृश्यों में परिवर्तन आने लगते हैं। फिर वे यह कहने लगे कि सर्दी आ रही है। हालाँकि ढंग की सर्दी को आने में अभी वक्त लगेगा। लेकिन वह अपने आने का संकेत दे चुकी है। जब मैंने यह कहा कि अभी सर्दी कहाँ आई है। अभी तो लोग बनियान पहनकर घूम रहे हैं और जब बिजली चली जाती है तो हाथ पंखा ढूँढने लगते हैं। तब मेरी बात सुनकर वे मुस्कुराने लगे। बोले-हम इंसान हैं। संवेदनशील हैं। लेकिन अभी भी पेड़-पौधे हमसे कई गुना अधिक संवेदनशील हैं। हम सिर्फ सामने के दृश्यों को देख पाते हैं। लेकिन पेड़-पौधे उस दृश्य के प्रकट होने की आहट को भी पकड़ लेते हैं।

कक्का जब यह सब कह रहे थे, उनका ध्यान सामने की ओर था। मैंने टोह लेने की कोशिश की कि सामने के किस दृश्य से उन्हें यह उद्‌गार मिल रहा है। सामने कुछ क्यारियाँ थीं। उन क्यारियों में अंकुर थे। मुझे यह पता था कि उन्होंने कुछ दिन पहले ही पालक और गाजर के बीज बोये हैं। दो सप्ताह के बाद ये अंकुर अपनी पत्तियों से अपनी पहचान बना लेंगे। ये सब सर्दियों के भोज्य-पदार्थ हैं। सर्दी का मौसम ही इनके लिए इनका स्वाद लेकर आता है और चुपके से इनकी जड़ों के पास उसे रख देता है। जड़ों से वह स्वाद मनुष्यों के जिह्वा पर चढ़ता है और उनका मन तृप्त हो उठता है। वही स्वाद लोगों को मौसम के लिए तैयार करता है।

कक्का यह कह रहे थे कि बीज को अँकुरना याद रहता है। फूल के स्मरण में खिलना संचित रहता है। मौसम के आते ही वे स्वतः खिलने लगते हैं। वे कह रहे थे कि देखो, चीरा-मीरा खिलने लगे हैं। हरसिंगार में भी फूल आने लगे हैं। गेंदे और गुलदाउदी की रंगत देख लो। वे तेजी से हृष्ट-पुष्ट हो रहे हैं। इन सब का मतलब समझते हो? सर्दी भले ही अभी कुछ दूर है। लेकिन इन फूलों ने उसे आते हुए देख लिया है। ये उसी खुशी में खिल रहे हैं। या इसको तुम ऐसे भी समझ सकते हो कि मौसम इन फूलों के माध्यम से अपने आने का संदेश भेज रहा है। मौसम के संदेश सुनकर ही दृश्यों में तेजी से बदलाव हो रहे हैं। सवेरे चार-पाँच बजे जग कर देखोगे तो पता चलेगा कि अब सुबह उस तरह नहीं हो रही है। सुबह की रंगत बदली हुई है। शाम को तो देख ही रहे हो। अब जो शाम ढल रही है, क्या उसका चेहरा एक महीने पहले की शाम के चेहरे से मिलान खाता है!

कक्का ठीक कह रहे थे। अब मौसम बदल जायेगा, इस वाक्य को प्रकृति कुछ दृश्यों के माध्यम से लिखती हैं। मुझे याद आया। गिरे बीज से आँगन में एक चीरा-मीरा का पौधा उग आया था। वह पौधा खूब बड़ा हो गया। लेकिन उसमें भर ग्रीष्म फूल नहीं लगे। अब जाकर उसमें फूल आये हैं। परसों मेरी नजर हरसिंगार के फूलों पर पड़ी थी। शाम भी अब

पहले से कुछ अलग लगती है। मैं मुस्कुराने लगा। कक्का कह रहे थे कि मेहमान के आने से पहले कुछ परिवर्तन हो ही जाते हैं। जैसे ही संदेश मिलता है, घर-आंगन को उसके लिए तैयार किया जाता है और जब तक वे रहते हैं उनके लिए एक अलग ही माहौल बनाकर रखना पड़ता है। यह मेहमान के आगमन से स्वतः घटित होता है। जैसे सर्दी के आगमन को लेकर दृश्य खुद को बदलने लगा है!

संपर्क : ग्राम व पोस्ट-लालपुर, वाया-सुरपत गंज, जिला-सुपौल (बिहार) पिन-852137, मो. : 09546906392

चमत्कारों वाले स्वर्णदेश में

पल्लव

'नया राजा सोचता कम और करता ज्यादा था।'
(स्वर्णदेश की लोककथाएँ)

कहानी की दुनिया की नयी गतिविधियाँ क्या हैं? उनमें क्या हलचल हो रही है? नयी शताब्दी के साथ आयी युवा कहानीकारों की पीढ़ी अब वयस्क हो चुकी है और उसका लिखा अब संभावना नहीं उसकी उपलब्धि समझा जाना चाहिए। फिर भूलना नहीं चाहिए कि साहित्य में किसी भी विधा की शक्ति और संभावना उसमें किये जा रहे लेखन के 'रूप' से ही जानी जा सकती है लेकिन विधा के वास्तविक विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि अंतर्वस्तु से ही रूप का निर्माण भी हुआ हो। मनोज कुमार पांडेय 'बदलता हुआ देश' शीर्षक से आए अपने चौथे कहानी संग्रह में कहानी के अपने प्रचलित मुहावरे से भिन्न कथा-भंगिमा का प्रयास करते हैं। ये कथाएँ विजयदान देथा के मुहावरे में कदीमी अर्थात प्राचीन प्रतीत होती हैं किन्तु जिस तरह मनुष्य का स्वभाव, इच्छाएँ और जीवन-परिणितियाँ शाश्वत ढंग की हैं वैसे ही ये प्राचीन प्रतीत होती कथाएँ वस्तुतः आधुनिक हैं। या कहा जाना चाहिए कि आज के ज़माने की चिंताओं और वास्तविकताओं को लोक कथाओं की शैली में ढाल कर प्रस्तुत कर दिया गया है। कोई लेखक ऐसा क्यों करता है? क्या उसे यथार्थ को प्रकट करने के प्रचलित उपकरण अपर्याप्त लगने लगे हैं? क्या वह यथार्थ के प्रचलित मुहावरे में लिखकर अपने समय की सत्ताओं का निशाना नहीं बनना चाहता इसलिए वह लोक कथा जैसे शाश्वत मुहावरे की ओट में लिख रहा है? हमारे यहाँ आपातकाल के दौर में ऐसा हो चुका है। पिछले दिनों मृणाल पांडेय, असग़र वजाहत और युवा कहानीकार प्रवीण कुमार की कहानियों में भी इस ढंग को देखा जा सकता है। मनोज का यह संग्रह भी उसी दिशा का एक नया प्रयोग है। मनोज की इन लोककथा सरीखी कहानियों के आधुनिक होने का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि जीवन की वास्तविक

चिंताओं और बेहतर जीवन की वास्तविक प्रतिज्ञाओं को इनमें देखा जा सकता है। मनोज ने इस संग्रह के लिए एक काल्पनिक देश 'स्वर्णदेश' की रचना की है जिसका राजा प्रजा के लिए समर्पित है। कहानी संग्रह की शुरुआत जिस कहानी से हुई है उसका शीर्षक है, 'स्वर्णदेश के बारे में एक निबंध', इस निबंध (किंवा कहानी) में स्वर्ण देश की विशेषताओं, यहाँ की प्रजा, राजा और उसके परिवार इत्यादि के सम्बन्ध में बता दिया गया है ताकि आगे की कहानियों में संदर्भ स्पष्ट हो जाएँ। यह स्वर्णदेश अत्यंत धार्मिक है और लम्बे समय बाद यहाँ की प्रजा को एक ऐसा राजा मिला है जो स्वर्णदेश के लिए रात दिन समर्पित है। दो उदाहरण हैं–

'स्वर्णदेश की जमीनें सोना उगलती थी। अब चूँकि यहाँ के लोग भी परिश्रमी थे सो खेतों में हमेशा हरियाली छाई रहती थी। किसान सपरिवार खेतों में जुटे रहते थे। जिनके पास खेत नहीं थे वे मिलों, कल-कारखानों तथा विभिन्न बहुमूल्य खनिजों की खदानों में काम किया करते थे। श्रम विभाग के अनुसार 'स्वर्णदेश में काम सिर्फ उनके पास नहीं था जो काहिल, निकम्मे और कामचोर थे।' तमाम लोग ऐसे भी थे जो स्वेच्छा से राज परिवारों की सेवा में लगे रहते थे। राज परिवारों की संख्या बहुत बड़ी थी और प्रत्येक परिवार में बड़ी संख्या में लोग रहते थे।'

'संभावित राजा ने वादा किया कि वे स्वर्णदेश में सुनहरे दिन ले आएँगे। प्रजा ने संभावित राजा का चेहरा देखा, आँखों की लाली देखी, सीना देखा, लंबाई चौड़ाई देखी, दाँत और नाखून देखे और बना दिया राजा। बस फिर क्या था। स्वर्णदेश की तो किस्मत ही पलट गई। प्रजा ने ऐसे ऐसे कारनामे देखे जिनके बारे में वह कभी सोच भी नहीं सकती थी। प्रजा को इतनी खुशी मिली, इतनी खुशी मिली कि खुशी रखने की जगहें कम पड़ गईं। यूँ तो प्रजा पहले भी अपने राजाओं की लीलाओं को देखती और मुग्ध होती आई थी पर नए राजा तो साक्षात लीला पुरुष थे। अगली कहानियाँ प्रजा के हित में राजा द्वारा रची गई लीलाओं का बखान हैं। यह अलग बात है कि इन कहानियों और उसके लेखक की सामर्थ्य की एक सीमा है पर लीला पुरुष राजा की सामर्थ्य असीम और अनंत है। इसलिए विनम्र अनुरोध है कि इन कहानियों को इस लेखक की सामर्थ्य को ध्यान में रखकर पढ़ने की बजाय उस लीला पुरुष की सामर्थ्य को ध्यान में रखकर पढ़ा जाय।'

आगे इस स्वर्णदेश की विभिन्न कथाएँ हैं जिनमें पहली है, 'सारे निजी काम बाएँ हाथ से करें', यहाँ प्रसंग है कि रात दिन प्रजा के लिए चिंतित रहने वाला राजा प्रजा के कल्याण के लिए बड़ा दा नामक देश जा रहा है इस समाचार की प्रतिक्रिया है, 'मंत्रियों में खुशी की लहर दौड़ गई। उन्होंने राजा की जय जयकार की और उसके साथ सेल्फी ली। इसके बाद कलाकारों को निर्देश दिया गया कि अतिशीघ्र इस महान अवसर के बारे में कविताएँ और कहानियाँ लिख कर पूरे देश में फैला दें। डुगडुगी वालों से कहा गया कि पूरे देश में इस बात की डुगडुगी पीटी जाय। एकाध नासमझ डुगडुगी वालों ने सवाल किया कि आखिर किस बात की डुगडुगी पीटी जाय तो दूसरे डुगडुगी वाले ही उनके ऊपर चढ़ बैठे।' इस यात्रा के मध्य में ही राजा को एक ख़याल आया और वह प्रजा के कल्याण के लिए यात्रा के बीच में ही देश लौटकर आ गया। उसने घोषणा की, 'राजा ने अपने संबोधन में परमपिता परमेश्वर को धन्यवाद दिया कि उनकी उस पर असीमित कृपा बनी हुई है। राजा ने कहा कि बात यह है कि आप सब अब तक सिर्फ दाएँ हाथ से सारे जरूरी काम करते रहे हैं। ऐसे में आपका बायाँ हाथ धीरे धीरे पिछवाड़ा साफ करने के अलावा किसी काम का नहीं रह जाता। अब आपको अपने देश के लिए बाएँ हाथ को भी उतनी ही तत्परता से काम में लगाना है ताकि हमारा देश दिन

दूनी रात चौगुनी उन्नति कर सके। पर गुलामी के दिनों ने आप सबकी आदतें खराब कर रखी हैं। इसलिए हमें आपके हित में, आपके और हमारे महान देश के हित में कुछ सख्त फैसले लेने होंगे।' असल में राजा को ख़याल आया कि देश का विकास में एक समस्या यह है कि प्रजा एक हाथ से ही काम करती है जिससे दूसरा हाथ यानी बायाँ हाथ बेकार रहता है। तो उसने घोषणा की, 'मेरी प्यारी प्रजा आज और अभी से आपको तब तक के लिए अपने सारे काम बाएँ हाथ से करना है जब तक कि आप बाएँ हाथ से सारे काम करने के उसी तरह से अभ्यस्त नहीं हो जाते जैसे कि दाएँ हाथ से करते हैं। ...और जो भी लोग गुलामी की शक्तियों के प्रभाव में या फिर विदेशी ताकतों के दबाव में इस आदेश को मानने से मना करें उन्हें देश और देश की प्रजा का दुश्मन मानते हुए कड़ी से कड़ी सजा दी जाय। यह आदेश आज और अभी से लागू समझा जाय।' अब प्रजा की बारी थी। प्रजा ने एक चोर रास्ता निकाला कि बायाँ हाथ ही काटकर फेंक दिया ताकि दाएँ हाथ से काम कर सकने का बहना मिल जाए लेकिन जो लोग ज्यादा देशभक्त थे उन्होंने अपना दायाँ हाथ ही काट फेंका। सत्ता के निरंकुश और अविवेकी चरित्र पर कलाओं ने हमेशा विचार किया है और व्यंग्य तथा विद्रूप से इसका उत्तर दिया है। चित्रकला में गुएर्निका हो ब्रेख्त की कहानियाँ-कविताएँ, वे सब हमारे सामने इस सम्बन्ध में बड़ा उदाहरण रखती हैं। यहाँ स्वर्णदेश और उसके राजा के रूपक में वर्तमान समय की विडंबनाओं को साफ़ साफ लक्षित किया जा सकता है। आगे कहानियाँ जहाँ अपने स्वतंत्र रूप में इन विडम्बनाओं को बारीकी से देखती हैं वहीं एक शृंखला के रूप में भी उन्हें देखना इस रचनाशीलता के सामर्थ्य को पहचानना है।

'बेरोजगारी समाप्त करने के रामबाण उपाय' और 'किसान आत्महत्या आयोग का पत्र' इसी भाव शृंखला की अगली कहानियाँ हैं जिनमें स्वर्ण देश की प्रजा और राजा के मौलिक चिंतन से पाठक लाजवाब होता है। राजा प्रजावत्सल है और वह प्रजा के वास्तविक दुःखों के सम्बन्ध में जानना चाहता है। उसे ज्ञात होता है कि बेरोजगारी बड़ा दुःख है। आगे देखिये, 'राजा ने पूछा कि गुप्तमंत्री अगर इतने ज्यादा लोग बेरोजगार हैं तो फिर वे जिंदा कैसे हैं? उनके खाने के लिए भोजन कहाँ से आता है? उनके पहनने के लिए कपड़े कहाँ से आते हैं? रिपोर्ट में कुछ न कुछ तो घपला है। गुप्तमंत्री तुरंत बोल पड़ा। सही कह रहे हैं हुजूर। ये समस्या आयोग का अध्यक्ष काम तो बड़ी जिम्मेदारी से करता है पर इसमें एक बड़ी दिक्कत है। हुजूर पहले यह वीर रस का बहुत बड़ा कवि रहा है। लग रहा है कि इसकी कविताई अभी गई नहीं। पूरी संभावना है कि इसने रिपोर्ट में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया हो। कवि है हुजूर, क्षमा करें उसे।' आखिर समूचे उद्यम के बाद राजा का निष्कर्ष है, 'तो सुनिए। असली बात यह है कि बेरोजगारी कोई समस्या है ही नहीं। यह काहिली के संस्कार हैं जो आपको बताते हैं कि आप बेरोजगार हैं। एक बार जैसे ही आप इससे मुक्त होंगें वैसे ही यह समस्या हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगी। मैंने अब तक जानबूझकर इस समस्या में हाथ नहीं लगाया था। यह तो अवसर है अपना मनचाहा काम करने का।' राजा न केवल प्रजावत्सल है अपितु दूरदर्शी और ऊँचे लक्ष्यों के लिए प्रयत्नशील भी है। अपने उद्‌बोधन में वह न केवल बेरोजगारी के अंत की घोषणा करता है बल्कि आगे एक महान संकल्प भी रख देता है, 'ऐसे ही मैं आप सबसे पूछता हूँ कि जब हमारा देश विश्व गुरु था तो यह किसके दम पर था? हमारे ऋषियों मुनियों के दम पर। उनके तप और ज्ञान के बल पर। आज वह बल कहाँ चला गया है। मैं आप सबका आह्वान करता हूँ कि आप जंगलों में जाएँ और तपस्या करें। आप पर्वतों पर जाएँ और ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञान की भूख ही असली भूख होती है। आप यह बात क्यों भूल

गए हैं। यह ज्ञान जब प्राप्त हो जाता है तब पेट की भूख रंचमात्र भी नहीं सताती। क्या आप भूल गए हैं कि हमारे ऋषि लाखों साल तक बिना खाए पिए बस तप में लीन रहा करते थे। हमें वह बहुमूल्य ज्ञान फिर से अर्जित करना है।'

'किसान आत्महत्या आयोग का पत्र' में राजा अपने स्वर्णदेश के किसानों की समस्याओं के स्थाई समाधान के लिए कृतसंकल्प है। उसकी विशेषज्ञ समिति का निष्कर्ष देख लेना चाहिए, 'आप ही बताइए कि यह कितनी सीधी सादी बात है कि जो इस दुनिया में आया है वह एक दिन इस दुनिया से जाएगा भी। इसमें राजा भला क्या करे। राजा कितना भी ताकतवर क्यों न हो जाय पर वह मृत्यु को कैसे रोक सकता है। जो पैदा हुआ है वह मरेगा ही। तो किसान मजदूर मरने से भला कैसे बच सकते हैं। लेकिन नए समय की लीला अपरंपार। देशी-विदेशी अखबारों में किसानों की आत्महत्या की खबरों को इतनी प्रमुखता से छापने का आखिर क्या उद्देश्य था? विदेशी अखबार तो खैर स्वर्णदेश को बदनाम करने के लिए हमेशा लगे रहते हैं पर देशी अखबारों को तो सोचना चाहिए था कि इस तरह की नकारात्मक खबरों से स्वर्णदेश की प्रतिष्ठा को कितनी चोट पहुँचती है।' यही नहीं असली उद्भावना आगे है, 'ऐसे ही जो पक्के घर में रहता है वह किस तरह से किसान हुआ? जो मिट्टी के घर में रह नहीं सकता वह मिट्टी में लथपथ होकर खेती भला कैसे करेगा?' हमारे समय के मध्यवर्ग से ऐसी बातें सुनना अत्यंत सहज और सामान्य है। अपने से भिन्न वर्ग के (यदि वे अपने से निम्न हैं तो और भी अधिक) लोगों के सम्बन्ध में अपमानजनक धारणाएँ बनाकर उन्हें बार बार दोहराते रहने से कुछ देर तक भ्रम की स्थिति बनी रह सकती है लेकिन ऐसा देर तक नहीं चल सकता। कहानीकार इस प्रवृति को बहुत ध्यान से देख रहा है और उस पर प्रहार कर रहा है।

संग्रह की अंतिम कहानी 'पीछे चलो, भविष्य कहीं नहीं है' में जैसे स्वर्ण देश के राज्य दर्शन का निचोड़ आ गया है। देखिये, 'भविष्य भ्रम है और भ्रम ही भविष्य है इसलिए हमें किसी भ्रम में नहीं रहना चाहिए। दरबारियों के चेहरे पर कुछ अबूझ बूजते हुए राजा ने कहा कि चलो इसे दूसरी तरह से कहता हूँ। भविष्य क्या है? आनेवाला कल। जो आनेवाला कल है वह कल वर्तमान बन जाएगा और परसों अतीत। भविष्य और वर्तमान अतीत में बदल जाते हैं पर एक अतीत ही है जो कभी नहीं बदलता। वह सूरज और चाँद की तरह सदा स्थिर रहता है बल्कि उसका भंडार बढ़ता ही जाता है। इसलिए हमें उसी की उपासना करनी चाहिए। वह अतुलित फल देने वाला है।' लाजिम है कि वर्तमान त्रासद है और भविष्य किसने देखा तो अतीत ही जो गौरव की अनुभूति करवाता है। इस समूचे उपक्रम में सत्ता के सभी उपादानों पर उनकी दृष्टि सम्यक ढंग से जाती है चाहे वह चौथा खम्भा हो तीसरा। वे जानते हैं कि पाठक भी सब जानता है इसलिए कुछ नया रहस्य खोल देने जैसी चपलता उनके यहाँ नहीं है बल्कि वे जाने-देखे को धीरज से व्याख्यायित करते हैं और पाठक को लेखक से अभिन्न होने की अनुभूति देते हैं। संग्रह की अन्य कहानियाँ 'सोने की गाय में बदलता एक देश' और 'बिना काम के जीवन' को इस संदर्भ में देखना संतोषप्रद है।

कहानीकारों की नयी पीढ़ी में मनोज इसलिए अलहदा और ख़ास हैं कि उनकी कहानियाँ हिंदी के जातीय गद्य के 'पाठ सुख' का अनुपम उदाहरण भी बन सकी हैं जिसके लिए कथा की अंतर्वस्तु और कहन की वक्रता को समान श्रेय देना होगा। प्रहसन जैसी लगती इन कथाओं की शक्ति इनमें मौजूद विडम्बनाओं से आँकी जा सकती है जो हमारे समय की उपज हैं। साथ ही विचारधारा की शक्ति और परम्परा का ज्ञान इन कहानियों को कोरे प्रहसन बन जाने से रोकता है। उनका ध्यान केवल कौतुक करने में नहीं रहता बल्कि वे कहानियों में डिटेल्स

की तरफ जाते हैं। वे समस्याओं को समझने की कोशिश करते हैं और उन समस्याओं के लिए जिम्मेदार छोटे छोटे कारकों को भी खोजने की कोशिश करते हैं। इस समूची प्रक्रिया में कथारस को क्षरित न होने देना उनकी सफलता है। कहना न होगा कि ये कथाएँ अपनी परम्परा में एक तरफ भारतेन्दु और परसाई के लेखन की याद दिलाती हैं तो दूसरी तरफ मनोज की कथन-भंगिमा इन्हें देर तक याद रखने योग्य रचनाओं का रूप देने में सफल हुई है। जिस 'उत्तर सत्य' का हवाला देकर नया मीडिया अपने वर्तमान के झूठ को परोसता है और सच्चाई से मुँह मोड़कर खड़ा रहता है वहाँ मनोज जैसे युवा कथाकार का यह कथा प्रयोग झूठ का 'सत्य उत्तर' बन जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं। उम्मीद की जानी चाहिए कि एक ख़ास समय और दौर को लक्षित कर किया गया यह रचनात्मक प्रयोग उनके कथा लेखन को आगे और नए रास्तों की तरफ ले जाने की प्रेरणा देगा, वे इस संग्रह की सफलता से संतुष्ट होकर स्वर्णदेश की नागरिकता नहीं ले लेंगे।

पुस्तक : बदलता हुआ देश/ मनोज कुमार पांडेय/ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली/ मूल्य : ₹ 395

संपर्क : 393, ब्लॉक सी एंड डी, कनिष्क अपार्टमेन्ट, शालीमार बाग, नई दिल्ली-110088, मो. 8130072004

वैधानिक गल्प : 'उत्तर सत्य' का आख्यान

राहुल सिंह

रवीन्द्र कालिया ने जिस 'युवा पीढ़ी' को हिंदी जगत के सामने लाने का काम किया था उन दिनों उसके दो सबसे चमकते नाम चंदन पाण्डेय और कुणाल सिंह हुआ करते थे। 'युवा-पीढ़ी' की बातें जब भी हुआ करती थीं तो चंदन-कुणाल किसी अनुप्रास की तरह उन दिनों लेखों और वक्तव्यों में शामिल रहते थे। तब वे अपनी कहानियों के कारण जाने-सराहे गये थे। साल 2010 में कुणाल सिंह का उपन्यास 'आदिग्राम उपाख्यान'[1] आया था और अब उसके दस साल बाद 2020 में चंदन पाण्डेय का उपन्यास 'वैधानिक गल्प'[2] आया है। इन दोनों उपन्यासों से गुजरने के बाद इन नामों के पीछे उठे शोर को संगत तरीके से समझा जा सकता है कि उन दिनों भी इनके सामर्थ्य और संभावनाओं को पहचानने में हिंदी समाज से कोई चूक नहीं हुई थी। बल्कि इन दस सालों में जबकि फिर से एक समर्थ पीढ़ी हिंदी कथा संसार में दस्तक दे चुकी है। अगर इस बाद की पीढ़ी के एक सशक्त उपन्यास की बात करनी हो तो अकेले शिवेन्द्र और उनके 'चंचला चोर'[3] का नाम पर्याप्त है। ('आदिग्राम उपाख्यान' पर लिख चुका हूँ,[4] 'वैधानिक गल्प' के साथ उपस्थित हूँ और इस सिलसिले में अगली कड़ी शिवेन्द्र की 'चंचला चोर' होने जा रही है।) इन तीन उपन्यासों को पढ़ने के बाद इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि हिंदी भाषा और साहित्य की जो विरासत रही है और उस विरासत को संजोने और बढ़ाने का जो काम पीढ़ियाँ करती आई हैं, उस दिशा में इस पीढ़ी ने अपना अंशदान करना आरंभ कर दिया है। बगैर किसी रियायत के यह सभी उपन्यास हमारे समकाल को रेखांकित और परिभाषित करने में कई अर्थों में समर्थ हैं। (तरुण भटनागर का 'राजा, जंगल और काला चाँद'[5] का कुछ हिस्सा पढ़ा था, समग्रता में उपन्यास देख नहीं सका हूँ, अब तक अगर पढ़े गये हिस्से के अनुरूप ही वह विकसित हुआ हो, तो इस कड़ी में उसे भी आगे शामिल करूँगा।) शिवेन्द्र को दरकिनार कर दें तो 'युवा पीढ़ी' की राजनीतिक दृष्टि या दृष्टिविहीनता के जो आरोप उन पर उदीयमान अवस्था में लगते रहे थे, यहाँ तक आते-आते अपनी लेखनी से अपनी राजनीति

और पक्षधरता का स्पष्ट पता वे दे रहे हैं। शिवेन्द्र के उपन्यास से भी उनकी पक्षधरता का पता साफ-साफ चलता है, अलग से उन्हें यहाँ रेखांकित करने की वजह यह है कि वे 'युवा पीढ़ी' के बाद की पीढ़ी की आमद हैं। तो आते हैं 'वैधानिक गल्प' पर।

जिस बात ने पहले-पहल इस उपन्यास की ओर ध्यान खींचा था, वह इसका शीर्षक है। चंदन पाण्डेय की कहानियों के शीर्षकों की यह खूबी रही है कि शीर्षक कहानी के बारे में कोई चुगली नहीं करते हैं। ऐसा चंदन पाण्डेय के साथ बिलकुल शुरू से है। 'परिंदगी है कि नाकामयाब है' और 'देहरी का दीया' वाले प्रसंग से हम सब परिचित हैं।[6] यहाँ भी 'वैधानिक गल्प' को पढ़ने के पूर्व यह अनुमान लगाने की कोशिश की गई कि इसका आशय क्या हो सकता है? आखिर उपन्यास किस बारे में होगा? लेकिन नतीजा सिफर रहा। और फिर शीर्षक का आशय समझने की नीयत से उपन्यास को हाथ भर लगाया था कि उपन्यास ने खींच कर अपने भीतर ले लिया। (एक मजे की बात यह कि उपन्यास में भी एक प्रसंग आता है जिसमें एक नाटक का शीर्षक है 'बचाने वाला है भगवान'। उपन्यास का सूत्रधार अर्जुन नाटक के शीर्षक के प्रति अपनी नापंसदगी जाहिर करता है।) मेरे लिए यह इस बात की तस्दीक करने के लिए काफी है कि चंदन पाण्डेय शीर्षकों को लेकर बहुत सचेत और सजग कथाकार हैं।

बहरहाल, तकरीबन 119 पन्नों के बाद 'वैधानिक गल्प' का अर्थ स्पष्ट होता है और जैसे यह अर्थ स्पष्ट होता है, वैसे ही 'वैधानिक गल्प' हमारे 'समकाल', हमारे 'देशकाल' के एक रूपक में तब्दील हो जाता है। इसका हमारे समय के 'मेटाफर' में तब्दील होने की योग्यता ही इसे हमारे समय के कद्दावर गद्य में बदल देता है।

जब 'वैधानिक गल्प' का अर्थ समझने की कोशिश कर रहा था तो पहले-पहल ध्यान क्वेंटिन टारनटिनो की फिल्म 'पल्प फिक्शन' की ओर गया कि क्या उसी की तर्ज पर यह 'स्टैच्यूटरी फिक्शन' जैसी कोई चीज नुमायाँ हुई है? शीर्षक को छोड़कर बाकी इस दिशा में दिमागी घोड़ों की दौड़ नाकाफी साबित हुई। बल्कि उपन्यास पूरा पढ़ने के बाद फौरी तौर पर 'कथ्य के परतों के क्रमशः खुलते जाने की प्रविधि' माइकल हेनके की फिल्मों की प्रविधि के ज्यादा नजदीक जान पड़ी। हिंदी में इस प्रविधि का खूबसूरत और अर्थपूर्ण इस्तेमाल गौरव सोलंकी ने अभी अपनी हालिया फिल्म 'आर्टिकल-15' में किया है। इस 'अनफोल्ड' होनेवाली तकनीक या 'क्राफ्ट' के धरातल पर 'वैधानिक गल्प' और 'आर्टिकल-15' दोनों माइकल हेनके के नजदीक पड़ते हैं। इस 'क्राफ्ट' की खूबी यह है कि आद्यंत कथ्य के प्रति उत्सुकता बनी रहती है या कहें कि कथ्य की गिरफ्त में आप होते हैं। आप अपनी मर्जी से कथ्य के इस ताने-बाने से मुक्त नहीं हो सकते हैं। 'अप्रत्याशित मोड़' इस किस्म के कथ्यों की खासियत होती है और हर मोड़ पर कहानी का कुछ अनदेखा-अनजाना उद्घाटित होता चलता है और उतना ही अनुद्घाटित बचा भी रहता है। कथ्य का यह फेरा कथानक के अंत में जाकर पूरे घटनाक्रम को उजागर और रौशन करने का काम करता है। चंदन पाण्डेय की कहानियों से यदि आप परिचित हों तो कहानी को थ्रिलर में बदलने की उनकी खूबी से भी आप परिचित होंगे। 'वैधानिक गल्प' में कलात्मक संतुलन के साथ इसका इस्तेमाल उन्होंने किया है। इसके नपे-तुले-पन में जो कलात्मक संयम है, वह देखने की बात है, कुछ भी कहीं अतिरिक्त नहीं है। कसरत से जैसे जिस्म के कटाव और बाजुओं को संवारा जाता है, 'वैधानिक गद्य' का गल्प और गद्य वैसा ही तराशा-निखरा हुआ है। अतिरिक्त और अनपेक्षित विस्तार को जिस कदर उपन्यास में जज्ब किया गया है, वह सीखने की बात है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास लिख लेने के बाद एक अंतराल के बाद फिर से उसके पास एक तटस्थ और निर्मम दूरी के साथ रचनाकार

बहैसियत पाठक और संपादक के रूप में गया हो, और जो भी अतिरिक्त लगा हो पूरी निर्ममता के साथ उसे छील आया हो। एक रचनाकार को कैसे अपनी रचनाओं का सख्त संपादन करना चाहिए, इसे सीखने का सबसे अच्छा उदाहरण स्टीफन ज्वाइग का 'गुजरा हुआ जमाना'[7] है।

'वैधानिक गल्प' मामूली ढंग से खुलकर लगातार गैर-मामूली होते जानेवाला आख्यान है। लेकिन गैर मामूली होते जाने के बाद ऐसे 'क्राफ्ट' की एक बड़ी सीमा यह होती है कि एक बार जब सभी परतों को पार कर सत्य का संधान कर लिया जाता है, तो पुनर्पाठ या बारम्बार पढ़ने की अनिवार्यता और कुछ नया अर्जित करने की संभावनाएँ क्षीण होती चली जाती हैं। पाठ के धरातल पर ऊपर जिन तीन उपन्यासों की चर्चा की है, उसमें सर्वाधिक पुनर्पाठ की माँग करनेवाल उपन्यास 'चंचला चोर' है, फिर 'आदिग्राम उपाख्यान' जिसके हर पाठ में कुछ नया निकल आने की संभावना है। जबकि 'वैधानिक गल्प' का बड़ा हिस्सा उलझी हुई गुत्थियों के एक-एक कर सुलझते जाने पर टिका है। तो जब गुत्थी सुलझ जाती है तो फिर जानने को बहुत कुछ रह नहीं जाता है। इस लिहाज से प्रियदर्शन का 'जिंदगी लाइव'[8] भी पढ़ा जाना चाहिए। पर चंदन जहाँ 'जिंदगी लाईव' से अलग राह बनाते हैं, वह कथ्य को बरतने का मोर्चा है। अतिरिक्त के कतरब्योंत का मोर्चा है। कहानी के साथ चंदन पाण्डेय एक भय, सिहरन और दहशत को जिस तरीके से दिलोदिमाग में उतारते हैं, वहाँ वे इस 'जॉनर' में अलग खड़े दिखते हैं।

एक अत्यन्त निजी प्रसंग से जब उपन्यास की शुरुआत होती है तो इस बात का कोई कतई अनुमान नहीं कर पाता है कि निजी प्रसंग से जो कहानी आरंभ हो रही है, वह सामाजिक संरचना में दाखिल होते हुए हमारे समय की राजनीति को बेपर्द कर जायेगी। पूरे घटनाक्रम को उसकी सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया को कथा में साकार कर देने का जो सामर्थ्य है, वह इस उपन्यास को अलग से उल्लेखनीय बनाता है।

उत्तर आधुनिकता (पोस्ट मॉडर्निटी) और उत्तर सत्य (पोस्ट ट्रुथ) की अवधारणाओं की दृष्टि से भी इस उपन्यास को देखने की जरूरत है कि कैसे 'पोस्ट ट्रुथ' का निर्माण हमारे समय में किया जा रहा है। हमारे समय में 'पोस्ट ट्रुथ' की पटकथा या तो कॉरपोरेट लिख रहे हैं या राजनीतिज्ञ। उस पटकथा को साकार और मूर्त्त करने का काम भले मीडिया और प्रशासन प्रत्यक्षतः करते नजर आते हों लेकिन इसके निर्माण और निर्देशन में राजनीति की भूमिका को दरकिनार नहीं किया जा सकता है। 'पोस्ट ट्रुथ' के निर्माण में आनेवाली लागत की अदृश्यता पर 'पोस्ट ट्रुथ' की वैधता और मारक क्षमता दोनों निर्भर करती है। एक पूरा का पूरा तंत्र मिल कर इस 'पोस्ट ट्रुथ' को रचने का काम करते हैं। सत्य के बरक्स एक ऐसा झूठ जो सत्य की तुलना में ज्यादा विश्वसनीय और प्रामाणिक जान पड़े। एक अर्थ में 'उत्तर सत्य' उत्तर आधुनिकता के दौर से आगे की चीज है। उत्तर आधुनिकता में सत्य के सापेक्ष होने की बात की जाती थी। मतलब उत्तर आधुनिक समय में विशुद्ध सत्य जैसी किसी चीज का दावा करना बहुत मुश्किल था कि वस्तुतः यही सत्य है। उत्तर आधुनिकता ने एक ही समय में सत्य के इतने रूप प्रस्तावित कर दिये कि उसमें से असंदिग्ध सत्य की पहचान मुश्किल हो गई। 'पोस्ट ट्रुथ' में इस 'सापेक्षता' की जगह एक 'समांतर सत्य' ने ली है जो वस्तुतः झूठ है। मतलब सत्य के कई संस्करणों के बजाय एक प्रधान झूठ का निर्माण। उत्तर आधुनिकता में सत्य के कई संस्करण मौजूद रहते थे अब एक प्रधान संस्करण मौजूद है। ऐसा झूठ जिसके पाये इतने मजबूत हों कि वह सच का पाँव उखाड़ने की कुव्वत रखते हों। जैसे इराक के पास जैव हथियारों के होने की बात। ऐसे झूठ का निर्माण और उत्पादन कैसे होता है? इसकी पैकेजिंग कैसे होती

है? और अंततः 'पोस्ट ट्रुथ' कैसे 'वैधानिक गल्प' में तब्दील हो जाता है, 'पोस्ट ट्रुथ' की निर्मिति में शामिल शक्तियों और उसकी कार्यशैली को यह उपन्यास प्रत्यक्षीकृत करने का काम करता है। यही इस उपन्यास की उपलब्धि है।

आजादी के वक्त तो कायदे से हम मानवाधिकारों के मोर्चे पर ही सफल नहीं हो सके थे और विडम्बना यह थी कि हम नागरिक अधिकारों के दौर में दाखिल हो गये थे। आजादी के 73 साल बाद एक नागरिक के बतौर इन दोनों मोर्चों पर हम फिसड्डी साबित हो चुके हैं। राज्य और राष्ट्र सत्ताएँ गर चाह लें, तो मानवाधिकारों और नागरिक अधिकारों के हनन की कोई भी हद लाँघ जाने में कभी-भी सक्षम हैं। बल्कि पिछले पाँच-छह साल तो इसके स्वर्णिम काल रहे हैं। इस उपन्यास की बुनियादी टेक इसी नागरिक अधिकार के हनन की संगठित कोशिशों की निरंतरता को रेखांकित करना है। अगर आपकी पहुँच ऊपर तक ना हो तो आपके जान की कोई कीमत नहीं रह गई है। आप न्याय पाने की कामना तक नहीं कर सकते हैं। एक गुमशुदगी की थाने में रिपोर्ट तक आप दर्ज नहीं करा सकते हैं। कानून और व्यवस्था गर ताकतवर के पक्ष में खड़ा हो जाये तो एक लाचार आदमी कितना बेबस और दयनीय हो सकता है। उस दयनीयता की टेर से उपन्यास की शुरुआत होती है। उपन्यास के मूल में रफीक नील की गुमशुदगी है। उसकी गुमशुदगी की प्राथमिकी दर्ज कराने में असफल उसकी पत्नी अनुसूया नील और उसकी कोशिशें हैं। कोई भी अपराध घटित ही तब होता है, जब राज्य की कानून व्यवस्था असफल हो जाती है। यहाँ भी कुछ वैसा ही हुआ है। अनुसूया की बेबसी और लाचारी का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि सब जगह से थक और हार जाने के बाद उम्मीद की आखिरी लौ के रूप में दस-बारह साल पुराने प्रेम संबंध को याद करती है। बल्कि याद दिलाती है कि वह कौन बोल रही है। इसके बाद दिल्ली, गोरखपुर और बिहार की सीमारेखा पर स्थित देवरिया के सलेमपुर के नोमा नामक बस्ती में दाखिल होती है और उस भू-भाग में जो कुछ भी घटित हो रहा है, राष्ट्रीय फलक के लिए वह एक पंक्ति की खबर नहीं है। लेकिन सच यह है कि पूरे देश में यह हर कहीं घटित हो रहा है और हर जगह इन्हें देश के संज्ञान में लाने की जद्दोजहद ऐसी ही है। इसलिए देवरिया के सलेमपुर का नोमा पूरे देश का प्रतीक हो जाता है। नागरिक केवल कस्बों या बस्तियों से गायब नहीं हो रहे हैं वह तो देश की छाती में स्थित सर्वाधिक प्रतिष्ठित और सुरक्षित समझे जानेवाले जेएनयू जैसे संस्थान से भी गायब हो जा रहे हैं और उसका कोई फॉलोअप कहीं नहीं है। फर्क इतना है कि कहीं बिलखती हुई माँ हैं, कहीं बिलखती हुई बीवी, कहीं बिलखती हुई बेवा, कहीं बिलखता हुआ बाप, कहीं बिलखती हुई बहन। इन छवियों को गौर से देखने की जरूरत है। दुःख की दारुण छवियों से हमारे समय का एलबम भर गया है। और फिर भी हम असल चीज को देख नहीं पा रहे हैं। इस संज्ञा भाषा को त्याग कर एक सवाल और उदाहरण के जरिए इसकी गंभीरता को समझने की कोशिश करें। हमारे लिए नजीब का गायब हो जाना ज्यादा चिंता का बायस होना चाहिए या उसका ना ढूँढा जा सकना? कौन हमारे वक्त की बड़ी त्रासदी है? दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू से दिखते हैं लेकिन रुक कर सोचिए यह दरअसल व्यवस्था का सवाल है। जब नजीब को ढूँढने निकलेंगे तो उसकी बिसूरती-बिलखती माँ की एक छवि दिखेगी या फिर एक 'कमतर आख्यान' जिसमें नजीब के सीमा पार चले जाने की कहानी होगी या उसके खुद भूमिगत हो जाने की कोई कथा। दुःख में डूबी इन छवियों से कोई सामाजिक संदेश इस रूप में हम तक नहीं पहुँचता कि उन तस्वीरों को देखकर हम व्यवस्था के फेल होने को उसका जिम्मेदार मान सकें। यह दुःख की व्यक्तिगत छवियों के बतौर हम तक पहुँचते हैं और अगले

ही पल हम उनसे आजाद हो चुके होते हैं। 'पोस्ट ट्रुथ' की अवधारणा में अनुस्यूत ताकत को समझने का यह अच्छा उदाहरण है। उपन्यास में नजीब की जगह रफीक है। 'पोस्ट ट्रुथ' का इस्तेमाल एक 'नैरेटिव' गढ़ने के लिए लगातार किया जा रहा है। उस 'नैरेटिव' का कोई भी अर्न्तसूत्र कहीं मिल जाये तो पूरी कथा उसके इर्द-गिर्द पहले से गढ़ी जा चुकी होती है। बस 'क्रोनोलॉजी' समझ में आनी चाहिए। इसी उपन्यास के पृष्ठ संख्या 102 में जब रफीक और जानकी को लेकर 'लव जिहाद' वाली खबर छपती है, उस प्रसंग को पढ़ते हुए 'पोस्ट ट्रुथ' की निर्मिति की 'क्रोनोलॉजी' को समझा जा सकता है कि कैसे एक बने-बनाये 'नैरेटिव' में बस उसे पिरो भर देने से काम हो जाना है। इसे उपन्यास के ही एक उद्धरण के जरिए समझते हैं—''बहुत कम सच्चाइयाँ मृत्यु जितनी स्पष्ट होती हैं, अधिकतर सच किसी झूठ के कुहासे में उलझे होते हैं, लेकिन वहाँ कुहासे की एक परत हटाते ही हकीकत का आभास होने लगता है।''[9] शास्त्रों के हवाले से कहें तो 'सत्य का मुख स्वर्ण से ढँका है।' या फिर 'धर्म के तत्त्व को अंधकार में रखा गया है।' हर दौर में सत्य तक पहुँचने की राह कठिन रही है। इस 'उत्तर सत्य' के दौर में फर्क यह आया है कि सत्ता का जोर सत्य के संधान पर नहीं उस कुहासे को गहरा करने पर है। यह कुहासा एक खास राजनीतिक मकसद से देश में पैदा किया जा रहा है। मकसद फकत इतना है कि 'व्यवस्था की तैयार कहानी को हमारी हकीकत पर चस्पां कर देना और ऐसा करके हमें सामूहिकता से अलग कर देना।'[10] बल्कि अब एक जमात ही तैयार बैठी है, जिसे कुहासा वाला सत्य ही चाहिए। यह 'उत्तर सत्य' के उपभोक्ता हैं। सोशल मीडिया और व्हाट्सएप इनका फील्ड है, जहाँ ये नेट प्रैक्टिस कर रहे हैं। 'फेक न्यूज' इसी 'पोस्ट ट्रुथ' का गोतिया और सहोदर है। और यह अकारण नहीं कि इस उपन्यास में 'फेक न्यूज' भी अपनी पूरी गरिमा के साथ मौजूद है।

मानव सभ्यता की प्रगति को मापने या आँकने के कई मानदंड हो सकते हैं। 'वैधानिक गल्प' प्रतिमान के बतौर इसमें जो जोड़ता है वह सच में विचारणीय है, सराहनीय है। ''अगर सभ्यता को प्रगति करनी ही थी तो इस ओर करना चाहिए था कि किसी के सामने उसका प्रिय मार न दिया जाए, गायब न कर दिया जाए।''[11] इसी एक कसौटी पर विचार कीजिए कि ''हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी?'' उपन्यास के आखिरी बीस पन्नों में एक 'सभ्यता समीक्षा' है। ऐन इस वक्त सभ्यता की जिस जमीन पर हम खड़े हैं, उसी सभ्यता की समीक्षा। उपन्यास जोर देकर इस तथ्य को रेखांकित करता है कि ''जिन चीजों को हम मामूली घटना मानकर बैठे रह जा रहे हैं, वह आज की तारीख में उभरती हुई एक समानान्तर व्यवस्था है। ये दूसरी ही दुनिया के लोग हैं। पुलिस के समानान्तर इनके पास गुंडे हैं। खालिस अपराधी। पहले ये सत्ता सारी हत्याएँ पुलिस से कराती थी, अब पुलिस इनके लिए दूसरा निमित्त है।''[12] विजयदेव नारायण साही के शब्दों में कहें तो साहित्य की एक भूमिका अपने समय के मनुष्य को परिभाषित करना भी है। इस लिहाज से देखें तो 'वैधानिक गल्प' हमारे समय के ऐसे मनुष्यों की पहचान कराता है, जिनके लिए मनुष्य केवल एक धार्मिक पहचान में न्यूनीकृत होकर रह गया है। जब नियाज यह वाक्य उपन्यास में बोलता है कि ''मैं भी नहीं समझ पाया, क्यों? आज तक नहीं समझ पाया। उस ग्रुप में दो लड़के मेरे साथ ही बी॰एससी॰ अन्तिम वर्ष के छात्र थे। बस उन्हें कोई मुसलमान चाहिए था। अगर मैं अकेला होता तो भी वे मुझे मार सकते थे।''[13] तो बता नहीं सकता मेरे भीतर कौन-सा भाव ऐन उस वक्त पैदा हुआ था। उसमें शर्म भी थी, दुःख भी था, क्रोध भी था, अपमान भी था, लाचारी भी थी। वही लाचारी जो उपन्यास के अंत के ठीक पहले नियाज के ठिकाने के बाहर बुजुर्ग के जोड़े हुए हाथों में है।

हाथ जोड़ कर भी जान बचाना मुश्किल हो गया है, ऐसे अंधे दौर में यह उपन्यास साहसिकता की मिसाल कही जा सकती है।

यह प्रथमतः तो नहीं पर अंततः एक राजनीतिक उपन्यास है। कमाल उपन्यास के कथ्य की अलग-अलग वीथियों से गुजरने में है। उपन्यास इतने मोड़ लेता है, इतनी तेजी से अपना मिजाज बदलता है कि एकबारगी यकीन करना मुश्किल हो जाता है कि इसका गंतव्य यह था। जैसे 'वेटिंग फोर गोदो' में गोदो नहीं आता, वैसे ही पूरे उपन्यास में रफीक। रफीक की जो त्रासदी है, वह तो है ही। पर छोटी-छोटी इतनी त्रासदियाँ इसमें हैं कि उसका समुच्चय हमारे वक्त की त्रासदी की ओर इशारा करता है। अनुसूया, जानकी, अनुराधा, नियाज, अमनदीप, कुशलपाल और मुकेश। यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि किसकी त्रासदी ज्यादा बड़ी है। इन त्रासदियों पर विस्तार से बात की जा सकती है, पर इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि आप स्वयं अपने पाठ में उस तक पहुँचे। यद्यपि अमनदीप का किरदार उत्तराखंड के बहादुर पुलिस अधिकारी गगनदीप सिंह से प्रेरित है, पर अमनदीप को पढ़ते हुए आपको एक दूसरे प्रसंग में अभी डॉ कफील याद आ सकते हैं। उनके हश्र से अमनदीप के हश्र का मिलान करने पर हमारे दौर की राजनीति की कार्यशैली की एक बेहतर समझ बन सकती है। नियाज तो खैर इतनी संख्या में आस-पास दिखने लगेंगे कि गिनना मुश्किल हो जायेगा। नियाज के भीतर बैठा वह डर आपके भीतर जिंदा हो उठेगा जब वह यह कहता है कि ''मुझ पर जब हमला हुआ तब उस खास पल में मृत्यु का भय मुझे उस कदर नहीं हुआ जितना बाद के दिनों में हुआ जब उसी दृश्य में रफीक मास्टर को देखता था। तब मेरी रुलाई फूट पड़ती थी। तीन बार मैंने इस नाटक को देखा और हर बार मुझे लगता कि नाटक के भीतर जो पुलिसवाला है अगर वो पहुँचने में देरी कर दे तब रफीक मास्टर सच में मार दिए जाएँगे।''[14]

इस उपन्यास की एक खास बात और है कि इसमें 'डायरी' विधा का इस्तेमाल हुआ है। डायरी का इस्तेमाल शिवेन्द्र के 'चंचला चोर' में भी है। लेकिन 'वैधानिक गल्प' में डायरी के साथ 'नाटक' विधा को भी अपने अन्तर्वस्तु में जगह दी गई है। इस उपन्यास पर बात करते हुए नाटक की विधा पर भी बात की जा सकती है। काव्यशास्त्र के मूल में भी नाटक जैसी विधा और भरतमुनि का नाट्यशास्त्र' रहा है और आधुनिक काल में भी जहाँ से गद्य विधाओं का आंरभ होता है, नाटक मौजूद है। अंग्रेज़ीराज में नाटकों की भूमिका पर गौर करें तो आज के दौर में नाटकों की भूमिका को बेहतर तरीके से समझा जा सकता है और तब जाकर यह बात ज्यादा बेहतर तरीके से समझी जा सकती है कि 'बचाने वाला है भगवान' नाटक के मंचन से परेशानी क्यों थी। नाटक अपने चरित्र में सर्वाधिक सामाजिक विधा है, समूह को उद्वेलित करने की जो क्षमता नाटक में है, वह अन्य किसी लेखन केन्द्रित सृजनात्मक विधा में नहीं है। रफीक इस बात को शिद्दत से समझते थे उनका मानना था कि ''एक व्यक्ति भी अगर उनका नाटक हत्यारी भीड़ के विरुद्ध खड़ा कर सका, तो उनका ध्येय सफल रहेगा।'[15] बस इतना ही मकसद था। पर इस विधा की अपनी दुश्वारियाँ हैं। मंचन से लेकर रंगमंच तक हर स्तर पर पैसों की आवश्यकता होती है। नाटक अनुदान पर आधारित विधा हो गई है, जो संघर्ष करके अपनी शर्तों पर नाटक खेल रहे हैं, वे सब सलाम के हकदार हैं। लेकिन ज्योंही आप अनुदान लेते हैं, उनकी शर्तें लागू हो जाती हैं। अब इसी उपन्यास में लीजिए। रफीक 'बचाने वाला है भगवान' खेलना चाहते हैं और उन्हें फंड से लेकर जगह तक विश्वविद्यालय मुहैया कराने को तैयार है लेकिन शर्त है कि उन्हें जयशंकर प्रसाद का नाटक 'चन्द्रगुप्त' खेलना होगा। इस समय देश में चल रही अनेक योजनाओं का एक अध्ययन इस लिहाज से किया

जाना चाहिए कि वास्तविक जरूरतें क्या हैं और अनुदान किन योजनाओं के लिए दिये जा रहे हैं? आप कहेंगे हमें किताब रखने के लिए अलमारियाँ चाहिए, वे कहेंगे डिजिटल बोर्ड के लिए आबंटन है। आप कहेंगे लाइब्रेरी में किताबों की खरीद के लिए कुछ फंड की जरूरत है, वे कहेंगे स्मार्ट रूम के मद में पैसे हैं, उन्हें डायवर्ट नहीं कर सकते हैं। आप कहेंगे हमें 'सुरक्षित भारत' चाहिए वे आपको 'स्वच्छ भारत' देंगे। आप चमकी बुखार और दिमागी बुखार से बचाने के उपाय चाहेंगे वे एड्स से बचाव के तरीके बतायेंगे। बनी हुई सड़कों को बार-बार बनते देखना भी इनमें शामिल किया जा सकता है।

एडहॉक शिक्षक के जीवन की दुश्वारियाँ यों तो इस उपन्यास का विषय नहीं है। लेकिन एडहॉक शिक्षक होने के नाते उनके जीवनचर्या की परेशानियों को यह उपन्यास दर्ज करता है। थाना जो विधि-विधान बनाये रखने की एक नियामक संस्था है, उसके चरित्र और कार्य शैली को यह उपन्यास जिस प्रामाणिक ढंग से सामने रखता है, वह भी विचारणीय पहलू है। एक बिन्दु और, इस उपन्यास की शुरुआत में दिये गये 'डिस्क्लेमर' के बावत और वह यह कि इस किस्म का 'डिस्क्लेमर' इससे पहले हिंदी फिल्मों में आम था कि 'इस फिल्म के सभी पात्र और घटनाएँ काल्पनिक हैं। किसी भी जीवित अथवा मृत व्यक्ति या घटना से इसकी साम्यता महज काल्पनिक संयोग हो सकता है।'' 'वैधानिक गल्प' भी ऐसी ही एक 'वैधानिक सूचना' के साथ खुलता है कि ''वैधानिक गल्प में जो कुछ भी है, काल्पनिक है। जो काल्पनिक है वह तो काल्पनिक है ही लेकिन जो सच है वह भी काल्पनिक है। व्यक्ति, कथा, शहर, घटनाएँ अगर कहीं आपको सच लगती प्रतीत होती हैं तो उसे कल्पना-दोष मानकर आगे बढ़ें।'' इस हलफनामें में हमारे लोकतंत्र का एक जरूरी सूत्र छिपा है और वह यह कि पश्चिम में चाहे वह फिल्म हो या साहित्य वहाँ यह 'डिस्क्लेमर' आम है कि 'यह फिल्म सच्ची घटनाओं पर आधारित है।' उनके यहाँ लोकतंत्र है, संघीय ढाँचा है या जो भी व्यवस्था है वह इस बात की तस्दीक करता है कि उनका संघीय ढाँचा और नागरिक बोध हमसे ज्यादा परिपक्व और उन्नत है। वहाँ भावनाएँ इतनी तेजी से आहत नहीं होती हैं। हाल के वर्षों में कला रूपों से भावनाएँ आहत होने के नाम पर हमले बढ़े हैं। चाहे वह फिल्मों के प्रदर्शन पर रोक लगाने का मामला हो, किसी की कला प्रदर्शनी को बाधित करने का मामला हो, या किसी पाठ्यक्रम से कोई अंश हटाने का मामला हो, या फिर कोई कलाकार सत्ता से अपनी असहमति जाहिर कर रहा हो तो उसके कन्सर्ट को ना होने देने का मामला हो, कानूनी दाँव-पेंच भी इस मामले में रचनाकारों के पक्ष में नहीं है। सत्ता ने एक अनकहा सेंसरशिप तो लाद ही दिया है। इसलिए इस किस्म के राजनीतिक लेखन के साथ ऐसे 'डिस्क्लेमर' का होना लाजिमी जान पड़ता है।

अंत में दो बातें और। पहली यह कि 'वैधानिक गल्प' को चंदन जिस अंदाज में अंजाम देते हैं, वहाँ उनका कहानियों वाला रियाज काम आता है। कहानियों में पाई जानेवाली त्वरा, क्षिप्रता, संक्षिप्तता, सांकेतिकता और ध्वन्यात्मकता से लैस यह उपन्यास आस्वाद के धरातल पर लम्बी कहानी-सा अहसास देता है। भले कथानक की एकरेखीयता से कथा के अपेक्षित औपन्यासिक विस्तार का बोध नहीं होता है लेकिन उस अपेक्षित विस्तार के लोभ में कथा की यह जो रवानी है, उसके बाधित होने के खतरे से इंकार नहीं किया जा सकता था। इसलिए कथा में बरता गया यह संयम भी इसकी एक खासियत है। यदि यह लोभ संवरण नहीं किया गया होता तो उपन्यास कोई भी रुख अख्यिार कर सकता था। इसलिए इसके निर्मम संपादन की बात मैंने आरंभ में की है। जैसे इस दौर में सबकुछ स्मार्ट हो रहा है। स्मार्ट इन्वर्टर, स्मार्ट रेफ्रिजरेटर, स्मार्ट एयर कंडीशनर, स्मार्ट वाटर, स्मार्ट क्लासरूम इसी तर्ज पर देखें तो यह 'स्मार्ट नॉवेल' है।

दूसरा यह कि ब्यौरों को दर्ज करने की चंदन पाण्डेय की ताकत अलग से रेखांकित की जानेवाली चीज है। लेकिन इस बात को चंदन पाण्डेय को पढ़ते हुए इतने साफ तरीके से महसूस किया जा सकता है कि उसे अलग से रेखांकित करने की आवश्यकता रह नहीं जाती। इस प्रसंग में केवल इतना भर कह रहा हूँ कि केवल ब्यौरों को बरतने के नुक्ते पर इस उपन्यास में तकरीबन दो दर्जन प्रसंग सामने रख सकता हूँ, जो चंदन पाण्डेय के बूते की ही बात है। ब्यौरों से कथ्य में सचाई को कैसे बुना जा सकता है, इसकी एक तमीज चंदन के पास है। जाहिर है झूठ को कैसे 'ऑथेंटिक' तरीके से बुना जा सकता है, इसकी तमीज भी उनके पास है क्योंकि ब्यौरों को बरतने का हुनर उनके पास है। एक यहूदी कहावत है कि 'ईश्वर का वास ब्यौरों में होता है।' यदि रचनाकार को स्रष्टा वाले अर्थ में ईश्वर मानते हैं तो इस उपन्यास के ब्यौरे एक 'प्रतिसंसार' रचने में समर्थ हैं।

संदर्भ :

1. भारतीय ज्ञानपीठ से 2010 में प्रकाशित।
2. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से 2010 में प्रकाशित।
3. आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा से 2019 में प्रकाशित।
4. देखें 'अंतर्कथाओं के आइने में हिंदी उपन्यास' भारतीय ज्ञानपीठ से 2018 में प्रकाशित।
5. आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा से 2019 में प्रकाशित।
6. देखें, वागर्थ, अक्टूबर 2004 का संपादकीय।
7. आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा से प्रकाशित।
8. जगरनॉट प्रकाशन से 2016 में प्रकाशित।
9. चंदन पाण्डेय, वैधानिक गल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ॰ सं॰ 109
10. वही, पृ॰ सं॰ 109, शब्दों पर जोर मेरा।
11. वही, पृ॰ सं॰ 140
12. वही, पृ॰ सं॰ 133
13. वही, पृ॰ सं॰ 137
14. वही, पृ॰ सं॰ 137
15. वही, पृ॰ सं॰ 116

पुस्तक : वैधानिक गल्प/ चंदन पांडेय/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/ मूल्य : ₹ 375

संपर्क : 402, मीडॉस रेसीडेन्सी, लाल कोठी नंबर-2, पूरनदहा, देवघर (झारखंड), पिन-814112, मो. : 7979847926

अष्टभुजा की रस-लाठी

आशीष मिश्र

अष्टभुजा शुक्लजी को पहली बार आज से एक दशक पूर्व मैंने बी.एच.यू. के एक कवि सम्मेलन में देखा था। कविताएँ पढ़ चुका था, लेकिन देखा पहली बार। जब ससम्मान काव्यपाठ के लिए बुलाया गया तो जींस-पैंट-टीशर्ट के बीच से कुर्ता-धोती वाला एक व्यक्ति उठा—जैसे सिविल लाइन में अपनी ज़िद पर अड़ा कोई देसी खपरैल। जब वह धोती का खूँट पकड़े हुए मंच की तरफ़ बढ़ा तो लोगों ने लक्षित किया कि इस आदमी के चलने में कवि कुमार अंबुज के 'किवाड़' वाली वज़नदारी है। और जब प्रसाद के काव्यनायक की तरह 'अवयव की दृढ़ माँसपेशियाँ' लिए माइक के सामने खड़ा हुआ तो माइक हाथ भर छोटा पड़ गया! किसी ने पीछे से ग़ालिब का शे'र छोड़ा भरम खुल जाए कामत की दराज़ी का ...। फिर बाईं तरफ़ साठ डिग्री गर्दन झुकाकर शुरू किया रहूँगा, मैं रहूँगा, आधुनिकों के बीच किरात की तरह। और पूरी सभा रोवां रोवां पारे उत्कर्ण सुनती रही। मुझे याद आ रहा है, इसी कार्यक्रम में पहली बार युवा कवि अनुज लुगुन ने अपना सार्वजनिक काव्यपाठ किया था। इसी पाठ से हिंदी समाज ने उन्हें पहचाना।

अष्टभुजा शुक्ल का यह चित्र मेरे मन में बैठ गया है। मैं उनके बारे में सोचना शुरू करूँ तो यही चित्र उभरता है। यही अनुगूँज सुनाई पड़ती है—मैं रहूँगा आधुनिकों के बीच किरात की तरह। और फिर यही ज़िद्दी धुन उनकी कविताओं में सुनाई पड़ने लगती है। इसी के साथ लगा हुआ एक प्रश्न भी चला आता है—क्या अष्टभुजा शुक्ल आधुनिक नहीं हैं? अगर हैं तो फिर आधुनिकों के बीच किरात की तरह क्यों दिखते हैं! इसका कारण शायद यह है कि वे यूरोप से लाकर बाँधी गई आधुनिकता की कलम से भाव-विवेक-बोध की प्रवहशील जातीय परंपरा-धारा से फूटे देसज आधुनिकता के अंखुए को अलगाते हैं। इस महाभूमि पर शास्त्र और लोक, नगर और ग्राम, संस्कृत और पालि-प्राकृत जैसी समृद्ध भाषाओं व अनगिनत बोलियों के सहस्रमुखी लोकगंगा के शतधा कूलों में प्रवाहित अनुभव और चिंतन की इसी स्रोतस्विनी

के एक जनघाट अष्टभुजा शुक्ल भी हैं। वैसे ही, जैसे वाल्मीकि, कालिदास, भारवि और सदुक्तिकर्णामृत के अनगिनत उज्ज्वलकाम परंतु गुमनाम लोककवि। जैसे तुलसी, कबीर, मीराँ, नज़ीर, नागार्जुन और त्रिलोचन आदि हैं। इसी अर्थ में आलोचकप्रवर नामवर सिंह ने त्रिलोचन को 'प्रति-आधुनिक' कहा है। मैं अष्टभुजाजी को 'देसी आधुनिक' कहता हूँ। यह विवेकवाद की वह वैकल्पिक धारा है, जो इस महादेश के अनुभवतेजस विवेक और जनधर्मी चेतना को वहन करती है, जो इस महादेश के किसानों और श्रमजीवियों की सांस्कृतिक चेतना के उज्ज्वल पक्ष से आप्लावित है।

अष्टभुजा शुक्ल का पिछला संग्रह आज से दशक भर पहले आया था। वह चौथा संग्रह था—इसी हवा में अपनी भी दो चार साँस है। मेरे लिए यह गौरव का विषय है कि 'पक्षधर' ने उस संग्रह की समीक्षा मुझसे ही करवायी थी। और अब लगभग दशक भर बाद पाँचवाँ संग्रह 'रस की लाठी' समीक्षार्थ सामने है। पिछली समीक्षा में मैंने एक बात कही थी कि हिंदी भाषा जिस भूगोल और पारिस्थितिक परिवेश में अपना रूप पाती है, वह दुनिया के सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेशों में से एक है। जहाँ अधिसंख्य लोग कृषि पर निर्भर हों और ग्रामों में निवास करते हों, उस भाषा का कोई कवि उस चेतना से अछूता कैसे रह सकता है! इसलिए यह कहना चाहिए कि हिंदी ही नहीं, भारतीय कविता मात्र की सबसे बड़ी कसौटी आज भी किसानी बोध ही है। परंतु इसका एक मानसिक दबाव भी होता है, जिसकी निष्पत्ति जाली लोकवादी कविताओं में होती है। इस लोकवादी मुहावरे के नीचे गाँव, किसानी और लोकसंस्कृति की छौंक चलती रहती है। पिछली सदी के अंतिम दशकों में वैश्विक पूँजी आर्थिक प्रवाह के लिए जहाँ मेड़-क्यारी सब तोड़ रही थी तो वहीं दूसरी तरफ़ उग्र राष्ट्रवाद और प्रजातीयता को भी हवा दे रही थी। इसी प्रक्रिया में उसने दुनिया भर की स्थानीयताओं को हवा दिया और खान-पान, वेश-भूषा, गीत-संगीत में इसका आग्रह दिखने लगा। हिंदी समाज से भी कुछ कवि इस तरफ़ लपके और उत्साही आलोचकों ने उनकी रखवाली में तुरंत प्रतिमान गढ़ना शुरू कर दिया। नवें दशक की कविता में वैश्वीकरण के बरक्स स्थानीयता की बहस इसी प्रक्रिया में आई। लेकिन हरिश्चन्द्र पाण्डेय, देवी प्रसाद मिश्र, कुमार अंबुज, कात्यायिनी और सविता सिंह जैसे कवियों ने इस विमर्श का दबाव न लेकर अनुभव-दृष्टि से आगे बढ़ते रहे। आज कविता का परिदृश्य देखें तो पता चलता है कि जिन कवियों के लिए स्थानिकता और लॉन्गनाइंटीज़ का विमर्श शुरू किया गया था, वे कविता को भले न छोड़ना चाहें लेकिन कविता उन्हें वर्षों पहले छोड़ चुकी है।

मानी बात है कि किसी लोकप्रिय मुहावरे के दबाव में अपनाई गई मुद्रा और जैविक जुड़ाव का प्रतिफलन अलग-अलग होता है। हर काँटे की भभ्भाहट अलग-अलग होती है। झरबेर के बंकिम काँटे की टीस बबूल के नुकीले और सफ़ेद बड़े काँटे से अलग होती है। अलग-अलग चुभन चीख़ की अलग-अलग शैलियाँ विकसित करती हैं। पाठको! मैं उड़ नहीं रहा हूँ, यह इसी संग्रह की एक कविता है। कहा जा सकता है कि हर अनुभव की प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है। एक दलित व्यक्ति, जिसका गाँव में भयानक सामाजिक-आर्थिक दमन हुआ हो, जिसका अपना कहने के लिए एक रेंड़-रूख भी न हो, वह गाँव को कभी वैसे ही याद नहीं करेगा, जैसे कोई उच्चवर्णी व्यक्ति। या फिर, वह व्यक्ति जो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दशकों पहले शहर में बस गया है, और ड्राइंग रूम की पिछली खिड़की से कभी-कभार गाँव में तफ़रीह के लिए उतर जाता है, उसकी प्रतिक्रिया वैसी ही नहीं होगी, जैसी वहीं कीच-कादो में ताजिंदगी मर-खप रहे व्यक्ति की।

जो लोग शहरी मध्यवर्गी परिवृत्त में बैठकर गाँव को याद करते हैं, या कभी-कभी तफ़रीह कर आते हैं, वे दशकों पूर्व का गाँव रचते हैं। इस तरह की कविताओं में एक तरह का प्रगीतात्मक अनुचिंतन होता है। यह गाँव उदारीकरण और बाज़ारीकरण से अछूता, संवेदना, सौंदर्य और अच्छाइयों का आगार लगता है। एक तरफ़ जहाँ बाज़ार ने पिछले दशकों में लोगों की आकांक्षाओं और सम्बन्धों को आमूल बदल कर रख दिया, तो दूसरी तरफ़ लोग अपने ड्राइंगरूम में कुदाल, फावड़ा और बैलों का प्रतिरूप सजा रहे हैं! आलोचना ने इसे विस्थापन की प्रतिक्रिया बताया। विमर्शकारों ने विस्थापन से लड़ने का तरीका। और इस विमर्श ने कथित विकास परियोजनाओं के नाम पर उजाड़े गए लोगों और अपनी महत्त्वाकांक्षा की ख़ोज में गाँव छोड़कर शहरी हुए लोगों को एक में घँघोल दिया। जबकि दोनों में मूलभूत अंतर है। अष्टभुजाजी आलोचना के इस सर्व घँघोलू विमर्श का बहुत कन्विशिंग प्रति-विमर्श रचते हैं। पाँच साल पहले कादंबिनी पत्रिका में उन्होंने लिखा कि "जो जन गाँव तजकर, नगर नागरिक बनकर, जमुना किनारे के करील-कुंजों का सपना देखते हैं, वे नास्टेल्ज़िया के बुख़ार से रोमांचित हैं। यह बुख़ार विभोरता की स्थिति में टाइफ़ाइड (मियादी) हो जाता है। कभी-कभी तो मस्तिष्क ज्वर की दशा में भी पहुँच जाता है। तब उन्हें गाँव के घूर भी परफ़्यूम के पहाड़ लगने लगते हैं। और निकम्मे युवकों के बैठे ठाले ताश के अड्डे मौज के मेघालय प्रतीत होते हैं। दो-चार दिनों का ग्राम-प्रवास उन्हें स्वर्गोपम लगता है। लेकिन जो जीवन भर गाँव की जिंदगी में जुता है, असुविधाओं की ही जिसने नहारी-दोपहरिया की है, जड़मतियों की धौंस ही जिनके लिए परमादेश, जो खेतों में घुरचते हुए कर्ज़ के बोझ तले दबकर मर रहा है, जो कोल्हू का बैल बन गया है, उसके लिए गाँव वैतरणी, रौरव, नरक, कर्मनाशा, कुंभीपाक, हेल और न जाने क्या-क्या है? इसी नरक से निकलने के लिए आदमी अफनाता है, भागता है। भागता हुआ आदमी हाँफता है और थककर आदमी चूर होता है। उजड़ते और बसते हुए चलता रहता है। इसे आप बेदख़ल, पलायन या विस्थापन कोई नाम दे सकते हैं। पिछले दिनों इस दर्द और पीड़ा को बकायदा "विस्थापन की पीड़ा" के सिद्धान्त से नवाज़ा गया। लेकिन पीड़ा और पीड़ा में भी काफी भेद होता है। थकान और थकान में भी बहुत अंतर होता है। एक ही कीली पर होती घूर्णन गति या एक ही जगह पर बैठे रहने से तन-मन जड़ हो जाता है। जीवन ठहर जाता है। पैरों में टाँस या झुनझुनी पकड़ लेती है। ऐसी पीड़ा को हम "संस्थापन की पीड़ा" कह सकते हैं। यह पीड़ा अकथनीय है। इसके भुक्तभोगी सब आदिवासी, स्त्री और किसान हैं। संस्थापन की याद दर्द विमर्श से बाहर है। ग्रामीण जीवन की इस पीड़ा को ठीक से सुनने वाले कान और देखने वाली आँखें अभी नहीं बनी हैं।" यह उद्धरण कुछ लंबा हो गया, लेकिन यह समझने के लिए जरूरी है कि हर चुभन की अपनी विशिष्ट चीख़ होती है। परंतु कुछ बातें आधारहीन होती हुई भी विमर्श बन जाती हैं, और सच्चाई को छापकर बिराजने लगती हैं। ग्रामीण विस्थापन के इस नोस्टेल्जिक विमर्श में अष्टभुजा शुक्ल की सौ प्रतिशत सही बात आज भले तूती की आवाज़ लगती हो, लेकिन एक समय यही इस पीढ़ी का प्रधान विमर्श बनेगा। कारण कि आज भी हमारे समाज की सबसे बड़ी पीड़ा 'संस्थापन की पीड़ा' है। अष्टभुजा शुक्ल सामाजिक संस्थापन की इसी पीड़ा के कवि हैं। उनकी कविताओं की नशों में बहने वाली सघन करुणा, संघर्ष, जिजीविषा और पैना व्यंग्य यहीं से पैदा होता है। यह भी आश्चर्यजनक है कि जो गाँव से दूर है, उसका गाँव इतना आकर्षक और जो गाँव में ही मर-खप रहा है, उसका गाँव इतना विडंबनात्मक! अष्टभुजा की कविताओं में गाँव और प्रकृति का सौंदर्य पर्याप्त है, लेकिन उसकी विडंबनात्मक छाया हर जगह मौजूद है। इसलिए अष्टभुजा शुक्ल के यहाँ देवीप्रसाद मिश्र, कुमार

अंबुज आदि कवियों से अलग ग्रामीण भारत है, लेकिन उसे उनकी पीढ़ी के स्थानीयता के लोकप्रिय विमर्श से अलग करके ही समझा जा सकता है। अगर आप इस बात को समझने की कोशिश करें तो लगेगा कि अष्टभुजा शुक्ल अपनी पीढ़ी के 'प्रति-विमर्श' के एक अकेले संस्थान हैं।

इस समय हिंदी कविता में 'लोकल' और 'ग्लोबल' के बीच दो दिशीय गतियाँ दिखाई पड़ती हैं। सबसे लोकप्रिय दिशा तो ग्लोबल से लोकल की तरफ़ है। जिसमें कवि पहले दुनिया भर के विमर्शों, मुहावरों, शैलियों और तकनीकों से वाकिफ़ होता है और फ़िर अपनी जमीन में उसे रोपने की कोशिश करता है। ऐसे कवियों का 'लोकल' सरकार की तरह बहुत 'वोकल' है। और बहुत चालू-चमकदार है। वह जानता है कि कहाँ मजबूरियाँ सूट करेंगी और कहाँ मासूमियत, कहाँ किस कोण पर रखने से कैसी तस्वीर आएगी। यहाँ कविता में लोक वैसे ही सजावटी है, जैसे कवि के ड्राइंग रूम। लेकिन एक दूसरी दिशा भी है—लोकल से ग्लोबल की दिशा। यह दिशा अष्टभुजा शुक्ल, अनामिका और मलखान सिंह जैसे कवियों की है। ये कवि ठोस स्थानीय जीवनानुभवों के विश्लेषण और उसके वैश्विक अंतः सूत्रों को अपनी भावदृष्टि से देखते हैं। इनका 'लोकल' अपने पूरे सांस्कृतिक-प्राकृतिक संदर्भ के साथ आता है और वृहत्तर यथार्थ को भी अभिव्यक्त करता है। यह उतना चमकदार नहीं, मटमैला है। जो अपने दुःख और सौंदर्य के साथ विडम्बनाबोध पैदा करता है। वह बगुला जो तालाब की एक नन्ही-सी जान को चोंच में दबाकर उड़ रहा है, दूर से देखने पर लगता है, मानो तालाब ने दूध का कुल्ला किया है या कोई स्वेत पत्र है। परंतु क़रीब से देखने पर पता चलता है कि यह धूर्त सफ़ेदपोश बगुला है। लेकिन, शिनाख़्त में बगुला नहीं पकड़ा जाएगा, "शिनाख़्त में / पकड़ी जाएगी / पेड़ की कोई टहनी / जहाँ से फिर चंपत हो चुका होगा कोई बगुला / किसी दूसरे तालाब की ओर / चारों ओर सुनाई देगा / सिर्फ़ शोर / सिर्फ़ शोर / चोर! चोर!! चोर!!!" यह भ्रष्टाचार और अनाचार में डूबा हमारा सामयिक यथार्थ है—जहाँ हर बहस-विमर्श सच्चाई छिपाने की रणनीति है। यह इस संग्रह की पहली कविता है। यह कविता स्थानीय मुहावरे में वृहत्तर सामाजिक सच की बात तो करती ही है, उस सौंदर्यबोध को भी चिन्हित करती चलती है, जो चोंच में दबी बेचारी मछली की तरफ़ से खीझता नहीं, बल्कि बगुले के रंग पर रीझता है। यही सौंदर्यबोध के पीछे की असल राजनीति है। अनाचार इसी के नीचे छिपा है। अष्टभुजा शुक्ल उसे नीचे से खींचकर सामने कर देते हैं। फलतः दूध के कुल्ले वाली मासूम कल्पना और यथार्थ को आमने-सामने देखकर पाठक विडंबनाबोध को उपलब्ध कर लेता है।

इसी संग्रह की एक कविता है पर्याय और विलोम। अष्टभुजा शुक्ल की ख़ासियत यह है कि वे गहरे समाज-राजनीतिक प्रश्नों को इतने ज़मीनी ढंग से उठाते हैं कि सामान्य पाठक उस भाषा में इसकी अपेक्षा नहीं कर रहता, और कई बार उसकी महीन अर्थछवियों से चूक सकता है। इस कविता को पढ़ते हुए अनायास ही एक प्रश्न ज़ेहन में आया कि पर्याय और विलोम चीज़ों या स्थितियों की धारणा बनती कैसे होगी? इस कविता से ही समझ मिली कि इन धारणाओं के पीछे महीन मनो-सामाजिक राजनीति होती है। एक ही दिशा में जा रही कार और साइकिल में क्या कोई समानता है? अष्टभुजा कहते हैं कि एक ही रास्ते पर चल रही कार और साइकिल की दिशा और दशा एक नहीं है। दोनों की चाल में इतना फ़र्क़ है कि कार साइकिल का नमस्कार भी नहीं देख सकती। यहाँ तक की कार को उसी रास्ते पर चलती हुई साइकिल अपशकुन लगती है। वह उसकी इस जुर्रत के लिए उसे ठोंक भी सकती है। पाठकों को इसकी सामाजिक निष्पत्तियों तक पहुँचने में दिक्कत नहीं होती। इस समय का

सबसे लोकप्रिय विमर्श हिंदुत्त्व का है। जिसके अनुसार किन्हीं दो व्यक्तियों में इसलिए समानता है, क्योंकि वे हिन्दू हैं। इस तर्क से हिन्दू मुकेश अंबानी और गाँव के गोबरी समान हैं! दूसरी तरफ़, साथ-साथ जाँगर पेर रहे गोबरी और बफाती दुश्मन! इस विलोम और पर्याय की अपनी आर्थिक राजनीति है।

"पूरब से जा रहा है कोई मूँगफली का ठेला
और पश्चिम से कोई सब्ज़ी का ठेला
तो दोनों अपने आजू-बाजू खड़े होकर
पी सकते हैं साझे की बीड़ी

ज़रूरी नहीं कि उल्टी दिशाओं में जाने से ही
हो जाते हों एक-दूसरे का विलोम
या एक ओर जाने से ही
हो जाते हों एक-दूसरे का पर्याय"

पर्याय और विलोम सत्य नहीं होते, वे किसी हिस्से के हित-पोषण में विमर्शों द्वारा रचे जाते हैं। ब्राह्मण और दलित हिन्दू के पर्याय हैं यह आज का हिंदूवादी विमर्श कहता है। दूसरी तरफ़ दलितवाद हिंदुत्त्व को ब्राह्मणवाद का पर्याय और दलित को ब्राह्मण का विलोम बताता है। इसी तरह दलितवाद एक दलित अफ़सर और भूमिहीन मज़दूर दलित एकांतिक रूप से दलित संज्ञा में शामिल करता है। लेकिन मार्क्सवाद इसे वर्गीय विलोम कहेगा। अपना और पराया। अन्य और अनन्य की ये पहचानें राजनीतिक विमर्शों का परिणाम हैं, जो सच्चाई की एक सपाट छवि प्रस्तुत करती हैं, जीवन-व्यवहार में चीज़ें बहुत उलझी हुई हैं। कविता इन विमर्शों से संतुष्ट नहीं होती, यह लोकप्रिय राजनीतिक विमर्शों का प्रत्याख्यान करती हुई, धुँधला और मटमैला ही सही, मानवीय सत्य को उपलब्ध करने की कोशिश है।

"फ़िलहाल हरे कागज़ पर
हरी स्याही से हरियाली लिखना बेमतलब है
चूहे के मुँह में मिट्टी डालने से उसकी कोई किरकिरी नहीं होती
जैसे हमारे समय की नैतिकता
भागते ट्रक के आगे खड़े कुत्ते की भौंक है
लेकिन जब तक खजूर की पत्तियों की कंघियाँ हैं
तब तक जटा नहीं होने पाएँगे धरती के केश
चाहे एक-दूसरे का पर्याय दिखने वाली चीज़ें
हक़ीक़त में एक-दूसरे की विलोम हों
या विलोम दिखने वाली चीज़ें एक-दूसरे की पर्याय"

चीज़ें मियादी बुखार के बाद लट्ट हुए बालों की तरह उलझी हुई हैं। जो जितना आदर्शवाद बघार रहा है, वह उतना ही भयानक कुछ छिपा रहा है। आज की अनैतिकता के सामने नैतिकता की बात चूहे के मुँह में मिट्टी झोंकने की तरह बेमतलब है। दूसरे, ये धारणाएँ, आख्यान और राजनैतिक मुहावरे एक दूसरे के विकल्प नहीं हैं। इसमें विकल्प तलाशना हरे पन्ने पर हरी स्याही से लिखने की कोशिश की तरह निरर्थक है। इस संसार का मौलिक विकल्प कविता में ही संभव है। धरती का केश सुलझाने के लिए खजूर की पत्तियों का कंघा कविता ही है। कविता ही वह जमीन हैं, जहाँ से नई मनुष्यता, स्वप्न और सौंदर्य के अंखुए फूट सकते हैं।

अष्टभुजा शुक्ल कविता के लिए देसज मुहावरों और स्थानीय वचनभंगी का प्रयोग करते हैं। उससे सच्चाई को एक नई दीप्ति और विश्वसनीयता प्राप्त होती है। ऊपर आया, हरी स्याही से हरे पन्ने पर लिखने वाला मुहावरा। चूहे के मुँह में मिट्टी डालना और भागते ट्रक के आगे कुत्तों का भूँकना (अब हाथी के आगे भूँकने के लिए हाथी कहाँ है!) के काव्य प्रभाव पर गौर कीजिए। एक अन्य कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए–

"जिनकी बातों के आगे आँधी आती है
वे ही हैं वाग्मिता के अग्रदूत
जिनके मूतने से दिये जलते हैं
वे दुनिया के सबसे बड़े तेली हैं

अगर क्षीरसागर दिखाई देता
तो छेना बनाने वाले ठेकेदारों के बीच
इतनी राउंड गोलियाँ चल चुकी होतीं
कि आसमान चलनी हो जाता"

इस समय हमारा देश लालच, ताक़त और लफ़्फ़ाजी का साठ-गाँठ देख ही रहा है, उसके बारे में अलग से कुछ जोड़ने की जरूरत नहीं है। इनकी बातों में सच्चाई खोजना 'मूत में रोहू खोजना' है। इस बात को इतनी फोर्स के साथ ग्रामीण मुहावरे में ही कहा जा सकता है। अष्टभुजा शुक्ल जब बिना बारिश के फसलों को सूखते देखकर आसमान को उलाहना देते हैं 'आसमान का दिल पत्थर हो गया ऐन बसकाल।' धान के छोटे-छोटे पौधे, अपने नन्हें हाथ हिलाकर बादलों से पानी माँग रहे हैं, लेकिन संगदिल निर्जल बादल खूब घूम-घुमड़कर निकल जाते हैं, ऐसी स्थिति में किसान उलाहने से आगे लानत भेजेगा 'काँख काँख रह गए न झलकी जल की बूँदें/ पकड़ा करक जलधरों को बेआब हुए तत्काल।' उन्हें ऐसा लगता है जैसे बादलों को मूत उतरते-उतरते करक पकड़ ले रहा हो! बिना पानी के 'धान सूखकर कुश हुए जा रहे हैं'! मुँह में जूठ न लगने का संकट पैदा हो गया है! यह देखकर ग्राम देवता गश खा-खा खेत में गिर गए हैं! ऐसे में बादलों को बेआब घूमते घड़घड़ाते देखकर किसान कवि उनका पानी उतार देता है। जब बरसना था तब पानी नहीं, परंतु जब गेहूँ की फसलें पककर तैयार हुईं तो नाश पीटने आ जाते हैं 'गेहूँ की कुशाग्र मूछों पर गिरी वृष्टि की गाज।' और 'सुनहरी बलियाँ काली-काली भुंडुली से नष्ट हो गयीं।' जो प्रकृति से बचा वह बिज़ली का तार टूटने से भस्म हो गया। नेता-अधिकारी क्षीरसागर के चोरों की तरह लगते हैं, वे राहत के नाम पर साँड छानकर दुह रहे हैं! ऐसे में किसान कवि अष्टभुजा का सात्विक क्रोध देखते बनता है। एक किसान का यह सात्विक क्रोध खड़ी बोली का नहीं है। कारण कि खड़ी बोली अपनी अंतर्वस्तु में शहरी बाबुओं की भाषा है। इसीलिए जो लोग स्थानिकता की छौंक लगाते हैं, वे इस वचनभंगी को नहीं साध पाते फलतः शब्द और बिम्ब अलग से टांके हुए दिखाई पड़ते हैं।

अष्टभुजा इस भाषा और कहन का उपयोग सिर्फ़ विडम्बना, व्यंग्य और कटाक्ष के लिए ही नहीं करते। वे कविता को रस की लाठी कहते हैं। उसमें गाँठें भी हैं और रस भी। चोट भी है और मिठास भी। जब वे लोकसौंदर्य के रचने पर उतरते हैं तो नवीन वर्णन, बिंबों और मौलिक उपमानों की झड़ी लग जाती है। उनके सुंदर धरती की कल्पना वह है 'जहाँ पागुर करते हुए पशु धरती छानेंगे छोटे-छोटे बताशे'। पागुर करते हुए डोलते पशुओं के मुँह से सफ़ेद

झाग गिरता जाता है और धूप में बताशों की तरह चमकता है। अष्टभुजा के इस सुंदर स्वप्न पर विचार करते हुए सदुक्तिकरणामृत की तमाम कविताएँ मन में घूमने लगती हैं। यह पारिस्थितिक हितैषी भारतीय किसान का सौंदर्यबोध है। अष्टभुजा के यहाँ फसलों के साथ अनगिनत फूल, फल और वनस्पतियों का बिम्ब आता रहता है। शायद ही हिंदी के किसी समकालीन कवि के यहाँ हिंदी क्षेत्र में पायी जाने वाली इतनी वनस्पतियों का जिक्र हो। लेकिन आप ध्यान दीजिए तो मिलेगा कि ये फूल कविता के लोकप्रिय फूल नहीं हैं, बल्कि इन्हें फूल माना ही नहीं गया। वे ऐसे फूलों का सौंदर्य रचते हैं, जिन्हें फूलों की गरिमा मिली ही नहीं।

"वे सजीले डोरदार आँखों वाले मटर के फूल
वे तितली के पीले बच्चों जैसे अरहर के फूल
वे अनमोल हीरों के कर्णफूलों जैसे तीसी के फूल
वे सोने की झुमकियों सरीखे सरसों के कई अरब फूल
वे चने के लाल बूटेदार लाल-बैगनी फूल।"

इन फूलों को उनकी गरिमा क्यों नहीं मिली? सजीले डोरदार आँखों वाले मटर के फूल वाटिका में लगाई जाने वाली अपराजिता से कम सुंदर नहीं होते। अष्टभुजा गुलाब, गेंदा, दहेलिया, बोगेनबिलिया के सजावटी फूलों की जगह उन उपयोगी फूलों का सौंदर्य देख रहे हैं, जिसका जुड़ाव आँख और नाक के साथ पेट से भी है। यह एक किसान का सौंदर्यबोध है। उसका सौंदर्यबोध उपयोगिता से जुड़ा हुआ होता है। भरे पेट वालों का सौंदर्यबोध सिर्फ़ आँख और नाक से जुड़ा होता है। अष्टभुजा केले के फूलों में भी सौंदर्य देखते हैं। और फिर जब एक-एक पुष्पदल के पीछे से नन्ही-नन्ही अँगुलियों जैसी बतिया और पंजे के पंजे फल ऊपर आने लगते हैं, तो कदली स्तम्भ आँखों के सामने साकार हो उठता है। कवियों ने दाँतों के लिए मुक्ता, माणिक्य, दाडिम, कुंदकली जैसे उपमानों का प्रयोग किया। अष्टभुजा का उपमान किसानी चेतना से पैदा हुआ है कच्ची मूँगफली की दालों जैसे दाँत। अँगुलियों को केले की बतिया से रूपायित करते हैं। अर्द्ध विराम उन्हें बहुत छोटा बहुत टेढ़ा झरबेर का काँटा लगता है जो टोंकता तो नहीं, लेकिन अरुझाकर थोड़ा रोकता जरूर है। जिनकी जिजीविषा नष्ट हो गई है वे उन्हें भतुआ कद्दू जैसे मूड़, जलकुंभी के जड़ जैसी मूछों और झोंझ जैसी दाढ़ी वाला कहेंगे। इस तरह अष्टभुजा बड़े से बड़े प्रश्नों को अपनी जमीन पर उतार लेते हैं। इसे सिर्फ़ प्रयोग वैचित्र्य न समझना चाहिए। इस सौंदर्यबोध और उपमान-विधान के पीछे बहुत सजग सौंदर्यदृष्टि है। कुलीन और शहरी सौंदर्बोध से लड़ने की महीन कोशिश है। मैं इस संदर्भ में सबसे औचित्यपूर्ण, संग्रह की 'बहुत बेचैन हिया' शीर्षक प्रेम कविता को विस्तार भय से इस अपेक्षा से छोड़ रहा हूँ, कि पाठक उसपर ठहर कर विचार करेंगे।

अष्टभुजा ऐसे ही उपमानों से गहन पीड़ा, त्रास और मृत्युगन्ध जैसे बहुत गहन और अमूर्त मनोदशाओं को रचने में भी सक्षम हैं। यह इस स्थानिक भाषा की क्षमता का विस्तार है। आज हम कोरोना से किसान-मजदूर जनता की जो भयावह स्थितियाँ और अवर्णनीय दुःख देख रहे हैं, उसके लिए एक कविता देखिए। यह कविता वर्षों पहले की की है, लेकिन समाज के बहुत बड़े हिस्से की जीवन-स्थितियाँ शायद एक-सी रहती हैं। इसका शीर्षक है मारकेश। 'बेली गई/ पूड़ियों की तरह / तर-ऊपर सो गई हैं बच्चियाँ / बबूल से निकले / लासे की तरह / ढुलककर सूख गए हैं / गालों पर आँसू। फिर रुलाई छूटने के डर से / अपना ही एक हाथ / नहीं छूता दूसरे हाथ को। चिता के लिए / लकड़ी ख़रीदते लोग / सशंकित हैं / कि किसी लकड़ी में / कहीं बारूद न भरा हो। कोई पंडित / अपना पंचांग शोधकर बताए

/ कब टलेगा यह दुर्विपाक।' बेली हुईं, तर-ऊपर व्यतिक्रम पड़ीं और पसीजी हुई पूड़ियों का बिम्बग्रहण पापड़ बेलने से नहीं होगा। बबूल से निकले लासे मोती जैसे अन्तःद्रवित और पारदर्श होते हैं। सूखे हुए आँसू के लिए यह नवीन और बहुत व्यंजक उपमान है। किसी अकाल मृत्यु के बाद का घर के ठंडेपन का अहसास होता है। स्थिर है शव-सी वात। इस कविता में ऐसी बेबसी है, लगता है कि कलेजे से निकली हुई एक चीख बस अभी-अभी जम गई हो। और छूने भर से फूट पड़ेगी। इसी संग्रह की दूसरी कविता है खर-पतवार-नाशक। कविता में घर के ताखे पर रखी हुई कीटनाशक की एक छोटी-सी सीसी का बिम्ब है। किसी वस्तु की सत्ता मूर्त से ज्यादा अमूर्त और सूक्ष्म रूप में उपयोगिता, स्मृतियों, जनश्रुतियों, अनुभवों और कल्पनाओं तक फैली हुई होती है। घर के मुखिया दूसरे-तीसरे मुखियायिन से पूछते रहते हैं कि सीसी वहीं है या मूष-बिलार उठा ले गए? मुखिया भी जानते हैं कि कीटनाशक की सीसी भला मूष-बिलार क्यों ले जाएँगे! यह भय की प्रतिक्रिया है। बड़ी बहू उधर बकइयाँ लपकते बच्चे को ऐसे खींचती है, जैसे काल से छीनकर ला रही हो। छोटी बहू ने पियक्कड़ की रोज-रोज की मार पीट से आजिज़ आकर कई बार उठा लिया है सीसी, जिससे वह छलकते छलकते आधी बची है, फिर भी उसकी गंध अपनी भाषा में बोलती रहती है। यह अपनी भाषा में बोलती हुई गंध मृत्युभय की है। लेकिन यह मृत्युभय कोई दार्शनिक प्रत्यय नहीं है। बल्कि एक किसान परिवार को उसकी हालात ने ऐसा तोड़ दिया है कि जिंदगी से मौत आसान लगने लगी है। भय उस जिजीविषा के चूक जाने का है। फिर जब आप कविता को उसके पूरे संदर्भों के साथ खोलते हैं तो पूरे देश में किसानों की दुर्दशा के बिम्ब में बदल जाती है।

इस संग्रह में छोटी-बड़ी कुल साठ कविताएँ हैं। 'मृत्यु', 'लखनऊ', 'खाली पिंजड़ा', 'उतना नहीं अखरता' जैसी चंद पंक्तियों की कविता से लेकर 'एक रुपये का सिक्का', 'शब्द विज्ञान' तथा 'मुहाने पर नदी और समुद्र' जैसी किंचित लंबी कविताएँ भी हैं। इस संग्रह की कविताओं की शैलीगत विविधता अलग से उल्लेखनीय है। हिंदी कविता के पाठकों ने यह जरूर लक्षित किया होगा कि जितना शैलीगत वैविध्य अष्टभुजा शुक्ल की कविताओं में है, वह उसके बाद फिर देवी प्रसाद मिश्र और दिनेश कुमार शुक्ल की कविताओं में ही दिखाई पड़ती है। यह पारंपरिक छंद और लय, पद, बालगीतों, खेलगीतों और लोकगीतों की लयों के उपयोग से लेकर 'हाथा मारना', 'भारत संचार निगम लिमिटेड' जैसी ऐसी लंबी कविताओं तक विस्तृत है, जहाँ कविता नाटकीयता, संवाद, आत्मालाप का उपयोग करती हुई एकदम नए लय की खोज करती है।

संग्रह की कविताओं की शैली पर विचार करें तो कुछ कविताएँ बहुत छोटी और सहज हैं। जो दो-तीन बंदों में किसी सटायर, मुहावरे या बिम्ब के सटीक प्रयोग में पूरी हो जाती हैं। मृत्यु शीर्षक छोटी-सी कविता देखें, चंद पंक्तियों में उसके शब्द नई व्यंजनाओं से कैसे प्रदीप्त हो उठे हैं! "कराह सुनकर भी/ जो नहीं टूटे/ नींद नहीं/ वह मृत्यु है / चाहे जितना भी/ थका हो आदमी/ और चाहे जब/ सोया हो।" यह छोटी-सी कविता अपनी आंतरिक अन्विति में कैसी गठी हुई है! अगर शब्दों का क्रम बदल दिया जाए तो प्रभाव नष्ट हो जाएगा। इस छोटी-सी कविता में 'कराह' पहला पद ही नहीं, प्रधान पद भी है। वह कविता की आंतरिक संरचना में ऐसी जगह तार्किक और भावनात्मक अन्विति के साथ मौजूद है, जहाँ से सारे पदों की अर्थछवियाँ बदल जाती हैं। 'लखनाऊ', 'खाली पिंजड़ा', 'उतना नहीं अखरता' आदि कविताएँ इसी वर्ग की हैं। 'उतना नहीं अखरता' कुल दो बंदों की कविता है। लेकिन ये दो बंद भारतीय किसान के सौंदर्यबोध को समझने के लिए पर्याप्त है। "पकी फसल काटकर/ उठा ले गए होते/ आँखों के सामने/ जबरन/ तो भी उतना नहीं अखरता/ जितना कि/ कच्ची फसल काटकर/

छोड़ गए खेतों में/ रातोरात।" किसान के लिए प्रकृति, पेड़ और फ़सलें सिर्फ़ उपयोगिता और आर्थिक मूल्य से ही नहीं जुड़ी होतीं। यह इसकी संवेदना और सौंदर्य का भी हिस्सा है। पकी फ़सल काटकर ले जाते तो अन्न किसी के पेट में जाता। कच्ची फ़सल को काटकर छोड़ना अमानुषिकता है। ऐसी छोटी कविताएँ पढ़ते ही मन में प्रदीप्त हो उठती हैं।

इस संग्रह में कई कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें बच्चों की 'नॉनसेन्स राइम' खेलगीतों और लोकगीतों की छंद और लय का बहुत सार्थक उपयोग हुआ है। बल्कि उस लय के साथ पारंपरिक गीतों की स्मृतियाँ कविता को और व्यंजक बना देती हैं। संग्रह में 'चूहे' शीर्षक से एक कविता है खाकर फूले मानो ढोल/ जाने कैसे खुल गई पोल/ बिल में कैसे घुसड़ें बोल/ बढ़ई भइया पुट्ठे छोल। यह एक बाल कथागीत की लय है। लेकिन कविता लोकतन्त्र में फैले अनाचार और भ्रष्टाचार पर है—थोड़ा आगे थोड़ा पीछे/ पूँछ पकड़कर मुसहर खींचे/ गई सुरंग कहाँ तक नीचे/ उठ बँसुले अब थू-थू बोल।" कविता में बाल कथा की स्मृतियाँ इसे संप्रेषित होने में और मदद करती हैं। ऐसी ही कविता है लुहे लुहे लुहे लुहे। लोक में पशुओं को खदेड़ने, हुलकारने और चोरों को ललकारने के लिए सामूहिक आह्वान और उत्साह की ध्वनियाँ होती हैं। अष्टभुजा ने इसी का रचनात्मक उपयोग किया है 'धरती को खूब दुहे/ जंगल को खूब चुहे/ चोर क्षीरसागर के/ साँड छानकर दुहे/ भगल भगल भगल भगल/ लुहे लुहे लुहे लुहे!' इस संग्रह में संकलित 'गए दीवाना', 'दूरी', 'यारों', 'बसंत' शीर्षक कविताएँ इसी कोटि की हैं।

शैली की दृष्टि से तीसरी तरह की कविताएँ वे हैं, जिनमें किसी वस्तु, भाव दशा या स्थिति का आलम्बनात्मक वर्णन है। ऐसी कविताएँ सूक्ष्म पर्यवेक्षण और अप्रस्तुतविधान की नवीनता के जरिए खड़ी होती हैं। इनकी संरचना बहुत साफ, सीधी और सहज है। लेकिन अंतिम पंक्तियों में किसी पद या कथन के संकेत भर से पूरी कविता नयी अर्थ संभावनाओं में पर्यवसित हो जाती है। मैंने इस लेख के आरंभ में 'कंटक कथा' शीर्षक कविता की पंक्तियों को उद्धृत किया है 'अलग-अलग चुभन / चीख़ की अलग-अलग शैलियाँ / विकसित करती हैं।' ये इस कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं। कविता एक दिशा में बहुत सहज ढंग से बढ़ती है। किस काँटे का आकार और उसकी चुभन कैसी होती है, यह वर्णन अपने आपमें काव्यात्मक और प्रभावी है, लेकिन जैसे ही उक्त पंक्तियाँ आती हैं, वैसे ही कविता में अनुभव और अभिव्यक्ति के अनिवार्य संबंध की एक नई अर्थछवि दीप्त हो उठती है। इस तरह की कविताएँ आकार में छोटी, शैली में सहज लेकिन प्रभाव में गहरी हैं। संग्रह की कदली स्तंभ, अर्द्ध विराम, इस कंपकंपाने वाली ठंड में और मधुखोजी आदि कविताएँ, इसी शैली की कविताएँ हैं।

संग्रह में चौथी तरह की शैली उन कविताओं की है, जिनमें संबोधन, संवाद, आत्मालाप या वर्णन है। इस शैली की कविताओं में भाषा अपनी कहन के साथ आयी है। विडंबनात्मक यथार्थ को रचना चाहती है, इसलिए आइरनी और सहविरुद्धों का सहारा लेती है। ये कविताएँ अपनी सहज वक्तृता और प्रभावशीलता के कारण पाठकों का ध्यान जरूर खींचेंगी। इस शैली की श्रेष्ठ कविता है गालियाँ और थूक। 'ओह! / क्या राजप्रासाद था साहब/ इतना भव्य / कि कोई भूखा आदमी / देखते देखते / दो चार दिन और भूखा रह जाए। उसके चारों ओर/ झड़ियों, खाइयों और कुंजों और महकते फूलों की / ऐसी मेखला थी साहब / कि लाशों की दुर्गंध / और नवजातों के कें कें की / दूर दूर तक कोई आहट न मिलती।' लोक में क़िस्सा कहते हुए क़िस्सागो जिस आश्चर्य, औत्सुक्य और उत्साह का उपयोग करता है, अष्टभुजाजी ने यहाँ उसी शैली का उपयोग किया है। इससे श्रोता और संबोधित के वर्ग का आभास मिलता है। उनके ज़ेहन में उनके श्रोता की निम्नवर्गीय छवि एकदम साफ़ है। वे उसे बता रहे हैं कि

सारा सौंदर्य, सुगंध, सम्मोहन और भव्यता अपने नीचे पल रहे शोषण, अनाचार और दुराचार को छिपाने के लिए है। 'लेकिन क्या विडम्बना थी साहब/ कि कंकरीली गलियों में/ गालियाँ और थूक और अभिशाप / बखौफ़ टहलते मिलते / राजप्रासाद के चारों ओर।' इन अंतिम पंक्तियों तक पहुँचकर पाठक समझ जाता है कि इस राजप्रासाद का नाम 'हिंदुस्तान' है। जिसके भीतर का चिराग न जाने कितने आदिवासियों, किसान और मजूरों के ख़ून से जलता है। यह सारी भव्यता और चमक-दमन ख़ून और चिराग के इसी संबंध को छिपाने का तरीका है। फिर भी यह भव्यता चारदीवारी के भीतर अनंत समय तक क़ायम नहीं रह सकेगी। कविता बहुत बारीकी से इधर भी संकेत कर देती है। जवान होते बेटों, सज्ञान होती बेटियों, किस ओर देखूँ, फलानी, पुरुष सिंह और स्त्री, चार साल का नाती, तूफ़ान आया तब आदि शीर्षक कविताएँ इसी श्रेणी की हैं।

अगर शैली के आधार पर पाँचवाँ वर्ग बनाना चाहें तो अपेक्षाकृत लंबी कविताओं का बनेगा, जिनमें व्यंग्य, नाटकीयता और विरुद्ध-संयोजन के द्वारा जो काव्य संरचना बनती है, वह हमारी सामाजिक संरचना की तरह बहुवाचिक और विखंडित है। इन प्रविधियों का उपयोग अष्टभुजाजी छोटी कविताओं में भी करते हैं, लेकिन यहाँ वे इसे लेकर बहुत उन्मुक्त दिखाई पड़ते हैं। संग्रह से इस शैली की कविताओं में से अगर किसी एक कविता को चुनना हो तो वह होगी एक रुपये का सिक्का। कभी आइन्स्टाइन ने कहा था कि यह ब्रह्माण्ड तो परिधिहीन है, लेकिन इसका केंद्र हर उस जगह है, जहाँ आप खड़े हैं। और आप इसके एक तिनके से इसका रहस्य जान सकते हैं। यह बात हमारी समाज व्यवस्था और संरचना के बारे में भी उतनी ही सही है। इसका आप एक छोटा-सा अनुषंग उठा लें तो हमारी अनैतिकता, अनाचार, छल, भ्रष्टाचार और बजता हुआ हमारा खालीपन सब उसमें झलक उठता है। अष्टभुजाजी ने एक रुपये का सिक्का उठाकर यही किया है। क्योंकि किसी एक अनुषंग का अवमूल्यन या अतिमूल्यन पूरी सामाजिक प्रक्रिया के बारे में बताता है। कविता में एक रुपये का सिक्का हमारी राजनीति, समाजबोध, सौंदर्यबोध, नैतिकबोध और राष्ट्रीय स्वाभिमान को बहुत जबर्दस्त व्यंग्य के साथ सामने कर देता है 'हक़ीक़त यह है कि एक रुपया/ एक कौर या सल्फास की एक गोली से भी कम क़ीमत का है / एक रुपये का एक पहलू एक रुपये का भी आधा है/ तो दूसरा पहलू अशोक स्तंभ यानी कि समूचा भारत / और भारतीयता की क़ीमत बांटा के तलवों से भी नीचे है/ उसके नीचे नंगी इच्छाएँ कफ़न के लिए सिसक रही हैं।' वंदे मातरम इसी तरह की कविता है। यह किसान भारत का राष्ट्रगीत है। यहाँ से देखने पर 'सुजलां सुफलाम् मलयजशीतलाम् शस्यश्यामलाम्' वाली भव्यता स्वयमेव व्यंग्य लगने लगती है। मुहाने पर नदी और समुद्र, इस अँधेरी कोठारी में शीर्षक कविताएँ इसी कोटि की हैं। यूँ तो हर कविता अपने में विशिष्ट होती है, लेकिन बहुसंख्यक कविताओं को इस पाँच तरह की शैली के अंतर्गत गिना जा सकता है।

अगर आप संग्रह की कविताओं को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि अष्टभुजाजी का काव्य संसार 9वें दशक के बाक़ी कवियों की तरह चिक्कन-चमकदार नहीं है। इसमें ग्रामीण भारत के सौंदर्य के साथ कीच-कादो, छल, प्रपंच, शोषण, दमन, व्यंग्य, विडम्बना सब चला आया है। ऊपर जिन काव्य-प्रविधियों के बारे में बात की गई है, वे सब पश्चिमी आलोचना से नहीं आए हैं, वह ग्रामीण भाषा-व्यवहार का बहुत सामान्य हिस्सा हैं। बस अष्टभुजाजी ने उसका सुंदर उपयोग किया है। मैंने एक जगह मज़ाक में कहा था कि अष्टभुजा ने दुनिया भर की कविताओं से नहीं, गाँधी की भवन निर्माण कला से सीखा है। यह काव्य संसार पारिस्थितिक

हितैषी गृह की तरह है। गाँधीजी ने जब पहली बार विदर्भ के सेवाग्राम में बसने की योजना बनाई तो उस समय के जाने-माने पूँजीपति जमनालाल बजाज उनके लिए घर बनवाने का प्रस्ताव रखा। इसपर गाँधी ने कहा था कि इसकी शैली और भवन सामग्री सब कुछ वही होना चाहिए जो अगल-बगल मुफ़्त में उपलब्ध है। जमनालाल बजाज विदेशी इमारती लकड़ियों, टाइल्स और ग्लास से गाँधी के लिए भव्य राजप्रासाद बनवा सकते थे। लेकिन गाँधी के आग्रह पर मिट्टी, लकड़ी और खपरों से सीधा, सादा, सुंदर और खूब हवादार घर बना, जो भारत की कोटि-कोटि जनता की मुक्ति का केंद्र बन गया। गाँधी कोई वास्तुशास्त्री नहीं थे, परंतु द्रष्टा थे, ऋषि थे, जहाँ आस्था, विचार और व्यवहार सब सहजता से एक लय पर आ जाते हैं। अनगिनत लोगों की तरह मुझे भी गाँधी का घर सुंदर लगता है। इसलिए मज़ाक में अष्टभुजा के काव्य संसार के लिए इस रूपक का प्रयोग कर दिया, लेकिन इसके पीछे एक काव्य-दृष्टि भी है।

पुस्तक : रस की लाठी/ अष्टभुजा शुक्ल/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/ मूल्य : ₹ 295

संपर्क : मकान नं. 1, गली नं. 5, ब्लॉक-ए तीसरी मंजिल, हिमगिरी एनक्लेव, संत नगर, बुरारी दिल्ली-110084, मो. 9990668780

बर्फ से ढँकी मानवीय संवेदनाओं पर प्रेममय ताप रखती कहानियाँ

अंकित नरवाल

"अच्छे साहित्य के बारे में एक बात कह दूँ, कोरे यथार्थवाद से कभी अच्छा साहित्य नहीं लिखा जाता। उसमें आदर्शवाद का होना जरूरी है। आदर्शवाद का मतलब वह नहीं, जो दर्शन में भाववाद (आइडियलिज्म) और भौतिकवाद (मैटीरियलिज्म) की चर्चा में होता है। आइडियलिज्म का अनुवाद 'आदर्शवाद' होता है, इसलिए वह आदर्शवाद दूसरा है। मैं जिस आदर्शवाद की बात कर रहा हूँ, वह प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद वाला आदर्शवाद है, जिसका अर्थ होता है कुछ आदर्शों के लिए लड़ना, कुछ मूल्यों के लिए लड़ना, कुछ सिद्धान्तों के लिए लड़ना। ऐसा आदर्शवाद अच्छे साहित्य के लिए हमेशा जरूरी रहा है। आदर्श के बिन्दु से आज के यथार्थ को देखना और उसके अनुसार आज के यथार्थ को बदलने की कोशिश करना इससे बड़ा और साहित्य के लिए इससे अच्छा यथार्थवाद और कोई नहीं है।"—नामवर सिंह

समकालीन कहानी को संदर्भ में रखते हुए यदि नामवर सिंह की उक्त पंक्तियों में कुछ चीजें और जोड़कर पढ़ी जाएँ, तो अपने परिवेश के केन्द्र पर खड़ी कहानी अपने सारे अन्तर्द्वन्द्व के साथ प्रस्फुटित होकर सामने आएगी। मसलन, अब वह केवल यथार्थ की जमीन पर खड़ी होकर अपने भविष्य को ही नहीं उकेर रही है, अपितु यथार्थ के निर्माण की कड़ी जमीन भी उसमें परत-दर-परत साफ उघड़ती देखी जा सकती है। अब उसमें इस बात पर विशेष बल है कि रोजमर्रा को बदलने वाले सारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक संघटक क्योंकर नए अर्थ ग्रहण कर रहे हैं, यह पूरी निष्पक्षता से उभरकर सामने आए। यदि आप ध्यान से देखें तो उसमें आदर्श के बिन्दु की महीन रेखा पर वर्तमान-चुनौतियाँ की धारदार काट रगड़ खाती देखी जा सकती है।

वर्तमान पीढ़ी के लेखकों में शैलेय ऐसी ही कशमकश को उकेरने वाले सशक्त कहानीकार

हैं। वे मूलतः पहाड़ों से संबंध रखते हैं, इसलिए उनकी कहानियों का 'लोकेल' भी पहाड़ ही है। उनके यहाँ का यह पहाड़ भूमंडलीकरण के बाद का पहाड़ है, जिसको अब हिंदी फिल्मों के रंगीन गानों में न तो कभी फिल्माया जाता है और न ही किसी सैलानी की डायरी में वहाँ के रोजमर्रा की तकलीफें दर्ज हो पाती हैं। वह सुरमय हरियाली के बीच सिसकता वह पहाड़ है, जहाँ विस्थापन ही रोजगार की अनिवार्य शर्त बन गया है। जहाँ संघर्ष नए अत्याधुनिक भवन-निर्माणों के लिए नहीं है, अपितु अधिकतर चिंता इस बात की है कि अपनी झोपड़ी पर घास-फूस किस जुगत से डाला जाए। जहाँ पूँजी ने अपने तई नए आकर्षक रिजॉर्टस खोल लिए हैं और वहाँ पहाड़ अपनी देह तक बेचने के लिए बेबस हो आया है। शैलेय के नए कहानी-संग्रह 'यहाँ बर्फ गिर रही है' में शामिल कुल नौ कहानियाँ को पढ़कर सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि पहाड़ का शोषण किस कदर बदस्तूर जारी है।

कहानी 'यहाँ बर्फ गिर रही है' में दीनानाथ व देवकी के सहारे पहाड़ों में विकास के नाम पर लगातार खोले गए आरामगाहों के पीछे की राजनीतिक मंशा उभरकर सामने आती है। दीनानाथ एक छोटा किसान है, जिसका बेटा कहीं मैदानों की ओर नौकरी के लिए भाग खड़ा हुआ है। वह अपनी पत्नी देवकी के साथ पहाड़ों पर जीवन-निर्वहन की सामान्य जरूरतों तक के लिए हाड़-तोड़ मेहनत कर रहा है, किन्तु उसके लिए आत्मदाह जैसी स्थिति आन खड़ी हुई है। वह अपनी जमीन का कुछ हिस्सा रिजॉर्टस खोलने वालों के बहकावे पर बेच देता है, ताकि कोई दुकान खोल सके। किन्तु अंततः न उसके पास वह पूँजी ही बचती है और न ही वह कोई दुकान खोल पाता है। यह पहाड़ों में रहते दीनानाथ के अकेले का ही संघर्ष नहीं है, अपितु यहाँ हर घर की लगभग यही कहानी है। वहाँ घर में जवान हुए लड़के नौकरियों के लिए मैदानों की ओर भाग आए हैं और पीछे छूट गए हैं असह्य माता-पिता। कहानी में दूसरी ओर शिवानंद की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी सोवती को अपने चंगुल में फँसाने के लिए पटवारी आदि का सहानुभूतिपरक खेल भी वही राजनीतिक गोट है, जो कहीं जमीन को कबजाना चाहता है, कहीं जिस्म को। दीनानाथ पहाड़ों की इस दुर्गति को बखूबी समझ रहा है। वह कहता भी है, "यहाँ विदेशी कम्पनियों के आने की हलचल क्या शुरू हुई, मति मारी गई मेरी भी। इस खूबसूरत नगर के आसपास की झक्क घने जंगलों वाली हरी-भरी घाटियों में बड़े-बड़े रिजॉर्ट वालों ने जमीनों की खोजबीन शुरू कर दी थी। जमीन वालों ने भी सोचा कि क्या होता है पहाड़ी खेतों में? क्या दे पाते हैं ये पेड़ हमें? कुछ नकद रहेगा तो जिन्दगी में कुछ तो खुशहाली आएगी। इसी लालच में आ गया मैं भी। पटवारी प्रधान का खेल तब मैं समझ नहीं पाया। उनके झाँसे में आ गया कि अगर चोटी पर के अपने बगीचे की जमीन बेच दूँ तो वे मुझे उस जमीन की कीमत तो देंगे ही, रिजॉर्ट के निचले तले में एक दुकान भी देंगे। बड़ी दुकान। मैं खुश हो आया था कि इस पहाड़ी पर इतनी बड़ी आवासीय कॉटेज कॉलोनी बन रही है। बीचों-बीच चोटी पर थ्री स्टार होटल बन रहा है। दुकान ऐसी चलेगी की जिन्दगी के वारे-न्यारे हो जाएँगे। मैंने भी औरों की तरह अच्छी-खासी जमीन बेच दी। कुछ रुपये आए भी। खुश ही थे लेकिन जाने कब हमें दुनिया की देखा-देखी पैसों की गरमी चढ़ गई। मिली पूँजी ऐसी बहायी कि आज यह हालात है कि गधेरे किनारे रौखड़ वाली दो नाली जमीन कुल रह गई है हमारे पास।" (पृ.-14) बाजदफा तो यह दो नाली जमीन भी रहन के एवज में नीलाम हो जाती है, फिर पीछे बचती है आत्मदाह की एक दारुण चीख।

यह कहानी पढ़कर कुछ सवाल लगातार बेचैन करते हैं। सर्वप्रथम तो यही कि क्या कभी विकास का यह चिर तथाकथित पूँजीवादी मॉडल सर्वत्र लागू करने की योजनाएँ पुनः पर्यवेक्षित

की जा सकेंगी? क्या विकास के इस गणित में लोकल आबादी की हिस्सेदारी को भी कभी आँका जाएगा? दूसरी ओर मन में यह शंका भी बलवती होती है कि क्या पूँजी एक अर्थ में पहाड़ों की हवा-पानी तक को अपने व्यापार का हिस्सा नहीं बनाने लगी है? यह कोई दीगर बात नहीं है कि यदि ऐसा ही चलता रहा, तो वह दिन अब दूर नहीं जब 'पहाड़' का अर्थ 'रिजॉर्ट' होगा, 'नदी' 'मिनरल वॉटर' की बोतल का पर्याय हो जाएगी। शैलेय की यह कहानी यथार्थ के इसी धरातल से भयावह लगने वाले भविष्य का झीना पर्दा उठाने की कोशिश करती है।

कहानी 'यह अन्तहीन' का कथानक भी पहाड़ों के इसी लोकेल का है। यहाँ कथावस्तु भिन्न होते हुए भी समस्या का मूल कारण वही है—पहाड़ों से होता विस्थापन। कहानी में श्री बल्लभ टीबी जैसे बीमारी से जूझते हुए अपने बेटे राजू की खोजबीन के लिए दिल्ली में दर-दर भटक रहे हैं। राजू तीन महीने पूर्व रोजगार की तलाश में पहाड़ों से निराश होकर मैदानों की ओर भाग आया है। दिल्ली के सभी रिश्तेदारों के यहाँ एक-दो दिन गुजारते हुए श्रीबल्लभ कभी बस स्टैंड व कभी रेलवे स्टेशन की खाक छान रहे हैं, किन्तु उन्हें कहीं भी राजू नहीं मिलता। वे थक-हार कर पहाड़ वापस लौटने के लिए तैयार होते हैं, किन्तु ऐसी विकट स्थिति में उन्हें अंधेरे के सिवाय कुछ ओर नहीं दिखाई पड़ता। कहानी के श्रीबल्लभ का आत्मकथन है कि, "पहाड़ों के सारे गाँवों का यही हाल है। बेशुमार पेड़ कटने से जंगल धड़ाधड़ खाली हो रहे हैं। ऐसे में बारिश भी मौके से कहाँ हुई। उजाड़ खेतों में कहीं दो-चार डाले कुछ फल फला भी तो वह भी पकने से पहले ही बानर-सूअर सब चट कर देने वाले ठहरे।...बाकी हमारे पहाड़ों में कहीं कोई बड़ी फैक्ट्रियाँ ठहरी। न कोई बड़े शहर-बाजार ही। कोई रोजगार भी ढूँढ़े तो किस ठौर ढूँढ़े? अब सुबह-शाम घर में रोटी सबको चाहिए ही। छत-आँगन सबको चाहिए ही। कपड़े-लत्ते-दवा-दारू सबको चाहिए ही। अब आप ही बताइये, हमारे आगे कोई उपाय निकले तो क्या निकले?"(पृ.-39) इस परेशानी से निकलने के लिए पहाड़ी लड़के मैदानों का पलायन करते हैं और लड़कियों के लिए तो स्थिति और दयनीय हो जाती है। या तो उनका अल्पायु में विवाह करके छुट्टी पाई जाती है या फिर वे इन नई खुली आरामगाहों में कोई छोटा-मोटा रोजगार पाने की जुगत में शोषण का शिकार होती हैं।

इस संग्रह की दो कहानियाँ 'इजा की बेटियाँ' व 'आरोहण' मूलतः पहाड़ी औरतों के इसी संघर्ष को समझने के लिए विशेषतः पढ़ी जानी चाहिए। यूँ तो पहाड़ दरअसल मेहनत का पर्याय रहा है, किन्तु जब से मैदानों की वहाँ लगातार आवाजाही बढ़ी है और निरंतर चौड़ी सकड़ों का दूर-दराज के क्षेत्रों तक विकास हुआ है, तो उसके साथ पूँजीवादी मानसिकता का विकृत चेहरा भी वहाँ पहुँचा है। वह चेहरा आकर्षण के ऐसे मुखौटे पीछे छिपा है, जिसमें देह-भोग ही सर्वत्र व्याप्त है। इससे साथ-साथ इधर के वर्षों में पहाड़ों की अपनी स्थिति भी बिगड़ी है, वहाँ नशे आदि के सेवन संबंधी आँकड़ों की लगातार होती बढ़ोतरी भी दर्शाती है कि पहाड़ों का वातावरण किस कदर संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। कहानी 'इजा की बेटियाँ' में वर्णित बेटियाँ अपनी माँ के दुर्दिनों की कहानी सुन रही हैं कि किस कदर उनके पिता को आत्महत्या करने के लिए मजबूर किया गया तथा किन परिस्थियों में वह उन्हें समाज की वहसी नजरों से बचाकर पालती-पोसती आई है। दरअसल, यह कहानी इसी संक्रमण को समझने का समाजशास्त्रीय प्रयास है। हालाँकि, कहानी के अंत में दोनों बेटियों द्वारा माँ की कमर से दरातियाँ निकालकर अपनी कमर पर टाँग लेना एक सार्थक हौंसला अवश्य देता है कि अब पहाड़ की बेटियाँ आत्मरक्षा के प्रति सजग हो रही हैं, किन्तु आँकड़ों में सच्चाई कुछ और ही होती है।

कहानी 'आरोहण' में एक भिन्न अर्थ में पहाड़ की स्त्रियाँ अपने दर्दों को साँझा कर रही हैं। यह दर्द इस अर्थ में उन सबका साँझा है, क्योंकि घर से लेकर खेत तक का सारा काम उनके ही कंधों से होकर गुजरता है। इस हाड़-तोड़ मेहनत में कभी कुपोषण, कभी प्राकृतिक मार व कभी छोटी-सी चुक उनके जीवन की इहलीला पर भारी पड़ जाती है। यह कहानी इस प्रकार की कठिनाइयों में अपना जीवन तक दाँव पर लगा देने वाली स्त्रियों के सहारे दरअसल उस मानसिकता पर चोट करना चाहती है, जो कहीं पितृसत्तात्मक संरचना से बल पाती है, कहीं पूँजी से और कहीं तथाकथित क्षेत्रिय राजनीति से। हालाँकि, इस तथ्य से वे स्त्रियाँ भी बखूबी वाकिफ हैं कि केवल दर्द को सांझा करने से मुक्ति नहीं मिलती, "देखो बहन कम-ज्यादा हम सबकी कहानी भी यही है। थोड़ा आगे हो या पीछे। हम पहाड़ी जरूर हैं पर हैं हम सब दर्द की घाटियाँ ही। दर्द भरे कहीं अटके कहीं बहते गधेरे हैं हम।" (पृ.-66) दरअसल, इस सारे संघर्ष से एक ही पुकार उठती है कि हमें इस दर्द से कब मिलेगी मुक्ति? पहाड़ों के नौजवान तो घरों से पलायन कर आए हैं, पीछे बचे हैं—लाचार-असहाय बूढ़े। वे स्वयं अपने दिन पूरे कर रहे हैं। फिर स्त्रियों को इस दर्द से मुक्ति कौन दिलाएगा? सरकार व प्रशासन नए खुलते रिजोर्ट, चौड़ी होती सड़कों, नए मॉलों को गिनाकर छुट्टी पाते हैं। पहाड़ बचे रहते हैं, अपने दर्द में रोते-सिसकते।

कहानी 'उजाड़ घर' में विस्थापन के बाद घर में पीछे छुट गई माँ और बहन की दर्दनाक दास्तान पढ़ी जा सकती है। यह कहानी एक अर्थ में दलित-स्त्री की चुनौतियों का भी हलफनामा मानी जा सकती है। कहानी में बुढ़ी औरत अपने पुत्र और बहु की हत्या के बाद अपने पौत्र-पौत्री को लेकर दूसरे गाँव में बसेरा कर लेती है, किन्तु वहाँ के दबंग लड़कों द्वारा उसकी पौत्री के साथ छेड़खानी करनी शुरू कर दी जाती है। उसका युवा पौत्र काम के एवज में घर से दूर है, ऐसी असहय अवस्था में उसके लिए अपनी इज्जत-आबरू तक बचाना दुभर हो जाता है। गाँव के दबंगों की मानसिकता देखनी हो, तो ये चंद पंक्तियाँ ही काफी हैं, "आज ही खेत में कैसी पछाड़ खिलाई रामवती को। बहुत फुफकारती थी साली, गाँव के मुखिया लंबरदार का लड़का था यह।" (पृ.-85) ऐसी स्थिति में उसकी पौत्री लाली को लेकर कैसी छींटा-कसी होती होगी, वह कोई कल्पनातीत दृश्य नहीं होगा। यह लगातार नशे की चपेट में आता, वही पहाड़ है, जहाँ कुछ वर्ष पहले तक हत्या-अपहरण व बलात्कार की घटनाएँ अक्सर नगण्य होती थीं। यह सोचने की आवश्यकता है कि इधर के वर्षों में ऐसा क्या हुआ कि पहाड़ अपनी मूल प्रवृत्ति को ही भुल गए? निरंतर त्याग, साहस व बलिदान ने अपना रूप बदल लिया है, अब केवल एक ही नारा है पूँजी-पूँजी-पूँजी।

कहानी 'इस क्षमा प्रार्थना में' को दलित-विमर्श के पहलू से पढ़ा जा सकता है। दरअसल, दलित सवर्त्र दलित है, चाहे पहाड़ हों या धुर जमीनी क्षेत्र। उन्हें जी-तोड़ मेहनत करनी ही पड़ती है। बावजूद इसके उनके हिस्सा आती है वही जलालत। उनके घरों में दो वक्त की रोटी मयस्सर होने के लाले पड़ जाते हैं। इसी एवज में उनसे मजूरी कराई जाती है, बावजूद इसके उन्हें सही मेहनताना नहीं दिया जाता। यह कहानी भी करमू नामक मजदूर के सहारे पहाड़ों में दलितों के साथ हो रहे दोयम दर्जे के इसी व्यवहार का उद्घाटन करती है। करमू घर से काम पर निकलता है, वह प्रधान के कहने पर पाँच दिन काम करता है, किन्तु उसे दिहाड़ी अढाई दिन की ही मिलती है। जब वह अन्य मजदूरों से प्रधान का विरोध करने की अपील करता है, तो उसे कठोर शारीरिक दंड दिया जाता है। उसके साथ केवल एक मातादीन ही डटकर विरोध में खड़े होते हैं, किन्तु उन्हें भी बल-प्रयोग द्वारा चुप करा दिया जाता है।

यह कहानी दलित-प्रसंग की अन्य कहानियों से इस अर्थ में भिन्न है, क्योंकि यहाँ बिना वजह के किसी आदर्श का मुखौटा नहीं अपनाया गया है। अधिकतर यह देखा जाता है कि इस विषय पर कहानी लिखते हुए अंत में या तो सामंत का हृदय परिवर्तन दिखाया जाता है या फिर मजदूर द्वारा किसी विद्रोह को दिखाकर समाज परिवर्तन करा दिया जाता है। शैलेय यह बखूबी जानते हैं कि दलित अभी भी अधिकतर मार खाकर दो वक्त की रोटी का जुगाड़ कर पाने में ही अभिशप्त हैं। वे न तो इतने शिक्षित ही हुए हैं कि अपने अधिकारों के लिए पैंचीदगी भरी कोई कानूनी लड़ाई लड़े और न ही अभी उनमें वह संगठनात्मक शक्ति ही विकसित हुई है। अभी भी वे शोषित होने के लिए ही अभिशप्त हैं। यहाँ इस कहानी के अंत में करमू का प्रधान के ट्रक में बैठना इसी तथ्य को चरितार्थ करता है।

इस संग्रह की अन्य तीन कहानियाँ 'टीस', 'दुश्मन' और 'भरोसा' अलग प्लॉट की कहानियाँ हैं। इनमें पहाड़ी जीवन की मध्यस्तता उस तरह नहीं है, जैसी उक्त कहानियों में है। ये दरअसल किसी भी परिवेश की कहानियाँ हो सकती हैं। 'टीस' कहानी प्रेम की संवेदनशीलता को गहन दार्शनिक प्रश्न की तरह खोलती है। 'दुश्मन' शौतेली माँ से दूर रहकर घर में वापस पिता के प्रेम वश लौटे पुत्र की संवेदनाओं का प्रस्फुट दर्शाती है तथा 'भरोसा' दो ऐसे पौढ़ों के प्रेम का चित्रण है, जो विवाह के लिए एक-दूसरे का चयन करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उन्हें समाज बहिष्कृत होकर जीवन जीना पड़ता है। ये कहानियाँ सामाजिक संरचना के जटिल ढाँचे को अभिव्यक्त करने में सफल सिद्ध हुई हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इन कहानियों ने भूमंडीलकरण के बाद पहाड़ों के जीवन में आए बदलावों को यथार्थ नजरिये से छुआ है। हालाँकि इधर के वर्षों में पहाड़ों पर नंदकिशोर नैटियाल, हरनोट, बद्रीसिंह भाटिया, राजकुमार राकेश आदि ने भी खूब लिखा है, किन्तु वह अधिकतर पर्यावरण संकट के परिप्रेक्ष्य में ही है। यदि राकेश व हरनोट आदि की कुछ कहानियों को छोड़ दें, तो बहस के केन्द्र में वहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य ही रहा है। शैलेय के इस संग्रह की यह विशेष खूबी है कि यह मल्टीनेशनल के निर्माण को ही मात्र विकास समझने वाली पूँजीवादी मानसिकता की तह तक उतरता है। इसमें अधिकतर घटनाएँ ही बोल रही है, पात्रों के स्वयं बोलने की आवश्यकता नहीं है। यह शैलेय के लेखन की रचनात्मक प्रतिबद्धता है कि उनके यहाँ सामयिक विद्रूपताओं पर लगातार प्रहार होता है। उनकी कविताएँ हों या उपन्यास हलफनामा, वे सर्वत्र प्रतिरोध का स्वर बुलंद करते हैं। उनकी यही प्रतिबद्धता इस संग्रह में भी सुरक्षित होती देखी जा सकती है।

पुस्तक : यहाँ बर्फ गिर रही है / शैलेय / राजपाल एंड संस, नई दिल्ली/ मूल्य : ₹ 225

संपर्क : 198, सेक्टर-7, पंचकूला, हरियाणा-134109, मो. : 9466948355

परिधि की निगाह से केंद्र को देखती कविताएँ

जगन्नाथ दुबे

'तुमड़ी के शब्द' हिंदी के महत्त्वपूर्ण कवि और समाजविज्ञानी बद्री नारायण का चौथा काव्य संग्रह है। इससे पहले उनके 'खुदाई में हिंसा', 'शब्द पदीयम' और 'सच सुने कई दिन हुए' नाम से तीन कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों के उस हाहाकारी परिदृश्य में उभरने वाली पीढ़ी के प्रतिनधि कवि हैं जिसमें एक तरफ भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण जैसी परिघटनाएँ विकसित हो रही थीं तो दूसरी तरफ बाबरी 1992 और गुजरात 2002 जैसी घटनाओं को एक शक्तिशाली समूह की मदद से अंजाम दिया जा रहा था। उन दिनों जो कुछ घटित हो रहा था उसका असर हमारे वर्तमान समय में भयंकर रूप से सामने आ रहा है। 2020 में जब यह संग्रह हमारे हाथ में है तब हम यह कह सकते हैं कि बद्री नारायण इन घटनाओं की निर्मिति से न सिर्फ वाकिफ थे बल्कि अपने लेखन से हमें सचेत भी कर रहे थे। यह भी एक आश्चर्यजनक सच्चाई है कि बीसवीं सदी के जिन दशकों में सामाजिक क्षेत्र में विमर्शवादी मूल्य विकसित हो रहे थे उन्हीं दशकों में दक्षिणपंथी राजनीति का भी तेजी से उभार हो रहा था। एक तरफ तो दलित और स्त्री भारतीय लोकतन्त्र की सामाजिक-संरचना में अपनी नागरिक भूमिका तलाश रहे थे दूसरी तरफ सामंतवाद की खोल में सम्प्रदायवाद और ज्यादा मजबूत होता जा रहा था। इसी तरह की कई परस्पर विरोधी परिघटनाएँ भारतीय लोकतन्त्र में घटित हो रही थीं। इन घटनाओं का उल्लेख यहाँ इसलिए भी जरूरी लगता है क्योंकि बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों के भारतीय समाज, भारत की लोकतान्त्रिक राजनीति और भारतीय राष्ट्र-राज्य में जो कुछ घटित हो रहा था उसका बहुत गहरा रिश्ता इक्कीसवीं सदी की रचनाशीलता से बनता है। आज हम जिस भय, नफरत और हिंसा के माहौल में जीने को अभिशप्त हैं इसकी पटकथा निकट भविष्य में देखें तो मंदिर आंदोलन के साथ उपजी राजनीति में मौजूद दिखाई देगी। जिस कॉरपोरेट पूँजी के समर्थन से पोस्ट-ट्रुथ मीडिया नफरत और भय का माहौल बनाने में लगी हुई है उसको संरक्षित करने वाली सत्ता

के ख़िलाफ़ इस संग्रह की कविताएँ अपना मुखर प्रतिरोध दर्ज कराती हैं।

पिछले तीस वर्षों में भारतीय समाज,राजनीति और राष्ट्र-राज्य के ढाँचे में जो बुनियादी बदलाव आए हैं उनसे इस संग्रह की कविताएँ संवाद करती हैं। बद्री नारायण की कविता परिधि पर मौजूद व्यक्ति की निगाह से केंद्र को देखती है। इस निगाह में गोरखनाथ, कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा और सेना जैसे संत कवियों की निगाह शामिल है। महात्मा गाँधी, फुले और अंबेडकर जैसे जिम्मेदार सामाजिक आंदोलनों के अगुवा विचारकों की निगाह शामिल है। इस निगाह से देखने की यह परंपरा इतनी व्यापक तौर पर राजनीतिक एवं सांस्कृतिक है कि इस पर एक पुराण लिखा जा सकता है। यह पुराण किसी राजकुमार के राजा बनने-बनाने का पुराण नहीं होगा। यह किसी युद्ध का पुराण भी नहीं होगा। हाँ, युद्ध में मार दिये गए लोगों का दुःख जरूर शामिल होगा। वे अपनी एक कविता में कहते भी हैं :

उसके दुःख पर मैं लिखना चाहता हूँ
एक पुराण
अब तक के पुराणों से अलग
पुराणों के अर्थ को तोड़ता
छूट गए लोगों के दुःखों की एक दास्तान!

यहाँ सहज जिज्ञासा पैदा होती है कि कौन लोग छूट गए हैं? कवि के बारे में बहुत पुरानी कहावत है कि जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। यानी जो कुछ भी नजर से ओझल है, उसे कवि देखता है। आकाश में उड़ती चिड़ियों में पीछे छूटी हुई चिड़िया, गायों के झुंड में छूटी हुई गाय, हिरण, भेड़ उसे दिखाई पड़ जाते हैं। विकास की गति और समाजीकरण की प्रक्रिया में बहुत से लोग छूटते रहे हैं। न उसे संगत यानी समाज का बंधु-भाव मिलता है और न ही साथ में बैठकर खाने का अवसर। संगत, पंगत और विकास से छूटा हुआ आदमी बद्री नारायण की रचनाशीलता में आता है। उनकी कविता में इन्हीं का दुःख-दर्द है, इन्हीं की चिंताएँ हैं, उम्मीदें हैं, सपने हैं और उन्हें पूरा करने की कोशिश करने वाले लोग हैं। इन लोगों से भारतीय समाज और राष्ट्र-राज्य का जो लोकवृत्त बनता है, वही बद्री नारायण की कविताओं का भी लोकवृत्त है। उनकी कविताएँ अपनी परंपरा से संवाद करते हुए अपना समय-सच रचने वाली कविताएँ हैं।

कवि बद्री नारायण का यह संवादी व्यक्तित्व अपनी कविताओं में पुरखे कवियों में सबसे ज्यादा किसी से संवादी रिश्ता बनाता है तो वह कबीर हैं। कबीर अपनी पूरी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के साथ बद्री नारायण की कविता में बार-बार आते हैं। 'भदोही बस स्टैंड पर', 'तुमड़ी का शब्द' और 'अमरपुर गाँव' ऐसी ही कविताएँ हैं जिनमें कबीर की उपस्थिति एक प्रश्न की तरह दिखाई देती है। अगर आप बुद्ध, कबीर, रैदास, फुले, अंबेडकर और गाँधी के पक्ष को ठीक से चिन्हित नहीं कर पाते हैं तो आप बद्री नारायण की कविताओं के पक्ष को भी ठीक से नहीं जान पाएँगे। ये पुरखे कवि, संस्कृतिकर्मी, सामाजिक कार्यकर्ता उनकी कविताओं की रक्त-मज्जा में गहरे तक पैबस्त हैं। संग्रह की पहली ही कविता है 'भदोही बस स्टैंड पर'। इस कविता में कवि कबीर से संवाद करते हुए अपने समय में कबीर को देखने की कोशिश करता है। कबीर भदोही बस स्टैंड पर खड़े हैं, कहीं और जाने के इंतजार में। कबीर जहाँ हैं वहाँ से(भदोही से) क्यों जाना चाहते हैं? क्योंकि :

ओस, धान की फुनगी, गेहूँ के पौधों की डाली की चमक
और नदी का पानी

जिन सबसे मैं गढ़ रहा था
एक सुंदर चाँद
सब नीलम हो गया।

यह नीलामी क्यों हुई? इससे ज्यादा जरूरी सवाल है कि इस नीलामी पर सब चुप क्यों हैं? नीलामी से ज्यादा नीलामी पर चुप्पी से कबीर आहत हैं। एक और कविता है 'अमरपुर गाँव' नाम से। इस कविता में कबीर के साथ नानक, रैदास और अंबेडकर भी आते हैं।

वे चिंतित हैं कि
उन्होंने जो बनाई थी लोकतन्त्र की चाभी
वह काम क्यों नहीं कर रही है
अँधेरा इतना बढ़ता जा रहा है कि
जो दीपक जलाए थे
वो हारते जा रहे हैं
जैसे जैसे गहरा रहा है लोकतन्त्र
असमानता की नई-नई कोटियाँ
बनती जा रही हैं।

अपने पुरखों की इस चिंता में कवि की चिंता भी शामिल है। वह बुद्ध से सवाल करता है 'हे बुद्ध! आपकी धरती पर यह जीवन की/ कैसी परिभाषा है?' जिसमें देशज विचार और गाँव मरने को अभिशप्त हैं। वह अपने समय के लोगों से गुहार लगाने की गुजारिश करता है। वह कहता है :

लगाओ गुहार
कि बच सके देशज विचार
और कहीं नहीं तो
गिरि-पर्वत जंगल झाड़ में ही
उनके भी पक्ष में चलाओ
एक हस्ताक्षर अभियान
कविगण! मेरे देश की शान

वह कहना यह चाहता है कि जिस अमरपुर के लोकतन्त्र की चाबी खो गयी है वह हमें इसी देशज विचार से मिलेगी। वह चाबी बुद्ध, गोरखनाथ, कबीर, फुले, गाँधी और अंबेडकर के विचारों में मिलेगी। हमें बुद्ध, गोरख, कबीर, नानक, फुले, गाँधी और अम्बेडकर के विचारों और चलना होगा। पाश ने कहा था ''बीच का रास्ता नहीं होता है'' बद्रीनारायण को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कह रहे हों दूसरा रास्ता नहीं है। तब सवाल है कि इस रास्ते पर चला कैसे जाये? बद्रीनारायण जैसे बहुत साफ तौर पर कहना चाहते हों कि वह रास्ता तो हमने दिखा ही दिया है। वह बुद्ध, कबीर, गाँधी, अम्बेडकर और फुले का रास्ता है। देशज विचार का रास्ता। भारतीय समाज और संस्कृति की मूल-वृत्ति का रास्ता। जिस रास्ते धन्ना, पीपा, सेना बेगमपुरा चले गए वह रास्ता है अमरपुर जाने का। उसपर चलना इतना आसान नहीं है और रास्ता तो वही है।

वे सचेत करते हैं कि भूमंडलीकरण और बाजार ने जिस गलबहियाँ पूँजीवाद को विकसित किया है उसकी अंतिम परिणति और भी भयावह होनी है। हम जिस पोस्ट-ट्रुथ समय में जीने को अभिशप्त हैं वह इसी गलबहियाँ पूँजीवाद द्वारा संरक्षित और मीडिया का रचा हुआ समय

है। इस सबके समानान्तर कवि का प्रतिरोध उसी के हथियारों से नहीं हो सकता। उसे अपने प्रतिरोध के लिए नए सूत्र तलाशने होंगे। सक्रिय राजनीति में यह चल सकता है कि आईटी सेल का जवाब आईटी सेल से दिया जाए, परस्पर विरोध-प्रतिरोध की भाषा एक जैसी हो लेकिन एक रचनाकार समाज में मौजूद प्रतिक्रियावादी ताकतों के ख़िलाफ़ उन्हीं के लहजे और भाषा में अपनी बात कहे, ऐसा सम्भव नहीं है। एक रचनाकार अपना प्रतिरोध अपनी प्रतिरोधी परंपरा और संस्कृति के मूल्यों को विकसित करके दर्ज कराता है। यहाँ राज्य, पूँजीवाद और सर्व-सत्तावाद के समानान्तर तुमड़ी प्रतिरोध का सबसे मजबूत रूपक साबित हुई है। तब जबकि शब्दों के मानी बदल से गए हैं। बक़ौल कवि :

इससे अपमानितों को सम्मान मिलता है
मिलता है इसमें निचलों को उठान
इन्हीं शब्दों से गरीबों में जनमता है
ताज और तख्त हिलाने का स्वप्न
देखो कितने तोप, तीर, तलवार,
आरी, कटार, तने हैं इस शब्द पर
कई फूलों के बाण से
इसे मारकर खा जाने
में सिद्धहस्त
लगाए बैठे हैं घात

तब तुमड़ी पर गाने वाला भगैत कहता है—'डरो मत कवि! यह शब्द मरते ही जी जाता है'। इस जी जाने की स्थिति पर भरोसा करने वाला कवि ही प्रतिरोध का नया मार्ग तलाश सकता है।

इस संग्रह में शामिल बद्री नारायण की कविताएँ पिछले तीस वर्षों में दुनिया के लोकवृत्त पर चढ़े हुए सभ्यता के नए आवरणों को उजागर भी करती हैं। इस आवरण को विकसित करने में भूमंडलीकरण और बाजार की भूमिका सबसे ज्यादा है इसलिए यहाँ भूमंडलीकरण और बाजार का सबसे मजबूत क्रिटीक भी दिखाई देता है। भूमंडलीकरण और बाजार के साझेपन से जिस उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ है उसमें आम इंसान के लिए कोई स्पेस नहीं बचा है। एक रचनाकार किसी भी संस्कृति में आम इंसान के लिए स्पेस खोजता है। बद्री नारायण का यह संग्रह उसी स्पेस की तलाश करता है। हिंदी के महत्त्वपूर्ण कवि मदन कश्यप अपनी कविता में जिसे ढपोरशंख कहते हैं वह 'अगर आप कविता लिखें' नामक कविता में अपनी अनुपस्थित उपस्थिति दर्ज कराता है। बद्री नारायण अपने कवि को ढपोरशंख से सचेत करते हुए प्रतिरोध का नया रास्ता चुनने को कहते हैं। यह चयन पोस्ट-ट्रुथ के समानान्तर अपना समय सच खोजने की कोशिश भी है। इस दृष्टि से तुम क्यों नहीं समझते, भारत विजय, वह, विचार मृत्यु, बेगमपुरा एक्सप्रेस, यह मन रख लो, फकीर की याद, सुबह का इंतजार, वह चला जाएगा, शिल्प, हाय बरेली के बाजार और पेड़ की शोक सभा जैसी कविताएँ बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। ये कविताएँ पिछले तीस वर्षों के भारतीय समाज की अंदरूनी बुनावट में आई खामियों को रेखांकित करने वाली कविताएँ हैं।

1990 के आसपास हिंदुस्तान ने जिस भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को अपनाया उसने हिंदुस्तान के सभ्यतागत विकास को बहुत हद तक बदलकर रह दिया। यह बदलाव विज्ञान और तकनीकि के सहारे हुआ जिसमें निर्णायक बना बाजार। ऐसा नहीं है कि बाजार उससे

पहले नहीं था। 90 के बाद दुनियाभर में बाजार का कांसेप्ट बदल गया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने सरकारी सहयोग और विज्ञापन के जरिये एक नये मध्यवर्ग की तलाश की। हिंदुस्तान में यह वर्ग आजादी के बाद के वर्षों में तमाम वजहों से बहुत तेजी से विकसित हुआ था। अब यह वर्ग कॉरपोरेट पूँजी और बाजार का मुख्य केंद्र हो गया। इसे लुभाने के चक्कर में बाजार की जो नीतियाँ बनीं उसे कारपोरेट परस्त सरकारों का समर्थन हासिल हुआ। यह सारा खेल हाशिये पर मौजूद लोगों और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की शर्त पर खेला गया। बद्री नारायण जैसे प्रगतिशील जन पक्षधर कवि ने इस पूरी प्रक्रिया की शोषणवादी नीति पर जमकर हमला बोला। 'हाय बरेली के बाजार' नामक कविता इसी तरह के अमेरिकी पूँजी और साम्राज्यवादी नीति के ख़िलाफ़ हिंदुस्तान को बचा लेने की गुहार लगाती हुई कविता है। वे लिखते हैं :

चिली का सेब अमेरिका के बाजार में बिकता है
भारत की कविता अमेरिका के बाजार में कैसे बिके
अमेरिका का गेहूँ बिकता है नासिरी गंज बाजार में
नासिरी गंज बाजार का गेहूँ आरा के गोदाम में सड़ता है
बाजार के इस साम्राज्यवादी स्वरूप से चिंतित कवि कहता है
अमेरिका का बाजार इसी तरह फैलता रहा
तो संभव है
पेरिस का बाजार तो बच जाए
पर दिल्ली के बाजार में जरूर
भूत रोएगा

कवि की चिंता दिल्ली के बाजार को बचा लेने की नहीं है, उसकी चिंता के केंद्र में आरा के गोदाम में सड़ने वाला गेहूँ है। असल में कवि बाजार की इस पूरी साम्राज्यवादी संरचना के ख़िलाफ़ है तभी तो वह बुद्ध के देश में बुद्ध से सवाल करता हुआ कहता है :

ग्यारह साल हो गए उसे पहनते हुए फटे कपड़े
नौ साल से कम नहीं हुए होंगे खाये दोनों जून रोटी
सात साल हो गए उसे रोज-रोज होते अपमानित
तीन साल हो गए उसे रोज-रोज ज़लालत सहते
रोज छीजते-रोज क्षरित होते
जितने साल हुए उसे जन्म लिए हुए
उतने ही साल हुए उसे तिल-तिल मरते
हे बुद्ध! आपकी धरती पर यह जीवन की
कैसी परिभाषा है?

एक तरफ अमेरिका का गेहूँ आरा के गोदाम में सड़ रहा है दूसरी तरफ बुद्ध के देश में आदमी भूख से मर रहा है। यह दुहरी रीति-नीति एक कवि के लिए बेचैनी का कारण बनती है। उसकी यह बेचैनी उसे उसके पुरखों के पास ले जाती है। बद्री नारायण की कविता में पुरखों से संवाद अपने वर्तमान से मोहभंग की स्थिति में जीने के लिए खोजी गयी एक ऐसी जगह है जिसमें कुछ पल के लिए ही सही सुकून मिल सकने की संभावना है। वर्तमान समाज की विकट स्थिति को देखते हुए 60 साल पहले मुक्तिबोध ने कहा था 'वर्तमान समाज चल नहीं सकता/ पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता'। वहाँ हृदय पूँजी से जुड़ा हुआ था आज की स्थिति तो यह है कि पूँजी ही हृदय है। ऐसे में कवि जो विकल्प प्रस्तावित करता

है वह है देशज विचार का विकल्प। यह संग्रह लौटने की बात करता है यह जानते हुए कि लौटना एक प्रतिगामी मूल्य है। वह देशज विचार की ओर लौटना चाहता है। पर्वत, पठार, नदी और जंगल की ओर लौटना चाहता है, उन्हें बचाना चाहता है। उनमें रहने वाले लोगों को बचाना चाहता है। वह एक ऐसे समाज का स्वप्न देखता है जिसमें बुद्ध, कबीर, रैदास, नानक, दादू, अंबेडकर और गाँधी के लिए पर्याप्त जगह हो। वह देखता है कि इनके देश हिंदुस्तान में अब इन्हीं के लिए सबसे कम जगह बची है। इस संग्रह की अधिकतम कविताएँ ऐसी हैं जिनमें दो परस्पर विरोधी विचारों की लड़ाई चल रही है। दो वर्ग हैं। एक वह वर्ग जो बुद्ध, कबीर और अंबेडकर के हिंदुस्तान को बदल देना चाहता है, दूसरा वह जो इन्हें बचाए रखना चाहता है। कवि बचाए रखने वालों के साथ खड़ा है। उसे फकीर की याद आती है, गोरखनाथ की याद आती है। उसका फकीर उसके भीतर कहीं दब सा गया है। वह कभी-कभी प्रकट होता है चुनौती देता हुआ। कहता है :

इतना शेयर, इतना डिबेंचर
एक चिड़िया बचा लो तो जानें
इतना रुपया, इतना डालर, इतना इंश्योरेंस
अपनी आँखों में आँसू
बचा लो तो जानें
बचा लेते हो तुम
हीरे, मोती, हुँडियाँ
अपने को अलमूनियम का बर्तन बना
अपने में बारिश की कुछ बूंदें
सँजो लो तो जानें
चिल्लाता है वह ज़ोर से
अलख निरंजन

यह जो चारो तरफ से बचा लेने की चुनौती भरा शोर है उसमें कवि गोरखवाणी बचा लेना चाहता है। वह बुद्ध, कबीर, अंबेडकर और गाँधी को बचा लेना चाहता है। वह देशज विचार को बचाने की लड़ाई लड़ना चाहता है। वह एक पेड़ की शोकसभा में जाना चाहता है। वह गुहार लगाता है पेड़ को बचाने की, पक्षी को बचाने की। वह हवा और पानी बचाना चाहता है। वह अपने लोगों का दायरा इतना बड़ा कर लेना चाहता है जिसमें दीनानाथ गौतम, राम अवध शुक्ल, के. के., एस. के. और आर. के. जैसे लोगों के लिए जगह सुरक्षित हो सके।

बद्री नारायण की कविताएँ एक गहन संवादधर्मी कविताएँ हैं। इन कविताओं की असल ताकत इनकी संवादधर्मिता है। इनमें परंपरा, संस्कृति और वर्तमान से संवाद का त्रिकोण निर्मित हुआ है। इस संवाद में प्रेम के लिए बहुत थोड़ी सी जगह जान-बूझकर बचाई गयी है ऐसा लगता है। जान-बूझकर इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि जहाँ प्रेम के लिए जगह बचाई या बनाई गयी है वहाँ भी वर्तमान का हाहाकरी परिदृश्य ही सामने आता है। बिछुड़न, विछोह और विस्थापन के ही दृश्य और बिम्ब अधिक मिलते हैं। प्रकृति और प्राकृतिक दृश्य अपने विद्रूप यथार्थ के साथ ही व्यक्त हुए हैं। नदी सूखती हुई, जंगल जलता हुआ, पहाड़ टूटते हुए ही दिखाई देते हैं। कवि एक नदी की तलाश में है जो पानी से भरी हुई हो, उसे हरा-भरा जंगल चाहिए, खूबसूरत पहाड़। इसके समानान्तर वह अभिशप्त है पेड़ की शोकसभा में शामिल होने के लिए। वह चाहता तो है एक समूहिक जीवन लेकिन उसकी पीड़ा यह है कि 'आज की दुनिया में

अकेलापन हो गया है स्थायी भाव'।

प्रगतिशील चेतना और पक्षधरता के साथ एक समाजविज्ञानी का जीवनानुभव जहाँ जुड़ता है, वहाँ इस संग्रह की कविताओं का जन्म होता है। इन कविताओं में बद्री नारायण का समाज-विज्ञानी रूप हमे अक्सर दिखाई देता है। उनके इस रूप के शामिल होने से कई कविताएँ बनती हैं तो कई बनते बनते बिगड़ जाती हैं। उसके बिगड़ने का कारण है उसकी लय का टूट जाना। कविता अपनी पक्षधरता में चाहे जितनी बौद्धिक हो जाए उसका हृदय पक्ष सूना नहीं हो सकता। कविता के लिए तर्क-बुद्धि-विवेक के साथ भाव का होना भी अनिवार्य है। भाव के अभाव में लय को नहीं बचाया जा सकता और जहाँ लय नहीं है वहाँ और कुछ भी हो, कविता नहीं हो सकती। यह उनकी कुछ ही कविताओं में है जहाँ वे एक समाजविज्ञानी की तरह विश्लेषण पद्धति अपनाने लगते हैं। बहुत संभव है यह हमारे वर्तमान सामाजिक-संरचना का दबाव हो पर यह दबाव है तो इसकी व्याप्ति भी तमाम बार अखरती है। इस संग्रह के बारे में मुझे जो अंतिम बात कहनी है वह यह कि इसे पढ़ते हुए लगता है जैसे यह बहुत जल्दी में तैयार किया गया हो। प्रूफ की बहुत अशुद्धियाँ इस संग्रह में देखने को मिलती हैं। कविता में प्रूफ की अशुद्धि चावल में कंकड़ से भी ज्यादा खराब लगती है। उम्मीद है कि अगले संस्करण में कवि और प्रकाशक इस ओर भी ध्यान देंगे।

पुस्तक : तुमड़ी के शब्द/ बद्री नारायण/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/ मूल्य : ₹ 125

संपर्क : जगन्नाथ दुबे, शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मो. : 6389003142

शायद बहुत कुछ कहती हैं कविताएँ

हितेश कुमार सिंह

कविताएँ कवियों का आत्मकथ्य होती हैं। यदि वे पूर्णतः आत्मकथ्य न भी हों तो कम से कम कवियों के आस-पास घटित घटनाओं से प्रभावित होती हैं। कवियों को अपनी भावनाएँ व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम भी कविताएँ ही होती हैं। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में यह विधा वर्तमान में थोड़ा नीरस हो गई है। हालाँकि कुछ कवि ऐसे हैं जो इस नीरस विधा में भी सरसता ला देते हैं। सुधीर रंजन सिंह एक ऐसे ही कवि हैं। उनके काव्य-संग्रह 'शायद' को पढ़कर तो ऐसा ही प्रतीत होता है। 'और कुछ नहीं तो' तथा 'मोक्षधरा' के बाद यह उनका तीसरा काव्य-संग्रह है।

हमारे जीवन की कई छोटी-छोटी कमियाँ हमारे यानी व्यक्ति और समाज के बीच अलगाव ला देती हैं, दूरी ला देती हैं। यह हमें तब ज्ञात होता है जब हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को भूलकर मानवता के बारे में सोचते हैं, किन्तु तब तक काफी विलम्ब हो चुका होता है और हमारी पुनर्वापसी असंभव सी दिखाई देने लगती है। 'शायद' काव्यसंग्रह की 'परछाईं' कविता यही कहती है, जो युगीन यथार्थ है-

नहीं तुम मुझमें प्रवेश नहीं कर सकते
पीछे हटो, जरा जगह दो
कि फैल सकूँ
जगह दो :
जगह नहीं देने की आदत ने
तुम्हें अकेला किया।

शिक्षा का कार्य बच्चों को शिक्षित करके मनुष्य बनाना है, मात्र डिग्री देना नहीं। किन्तु आज समाज में शिक्षा प्राप्त करने का अर्थ डिग्री प्राप्त करना समझा जा रहा है। संभवतः यही कारण है कि शिक्षा के दौरान कबीर, सूर तुलसी आदि के नैतिक वचन और आदर्श की बातें

बच्चे जीवन में नहीं उतार पाते। वह इन सन्तों के वचनों को पढ़कर सेमिनारों, गोष्ठियों एवं विभिन्न कार्यक्रमों में अपनी विद्वता झाड़ता है न कि उनको आत्मसात करता है। यही कारण है कि ऐसे डिग्रीधारक लोग जिस भी पद पर आसीन होते हैं, उससे न्याय नहीं कर पाते। ऐसे डिग्रीधारी लोगों से कई गुणा अच्छे वे अनपढ़ और गैर डिग्रीधारी लोग हैं जो परिस्थितिवश बचपन से ही मोटर मैकेनिक, साइकिल मिस्त्री, दरवाजे-खिड़कियाँ बनाने वाले लुहार आदि के रूप में समाज में प्रकाश लाकर उसका सहयोग कर रहे हैं–

इन्होंने स्कूल का मुँह नहीं देखा है
किसी सिस्टम का सिस्टम से नहीं किया है अध्ययन
शायद यही इनकी ताक़त है
जिसके भरोसे हम क्लच दबाते हैं, गेयर बदलते हैं
एक्सलेटर पर दबाते हैं पाँव
और कहीं के लिए निकल पड़ते हैं।

(सड़क के किनारे का मैकेनिक)

इसी काव्यसंग्रह की एक कविता है–'दर्जी'। किसान, नाई, राजमिस्त्री, मोची आदि छोटे-छोटे काम करने वाले लोगों का भी समाज के उत्थान में पसीना बहा होता है, किन्तु उन्हें हम छोटा आदमी समझकर उनके योगदान को भुला देते हैं। यह जमीन के लोगों की कविता है और जमीन छोड़कर जीवन जीने वाले लोगों को यह कविता सचेत करती है, उनका मार्गदर्शन करती है–

हमारी ज़िन्दगी में जितनी भी मुस्कानें हैं
उनमें थोड़ी उनकी भी दी हुई है
कभी सूँघ कर देखा है आपने
अपनी नई पतलून और कमीज को
जो आपकी देह के स्पर्श के पहले
पी चुके होते हैं उनकी देह का पसीना!

'दर्ज़ी' कविता हमें यह सीख देती है कि समाज में रह रहे कमजोर से कमजोर व्यक्ति को, कभी भी छोटा नहीं समझना चाहिए। समाज के निर्माण में इन सभी छोटे-छोटे किरदारों का भी अहम योगदान होता है और जिनकी अनुपस्थिति में हम समाज की कल्पना शायद नहीं कर सकते। अतः हमें इन सबके बीच समन्वय बनाकर रखना चाहिए। यहाँ हमें अब्दुर्रहीम खानखाना याद आते हैं–

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहाँ करै तरवारि।।

मंच पर स्त्री सशक्तीकरण की बात करने वाले ऐसे लोग जो अपने घरों में स्त्रियों को दोयम दर्जे का समझते हैं, उन्हें 'स्त्री पर अधूरा निबन्ध' कविता करारा जवाब देती है–

समस्या
चीजों के साथ नहीं
हाड़माँस वाली उस स्त्री के साथ है
पाई जाती है जो
सभी घर परिवारों में
परिवार का अर्थ ही है

उसका होना
लेकिन सच्चा अर्थ
उसके दब-छुपकर होने में है।

मेरी दृष्टि से कविता का उद्देश्य भविष्य में आने वाली समस्याओं से लोगों को सतर्क करना भी है क्योंकि कोई समस्या जब घटित हो जाती है तो भयावह रूप धारण कर लेती है। आमतौर पर दुर्घटनाएँ दो प्रकार की होती हैं, पहला—अचानक होने वाली दुर्घटना और दूसरा—धीरे-धीरे हमारे सम्पूर्ण भविष्य को नष्ट करने वाली दुर्घटना। भूमंडलीकरण और बाजारवाद हमारे सम्पूर्ण भविष्य को धीरे-धीरे ही तो निगल रहा है। पानी, दातून, दूध, तेल, अन्न आदि दैनिक जीवनोपयोगी वस्तुओं को शनैः-शनैः बाजार कैसे निगल गया, हमें पता ही नहीं चला और जब पता चला तो हम उससे मुक्त होने की स्थिति में ही नहीं हैं। यह हमारे जीवन की भीषणतम दुर्घटना है कि बाजार रूपी दैत्य ने हमारी संस्कृति, हमारी परम्पराओं, हमारे रीति रिवाजों को धीरे-धीरे निगल लिया और सुख-सुविधा में लिप्त हम लोगों को ज्ञात ही नहीं हुआ। 'दुर्घटना' कविता यही सच्चाई बताती है—

बहरहाल बचना चाहिए उस दुर्घटना से
घटती है जो धीरे-धीरे
घट रहा है जैसे कविता में
असली अनुभव।

कविता का कार्य समाज की सच्चाइयों से लोगों को रूबरू करना है। सुधीर रंजन सिंह का काव्य संग्रह 'शायद' ने इस कार्य को बखूबी किया भी है। इस काव्य संग्रह की कविता 'ऐसे कई इलाके थे' में वर्तमान सामाजिक, आर्थिक, नैतिक आदि विभिन्न प्रकार की गिरावटों की स्थिति बयाँ करती है। आज के संबंधों में बाजार ने जिस तरह से अपनी जगह बना ली है, वह स्थिति बहुत ही सोचनीय है—

कब, उसके अगले दिन
या कुछ और समय के बाद
दिन लगता है ऐसा आए
मेरी देहरी से आगे
नहीं पहचाने मुझे कोई।

कवि सुधीर रंजन सिंह की कविताएँ वर्तमान में व्यक्ति के गिरे हुए स्तर से हमें परिचित कराती है जो सच भी है—

आकाश का काम है पानी बरसाना
लिया था जितना धरती से
किया वापस
एक बूँद कम न बेसी .....
ऐसा कोई अर्थशास्त्र खुद के लिए
लागू करने में दुनिया रही
असफल। (इस साल)

सुधीर रंजन सिंह की कविताएँ नैतिकता एवं ईमानदारी के सिद्धांतों पर टिके हुए व्यक्ति का मनोबल बढ़ाती है। हालाँकि इस रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, किन्तु वह आक (मदार) के वृक्ष की भाँति अडिग रहता है। जिस प्रकार

आक (मदार) का वृक्ष शुष्क से शुष्क भूमि अथवा मरुस्थल पर भी अपने सफेद फूलों के साथ सुशोभित होता है, उसी तरह नैतिक व ईमानदार व्यक्ति–

सब कुछ नष्ट होने के बाद भी
वह टिका रहेगा
महाकाल ने यों ही नहीं
पसन्द किए होंगे
उसके फूल!

'तुम्हारा सुन्दर होना' कविता किसी व्यक्ति का आकलन उसके क्षेत्र, उसकी जाति, उसके धर्म या धन से करने को मना करती है। आकलन का पैमाना उसके गुण, उसकी विद्वता, उसकी मनुष्यता होनी चाहिए–

शुक्रगुजार हूँ मैं सबसे अधिक
इस कागज और कलम का
तुम्हारा सुन्दर होना
इन्हीं से हर बार होता है
कुछ अलग हटकर।

वर्तमान समय में हो रहे मानव-मूल्यों के क्षरण को सुधीर रंजन सिंह अपनी कविताओं में बड़ी गम्भीरता से लेते हैं। जिस प्रकार मृत जानवर गिद्धों को सबसे सुन्दर लगता है उसी प्रकार गिद्ध-दृष्टि वाले संवेदन शून्य मनुष्यों को समाज का असहाय, निर्बल तथा जीवन के गूढ़ झंझावातों में फँसा हुआ व्यक्ति। आज के समाज का सौन्दर्यशास्त्र यही है–

गिद्ध-आँखों से देखें तो
मुरदा होना
सबसे सुन्दर होना है। (गिद्ध अन्तिम बार)

निष्कर्षतः सुधीर रंजन सिंह का काव्य संग्रह 'शायद' पढ़े जाने योग्य है। यह संग्रह कर्णप्रिय तो नहीं है, किन्तु एक आलोचक की कविता होने के कारण ज्ञानवर्धक जरूर है।

पुस्तक : 'शायद' / सुधीर रंजन सिंह / राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली / मूल्य : ₹ 295

संपर्क : 353/183/2, टैगोर टाउन, प्रयागराज-211002 (उ0प्र0), मो. : 9452790210

माँ की कोख से निर्वासित जीव की त(लाश)

चंद्रकुमार

अन्ततः हमें हीं पहुँचना होता है, जहाँ से हम शुरू हुए थे। भले ही कुछ के रास्ते लम्बे या कुछ के छोटे हों, दूरी या समय का भेद दिखता हो लेकिन सार्थकता तब ही है जब हम वहाँ सकुशल पहुँच जाएँ। एक कवि तो, और इस मायने में हर रचनाकार दरअसल वृत्ताकार मार्ग में रहता है। केन्द्र-बिन्दु से कितना ही दूर चला जाए लेकिन रहता उसी वृत्त में है। चलते-चलते वह वृत्त को रंगीन और सुघड़ करता चलता है जैसे (सैयद हैदर) रज़ा के आवृत्त। जितना सुघड़ उतना ही स्पष्ट। लेकिन अपने मूल की परिधि पर बने रह कर उससे दूर का सफर तय करना और अन्ततः चुपके से उसी केन्द्र-बिन्दु पर लौट आना—इसे ही किसी रचनाधर्मी की साहित्यिक यात्रा कहा जाना चाहिए। कई विधाओं और रूपों में सृजनशील पीयूष दईया अपने भाषा-प्रयोग, प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों के नित-नूतन प्रयोग की वजह से हमारी पीढ़ी के एक अलहदा रचनाकार हैं। अपने काव्य-संग्रह 'त(लाश)' से उन्होंने यह बात फिर से पुख्ता की है कि उनका अपना मुहावरा समय के साथ परिधि की तरफ बढ़ा जरूर हो, लेकिन अब भी उनके मूल में एक अनथक और अनवरत् चलते रहने वाली तलाश है जिसे वे विभिन्न रूपों में बयाँ करते हैं।

उर्दू के नामचीन शायर शीन काफ़ निज़ाम अक्सर कहते हैं कि शायरी इशारे का आर्ट है। हिंदी कविता में भी इस तरह के काफी प्रयोग होते रहे हैं जहाँ भाव और शब्द सीधे नहीं बरते जाकर कुछ इशारे ही किए जाते हैं। कविता में भाषा के इस तरह के प्रयोग को अमूर्तन कहा जाता है लेकिन पीयूष की कविता की भाषा दरअसल भाषा का अर्क है—बहुत कम, लेकिन सुघड़, गाढ़ा और बेहद असरकारी। पीयूष की भाषा निश्छल बहते पानी सरीखी है जो पत्थरों से टकराती तो है पर शोर नहीं करती, बल्कि गत-आगत रास्तों से बढ़ते हुए आपके गहरे पहुँचती है और अंतस को भिगो कर आपके अन्तर्लोक मे सौंधी खशबू फैलाने का काम करती है। लेकिन उनकी भाषा आपसे भी बहुत कुछ चाहती है। पहले पृष्ठ से ही आपको स्थिर आँखों से एक-एक शब्द (कहीं-कहीं अक्षर) और पंक्ति को बहुत धैर्य के साथ पढ़ना होगा। 'लिखत

आँख पढ़ते कविता को बरतना पढ़ने की एक प्रक्रिया मात्र नहीं बल्कि उसे गढ़ते हुए पढ़ने का पाठ्यक्रम सरीखा है। इसी तरह 'पौ फटे कक्ष में' और 'प्यास' कविताओं का शब्द-विन्यास आपको नयापन देगा। ये छोटी कविताएँ पूरा समय और ध्यान देते हुए पढ़ने की माँग करती हैं। भाव ही नहीं बल्कि शब्द तक आपको पहले पकड़ना होगा तब आगे की यात्रा होगी :

त(लाश) मे लिखा पता
अपने में चुप
शब्द
कोष्ठक में

कल्पना कीजिए कि किसी परिवार में कोई बड़ी विपत्ति दस्तक दे चुकी है। परिवार का मुखिया इससे लगभग टूट चुका है लेकिन पूरा परिवार उसी की ओर एकटक देख रहा है। असीम दुःख और वेदना के बावजूद वह अपनी आँखों से आँसू गिरा कर मन हल्का नहीं कर पाता क्योंकि तब पूरा परिवार किस हाल मे होगा, वह जानता है। लेकिन गहरी टीस धीरे-से, चेहरे की माँसपेशियों को जकड़ लेती है। चेहरे के भावों को नियंत्रित करने की क्षमता अब उससे छिन कर आन्तरिक आवेगों ने ले ली है। पीयूष की कविताएँ वही गहरी, बे-तल टीस शब्दों से जाहिर करती हैं लेकिन यहाँ भी शब्द खुल कर नहीं बोलते, वरन् एक इशारा-भर करते हैं भीतर आने का। जो कहना है वह दरअसल लिखा ही नहीं है। बिना लिखे को महसूस करना है। वही झंझावात, जिससे कवि होकर गुजरा है—गुजर रहा है, अगर आपके मन-मस्तिष्क के भीतरी खोल को टक्करें मार रहा है तो आपने यकीनन पीयूष की कविताओं को पढ़ा है, उन्हें उसी रूप में स्वीकार किया है।

खबरनवीसों के लिये कहा जाता है कि खबर लिखते समय अगर उनकी आँखों में आँसू नहीं है तो पढ़ते वक्त पाठकों की आँखें भी सूखी रहेंगी। यह बात हर रचनाकार पर लागू होती है। त(लाश) काव्य-संग्रह को पढ़ते वक्त आप बारम्बार महसूस करेंगे कि कवि पीयूष किस तरह अतीत की हर एक परत को करीने से तहें डाल कर सहेजे बैठे हैं। लेकिन ऐसा कतई नहीं है कि वो भविष्य के लिये आशान्वित नहीं हैं। उनकी कविताएँ वेदना, एकाकीपन, दुःख, क्षोभ, मृत्यु, श्मशान और ऐसी ही अनेक अन्त-प्रक्रियाओं के इर्द-गिर्द बुनी गई हैं लेकिन उनमे नैराश्य का भाव नहीं हैं बल्कि वे श्मशान की राख के खारेपन के बावजूद शांत होती चिता की लपटों के एक अन्तहीन लौ में बदलने से आश्वस्ति पाती हैं। ये कविताएँ जीवन के सत्यों से गुँथी लेकिन एक उम्मीद से सराबोर प्रतीत होती हैं। यह दरअसल वह लौ ही है जो कवि को इतनी वेदना और अतृप्ति के बावजूद एक उम्मीद से बाँधे है। यह लौ अगम-अगोचर से जुड़ी कोई कड़ी है जिससे कवि बीत चुके कल और बीत रहे आज के जरिए आने वाले कल की तलाश में है। कहने-पढ़ने को ये कविताएँ वेदना, मृत्यु, शोक, और कहीं-कहीं कवि के नितान्त एकाकीपन की दशा सी दिख सकती है, लेकिन इनमें लौ सरीखा कोई बीज है जो प्रकारांतर में प्रस्फुटित होगा, जो कुछ नया, अप्रतिम, अलौकिक और ग्राह्य रचेगा। इसी नये से कवि फिर अपने होने का अर्थ बरामद करेगा। पीयूष की कविताएँ दरअसल अस्तित्व के खतरों से जूझती लेकिन एक आश्वस्ति के साथ अपने होने को संस्थापित करती हैं। राबर्ट फ्रॉस्ट ने कविता के बारे में कभी कहा था कि कविता तभी कविता के रूप में उपजती है जब एक भाव को उसका विचार मिले और विचार को शब्द। यानी भाव-विचार-शब्द के तानेबाने से कविता का रचाव होता है। शब्द रूपी पगडंडियों से हम कवि के विचार और अन्ततः भाव तक पहुँचते हैं। कवि पीयूष अपनी इन कविताओं में दरअसल विचारों को मिले शब्दों को सतह

उपलब्ध करवाते हैं जहाँ वो अनावश्यक शोरगुल कोलाहल से बचते हुए, बिना नकारात्मक प्रतीत हुए वह सब कह जाते हैं जिससे हमें आखिरकार रूबरू होना ही है। लेकिन अन्तिम सत्य के प्रस्फुटित होने पर भी उनकी कविताएँ भय पैदा नहीं करती, इसके उलट गहरी सांत्वना देती प्रतीत होती हैं।

अक्सर हम कोई कविता पढ़ते समय एक लय ढूँढते हैं और फिर मन में किसी छन्द के समान कविता को गुनगुनाते हुए आगे बढ़ते हैं। पीयूष अपनी अधिकांश कविताओं में वाक्यों का विन्यास इस तरह रचते हैं जिससे आप चाह कर भी वह सहज-सुलभ लय पकड़ नहीं पाते जिसके आप अभ्यस्त हैं। यहाँ आपको एक नयी तरह की रिद्म या लय में सोचना-गुनगुनाना होगा। और यह लय तब आप को दुःख, वेदना, संताप और टीस के भी लयात्मक और रागात्मक होने का प्रमाण देगी। शायद कवि चाहता भी यही हो कि इन भावों को भी अन्य मानवीय भावों की तरह सहजता से बरता जाए, अवसाद की तरह नहीं। यह दरअसल आपसे आपके समस्त पूर्वग्रहों को तज कर स्वतःस्फूर्त रागात्मक चेष्टा की उम्मीद करती है जिसको गुने बिना इन कविताओं को समझना और तह तक पहुँचना तो दूर, उनको पढ़ना तक दुष्कर होगा।

नौ उप-शीर्षकों सात खण्डों में समायोजित यह कविता संग्रह हर खण्ड मे निरंतर खोज मे संलिप्त कवि की अलहदा यात्रा है। पलैप पर प्रभात त्रिपाठी का सम्यक् कथन दिया गया है जिसे पढ़ कर कविता की अन्तर्वस्तु में प्रवेश के लिये पाठक खुद को तैयार कर सकेगा। पीछे के कवर पर मुकुंद लाठ की एक संक्षिप्त लेकिन जरूरी टिपण्णी है जो सम्भवतः किसी आलेख या लेखक को कविताओं के पाठ के बाद भेजे किसी पत्र का हिस्सा हो। बहरहाल काव्य संग्रह की यात्रा से पहले इन पड़ावों पर पाठक जरूर रुकेगा और खुद को तैयार करेगा। कृष्ण बलदेव वैद का 'लेखक के मार्फ़त पाठक के नाम पत्र' को आमुख बनाया गया है। संश्लिष्ट संवेदनाओं और भाषाई सूक्ष्मताओं के साथ ही कविता की अपनी सीमा होती है। लेकिन सुप्रसिद्ध चित्रकार अखिलेश के रेखाचित्रों ने उन सीमाओं को भी ढहा दिया है जिससे कविताओं के भाव और बहुत से अन्तर्द्वन्द्वों को समझने में आसानी होगी। हर कविता के साथ रेखाचित्र के लोभ को छोड़ते हुए कवि-चित्रकार ने बहुत संयम का परिचय दिया है। अखिलेश जैसे सुप्रतिष्ठित और सिद्धहस्त कलाकार के काम के बारे में बोला-लिखा नहीं जाता, उन्हें देख कर आत्मसात् किया जाता है। कविताएँ और रेखाचित्र जहाँ साथ रखने पर एक-दूसरे के पूरक नजर आते हैं वही इन्हें एकाकी रूप से देखने पर कुछ भी अपूर्ण नहीं लगता। कला की यह संगत उसकी स्वायत्ता की सबसे बड़ी बानगी है। संग्रह का कवर और पुस्तक का शीर्षक कथा-वस्तु, इसके प्रयोजन और वह सब जो आपको बरामद होने वाला है, बहुत सलीके से आपके सम्मुख रखते हैं। नये पाठक, जो पीयूष की भाषा शैली से वाक़िफ़ नहीं हैं, वे चाहें तो पीछे से कुछ खण्ड से शुरुआत करें और फिर दूसरे-तीसरे पाठ तक आते-आते पहले पृष्ठ से पठन करें तो बहुत सहूलियत से कविताएँ उन तक पहुँचेगी। पीयूष से यह शिकायत, अगर करने का हक मिले, तो जरूर की जानी चाहिए कि वे साहित्य को अपनी शैली, नये मुहावरे और भाषाई-प्रयोगों से समृद्ध तो कर ही रहे हैं, नये पाठक को हिंदी साहित्य से जोड़ने की परंपरा में भी कुछ पहल करें। कविता, वैसे अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई है जिसे बिना किसी सहारे देखा-सुना-समझा जाता है लेकिन नये पाठक के लिये पीयूष की कविताओं को बिना सहारे समझना एक चुनौती है।

अपनी बात केदारनाथ सिंह की एक कविता से पूरी करना चाहूँगा—

मैं जा रही हूँ - उसने कहा
जाओ - मैंने उत्तर दिया
यह जानते हुए कि जाना
हिंदी की सबसे ख़ौफनाक क्रिया है

(किसी के) जाने के ख़ौफ से जूझते हर व्यक्ति को पीयूष का यह कविता-संग्रह पढ़ना चाहिए। हम एक-दूसरे के अनुभवों से बहुत कुछ सीखते हैं। शायद हमारा ख़ौफ कम हो, और हम इसे नियति की एक सतत प्रक्रिया मान कर इसके बाद की, आगे की दुनिया की कल्पना और तैयारी कर सकने में सक्षम हो सकें। क्योंकि अन्ततः हम सभी को वही पहुँचना है जहाँ से हमारा सफर शुरू होता है। तब तक, पीयूष की भाषा में कहें तो हम, माँ की कोख से निर्वासित अरण्य-चिह्नों पर चलते हुए जीव मात्र हैं।

पुस्तक : त(लाश) (2019)/ पीयूष दईया/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ-128/ मूल्य : ₹ 295

संपर्क : 505, एमरल्ड-यूडीबी नंदपुरी अंडरपास, मावलीय नगर, जयपुर-302017, मो. : 9928861470